वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

का

वेदाङ्क

(८)

वर्ष १२] ✻ [अङ्क १, २

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

कार्तिक, मार्गशीर्ष २०१६ वि०
नवम्बर, दिसम्बर १९५९ ई०
दयानन्दाब्द १३५
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६०

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मू०-भारत में ५)
वी० पी० से ५·६५ नये पैसे
विदेश में ६)
इस अङ्क का १)

वेदाङ्क के लेखों की सूची

१—हमारा बन्धु और विधाता	आर्याभिविनय मन्त्र व्याख्या	पृष्ठ १
२—योग द्वारा परमात्म-प्राप्ति	श्री स्वा० ओमानन्द जी महाराज	२
३—गृहस्थों के लिये वेद-आदेश	श्री स्वा० आनन्द स्वामी जी महाराज	९
४—प्रभु कहाँ है ? देखो, वह यहाँ है	श्री पं० रामनाथ जी वेदालङ्कार	१४
५—एक उत्कृष्ट वैदिक प्रार्थना	श्री डा० मङ्गलदेवशास्त्री जी	१७
६—त्रिदेव अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव	श्री डा० सत्यकाम जी भारद्वाज	२०
७—मृत्यु के पश्चात् का जीवन और उपनिषद्	श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री	२५
८—मृत्यु का ब्रह्मचारी	श्री स्वा० गङ्गागिरि जी महाराज	२७
९—अध्यात्मवाद ही विश्व का कल्याण कर सकता है	श्री पं० द्विजेन्द्रनाथ जी शास्त्री	३०
१०—नासदीयसूक्त तथा अनेकान्तवाद	श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री	३३
११—पूर्व और उत्तर	श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार	३९
१२—ईश्वर के दो भ्राता	श्री पं० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री	४१
१३—सृष्टिरचना का वैदिक दर्शन	श्री पं० वैद्यनाथ जी शास्त्री	४४
१४—हमारा अनुसन्धान विभाग	श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय	४६
१५—दो मार्ग	श्री प्रो० मुंशीराम जी शर्मा	४८
१६—श्रीमती जुहू (ब्रह्मजाया)	श्री पं० वीरेन्द्र जी शास्त्री	५०
१७—आर्षज्योति के महान् उद्धारक	श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक	५४
१८—वेदमन्त्रों का तुलनात्मक अनुशीलन	श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति	६०
१९—धर्म और राजनीति	श्री पं० हरिशङ्कर जी शर्मा	६६
२०—वैदिक-परिधान-मीमांसा	श्री पं० शिवपूजन सिंह जी कुशवाहा	६८
२१—वेदोदधि के कुछ चुने हुए मोती	श्री पं० लालचन्द जी	८१
२२—'वेदो मानवसम्पतिः' वेदमानवमात्र के लिये है	श्री पं० चूड़ामणि जी शास्त्री	८५
२३—वरुणयाग (नरमेध)	श्री पं० जे. पी. चौधरी जी	८७
२४—इन्द्र	श्री डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल	९०
२५—वामदेव का इतिहास	श्री पं० जयदेवशर्मा जी विद्यालङ्कार	९९
२६—वेदार्थ की प्रक्रिया और वेद में इतिहास	श्री पं० भवानीलाल जी भारतीय	१०५
२७—वशासूक्त और गोवध	श्री पं० बिहारीलाल जी शास्त्री	१०८
२८—वेद में गोरक्षा	श्री पं० अवधविहारीलाल जी	१११
२९—डार्विन-वालेस के अद्भुत विचार की शती	श्री बा० विष्णुदयाल जी	११३
३०—पुस्तक-परिचय		१२३
३१—सम्पादकीय		१३८
३२—विविध समाचार		१४०

॥ओ३म्॥

वेदवाणी

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष १२ } काशी, कार्त्तिक-मार्गशीर्ष, सं० २०१६ वि०, नवम्बर-दिसम्बर १९५९ ई० { अङ्क १,२

आर्याभिविनय से—

टिप्पणीकर्त्ता—प्रो० विन्ध्यवासिनीप्रसाद जी अनुगामी

हमारा बन्धु और विधाता

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥

यजु० ३२।१०॥

"स नः" वह परमेश्वर हमारा "बन्धुः" दुःखनाशक और सहायक है तथा "जनिता" सब जगत् तथा हम लोगों का भी पालन करने वाला पिता तथा "विधाता" हम लोगों के कामों की सिद्धि का विधाता (कामों की पूर्ण सिद्धि करने वाला) वही है। सब जगत् का भी विधाता (रचने और धारण करने वाला) एक परमात्मा ही है अन्य कोई नहीं। "धामानि वेद भुवनानि विश्वा" सब धाम अर्थात् अनेक लोक-लोकान्तरों को रच के अनन्त सर्वज्ञता से यथार्थ जानता है। वह कौन परमेश्वर है ? "यत्र देवा अमृत-मानशानाः" कि जिससे[1] देव अर्थात् विद्वान्[2] लोग (विद्वांसो हि देवाः—शतपथ ब्रा० ३।७।३।१०) अमृत, मरणादि दुःख रहित मोक्षपद[3] में सब दुःखों से छूट के सर्वव्यापी पूर्णानन्दस्वरूप परमात्मा को प्राप्त होके परमानन्द में सदैव रहते हैं। "तृतीये धामन्" एक स्थूल जगत् (पृथिव्यादि) दूसरा सूक्ष्म (आदि कारण) तीसरा जो सर्वदोषरहित अनन्तानन्दस्वरूप परब्रह्म उस धाम[4] में "अध्यैरयन्त" धर्मात्मा विद्वान् लोग स्वच्छन्द (स्वेच्छा से) वर्तते हैं। सब बाधाओं से छूट के विज्ञानवान्[5] शुद्ध होके देश-काल-वस्तु का परिच्छेदाभेदरहित[6] सर्वगत[7]—धामन्—आधारस्वरूप परमात्मा में सदा रहते हैं, उससे जन्म-मरणादि दुःखसागर में कभी नहीं गिरते॥

अर्थबोधक-टिप्पणी

(१) जिससे = जिसकी सहायता से। (२) विद् = to obtain : to know : to ascertain : to examine : to reason : to dwell. (३) मोक्षपद = मोक्षावस्था। (४) धाम = वस्तु। (५) विज्ञानवान् होके = आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार की सीढ़ियों पर चढ़कर। (६) परि-च्छेदाभेदरहित = देशकालवस्तु के प्रभाव से अप्रभावित और न इनके समान ही। (७) सर्वगत = सब जगह व्याप्त और प्राप्तव्य॥

दण्डान्वय-टीका

सः = वह ईश्वर ।
नः = हमें ।
बन्धुः[८] = प्रेम से बाँधने वाला है ।
(और)
जनिता (अस्ति) = हमारी उत्पत्ति का कारण है ।
सः = वही ।
विधाता[९] = हमारे भाग्य का निर्माता और भाग्यवान् बनने की प्रेरणा देने वाला है ।
(वही)
विश्वा[१०] = सकल ।
धामानि = लोक
भुवनानि[११] = (सब) वस्तुओं (और उनके नियमन करने वाले कारणों) को ।
वेद = जानता है । (और)
देवाः = सत्गुणकर्म सम्पन्न और उनके दाता स्त्री-पुरुष ।
यत्र = उसी ।
तृतीये = तीसरे निमित्त कारण ।
धामन् = आधार वस्तु में ।
अमृतम्[१२] = परम सुख ।
आनशानाः = भोगते हुए ।
अधि ऐरयन्त[१३] = सब बन्धनों से पृथक् हो उसी की ओर सर्वथा आकृष्ट रहते हैं ॥

(८) प्रेम्णा बध्नातीति बन्धुः । सज्जनो वा–उ० १।१० । (९) creator : Brahman : giver : fate : spirituous liquor—आप्टे । (१०) भवतीति भुवनम् । लोको वा—उ० २।८१ । (११) दधाति यद्यत्र वेति धाम । स्थानम् तेजो वा उ० ४।१५१. law : rule : property : wealth—आप्टे। धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति—निरु० ९।२८. (१२) अमृतम् = spirituous liquor : आमलकी हरीतकी, गुडूची, मागधी, तुलसी, इन्द्रवारुणी, ज्योतिष्मती, गोरक्षदुग्धा, अतिविषा, रक्तत्रिवृत्, दूर्वा, स्थूलमांसहरीतकी । ray of the sun : final beatitude : immortality : immortal light : यज्ञशेष : alms got without solicitation : clarified butter : boiled rice : anything sweet : the supreme spirit : property : gold : quick silver. —आप्टे ।

(१३) व्यु० ईर = गतौ कंपने च—अदा०, ईर = क्षेपे—चुरा०, to draw towards : to employ : to raise oneself.

योग द्वारा परमात्म-प्राप्ति

[*ले०—श्री पूज्य स्वामी ओमानन्द तीर्थ जी महाराज, पातञ्जल योगाश्रम, पुष्कर*]

महर्षि दयानन्द सरस्वती जी ने परमात्म-प्राप्ति का मुख्य साधन योग बतलाया है, और योग का मुख्य प्रामाणिक शास्त्र पातंजल योगदर्शन माना है । इस लेख में यह दर्शाया जायेगा कि पातंजल योग-दर्शन द्वारा किस प्रकार परमात्मा की प्राप्ति बतलाई गई है ।

प्राणिमात्र की दुःख-निवृत्ति की ओर प्रवृत्ति है । छोटे से छोटे कीट से लेकर बड़े से बड़े सम्राट् तक प्रतिक्षण तीनों प्रकार के (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) दुःखों में से किसी न किसी दुःख की निवृत्ति का ही यत्न करते हैं, फिर भी दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता । मृगतृष्णा के सदृश जिन

विषयों के पीछे मनुष्य सुख समझकर दौड़ता है, प्राप्त होने पर वे दुःख ही सिद्ध होते हैं। इसलिए तत्त्वदर्शी के लिए निम्न चार प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनको लेकर दर्शनकार चलते है।

दर्शनों के चार प्रतिपाद्य विषय—

(१) हेय—दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है ? जो हेय अर्थात् त्याज्य है।

(२) हेयहेतु—दुःख किस से उत्पन्न होता है। इसका वास्तविक कारण क्या है ? जो 'हेय' अर्थात् त्याज्य दुःख का वास्तविक 'हेतु' है।

(३) हान—दुःख का नितान्त अभाव (परमात्म-प्राप्ति) क्या है ? अर्थात् 'हान' किस अवस्था का नाम है ?

(४) 'हानोपाय'—नितान्त दुःख-निवृत्ति (परमात्म-प्राप्ति) का साधन क्या है ?

योगदर्शन ने इन चारों प्रतिपाद्य विषयों को बहुत ही निपुणता और उत्तमता के साथ दर्शाया है। यथा—

(१) हेय— त्याज्य दुःख

हेयं दुःखमनागतम् ।। योग० सा०पा०सू०१६।।

आने वाला दुःख हेय (त्यागने योग्य) है।

दुःख तीन प्रकार का होता है। आध्यात्मिक दुःख वह है जो अपने अन्दर से उत्पन्न होता है। वह दो प्रकार का है-शारीरिक, शरीर से उत्पन्न होने वाला दुःख, जैसे-व्याधि और चोट आदि का लग जाना। मानसिक दुःख मन से उत्पन्न होने वाला, जैसे-राग-द्वेष, ईर्ष्या, चिन्ता, शोकादि। आधिभौतिक—जो किसी दूसरे प्राणी से मिले। आधिदैविक—जो किसी प्राकृतिक दिव्य शक्ति, अग्नि, जल, वर्षा आदि से उत्पन्न हो। भूतकाल का दुःख भोग देकर व्यतीत हो गया, इस कारण त्यागने योग्य नहीं है। वर्तमान दुःख इस क्षण में भोगा जा रहा है, दूसरे क्षण में स्वयं समाप्त हो जावेगा, इस कारण त्याज्य नहीं। इसलिए आने वाला दुःख ही त्यागने योग्य है। विवेकी जन इसी को हटाने का यत्न करते हैं।

(२) हेयहेतु—त्याज्य दुःख का कारण

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।।

योग० सा० पा० सू० १७।।

द्रष्टा और दृश्य का संयोग 'हेयहेतु' (दुःख का कारण) है। द्रष्टा चेतन पुरुष है, जो चित्त का स्वामी होकर उसको देखने वाला है। दृश्य चित्त है जो स्व (मिल्कियत) बनकर पुरुष को गुणों के परिणामस्वरूप संसार को दिखाता है। चित्त द्वारा देखे जाने के कारण यह सारा गुणों का परिणाम विषय, शरीर और इन्द्रियादि भी सब दृश्य ही हैं। संयोग—इस पुरुष और चित्त का जो आसक्ति-सहित अविवेकपूर्ण भोग्य-भोक्ता भाव का सम्बन्ध है, इसके लिए यहाँ संयोग शब्द आया है। यही इस दुःख का (जो पिछले सूत्र में हेय अर्थात् त्याज्य बतलाया था) 'हेतु' अर्थात् कारण है।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ।।

गी०१३।२१

प्रकृति में स्थित हुआ ही पुरुष प्रकृति से उत्पन्न हुए त्रिगुणात्मक सब पदार्थों को भोगता है और इन गुणों का संग ही इस जीवात्म के अच्छी-बुरी योनियों में जन्म लेने में कारण है।

दृश्य का स्वरूप, उसका कार्य तथा प्रयोजन—

प्रकाश-क्रिया-स्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।। योग०सा०पा०सू०१८ ।।

प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, भूत और इन्द्रियाँ जिसका स्वरूप है, भोग और अपवर्ग जिसका प्रयोजन है—वह दृश्य है।

गुणों का स्वभाव—सत्त्वगुण का स्वभाव प्रकाश, हल्कापन, सुख, ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य है। रजोगुण का स्वभाव प्रवृत्ति (क्रिया = चलना), दुःख और चंचलता है। तमोगुण का स्वभाव स्थिति (रोकना) भारीपन, अन्धकार, मोह, आसक्ति, अज्ञान, अवैराग्य, अधर्म और अनैश्वर्य है। यह तीनों-प्रकाश, क्रिया और स्थितिशील गुणीपरिणाम और परस्पर संयोग-विभाग वाले हैं—तथा विवेक-

ख्यातिरहित पुरुष के संग संयुक्त रहते हैं। अर्थात् स्वस्वामीभाव (भोग्य-भोक्तृत्वभाव) सम्बन्ध रखते हैं, और विवेकख्याति वाले पुरुष से विभक्त हो जाते हैं।

गुणों का कार्य—यह दृश्य भूतेन्द्रियात्मक है अर्थात् १० भूत, (५ स्थूल भूत-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश और ५ सूक्ष्म भूत-गंध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द) तन्मात्रा और १३ इन्द्रियाँ (५ ज्ञानेंद्रियाँ, ५ कर्मेन्द्रियाँ, ३ सूक्ष्मेन्द्रियाँ मन, अहंकार, बुद्धि) तथा चित्त (महत्तत्त्व) आदि सब ग्राह्य-ग्रहण रूप से इन ही तीनों गुणों के कार्य हैं, अर्थात् इन्हीं के विभिन्न रूप हैं।

गुणों का प्रयोजन—यह त्रिगुणात्मक दृश्य अर्थात् भूतेन्द्रियादि रूप से प्रकृति का परिणाम निष्प्रयोजन नहीं है, किन्तु पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन वाला है। भोग-उसमें द्रष्टा दृश्य के स्वरूप-विभाग से रहित इष्टानिष्टगुणस्वरूप का अवधारण (अनुभव) भोग कहलाता है। द्रष्टा और दृश्य के स्वरूप से विभक्त भोक्ता के स्वरूप का अवधारण (साक्षात्कार) अपवर्ग है। उपर्युक्त दोनों प्रकार के भोग भी पुरुष के कल्याणार्थ हैं, अर्थात् अपवर्ग दिलाने में सहायक हैं। इसको स्पष्ट करते हैं।

१. (क) भोग—अनिष्टगुणस्वरूप का अनुभव, कर्माशय का आवरण, क्लेश और संस्कारों का मल जो अविद्या, अविवेक, आसक्ति और सकाम कर्मों के परिणामस्वरूप चित्त पर चढ़ा दिया गया है; इसके निवारणार्थ मन इन्द्रियों और शरीरादि का भोग है, जो साधारण रूप से सब प्राणी भोग रहे हैं। भाव यह है कि गुणों के विषम-परिणाम का प्रयोजन तो पुरुष को उनका (गुणों का) यथार्थ ज्ञान कराकर स्वरूप में अवस्थित कराना है। पर पुरुष अविद्या, अविवेक, आसक्ति और सकाम कर्मों से चित्त पर कर्माशय आदि का मल चढ़ा लेता है। इस मल के निवारणार्थ जो पुरुष का भोग है, यद्यपि वह अनिष्ट है, तथापि यह भी पुरुष के कल्याणार्थ है, क्योंकि गुणों का यथार्थ ज्ञान कराकर स्वरूप में अवस्थित कराने के लिए चित्त से उन मलों का धोना आवश्यक है, जो अनिष्ट भोगों द्वारा होता है।

(ख) भोग—इष्टगुणस्वरूप का अनुभव-इस सम्पूर्ण दृश्य का, गुणों के परिणाम का, सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा विवेकपूर्ण तत्त्वज्ञान जो इस दृश्य के भोग का वास्तविक प्रयोजन है, जिसको विवेकी जन भोगते हैं, जिसके पश्चात् स्वरूपावस्थिति प्राप्त होती है।

२. अपवर्ग—भोक्ता के स्वरूप का अवधारण स्वरूपावस्थिति है जो विवेक-ख्याति के पश्चात् प्राप्त होती है, जो पुरुष का परम प्रयोजन है।

इन दोनों दर्शनों, अर्थात् पुरुष को गुणों का यथार्थ ज्ञान कराने (गुणों के परिणाम का दर्शन) और स्वरूपावस्थिति कराने के अतिरिक्त प्रधान (प्रकृति) का अन्य कोई तीसरा प्रयोजन नहीं है।

गुणों की चार अवस्थायें—

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥
योग सा० पा० सू० १९ ॥

गुणों की चार अवस्थायें (परिणाम) हैं। विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग। (१) विशेष १६ हैं। ५ महाभूत-आकाश, वायु, अग्नि, जल और भूमि-जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध तन्मात्राओं के क्रमशः कार्य हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियाँ-श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना और नासिका। ५ कर्मेन्द्रियाँ-वाणी, हस्त, पाद, पायु और उपस्थ, ग्यारहवाँ मन जो अहंकार का कार्य है। ये १६ तीनों गुणों के विशेष परिणाम हैं। इनको विशेष इस कारण से कहते हैं कि तीनों गुणों के सुख, दुःख, मोह आदि जो विशेष धर्म हैं, वे सब शान्त, घोर और मूढ़ रूप से इनमें रहते हैं (२) अविशेष ६ हैं। ५ तन्मात्रायें—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, जो पाँचों महाभूतों के क्रमशः कारण हैं। ये ६ महत्तत्त्व के कार्य गुणों के अविशेष परिणाम हैं। इनमें शान्त, घोर, मूढ़ रूप विशेष धर्म नहीं रहते-इसलिए अविशेष कहलाते हैं। (३) लिङ्गमात्र—सत्तामात्र महत्तत्त्व (समष्टि तथा व्यष्टि चित्त) यह विशेष अविशेष से रहित केवल चिह्न मात्र तीनों गुणों का प्रथम परिणाम है। यह लिङ्ग इस

लिए कहलाता है—क्योंकि चिह्न मात्र व्यक्त है। (४) अलिङ्ग—अव्यक्त—मूल प्रकृति—अर्थात् गुणों की साम्यावस्था। यह अलिंगावस्था पुरुष के निष्प्रयोजन है। अलिंगावस्था के आदि में पुरुषार्थता कारण नहीं है, और उस अवस्था की भी पुरुषार्थता कारण नहीं होती। यह पुरुषार्थकृत भी नहीं है, इस कारण नित्य कही जाती है। अलिंग इस लिये कहलाती है क्योंकि इसका कोई चिह्न नहीं—अर्थात् व्यक्त नहीं है, अव्यक्त है। ये चारों तीनों गुणों में परिणाम की अवस्था विशेष हैं। इनमें से पहिली तीन अवस्थायें गुणों के विषम परिणाम से होती हैं, यही पुरुष के प्रयोजन को साधती है। चौथी--लिंगावस्था में गुणों में साम्य परिणाम होता है, इसकी पुरुष के भोग तथा अपवर्ग किसी प्रयोजन में प्रवृत्ति नहीं होती; किन्तु इसी अवस्था की ओर गुणों की जाने की प्रवृत्ति होती है, क्योंकि यह मूक अवस्था है; इसी को, प्रकृति, प्रधान, माया तथा अव्यक्त भी कहते हैं।

द्रष्टा का स्वरूप :—

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥
योग० सा० पा० सू० २० ॥

द्रष्टा जो देखने की शक्तिमात्र है, निर्विकार होता हुआ भी चित्त की शक्तियों के अनुसार देखने वाला है। दृशिमात्र इस शब्द का यह अभिप्राय है कि देखने वाली शक्ति विशेषणरहित केवल ज्ञानमात्र है, अर्थात् यह देखना या वह देखना उसका धर्म नहीं है, बल्कि वह देखने की शक्तिमात्र धर्मी है। उसमें कोई परिणाम नहीं होता। यथा—

यथा दीपः प्रकाशात्मा स्वल्पो वा यदि वा महान्।
ज्ञानात्मानं तथा विद्यात् आत्मानं सर्वजन्तुषु ॥

जैसे दीपक चाहे छोटा हो चाहे बड़ा प्रकाशरूप ही होता है, वैसे ही सब प्राणियों के अन्दर आत्मा को भी ज्ञान रूप जानो।

ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथं च न।
ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ॥

ज्ञान न तो आत्मा का धर्म है और न किसी भाँति गुण ही है। आत्मा तो नित्य, विभु और शिव ज्ञानस्वरूप ही है। प्रत्ययानुपश्य—चित्त की वृत्तियों के अनुसार देखने वाली चित्त-शक्ति गुणमय होने से परिणामिनी है। विषय में उपराग होने से वह विषय उसको ज्ञात होता है। पर पुरुष तो चित्त का सदैव साक्षी बना रहता है। वह चित्त पुरुष के ज्ञानरूपी प्रकाश से (प्रतिविम्बित होकर) चेतन जैसा भासता है। इस कारण वह चित्त जिन जिन वृत्तियों के तदाकार होता है वे पुरुष से छिपी नहीं रहती हैं। पुरुष में चित्त जैसा कोई परिणाम नहीं होता। चित्त को सिनेमा का पर्दा समझना चाहिये और आत्मा की विद्युत् और चित्त की वृत्तियों को सिनेमा के चित्र। विद्युत् जड़ होने के कारण सिनेमा के चित्रों को स्वयं नहीं देखता, उसको दूसरे चेतन पुरुष देखते हैं। आत्मा को अपने ज्ञान के प्रकाश में चित्त में जो वृत्ति आती है, वह ज्ञात होती रहती है। चित्त सहित आत्मा की अथवा आत्मा से प्रकाशित चित्त की ही संज्ञा जीवात्मा है।

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥योग सा० पाठ सू० २१॥

उस पुरुष के लिये ही (यह सारा) दृश्य वा स्वरूप है। ऊपर कहे हुए लक्षणानुसार दृश्य का जो स्वरूप है वह पुरुष के प्रयोजन के हेतु है; क्योंकि प्रकृति अपने किसी भी प्रयोजन की अपेक्षा न रख केवल पुरुष के भोग और अपवर्ग के लिए प्रवृत्त हो रही है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥
यो० सा० पा० सू० २२ ॥

जिसका प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिए यह दृश्य नष्ट हुआ भी अपने स्वरूप से नष्ट नहीं होता है, क्योंकि वह दूसरे पुरुषों के साथ साझे की वस्तु है। इस सारे दृश्य की रचना समस्त पुरुषों के भोग अपवर्ग के लिए है न कि किसी विशेष के लिये। इसलिए जिसका यह प्रयोजन सिद्ध हो गया है उसके लिए यद्यपि इस दृश्य का कार्य समाप्त और नाश के तुल्य हो जाता है, तथापि इसका सर्वथा नाश नहीं हो जाता, क्योंकि एक पुरुष के मुक्त

हो जाने से सब मुक्त नहीं हो जाते। यह दूसरों के इसी प्रयोजन को साधने में लगा रहता है। पुरुष शब्द के अर्थ यहाँ चित्त प्रतिबिम्बित चिति शक्ति (चेतन तत्त्व) अर्थात् जीवात्मा के हैं। चित्त के बनाने वाले गुणों का जीवात्मा के प्रयोजन भोग और अपवर्ग को सम्पादन करने के पश्चात् अपने कारण में लीन हो जाना ही जीवात्मा की मुक्ति (कैवल्य) कही जाती है। चित्त पुरुष का दृश्य रूप है। वही वृत्तिरूप से अन्य सब दृश्यों को पुरुष को बोध कराने का साधन है। एक चित्त के नष्ट होने से उससे दृश्यमान सारा जगत् भी उसके प्रति नष्ट होने के तुल्य है, किन्तु अनन्त जीवों के चित्त जिन्होंने (जीवों के) उनके प्रति भोग अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध नहीं किया है अपने विषय, सारे दृश्यमान जगत् सहित वर्तमान रहते हैं।

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः ॥

योग० सा० सू० १,१५९ ॥

जिस प्रकार आज दृश्य अनष्ट है, उसी प्रकार सदा ही अनष्ट था और अनष्ट रहेगा।

शङ्का—सब चित्तों के बनाने वाले गुणों के पुरुष के प्रति भोग और अपवर्ग का प्रयोजन सिद्ध करने के पश्चात् अपने कारण में लीन हो जाने पर तो यह दृश्य सर्वथा नष्ट हो जावेगा।

समाधान—ऐसी सम्भावना न करनी चाहिये; क्योंकि पुरुष (जीवात्मा) संख्या अनन्त है। असंख्य का कभी शेष नहीं होता। असंख्य—असंख्य = असंख्य श्रुति भी ऐसा ही बतलाती है। यथा—

"पूर्णात् पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।" अर्थात्—"पूर्ण-पूर्ण = पूर्ण।" इसलिए यह दृश्य अपने स्वरूप से सदा से था और सदा रहेगा। केवल कृतार्थ पुरुष के प्रति नष्ट होता है। असंख्य पदार्थों (Infinity) का गणित तत्त्व यह है—असंख्य + असंख्य = असंख्य; असंख्य—असंख्य = असंख्य; असंख्य × असंख्य = असंख्य; असंख्य ÷ असंख्य = असंख्य; क्योंकि असंख्य (Infinity) का अधिक या न्यून नहीं है।

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥

योग० सा० पा० सू० २३ ॥

स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि का हेतु संयोग है। अर्थात् संयोग हटाने के लिए स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि की जाती है। स्वशक्ति अर्थात् दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि जो भोग रूप है सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा और स्वामिशक्ति अर्थात् पुरुष के स्वरूप की उपलब्धि जो अपवर्ग रूप है, असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा की जाती है। दृश्य, द्रष्टा अर्थात् चित्त और पुरुष का जो आसक्तिपूर्वक स्व-स्वामी अर्थात् भोग्यत्व और भोक्तृत्व भाव सम्बन्ध है, वह संयोग है। सूत्र १७ में संयोग को हेयहेतु बतलाया है। यह संयोग ही वास्तव में अस्मिता क्लेश है, जिसने चित्तरूप स्व और पुरुषरूप स्वामी को जड़-चेतन के सम्मिश्रण से एक नये जीव-भाव को उत्पन्न किया है। इस संयोग के रहते हुए ही इसी संयोग को हटाने के लिए स्वशक्ति और स्वामिशक्ति के स्वरूप की उपलब्धि की जाती है।

तस्य हेतुरविद्या ॥ योग० सा० पा० सू० २४॥

इस संयोग का कारण अविद्या है। सूत्र २३ में बतला आये हैं कि संयोग ही अस्मिता क्लेश है। इस संयोग का कारण अथवा अस्मिता क्लेश का क्षेत्र अविद्या है। यह अविद्या जीवों के सत्त्व चित्तों में जो लेशमात्र तम है उसमें वर्तमान है। विवेक-ख्याति की अवस्था में सत्त्व की विशुद्धता के कारण यह अविद्यारूप दग्ध बीज भाव को प्राप्त होकर इस अत्यन्त सात्त्विक अक्लिष्ट वृत्ति को केवल रोकने मात्र का कार्य करता है।

(३) 'हान'—अत्यन्त दुःख निवृत्ति की अवस्था=स्वरूप अवस्थिति=परमात्मा प्राप्ति।

तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ॥

योग० सा० पा० सू० २५ ॥

उसके (अविद्या के) अभाव से संयोग का अभाव हान है। वह चिति शक्ति का कैवल्य है। अविद्या के विरोधी यथार्थ ज्ञान से अविद्या का उच्छेद हो जाता है। अविद्या के अभाव होने पर अविद्या के कार्य 'संयोग' के अभाव को 'हान' कहते हैं। निराकार वस्तु 'संयोग' का

मूर्त्त द्रव्य के तुल्य छोड़ना नहीं होता है, किन्तु अज्ञान से जन्य संयोग अपने आप ही निवृत्त हो जाता है। अर्थात् पुरुष का अपने स्वरूप को भूला जैसा होकर चित्त को अपने से भिन्न न समझते हुए केवल उसकी बाह्य वृत्तियों को ही देखते रहना जो संयोग है उसका कारण जो अविद्या बतलाया था उस अविद्या के नाश से संयोग का स्वयं नाश हो जाता है। इस संयोग का नाश होना ही 'हान' है। अर्थात् दुःख का अपने कारण सहित नाश हो जाना। यह हान ही चिति शक्ति (पुरुष) का कैवेल्य अर्थात् केवल हो जाना, निखर जाना, स्वरूपावस्थिति, मोक्ष अर्थात् शुद्ध परमात्मस्वरूप में अवस्थिति है।

(४) हानोपाय—विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ सा० पा० सू० २६ ॥ अडोल निर्मल विवेक-ख्याति हान का उपाय है। विवेक दृश्य द्रष्टा के भेद और ख्याति नाम ज्ञान का है। इसलिए चित्त और पुरुष इन दोनों की भिन्नता का ज्ञान, अथवा यह ज्ञान कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि और चित्त मुझ से भिन्न हैं विवेक ख्याति है। यह विवेक ज्ञान आगम अर्थात् आचार्य के उपदेश और शास्त्रों के पढ़ने तथा अनुमान से भी उदय होता है, पर वह परोक्ष ज्ञान है, और अनादि अविद्या के निवृत्त करने में असमर्थ होता है। मिथ्या ज्ञानजन्य व्युत्थान के संस्कार चित्त में बने रहते हैं, और तामस, राजस वृत्तियाँ उदय होती रहती हैं। यह विवेक-ख्याति विप्लवसहित है। विप्लव के अर्थ विच्छेद हैं, अर्थात् जिसमें बीच में राजसी-तामसी वृत्तियों का उदय होना बना रहे। इसलिए ऐसा विवेकज्ञान हान का उपाय नहीं है। यह ज्ञान जब दीर्घकाल निरन्तर सत्कारपूर्वक प्रतिपक्ष भावना के बल से परिपक्व हो जाने पर समाधिद्वारा साक्षात् कर लिया जाता है तो वह अपरोक्ष ज्ञान होता है। इससे अविद्या के नाश हो जाने पर कर्तृत्व-भोक्तृत्व अभिमान से रहित और राजस-तामस मलों से शून्य चित्त हो जाता है, तब सत्त्व गुण के प्रकाश में चित्त में चेतन का जो प्रतिबिम्ब अर्थात् प्रकाश पड़ रहा है, और जिसके कारण चित्त में चेतनता प्रतीत हो रही है, चित्त से भिन्न उसका साक्षात्कार होता है। यद्यपि यह साक्षात्कार भी चित्त के द्वारा होता है, इसलिए चित्त की ही एक सात्त्विक वृत्ति है, तथापि इसके निरन्तर अभ्यास से विवेकज्ञान का प्रवाह निर्मल और शुद्ध हो जाता है। क्लेशों का सर्वथा नाश होता है और मिथ्या ज्ञान दग्ध बीज के तुल्य बन्धन की उत्पत्ति करने में असमर्थ हो जाता है। यही अविप्लव अर्थात् अडोल, अविच्छेद, निर्मल हान का उपाय है।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥
गी० १३।३४ ॥

इस प्रकार क्षेत्र (प्रकृति) क्षेत्रज्ञ (पुरुष) के भेद को तथा विकारसहित प्रकृति से छूटने के उपाय को जो पुरुष ज्ञान-नेत्रों द्वारा (विवेक-ख्याति द्वारा) तत्त्व से जान लेते हैं, वे महात्मा जन परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त होते हैं।

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥
योग० सा० पा० सू० २७ ॥

उस निर्मल अडोल विवेकख्याति वाले योगी की सात प्रकार की सबसे ऊँची अवस्था वाली प्रज्ञा होती है। निर्मल विवेकख्याति द्वारा योगी के चित्त के अशुद्धिरूप आवरण मल नष्ट हो जाने से दूसरे सांसारिक ज्ञानों के उत्पन्न न होने पर सात प्रकार की उत्कर्षावस्था वाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। उनमें से प्रथम चार प्रकार की प्रज्ञा कार्य से विमुक्त करने वाली हैं। विमुक्ति चित्त के अधिकार की समाप्ति को कहते हैं। यह चार प्रकार की प्रज्ञा-सम्बन्धी विमुक्ति कार्य अर्थात् प्रयत्नसाध्य है, इस कारण यह कार्य विमुक्ति प्रज्ञा कहलाती है और अन्त की तीन चित्त से विमुक्त करने वाली हैं, इस कारण वे चित्तविमुक्ति कहलाती हैं। उपर्युक्त चारों प्रज्ञाओं के लाभ से ये तीन प्रज्ञा स्वतः ही लब्ध हो जाती हैं।

कार्य विमुक्ति प्रज्ञा—

(१) हेयशून्यावस्था—जो कुछ हेय था, जान लिया। अब कुछ जानना शेष नहीं रहा, अर्थात्

जितना गुणमय द्रव्य है वह सब परिणाम ताप और संस्कार दुःखों तथा गुणवृत्ति विरोध से दुःखरूप ही है। इसलिए हेय है यह मैंने जान लिया (सा० पा० १५।१८।१९)।

(२) हेयहेतुक्षीणावस्था--जो दूर करना था अर्थात् द्रष्टा और दृश्य का संयोग जो हेयहेतु है वह दूर कर दिया, अब कुछ दूर करने योग्य शेष नहीं रहा। (सा० पा० सू० १६।१७)।

(३) प्राप्यप्राप्तावस्था--जो साक्षात् करना था साक्षात् कर लिया अर्थात् निरोध समाधि द्वारा हान को साक्षात कर लिया अब कुछ साक्षात् करने योग्य शेष नहीं रहा (सा० पा० सू० २५)।

(४) चिकीर्षाशून्यावस्था—जो सम्पादन करना था वह कर लिया अर्थात् हान का उपाय निर्मल विवेक ख्याति सम्पादन कर लिया, अब कुछ सम्पादन करने योग्य शेष नहीं रहा। (सा० पा० सू० २६)। यह प्रज्ञा परवैराग्य की पराकाष्ठा है, अर्थात् बुद्धि व्यापार की प्रान्त रेखा है।

चित्त विमुक्ति प्रज्ञा---

(५) चित्त-सत्त्वकृतार्थता—चित्त ने अपना अधिकार भोग अपवर्ग देने का पूरा कर दिया है, अब उसका कोई अधिकार शेष नहीं रहा।

(६) गुणलीनता--जिस प्रकार पर्वत की चोटी के किनारे से गिरे हुए पत्थर बिना रुके हुए पृथ्वी पर आकर चूर-चूर हो जाते हैं, इसी प्रकार चित्त के बनाने वाले गुण अपने कारण में लय होने के अभिमुख जा रहे हैं, क्योंकि अब उनका कोई प्रयोजन शेष नहीं रहा।

(७) आत्मस्थिति—गुण के सम्बन्ध से परे होकर पुरुष की परमात्मस्वरूप में स्थिति हो रही है। अब कुछ शेष नहीं रहा।

इस प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा को अनुभव करता हुआ योगी कुशल (जीवन्मुक्त) कहा जाता है, और चित्त के अपने कारण में लीन होने पर भी कुशल (विदेहमुक्त) कहलाता है। यह दोनों ही गुणातीत अर्थात् गुणों के सम्बन्ध से रहित केवल शुद्ध आत्मस्वरूप में स्थित होते हैं। इसलिए यह योगी विदेहमुक्त अवस्था को जीवन्मुक्त दशा में ही प्रत्यक्ष कर लेता है।

विवेक ख्याति के प्राप्त करने के उपाय--

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥

योग० सा० पा० सू० ॥२८॥

योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है। योग के आठ अंगों के अनुष्ठान से क्लेश रूपी अशुद्धि दूर होती है, और सम्यग्ज्ञान का प्रकाश बढ़ता है। इन अंगों का अनुष्ठान जितना जितना बढ़ता जाता है उतनी ही क्लेश की निवृत्ति और ज्ञान के प्रकाश की अधिकता होती जाती है, यहाँ तक कि ज्ञान के प्रकाश की वृद्धि विवेकख्याति पर्यन्त पहुँच जाती है जिसका सूत्र २७ में वर्णन किया है। योग के अंगों का अनुष्ठान अशुद्धि के वियोग का और विवेकख्याति की प्राप्ति का करण है।

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो-ऽष्टावङ्गानि ॥ योग० सा० पा० सू० २९ ॥

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धाराणा, ध्यान, समाधि ये आठ योग के अंग हैं। इनका अपना अपना क्या स्वरूप है और उनके अनुष्ठान से किस प्रकार ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक बढ़ जाता है, यह किसी अगले लेख में बतलाने का यत्न किया जायेगा॥

गृहस्थों के लिये वेद-आदेश

[ले०—श्री० पूज्य आनन्द स्वामी सरस्वती जी महाराज, तपोवन, देहरादून]

गृहस्थ आश्रम सारे आश्रमों में श्रेष्ठ आश्रम बतलाया गया है, परन्तु आज सब से अधिक दुःखी गृहस्थ ही दिखलाई देते हैं, इसका क्या कारण है। सबसे पहला कारण यह है कि वेद ने कहीं भी हर किसी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं दिया। पहले कुछ योग्यतायें अपने अन्दर लानी होती थीं, तभी दूसरे आश्रम में जाने की आज्ञा मिलती थी।

गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले को यह घोषणा करनी होती है कि :—

गृहा मा विभीत मा वेपध्वमूर्जं बिभ्रत एमसि।
ऊर्जं बिभ्रद् वः सुमनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमानः।
यजु० ३।४२॥

अर्थात्—हे! गृहस्थो मत डरो, मत कांपो, मैं जब पराक्रम को धारण करने वालों के निकट आया हूँ, तो स्वयं पराक्रम को धारण करके उदार हृदय और गम्भीर मेधा से युक्त होकर, हर्षभरे मन के साथ तुम गृहस्थों के निकट आया हूँ।

अभिप्राय यह है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का वही अधिकारी है जिसमें यह गुण हों :—(१) शरीर पराक्रम से भरपूर हो (२) हृदय उदार हो (३) मेधा गम्भीर हो (४) मन हर्ष से भरा हो।

कन्या तथा वर का सम्बन्ध करने से पहले इन चारों गुणों का देख लेना अत्यन्त आवश्यक है। कहा जा सकता है कि गृहस्थाश्रम का कार्य तो धन के बिना एक क्षण भी चल नहीं सकता और इस वेदमंत्र ने धन का नाम ही नहीं लिया, परन्तु जब शरीर के पराक्रम और गम्भीर बुद्धि का वर्णन कर दिया, तब इन गुणों के होते हुए लक्ष्मी तो स्वयमेव आ जायगी।

वधू कैसी हो? इसका बड़ा सुन्दर चित्र ऋग्वेद में खींचा है—

अघोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवकामा स्योना शन्नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥
ऋ० १०।८५।४४॥

अर्थात्—हे वधु! तेरी दृष्टि कभी क्रूर न हो, पति के जीवन को सदा बढ़ाने वाली हो, पशुओं के लिये कल्याणकारिणी हो, विशाल हृदय वाली, तेज और कान्ति से पूर्ण हो। वीरजननी हो, परमेश्वर की भक्त हो, सुखदायिनी हो, कल्याण करने वाली हो, हमारे मनुष्यों के लिये, और कल्याण करने वाली हो पशुओं के लिये।

ऐसे वर-वधू का जब मिलाप होता है तब उस पति-पत्नी का प्रेम आदर्श प्रेम हो जाता है, इस परस्पर प्यार का वर्णन वेद ने ऐसे किया है:—

अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति।
अथर्व. ७।३६।१॥

अर्थात्—हे वधु! मुझको अपने हृदय के अन्दर बैठा ले, हम दोनों का मन तक भी इकट्ठा एक हो जाये।

वधू वर को कहती है—

ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन।
अथर्व० ७।३८।४॥

अर्थात्—तू केवल मेरा ही होकर रह, अन्य स्त्रियों की चर्चा तक न कर।

वेद ने तो पति-पत्नी प्रेम को चकवा-चकवी के प्यार की उपमा दी है, मन्त्र यह है:—

इहेमाविन्द्र संनुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम्॥
अथर्व० १४।२।६४॥

अर्थात्—हे प्रभु! इस दम्पती को चकवे-चकवी की नाईं (प्रेम के) पूरे रंग में प्रेर।

एक और बड़ा सुन्दर मंत्र देखिये जिसमें पत्नी के प्रति कितनी कवितापूर्ण बात कही गई है:—

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या
वेददित् पश्यन्मनसः कुलायम् ।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं
श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान् ॥

अथर्व० १४।१।५७ ॥

अर्थात्—मैं इसके रूप को अपने अन्दर खोलता हूँ, जिसको मैंने अपने मन का घोंसला देखते हुए प्राप्त किया है। मैं इससे चोरी कुछ नहीं भोगूँगा, मैं अपने मन के साथ उन्मुक्त हुआ हूँ, स्वयं वरुण के पाशों को खोला है।

कितनी मार्मिक बात कही गई है कि मैं अपनी पत्नी के रूप को अपने हृदय में धारण करता हूँ, जो मेरे मन-रूपी पक्षी का घोंसला है। मेरा मन थक-थकाकर अपनी पत्नी के प्रेम ही में विश्राम पाया करेगा। परमात्मा की ओर से जो धर्म-बन्धन ब्रह्म-चारी रूप में पुरुष पर था, अब पत्नी-प्रेम में उस बन्धन को खोला जा रहा है।

सारी योग्यताएँ प्राप्त करके अब दोनों विवाह-बन्धन में बाँधे जा चुके हैं, दोनों हृदय मिल चुके हैं। दोनों अभिन्न-हृदय हो गये हैं। सत्य यह है कि पहले यह दोनों अपूर्ण थे, अब दोनों के मिलाप से यह पूर्ण हो गये हैं। पत्नी को अर्धांगिनी कहा गया है। महाभारत आदि पर्व अ० ७४ में लिखा भी है :—

अर्धं भार्या मनुष्यस्य भार्या श्रेष्ठतमः सखा ॥

अर्थात्—पत्नी पुरुष के आधे शरीर के समान है और वही सबसे श्रेष्ठ मित्र है।

विवाह के पश्चात् दोनों को एक कर दिया गया है, प्रेम का बन्धन होता भी ऐसा ही है। कवि ने कहा है :—

इक जान होके चलते हैं मैं तू को छोड़ कर।
उलफ़त की तंग राह में दो का गुज़र नहीं॥

परन्तु पति-पत्नी सर्वदा एक ही तो नहीं रहते। यह माता-पिता भी बनते हैं। सन्तान उत्पन्न होने लगती हैं, तब यह सारा भार-बोझा उठाना होता है। विवाह शब्द का अर्थ भी यही है। वि = विशेष रूप से, वाह = वाहन, बोझा ढोना, ले जाना। अब पति-पत्नी को "वाहन" बनना होता है। बोझ इतना उठाओ जितना सहन हो सके; और यदि बोझ उठा लिया है तो फिर इस जिम्मेदारी को प्रसन्नता से पूरा करो।

गृहस्थाश्रम के दुःखी हो जाने का पहला कारण तो बतला दिया है कि योग्यता तथा अधिकार प्राप्त किये बिना गृहस्थाश्रम में बिना सोचे-समझे प्रवेश हो रहा है।

दूसरा कारण दुःख का यह है कि बिना विचारे और बिना तप के सन्तान पैदा की जा रही हैं। अब सन्तान उत्पन्न की नहीं जाती—उत्पन्न हो जाती है। भगवान् कृष्ण को जब कोई कहता था कि अमुक कार्य नहीं हो सकेगा तो वह कहा करते थे कि प्रद्युम्न से कहो वह कर देगा। बड़ा भरोसा था भगवान् कृष्ण को अपने पुत्र प्रद्युम्न पर। जब उनसे पूछा गया कि आपको प्रद्युम्न पर इतना विश्वास क्यों है, तो भगवान् कृष्ण ने बताया कि विवाह के पश्चात् गुरुजी के आश्रम में पत्नी के साथ रहकर मैंने बारह वर्ष असिधाराव्रत पालन किया था, तब प्रद्युम्न का जन्म हुआ था। असि तलवार को कहते हैं, तलवार की धार पर चलना महा तप है। भगवान् कृष्ण पत्नी के साथ एक ही आश्रम में संयम से रहे, यह तेज़ तलवार की धार पर चलने से भी कठिन व्रत है। परन्तु इस व्रत को निभाने से फल भी तो अत्यन्त मीठा मिला। आज यह बात रही नहीं, माता-पिता सन्तान की शिकायत करते हैं और सन्तान माता-पिता से दुःखी रहते हैं।

वेद ने गृहस्थाश्रम को सुखी बनाने का यह गुर बतलाया है :—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जायापत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवाम् ॥

अथर्व. ३।३०।२॥

अर्थात्—पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो, माता से एक मन वाला हो, पत्नी अपने पति के लिये ऐसी वाणी बोले, जो शहद से भरी हुई और हित-पूर्ण हो।

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट
संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत
सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥
अथर्व० ३।३०।५ ॥

अर्थात्—अपने अपने से बड़ों के आज्ञाकारी और उदारहृदय बनो, अलग-अलग न हो जाओ। कार्यों को पूर्ण करते हुए (गृहस्थाश्रम की गाड़ी को) इकट्ठे मिलकर खींचते हुए, एक दूसरे के लिये सुन्दर प्रिय वचन बोलते हुए मेरी (परमात्मा की) ओर बढ़े आओ। मैं तुम्हें एक दूसरे का साथ देने वाले और समान मन वाले बनने की आज्ञा देता हूँ।

समानी प्रपा सह वो अन्नभागः
समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥
अथर्व० ३।३०।६ ॥

अर्थात्—तुम्हारे पानी का स्थान इकट्ठा हो, तुम्हारे अन्न का भाग इकट्ठा हो, (प्रेम के साथ इकट्ठे खाओ पियो) एक जूए में तुमको इकट्ठे जुड़ने की आज्ञा देता हूँ। तुम सब मिलकर इकट्ठे अग्निहोत्र करो, ऐसे मिलकर रहो जैसे अरे (रथ की) नाभि के चारों ओर होते हैं।

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्ये-
कश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान् ।
देवा इवामृतं रक्षमाणाः
सायं प्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥
अथर्व० ३।३०।७ ॥

अर्थात्—मैं तुम सबको इकट्ठे मिलकर चलने वाले (मिलकर उद्योग करने वाले), समान मन वाले और हार्दिक प्रेम के साथ समान भागों वाले बनने की आज्ञा देता हूँ। देवताओं की भाँति अमृत की रक्षा करते रहो, साँझ-सवेरे तुम्हारा सौमनस्य (प्रीतिभाव) और शुभ (चिन्तन) बना रहे।

"देवताओं की भांति अमृत की रक्षा करते रहो" का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार दैवी सम्पदा वाले अमर आत्मा के उत्थान को ही अपने समक्ष रखते हैं, इसी प्रकार गृहस्थ आत्म-उन्नति ही में लगे रहें, जो भी कार्य करने लगें, पूर्व ही देख लें कि यह कार्य आत्मा की उन्नति में बाधक तो नहीं होगा ?

वेद यह भी आज्ञा देता है कि जिस स्थान के जल, वायु, भूमि, वृक्ष इत्यादि अनुकूल हों, वहीं गृह बनाना चाहिये; परन्तु आजकल इस आदेश को भूलकर केवल एक ही बात सामने रह गई है कि जहाँ से धन की, रोजी की प्राप्ति हो, वहीं डेरा लग जाता है। गृह-प्रवेश संस्कार में यह विधान है कि नये घर में प्रवेश करते समय गृहस्थ यह कहे :—

'ऋतं प्रपद्ये शिवं प्रपद्ये'

अर्थात्—मैं ऋत की शरण लेता हूँ, कल्याण की शरण लेता हूँ।

ऋत उस सचाई तथा नियम को कहते हैं, जिस पर चलने से मनुष्य बुराइयों से बचता हुआ सदा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होता है। तभी घर में कल्याण होता है। फिर ऋग्वेद मण्डल सात सूक्त ५४ के जो मंत्र पढ़े जाते हैं, उनमें परमात्मा को "वास्तोष्पते" कहकर पुकारा गया है। वास्तोष्पते का अर्थ है—"घर का मालिक"—वास्तव में घर का मालिक परमात्मा है। मनुष्य तो केवल रैनबसेरा करने वाला पक्षी है। परमात्मा को घर का, सारे परिवार का, कारोबार का, सबका स्वामी समझकर नित्य उसकी इस प्रकार आराधना करो, जैसे पुत्र पिता से याचना करता है।

परमात्मा ही को अपना माता-पिता-बन्धु समझ कर उसी की आज्ञा से सुन्दर स्थान चुनकर मकान बनाये जाते थे, और परमात्मा ही को अपने अंग-संग समझकर जीवन-यात्रा के लिये धन कमाया जाता था।

अथर्ववेद ३।१५ में इस सम्बन्ध में बड़े सुन्दर मंत्र आते हैं—पञ्चम मंत्र यह है:—

येन धनेन प्रपणं चरामि
धनेन देवा धनमिच्छमानः ।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्ने
सातघ्नो देवान् हविषा निषेध ॥

अर्थात्—हे सब कुछ देने वाले प्रभु! धन के द्वारा धन (की वृद्धि) चाहता हुआ मैं जिससे व्यापार चलाता हूँ, वह मेरा बढ़ता चला जाये, मत कभी घटे। हे सन्मार्ग दिखलाने वाले प्रभु! लाभ की नाशक शक्तियों को हवि से परे हटा।

धन कोई बुरा पदार्थ नहीं है। हाँ, इसका अच्छा या बुरा प्रयोग ही इसे अच्छा बुरा बना देता है। वेद ने इसीलिये धन परमात्मा के अंग-संग रहकर कमाने की आज्ञा दी है।

ऋग्वेद का यह मन्त्र देखिये:—

विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे॥

ऋ. ५।५०।१॥

अर्थात्—सीधा मार्ग दिखलाने वाले परमात्मा की मित्रता को सभी मनुष्य स्वीकार करें, हर एक ऐश्वर्य के लिये धनुष धारण करे (पूरा प्रयत्नशील हो) और पुष्टि के लिये धन को स्वीकार करे।

पहले परमात्मा की मित्रता प्राप्त करो, पीछे धन कमाने में लगो। यदि प्रभु को सखा बनाये विना धन ऐश्वर्य एकत्र करने लगे तो धन अभिमान अहंकार पैदा कर देगा, जिसे सर्व नाश का द्वार ब्राह्मण-ग्रन्थों में बतलाया गया है। धन और अभिमान जहाँ इकट्ठे हुए, तब एक नशा-सा चढ़ जाता है जो दुर्बलों पर अत्याचार, अनाचार तथा दुर्व्यवहार कराता है।

धन कौन-सा सुख देने वाला है, इसका बड़ा सुन्दर विवरण ऋग्वेद के अन्दर आता है:—

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे।
यशसं वीरवत्तमम्॥

ऋ० १।१।३

अर्थात्—मनुष्य (अग्नि) परमात्मा के साथ धन का उपभोग करे, जो दिन पर दिन पुष्टिकारक ही हो, यश से युक्त हो, और सबसे बढ़कर वीर (पुरुषों) वाला हो। पाँच बातें एक ही मंत्र में परमात्मा ने गृहस्थों के लिये बतला दी हैं—(१) पहली बात यह कि धन का उपभोग करो, केवल कमा-कमा कर जोड़ते ही न रहो। कहा भी है:—

दानोपभोगहीनेन धनेन धनिनो यदि।
भवामः किं न तेनैव धनेन धनिनो वयम्॥

अर्थात्—दान और उपभोग से हीन धन से वे यदि धन के स्वामी कहे जा सकते हैं, तो फिर उसी धन से हम भी धन के स्वामी क्यों नहीं?

अतएव धन कमाकर उसका उपभोग करो। सांप बनकर उसके ऊपर बैठ न जाओ। दान दो राष्ट्र के लिये, वेद-प्रचार के लिये, दुःखियों की सहायता के लिये।

(२) दूसरी बात मन्त्र में यह बतलाई है कि "अग्नि के साथ धन" कमाओ और उपभोग करो। परमात्मा का सखा बनकर धन कमाओ, प्रभु को भूल न जाओ जैसे आजकल अपने आपको साम्यवादी कहने वाले प्रभु से विमुख होकर हर प्रकार के अत्याचार कर रहे हैं।

(३) फिर यह धन पुष्टिकारक हो। यह नहीं कि धन पाकर आलसी, दुर्बल हो जायें और यह धन धनी को विषयी, आलसी, स्थूल बनाकर उसी को निर्बल बनाने का कारण बन जाये।

(४) चौथी बात यह कि यह धन यश से युक्त हो। आजकल कुछ लोगों के लिये धन अपयश का भी कारण बन रहा है। कितने ही ऐसे मुकदमे चल रहे हैं, जिनसे ऐसे लोगों का भारी अपयश हो रहा है। नेक कमाई का धन ही यश दिलाता है। बुरी कमाई, चोर-बाजारी, रिश्वत, खाद्य पदार्थों में मिलावट, दूसरों की पगड़ियाँ उछालकर, गुटबन्दी बनाकर, डाके डालकर, चोरी इत्यादि से जो धन प्राप्त किया जाता है, या धन के लोभ में अपनी पत्नियों को सताना, उनको त्याग देना, उन्हें मृत्यु का ग्रास बना देना, या धन पाकर नाना व्यसनों में पड़कर धन का व्यय करना, यह सब दुष्कृत्य अपयश के हेतु बन जाते हैं।

(५) पांचवीं बात यह है कि धन वीरों वाला हो। अर्थात् इस धन से तुम्हारे शत्रु न बढ़ें। वीर, मित्र बढ़ें, तुम भी वीर बनो, कायर नहीं।

ऐसा धन ही एक व्यक्ति को, परिवार को, देश तथा राष्ट्र को सुखी बना सकता है और ऐसा धन

जुआ खेलकर, रिश्वत लेकर या धोखा देकर प्राप्त नहीं होगा। खेती करके, शुद्ध व्यापार करके, पूरा पुरुषार्थ करके, पसीना बहाकर, प्रभु को अपने साथ रखकर ही कमाया जा सकेगा।

फिर यह नहीं कि इस धन को अपने लिये ही रख ले। इस धन का कैसे प्रयोग करे, वेद आदेश देता है कि—

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्-
त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्
स मर्डितारं न विन्दते ।

ऋ० १०।११७।२

अर्थात्—वह, जो अन्नवान् (धनवान्) होकर रोटी की कामना से शरण में आये दीन, अनाथ और दुखिया विपद्ग्रस्त के लिये अपना मन कड़ाकर लेता है और उसके सामने स्वयं (भोगों का) सेवन करता है, वह कभी अपने लिये सहायक को नहीं पाता है।

पृणीयादिद् नाधमानाय तव्यान्
द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्राऽ-
न्यमन्यमुपतिष्ठन्त रायः ॥

ऋ० १०।११७।५॥

अर्थात्—धनाढ्य को चाहिये कि अर्थी, याचक को यथाशक्ति अवश्य देवे और अपनी दृष्टि लम्बे मार्ग पर रखें, क्योंकि धन रथ के पहिये की तरह घूमते हैं, आज एक के पास हैं तो कल दूसरे के पास जाते हैं।

"अपनी दृष्टि लम्बे मार्ग पर रखे" का अभिप्राय यह है कि सावधान रहो, कहीं तुम्हें भी याचक न बनना पड़े और तुम्हें भी किसी की सहायता की आवश्यकता पड़ जाये। वह रावण की स्वर्ण-लंका कहाँ है? वह कारूँ के ४० कोष किधर हैं? सुनहरे दिन सदा नहीं रहते।

कहा गुँचे से मुरझा कर यह गुल ने।
हमेशा कब रहा है जोबन किसी का॥

छठे मंत्र में तो यहाँ तक कह दिया कि अकेला खाने वाला पापी बनता है:—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः
सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं
केवलाघो भवति केवलादी ॥

ऋ० १०।११७।६॥

अर्थात्—वह मूर्ख अन्न का व्यर्थ लाभ करता है, मैं सत्य कहता हूँ, वह तो उसका नाश ही है। जो न ईश्वर के मार्ग पर लगाता है, न ही मित्र को सहायता देता है, अकेला खाने वाला निरा पापी बनता है।

अतएव अपनी कमाई केवल अपने शारीरिक सुख तथा इन्द्रियों की तृप्ति के लिये खर्च न करो, कुछ बचाओ और दूसरों के सहायक बनो।

कितने सुन्दर आदेश वेद ने गृहस्थियों का कल्याण करने के लिये दिये हैं। परन्तु मानव इन्हें भूलकर मनमानी करने लगा है ताकि सुखी हो सके, परन्तु वह उलटा दुःखी हो गया है।

सुख चाहते हो, गृहस्थ जीवन को सफल, सुन्दर, सरल बनाना चाहते हो तो वेद से पूछो, वेद ही सन्मार्ग दिखलायेगा॥

प्रभु कहाँ है ? देखो, वह यहाँ है

[ले०—श्री० पं० रामनाथ जी वेदालङ्कार, प्रो० गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय]

क[1] स्य वृषभो युवा तुविग्रीवो अनानतः ।
ब्रह्मा कस्तं सपर्यति ॥

साम. पू. प्र० २, द. ५, मं. ८ ॥

तुम कहते हो, संसार में कोई है जो 'वृषभ' है, वर्षा करने वाला है। उसी के नियमों के अनुसार समुद्र से पानी वाष्प बनकर आकाश में बादल के रूप में एकत्र होता है और बरसता है। वह बरसा हुआ पानी सब प्राणियों का कल्याण कर नदियों के द्वारा फिर समुद्र में पहुँच जाता है, और समुद्र से पुनः बादल बनकर बरस जाता है। यह क्रम निरन्तर चलता रहता है। और यह पानी की वर्षा ही क्या, वह तो अनन्त पदार्थों की वर्षा करने वाला है। वह हमें गर्मी पहुँचाने के लिए भूमि पर सूर्य-किरणों की वर्षा करता है, हमें प्राण देने के लिए वायु की वर्षा करता है, हमारे लिए धन-धान्य की वर्षा करता है, हीरा-मोती, सोना-चाँदी की वर्षा करता है, और इन सबसे बढ़कर हमारे ऊपर सद्गुणों की वर्षा करता है, सब प्राणियों पर अपने न्याय, दया, सुख आदि की वर्षा करता है। पर हम पूछते हैं—वह है कहाँ ?

तुम कहते हो संसार में कोई है जो 'युवा' है, सदा से युवा रहा है और आगे भी सदा युवा ही रहेगा। हम सांसारिक प्राणी एक दिन जन्म लेते हैं, फिर क्रमशः बचपन, यौवन और बुढ़ापे की अवस्थाओं को पार करते हुए एक दिन इस संसार को छोड़कर चले जाते हैं। पर वह ऐसा नहीं है। वह सदा तरुण है। कोई ऐसा समय नहीं था जब वह बच्चा रहा हो, बच्चे की तरह अल्पशक्ति रहा हो और कभी ऐसा समय नहीं आयेगा जब वह बूढ़ा हो जाये, बूढ़े की तरह अशक्त हो जाये। वह अजर है, अमर है। पर हम पूछते हैं—वह है कहाँ ?

तुम कहते हो संसार में कोई है जो 'तुविग्री[...] है, अनन्त ग्रीवाओं वाला है, ग्रीवा के जो निगल[...] और उपदेश देना रूपी व्यापार हैं उन्हें अन[...] रूप से करने वाला है। जैसे हम प्राणी अप[...] ग्रीवा से ग्रास को निगलते हैं वैसे ही वह सम[...] आने पर प्रत्येक पदार्थ को निगलता है अ[...] प्रलयकाल में सारे जगत् को ही कवलित कर ले[...] है। जैसे हम अपनी ग्रीवा से बोलकर दूसरे[...] उपदेश देते हैं वैसे ही वह हम सबके मनों में ज्ञा[...] का उपदेश करता है और आदि सृष्टि में भी उसी[...] हमारे लिए वेद का उपदेश किया था। पर हम पूछ[...] हैं—वह है कहाँ ?

तुम कहते हो संसार में कोई है जो 'अनान[...] है, अपराजेय है, विश्व की बड़ी से बड़ी शक्ति [...] हार नहीं मानने वाला है। वह किसी के आ[...] नहीं झुकता, उसके आगे सब झुकते हैं। ये उत्तु[...] पर्वतशिखर उसके आगे झुकते हैं, ये नदी-नद-समु[...] उसके आगे झुकते हैं, ये सूर्य-चाँद-तारे उसके आ[...] झुकते हैं, ये सम्पूर्ण द्यावापृथिवी उसके आगे झुक[...] हैं। पर हम पूछते हैं—वह है कहाँ ?

तुम कहते हो संसार में कोई है जो 'ब्रह्मा' [...] जो विशाल है, जो बृहत् शक्ति वाला है, जो ब[...] समृद्ध है। पर हम पूछते हैं—वह है कहाँ ?

तुम कहते हो उस 'वृषभ' की, उस 'युवा' [...] उस 'तुविग्रीव' की, उस 'अनानत' की, उस 'ब्रह्म[...] की पूजा करो, आराधना करो। पर हम पूछते [...] कौन उसकी आराधना कर सकता है, कैसे क[...] उसकी आराधना कर सकता है। आराधना [...] उसकी की जाये जिसे देखकर आँखें तृप्त हो स[...]

१ अर्थ—(क्व स्यः) कहाँ है वह (वृषभः) वर्षक, (युवा) तरुण, (तुविग्रीवः) बहुत ग्रीवाओं वाला [...] (अनानतः) अपराजेय (ब्रह्मा) परमेश्वर ? वह कहीं दीखता तो है नहीं, अतः (कः तम्) कौन उसे (सपर्यति [...] पूज सकता है ।

जिसकी अमृत-वाणी से कान तृप्ति पा सकें, जिसके चरणों की धूल से मस्तक धन्य हो सके। हम पूछते हैं उसका कोई ठिकाना बताओ, उसका कोई रूप बताओ, उसकी कोई निशानी बताओ, जहाँ जाकर, जिस रूप को देखकर जिस निशानी को पहचानकर हम उसके दर्शन पायें, उसकी आराधना करें।

क्या कहते हो ? किसी गुरु की शरण में जाओ। मुझे तो कोई गुरु नहीं दीखता। मैं कहाँ जाऊँ, मैं किसके द्वार पर जाकर टक्कर मारूँ ? अरे, सहसा यह किसका गम्भीर स्वर आकाश में गूँज रहा है—

[२]उपह्वरे गिरीणां सङ्गमे च नदीनाम्।
धिया विप्रो अजायत ॥

साम. पू. प्र. २, द. ५, मं. ९।

क्या तुम प्रभु के दर्शन करना चाहते हो ? यदि ऐसा है तो आओ। थोड़ी देर के लिए तुम्हें संसार के दूषित विषैले वातावरण से दूर हटना होगा। उसे देखने के लिए प्रारंभ में तुम्हें ऐसे वातावरण में चलना पड़ेगा जहाँ ध्यान भग्न करने के लिए सांसारिक कलह, कटुता और अशान्ति का नर्तन न होता हो, किन्तु शान्ति का साम्राज्य हो। वहाँ दर्शन कर लेने के पश्चात् फिर वह सर्वत्र दिखाई पड़ने लगेगा। फिर तुम सांसारिक कोलाहल और चीत्कार के बीच भी उसकी हँसती हुई मुखमुद्रा का दर्शन कर सकोगे।

अच्छा, तो आओ, पर्वतों के एकान्त में चलो, नदियों के संगम पर चलो। पर्वत के नीचे खड़े होकर जरा उसकी गगनचुम्बी चोटियों की ओर तो निहारो। क्या ये चोटियाँ सिर ऊपर किये हुए तुम्हें उसी प्रभु की महिमा गान करती हुई प्रतीत नहीं होतीं ? पर्वत के इन स्वच्छ झरनों की ओर तो देखो। क्या झर-झर करते हुए ये झरने तुम्हें उस प्रभु के ही गीत गाते प्रतीत नहीं होते। पर्वत के इन सुरभित वृक्षों और लता-कुञ्जों की ओर तो दृष्टि डालो। क्या ये तुम्हें उसी प्रभु का संकेत करते प्रतीत नहीं होते। लताकुञ्जों पर फुदक कर चहकती हुई इन चिड़ियों को तो देखो। क्या ये तुम्हें उसी प्रभु की चर्चा करती प्रतीत नहीं होतीं। पर्वतीय उपवन के पुष्पित तरुओं पर उड़ती हुई रंगबिरंगी तितलियों को तो देखो, क्या ये उसी प्रभु के रूप-रंग की झाँकी देती हुई प्रतीत नहीं होतीं।

आओ, इन नदियों के संगम की ओर भी देखो। विपुल वेग के साथ दौड़कर एक दूसरों के साथ मिलती हुई धारायें क्या उसी प्रभु के मिलन का संदेश नहीं दे रहीं ? क्या ये धारायें अपने तरंग रूपी हाथों को उठा-उठाकर प्रभु-दर्शन के लिए तुम्हें नहीं बुला रहीं ?

अब थोड़ी देर के लिए इस शान्त वातावरण में आँख बन्द करके भी देखो। क्या अन्दर किसी ज्योति के दर्शन नहीं होते ? क्या ऐसा प्रतीत नहीं होता कि किसी आनन्द के स्रोत से आनन्द का प्रवाह तुम्हें अनुपम, अवर्णनीय आनन्द-रस से अभिषिक्त कर रहा है। यदि ऐसा अनुभव होता है तो तुम्हें प्रभु के दर्शन हो गये। अब तुम सर्वत्र प्रभु को देख सकोगे। अब तुम स्वयं कहोगे—प्रभु यहाँ भी है, वहाँ भी है; इधर भी है, उधर भी है; पूर्व में भी है, पश्चिम में भी है; उत्तर में भी है, दक्षिण में भी है; नीचे भी है, ऊपर भी है; पृथ्वी में भी है, सूर्य में भी है। वह पेड़-पौधों में है; फूल-पत्तियों में है; नदी-नीर में है, सागर में है; बादल में है, बिजली में है; सूर्य में है; चाँद में है; जड़ में है, चेतन में है; कण-कण में है, सर्वत्र है।

प्रभु क्योंकि चर्मचक्षुओं से दीखता नहीं, इस लिए है ही नहीं, तुम्हारे मन में उठी हुई यह शंका कोई नवीन नहीं है, यह तो सनातन है। वेद स्वयं कह रहा है—

२. (गिरीणाम्) पर्वतों के (उपह्वरे) एकान्त में, (नदीनां च) और नदियों के संगम पर (धिया) ध्यान के द्वारा (विप्रः) विप्र प्रभु (अजायत) हृदय में प्रकट होता है।

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्
उतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवामिनाति
श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥

ऋग्वेद २।१२।५॥

बहुत से मनुष्य सन्देह की भावना के साथ आ आकर पूछते हैं कि यदि प्रभु है तो कहाँ है। दूसरे कुछ लोग इससे भी आगे बढ़ जाते हैं और वे ताल ठोककर कहते हैं कि प्रभु नाम की वस्तु संसार में कोई नहीं है। पर इन दोनों कोटि के मनुष्यों के जीवनों में अनेक ऐसे अवसर आते हैं कि उनका अपना अन्तःकरण ही कहता है कि प्रभु है, अवश्य है।

एक बार नौका में बैठ कर ऐसे ही नास्तिकों की एक टोली नदी पार कर रही थी। अकस्मात् भँवर में पड़कर नौका डगमगाने लगी। मल्लाह ने सुना, सबके मुख पर एक ही शब्द थे- हे भगवन्, रक्षा करो, हे प्रभो, रक्षा करो।

कई वर्ष की बात है, केटा में भूकम्प आया। भूमि हिल उठी, दीवारें गिरने लगीं, मकान धराशायी हो गये। एक गिरी हुई दीवार के नीचे दबे हुए दो शिशु दो दिन बाद मलबा हटाने पर हंसते हुए बाहर निकल आये। वे एक गिरी हुई टीन के नीचे सुरक्षित थे। एक नास्तिक के मुख से निकल पड़ा—ईश्वर! तेरी लीला अपार है। जा को राखे साइयाँ मार सकै ना कोय!

एक विदेशी विद्वान् कट्टर नास्तिक थे। उन्होंने अपने भवन की दीवार पर स्थूलाक्षरों में लिखा हुआ था—ईश्वर कहीं नहीं है "God is nowhere. ।" जीवन भर वे इसी मन्त्र का प्रचार करते रहे। मरणासन्न अवस्था में वे अपने भवन में शय्या पर पड़े हुए थे। दीवार पर लिखा हुआ वह वाक्य उनके नेत्रों के सम्मुख था। अकस्मात् उनके होठों ने बुदबुदाया—"God is now here" ईश्वर इस सम[य] मेरे निकट है।" सुनने वालों ने हैरान होकर सुना।

महर्षि दयानन्द मृत्युशय्या पर पड़े हुए थे। पर[म] नास्तिक गुरुदत्त उनके समीप थे। असह्य कष्ट [के] समय भी महर्षि के मुख पर मुस्कराहट व्याप र[ही] थी। उनके मुख से शब्द निकले—"ईश्वर तेरी इच्छ[ा] पूर्ण हो, तूने अच्छी लीला की" और शरीर त्या[ग] दिया। अहो, अपार मृत्यु-कष्ट के समय भी इत[ना] धैर्य! क्षण भर में गुरुदत्त नास्तिक से आस्तिक [हो] गये।

क्या ये घटनायें सिद्ध नहीं करतीं कि तुम्हारे म[न] में प्रभु के प्रति जो सन्देह प्रस्फुटित हुआ है। व[ह] एक न एक दिन अवश्य विलीन हो जायेगा। जीव[न] में देखी, सुनी या अनुभव की हुई कोई छोटी-[सी] भी घटना तुम्हें नास्तिक से आस्तिक बना देगी।

और देखो, नास्तिकता का दम भर कर संसा[र] में उत्पात मचानेवाले बड़े-बड़े धर्मद्रोही लोगों को जो पनपते और फूलते-फलते प्रतीत होते थे, प्रभु [ने] ऐसे कँपा डाला जैसे भेड़िया भेड़ को कँपा डाल[ता] है। हिरण्यकशिपु और कंस की अहम्मन्यता चि[र] स्थायी नहीं रह सकी। इसलिए मैं तुम्हें कह[ता] हूँ—प्रभु में श्रद्धा करो, प्रभु में विश्वास लाओ— "श्रदस्मै धत्त"।

आओ, वेद के शब्दों में मैं उस प्रभु की कहा[नी] तुम्हें सुनाऊँ। सुनो—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्
देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां
नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः ॥

ऋग्वेद २।१२।१ ॥

"जो सदा ही विद्यमान् रहता है, जो सर्वश्रे[ष्ठ]

---

३. (यं स्म पृच्छन्ति) जिसके विषय में लोग पूछते हैं कि (कुह स इति) वह कहाँ है, (उत ईम् एनम् आहुः तथा कुछ लोग इसके विषय में कहते हैं (न एषः अस्ति इति) कि वह तो है ही नहीं, किन्तु (सः) वह तं (अर्यः) नास्तिक शत्रु की (पुष्टीः) पुष्टियों को—समृद्धियों को (विजः इव) झकझोर डालने वाले हिंसक जन्[तु] के समान (आमिनाति) नष्ट कर देता है, (जनासः) हे मनुष्यो, (स इन्द्रः) वह प्रभु है। (अस्मै श्रद्धत्त उसमें श्रद्धा करो।

है, जो मनस्वी है, जिस देव ने सब दिव्य पदार्थों को अपने-अपने कर्म से अलंकृत किया हुआ है, जिसके बल की महिमा से द्यावापृथिवी काँपते हैं, हे मनुष्यो, वह 'प्रभु' है।"

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्
यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो
यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥
ऋग्वेद २।१२।२॥

"सृष्टि के प्रारम्भ में जिसने गारे के समान हिलती डुलती पृथ्वी को दृढ़ किया, जिसने आग उगलने वाले प्रकुपित ज्वालामुखी पर्वतों को रमणीक बनाया, जिसने विशाल अन्तरिक्ष को रचा, जिसने द्युलोक को स्थिर किया, हे मनुष्यो, वह 'प्रभु' है।"

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो
यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः।
यः सूर्यं य उषसं जजान
यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥
ऋग्वेद २।१२।७॥

"घोड़े जिसके शासन में हैं, गौएँ जिसके शासन में हैं, ग्राम जिसके शासन में हैं, रथ जिसके शासन में हैं, जिसने सूर्य को रचा, जिसने उषा को रचा, जिसने नदियों को प्रवाहित किया, हे मनुष्यो, वह 'प्रभु' है।

प्रभु की गुणगाथा मैं तुम्हें कहाँ तक सुनाऊँ। वेद और शास्त्र इससे भरे पड़े हैं। बहुत कुछ सुना सकता हूँ, पर देखता हूँ उसका कुछ अधिक फल होने वाला नहीं है। तुम्हारा मन थका हुआ-सा, कुछ अजीब दुविधा में पड़ा हुआ-सा पा रहा हूँ। तुम कुछ ऐसी स्थिति में पड़ गये हो कि प्रभु की सत्ता के विषय में 'हाँ' भी नहीं कर सकते हो और 'ना' भी नहीं। मैं तुम्हारे अन्तर्द्वन्द्व को समझ रहा हूँ। ठीक है, तर्क से, युक्ति से प्रभु को हृदयङ्गम करा सकना कठिन है। तो भी मैं समझ रहा हूँ, तुम्हें मेरा यह सब कहना व्यर्थ नहीं गया है। मुझे स्पष्ट दिखाई दे रहा है कि तुम्हारे हृदय-द्वार के कपाटों के बीच में एक पतली-सी रेखा उत्पन्न हो गयी है और उसमें से प्रभु-प्रकाश की एक सूक्ष्म किरण तुम्हारे हृदय में प्रविष्ट हो रही है। बस, इतना ही पर्याप्त है। कोई मनुष्य दूसरे मनुष्य के लिए इतना ही कर सकता है। अगला कार्य प्रभु स्वयं करेंगे।

"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।"

एक उत्कृष्ट वैदिक प्रार्थना

[*ले०—श्री० डा० मङ्गलदेवशास्त्री एम० ए०, डी० फिल० (आक्सन)*]

वैदिक धर्म की एक मुख्य विशेषता यह है कि उसके अनुसार मनुष्य के आदर्श और व्यवहार में सामञ्जस्य की आवश्यकता मानी गई है। वैदिक भाषा की शैली में यह कहा जा सकता कि

आदर्शं व्यवहारं च यस्तद्वेदोभयं सह।
व्यवहारेण मृत्युं तीर्त्वाऽऽदर्शेनामृतमश्नुते॥

अर्थात्—जो मनुष्य आदर्श और व्यवहार के साहचर्य को ठीक ठीक समझता है, वह आदर्शानुकूल व्यवहार से मृत्यु अर्थात् जीवन की अपूर्णताओं को दूरकर आदर्श द्वारा अमृत अर्थात् जीवन के शाश्वत लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।

परन्तु उक्त लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए, दूसरे शब्दों में अपने व्यावहारिक जीवन में आदर्शों को उतारने के लिए, बल या शक्ति की मौलिक आवश्यकता है।

इस अपूर्ण जगत् का यह अप्रिय तथ्य है कि अपने उत्कृष्ट आदर्शों की रक्षा के लिए, अथवा प्रायेण आत्म-रक्षा के ही लिए, मनुष्य को संघर्ष का, अपने

आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं (अथवा बाधाओं) के दमन का, यहाँ तक कि घोर 'युद्ध' के मार्ग का भी अवलम्बन करना पड़ता है।

वैदिक मन्त्रों में इसीलिए स्पष्ट शब्दों में कहा गया है—

मा त्वा परिपन्थिनो विदन्। यजु ०४।३४ ॥

अर्थात्—इस बात का ध्यान रखो कि तुम्हारी वास्तविक उन्नति के बाधक शत्रु (आन्तरिक अथवा बाह्य) तुम पर विजय प्राप्त न कर सकें।

इसी प्रकार के संघर्ष की दृष्टि से ऊपर हमने मनुष्य के लिए बल या शक्ति की मौलिक आवश्यकता बतलाई है।

इसीलिए वेदों में परमात्मा के लिए 'य आत्मदा बलदा०' (यजु० २५।१३) इत्यादि मन्त्रों में 'बल देने वाला' कहा गया है। सैकड़ों मन्त्रों में इन्द्ररूप परमात्मा को 'वाजिन्', 'वाजपति' 'शवसस्पति' अथवा 'वाज' या 'बल' या शक्ति का स्रोत या स्वामी कहा गया है। और जगह जगह परमात्मा से बल या 'वाज' के लिए प्रार्थना की गई है। जैसे—

बलं देहि तनूषु नो बलमिन्द्रानडुत्सु नः।
बलं तोकाय तनयाय जीवसे त्वं हि बलदा असि ॥
ऋ०३।५३।१८ ॥

इस प्रकार वैदिक धर्म की दृष्टि से वाज या बल की प्रार्थनाओं का बड़ा महत्त्व है।

उन्हीं प्रार्थनाओं के आधार पर, एक ही स्थान में सैकड़ों मन्त्रों की उत्कृष्ट भावनाओं के एकत्रीकरण के उद्देश्य से, वैदिक छन्द, शब्दावली, शैली और विचारधारा के अनुसार, हमने निम्नलिखित 'वाज-सूक्ति' की रचना की है। हिन्दी-अनुवाद और भावार्थ के साथ उसे हम पाठकों के सम्मुख उपस्थित करते हैं—

वाजसूक्ति

वाजस्य नु प्रसवे तं महान्त-
मिन्द्रं देवं वृत्रहन्तारमीडे।
विश्वकर्माणं मघवानमुग्रं
सायं प्रातर्मन्मना वज्रहस्तम् ॥ १ ॥

अर्थात्—अपने में वाज या शक्ति की प्रेरणा के उद्देश्य से मैं, सायं और प्रातः, स्तोत्र द्वारा वृ[illegible] अथवा बाधक शक्तियों के निवारक उस महान् दे[illegible] इन्द्र-रूप परमात्मा की स्तुति करता हूँ, जो विश्वकर्मा मघवा (ऐश्वर्यशाली), उग्र और वज्रहस्त है।

यस्ते वाजो निहितो वाजपते !
अग्नौ सूर्ये वायावथ स्रोत्यासु।
तेन नो वाजिन् वाजवतो विधेहि ॥२॥

(गद्यात्मक रचना

अर्थात्—हे शक्ति के निधान परमात्मन्! [illegible] आपकी अनन्त शक्ति अग्नि में, सूर्य में, वायु में औ[र] नदियों में कार्य कर रही है, भगवन्! उससे आ[प] हम सबको शक्तिशाली बनाइए।

आज विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि [illegible] भौतिक पदार्थों में अनन्तानन्त शक्ति निहित है औ[र] उस शक्ति का उपयोग भी विश्व के व्यावहारि[क] हित के लिए किया जा सकता है।

इसी सिद्धान्त का विवरण नीचे की रचना [में] किया गया है—

वाजेन सूर्यस्तम आभिनत्ति
वाजेन वायुस्तरसा प्रवाति।
वाजेन विद्युद् द्योतते सशब्दं
वाजेन नद्यः प्रवहन्ति वेगात् ॥३॥

अर्थात्—वाज से ही सूर्य अन्धकार को [illegible] करता है। वाज से ही वायु बलपूर्वक चलता है वाज से ही विद्युत् कड़कड़ाहट के साथ चमक[ती] है और वाज से ही नदियाँ वेग के साथ बहती हैं।

वाजेन वीरा विजयं लभन्ते
वाजेनेन्द्रो जायते वृत्रहन्ता।
वाजेन विश्वं रुचमादधाति
वाजं विना परितो वर्धते तमः ॥४॥

अर्थात्—बल द्वारा ही वीर जन विजय को प्र[illegible]

करते हैं। बल या शक्ति द्वारा ही समुन्नतिशील व्यक्ति (इन्द्र) अपने लक्ष्य की समस्त बाधाओं (वृत्र) को दूर करता है। बल और शक्ति होने पर समस्त संसार दीप्ति से युक्त अर्थात् रोचक प्रतीत होता है। और बल के अभाव में निर्बल व्यक्तियों को अपने चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार फैलता हुआ दीखता है।

वाजः पृथिव्यां दिवि चान्तरिक्षे
वाजो विश्वं भुवनमाविवेश।
आधींश्च व्याधींश्च निवारयन्तो
वाजेन शत्रून् सहसा जयेम ॥५॥

अर्थात्—वाज पृथ्वी, द्युलोक और अन्तरिक्षलोक में विद्यमान है। वाज समस्त सृष्टि में प्रारम्भ से ही व्याप्त था। हम अपने मानसिक कष्टों और शारीरिक व्याधियों-दुर्बलताओं का निवारण करते हुए वाज से समस्त आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं पर सहसा विजय प्राप्त करें।

वाजो हि मा सर्ववीरं करोतु
सर्वा आशा वाजपतिर्जयेयम्।
वाजः पुरस्तादुत पृष्ठतो मे
सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयम् ॥६॥

अर्थात्—मेरे सब पुत्र-पौत्रादि बल से युक्त हों और मैं बलशाली होता हुआ समस्त दिशाओं में विजय प्राप्त करूँ। मेरे सामने बल हो और मेरे पीछे भी बल हो और इस प्रकार बल से युक्त होकर मैं समस्त दिशाओं में सफलता और समृद्धि को प्राप्त करूँ!

अगली रचना में, जो गद्यात्मक है, यह बतलाया है कि बलको प्राप्तकर मैं किन-किन महान् लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उसका उपयोग करना चाहता हूँ—

धीतिश्च मे क्रतुश्च मे, वाक् च मे मनश्च मे, ओजश्च मे सहश्च मे, शर्म च मे वर्म च मे, आत्मा च मे तनूश्च मे, महिमा च मे वरिमा च मे, सत्यं च मे श्रद्धा च मे, क्रीडा च मे मोदश्च मे, सूक्तं च मे सुकृतं च मे, व्रतं च मे तपश्च मे वाजेन कल्पन्ताम् ॥७॥

अर्थात्—भगवन्! बल अथवा शक्ति से संपन्न होकर मैं यही चाहता हूँ कि मैं अपने जीवन में उदात्त लक्ष्यों और गुणों की प्राप्ति कर सकूँ! जैसे—

मुझमें विचार (धीति) और उसको कार्यरूप में परिणत करने का संकल्प या शक्ति (क्रतु) दोनों हों;

मुझमें वाक्-शक्ति के साथ-साथ विचार-शक्ति भी हो;

मुझमें बल (ओजः) और उसके द्वारा दूसरों को प्रभावित करने की शक्ति (सहः) दोनों हों;

मुझमें शान्ति-प्रसन्नता (शर्म) और आत्म-रक्षा की शक्ति (कर्म) दोनों हों;

मेरी आत्मिक उन्नति के साथ-साथ शरीर की स्वस्थता भी हो;

मेरे महत्त्व के साथ-साथ मेरे प्रभाव-क्षेत्र की भी वृद्धि हो;

सत्य के अनुसन्धान के साथ-साथ मुझमें श्रद्धा की भावना भी हो;

मैं निर्दोष क्रियाओं में भाग लेता हुआ मोद-प्रमोद को प्राप्त करूँ;

मुझे सूक्तों-सुभाषितों का ज्ञान हो और साथ ही मेरा आचरण भी तदनुसार हो;

मैं व्रतों के पालन द्वारा तप अर्थात् कष्ट-सहिष्णुता का अभ्यासी बनूँ।

इस प्रकार वैदिक धर्म के अनुसार बल की प्राप्ति का लक्ष्य अपने में उत्कृष्ट गुणों का संपादन करना है, न कि दूसरों को सताना या पीड़ा देना।

परमात्मा से प्रार्थना है कि इस प्रकार वैदिक आदर्शों का अनुसरण करते हुए हम सब

जीवा ज्योतिरशीमहि।

ऋ० ७।३२।२६

जीव सत्य के प्रकाश को इसी जीवन में सतत अनुभव करें॥

॥ ॐ शान्तिः ॥

त्रिदेवता

अर्थात्

ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव

[*ले०—श्री डा० सत्यकामजी भारद्वाज, नई देहली*]

देवतावाद वैदिक है। वेद के प्रत्येक मन्त्र का एक देवता होता है। वेद अपना सारा ज्ञान इन देवताओं के द्वारा ही प्रसारित करता है। वेद से विकसित भारतीय संस्कृति, भारत से इतर देशों की संस्कृतियों से बहुत भिन्न, विचित्र तथा विशुद्ध है। भारत की इस वैदिक संस्कृति तथा सभ्यता के जहाँ कर्म-मीमांसा, संस्कार, वर्ण-व्यवस्था, आश्रम-धर्म, यज्ञ वा दानादि विशेष अंग हैं, इसी प्रकार देवतावाद की भावना भी विशुद्ध रूप से भारतीय है। चारों वेदों में देवताओं का वर्णन है और इन्हें इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, आदित्य, वसु, रुद्र, वायु, चंद्रमा, प्रजापति, ब्रह्मा, विष्णु तथा शिवादि नामों से वर्णित किया है। वेद को हम ज्ञान का भण्डार तथा अपौरुषेय मानते हैं; क्योंकि दयालु प्रभु ने जब इस महान् विश्व की रचना, जीवों के उद्धार के लिये की, तब उस प्रभु ने अपनी अपार कृपा से इस विश्वरूपी कला की रचना-विधि, इसके अंगों की क्रियाओं के ढंग, वेद द्वारा बताये, जिसे जानकर मनुष्य अपना ज्ञान बढ़ाकर अपना उद्धार कर सके। प्रभु ने वेद का उद्देश्य अपनी वेदवाणी द्वारा ही इन स्पष्ट तथा सुन्दर शब्दों में इङ्गित किया है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः।

(यजु० २६।२)

अर्थात्—प्रभु आदेश करते हैं कि जिस प्रकार मैं इस कल्याणमयी वाणी द्वारा तुम्हें ज्ञान प्रदान करता हूँ, इसी प्रकार तुम भी छोटे-बड़े, ऊँच-नीच सबको इस कल्याणमयी वेदवाणी को सुनाओ और ज्ञान प्रदान करो जिससे सबका भला हो। पाठक तनिक विचार करें—एक ओर भगवान् अपने ज्ञान को इस प्रकार देते और देने का दूसरों को आदेश करते हैं, परन्तु ईसाइओं के भगवान् अपने ज्ञान को स्वर्ग के एक वृक्ष के फल में बन्द कर आदिम 'आदम' और 'हव्वा' को उसे न खाने की आज्ञा देते हैं जिससे मनुष्य और उसकी सन्तान सदा के लि[ये] ज्ञानहीन रहकर ईसाई परमात्मा की दास बनी रहे। पाठक भारत से इतर देशों के दार्शनिक तर्क, विचार औ[र] संस्कृति की तुलना उल्लिखित उदाहरण से अपनी भारतीय तथा वैदिक शिक्षा से कर सकते हैं।

वेद के ईश्वरकृत होने से उसकी सब बातें निर्भ्रान्त निरन्तर सत्य हैं, एवं वेदविहित देवता विधान भ[ी] ज्ञान प्राप्त करने की बहुत ऊँचे ढङ्ग की शैली है। अ[तः] देखना यह आवश्यक होगा कि यह देवतादि हैं क्या?

आजकल के युग में जब वेदविद्या तथा वेदों के तत्त्व दर्शी ऋषि महर्षि लुप्त हैं तो वेदों के मन्त्रों में गुह्य देव ताओं का वास्तविक स्वरूप भी लुप्तप्राय है। यही कार[ण] है कि आज वेदों के विषय में कलिकाल के आरम्भ [से] ही, जिसके विचार में जो आया सो उसने कहा वा लिखा लोग वेद विमुख हुए और इसी आर्यजाति में बौद्ध, जै[न] तथा अन्य मत-मतान्तर उत्पन्न हुए। वेदों की शैली उसके पारिभाषिक तथा वैज्ञानिक शब्द और उसकी आल[ं]कारिक भाषा न समझ उन मन्त्रों में विहित देवताओं को व्यक्तियों के रूप में समझने लगे। चूँकि बौद्ध तथा जै[न] विचार वेदों से अधिक दूर चले गये, अतः वह अनीश्वर वादी हो गये और अपने अपने प्रवर्त्तकों का ही मा[न] तथा पूजा करने लगे और उन साकार देहधारी प्रवर्त्तकों की साकार मूर्त्तियाँ बनाकर पूजने लगे। जो वैदिक विचा[र] रखते भी थे, चूँकि वह वैदिक वाङ्मय को न समझ सके तो वह भी वेदविहित देवताओं को साकार बना व्यक्तियों के रूप में समझ उन्हें पूजने लगे। जब जैनियों तथा बौद्धों ने राजकीय बल पाया और राजे भी इन धर्मों से प्रभावित हुए तब उन्होंने तीर्थङ्करों तथा गौतमबुद्ध की सुन्दर विशालकाय मूर्त्तियाँ बनवाकर उन्हें बड़े-बड़े बहुमूल्य मन्दिरों में स्थापित किया। उनकी देखा देखी तथा प्रतिक्रिया रूप

वैदिक धर्मावलम्बियों ने भी वेदों के देवताओं की ही अतिरम्य मूर्त्तियाँ, सुन्दर सुन्दर-रमणीक स्थानों पर मनोहर मन्दिरों में भी स्थापित कीं और जनता को वेदों से विमुख न होने देने के लिये और उन्हें वेदविहित देवताओं के प्रति, जिस किसी भी प्रकार हो सका, श्रद्धेय मूर्त्तियों के रूप में बाँधे रखा। यही कारण है कि जिस प्रकार सारा का सारा चीन, सारा जापान, समूचा सुमात्रा, जावाद्वीप तथा लंकादि अन्य अनेक देश, सम्पूर्ण रूप से बौद्ध हो गये, वैसा हमारा भारतवर्ष, जो स्वयं बौद्धधर्म का जन्मदाता देश था, पूरा का पूरा बौद्ध न हो पाया।

यह तो रही वैदिक विद्या की बाहिरी रूपरेखा, पर जैसा ऊपर लिखा जा चुका है कि वैदिक शिक्षा-प्रणाली की परम्परा टूट चुकी थी और वैदिक परिभाषा नितान्त अनभिज्ञ हो चुकी थी इसलिये वेदों में निहित देवताओं का वास्तविक स्वरूप तथा ज्ञान गुप्त ही रहा और क़लियुग के भाष्यकारों को मन्त्रों के पढ़ने से जो कुछ ऊपर से भाव वा अर्थ समझ आये, सो उन्हों ने अपने भाष्यों में लिखे। किन्हीं को वेदों में केवल यज्ञ ही यज्ञ प्रतीत हुए, उन्होंने आधियाज्ञिक अर्थ ही किये। किन्हीं को वेदों के मन्त्रों में देवताओं की प्रधानता झलकी, उन्होंने अधिदैविक अर्थों पर बल दिया। इस प्रकार वेदों से अनेकों देवताओं का प्रचार हुआ। वेद में केवल एक ही देवों के देव परमात्मा की पूजा की शिक्षा है, इस मौलिक भाव को वह न देख सके जैसा कि वेद ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
यजु० ३२।१॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यस्स सुपर्णो गरुत्मान्। एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥
ऋ० १।१६४।४६॥

स ब्रह्मा स विष्णुः स रुद्रस्स
शिवस्सोऽक्षरस्स परमः स्वराट्।
स इन्द्रस्स कालाग्निस्स चन्द्रमाः॥
कैवल्य उपनिषत्

अर्थात्—यह सब विभिन्न नाम उस एक अक्षर परमात्मा के ही हैं, वह ही इस विश्व का कर्त्ता, धर्त्ता तथा संहर्त्ता है।

वेद की यह मौलिक बात—एक देवतावाद-भाष्यकारों की दृष्टि से ओझल हो गई और उन्होंने एक के स्थान में अनेकों देवताओं का जनता में प्रचार किया। भोली जनता ने अपनी अपनी श्रद्धा तथा भावनाओं से प्रेरित होकर अपने-अपने इष्ट देवताओं को हृदयंगत किया। कालान्तर में अपनी श्रद्धा और भावनाओं को व्यक्त करने के लिये अपने-अपने देवताओं को अपनी बुद्धि और कल्पना के अनुसार मूर्त्तिमान् कर, अपने हृदयमन्दिरों से बाहिर देव मन्दिरों में भी स्थापित किया जिससे दूसरों को भी उनके प्रति श्रद्धा तथा भक्ति उत्पन्न हो और उन देवताओं के द्वारा उनके प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों में श्रद्धा बढ़े। इसी रूप में हम आज सारे भारत देश में मूर्त्तिमान् देवताओं की प्रतिमा मन्दिरों में देख रहे हैं।

जब विदेशी लोग मुसलमान वा ईसाई हमारे देश में आये और उन्होंने हमारे वेदभाष्य पढ़े जिनमें एक के स्थान पर अनेक देवतावाद पाया, तो उन्होंने हमारे भाष्य तथा भावनाओं का केवल उपहास ही नहीं किया वरञ्च अपने तर्क तथा विज्ञान की दृष्टि से वेदों को कपोलकल्पित गड़रियों के गीत सिद्ध किया। उनमें कथा-गाथा, परस्पर के युद्ध और इतिहास बता, वेदों की सारी परम्परा की प्रतिष्ठा का नाश किया। शोक तो अधिक इस बात का है कि हमारे ही देश के लोगों ने उन विदेशियों के शिष्य बनकर, वेदों को मनुष्यकृत तथा इतिहास ग्रन्थ बड़े गर्व से सिद्ध करने का प्रयत्न किया। पाठक स्वयं विचार करें कि अपने ही लोगों से अपमानित वेद आज किस अवस्था में पड़ा है। प्रत्येक आर्य-विद्वान् का धर्म है कि वेद के प्रति उचित ध्यान दे, उसके वास्तविक स्वरूप को समझे, उसमें प्रतिपादित उच्चकोटि के सिद्धान्त, विज्ञान तथा शिक्षा को संसार के आगे व्यक्त करे।

वेद मूलरूप में सब सत्य विद्याओं का आदि स्रोत है और वेद की अपनी शैली तथा विशेषता यह है कि वह सब विद्याओं को देवताओं के रूप में प्रस्तुत करता है। विचार अब यह करना है कि ये देवता क्या हैं? क्या यह व्यक्तिविशेष हैं वा प्रभु की विशेष विभूतियाँ वा विधान हैं जिनके द्वारा वह विश्व को चला रहा है। वास्तव में यह सब देवता वस्तुएँ वा व्यवस्थाएँ हैं जो

विश्व के चलाने में काम कर रही हैं, जैसे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि। वेद में इन सबको देवता ही कहा है जैसे :—

अग्निर्देवता वातो देवता, चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रो देवताऽऽदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवतेन्द्रो देवता वरुणो देवता॥

यजु० १४।२०॥

इस मंत्र में संसार के चलाने वाली इन वस्तुओं को देवता कहा है।

वेद के देवताओं के विषय में महामुनि यास्काचार्य अपने निरुक्त के दैवतकाण्ड के प्रथमाध्याय के द्वितीय पाद में लिखते हैं कि वेद में देवता दो प्रकार से वर्णित हैं—एक "पुरुषविधाः", दूसरे "अपुरुषविधाः"। अर्थात् कई देवताओं को वेद में पुरुष के रूप में वर्णित किया है। उनके आकार व्यहार पुरुष के समान हैं। वह लिखते हैं:—**अथ आकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविधाः स्युरित्येके, चेतनावद्धि स्तुतयो भवन्ति, तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते॥ अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः॥ अथापि पौरुषविधिकैः कर्मभिः॥**

चारों वेदों में वर्णित पुरुषसूक्त में पुरुष के शिर, आँख, पैर आदि के इसी प्रकार बताये हैं जैसे कोई पुरुषाकार ही हो। सामवेद उत्तरार्चिक के १८ अ० ५ वें साम में विष्णु का पुरुष के समान वर्णन किया है :—

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥

इसमें विष्णु को पुरुष कहकर उसका तीन पद चलना, उसका रक्षा करना, उसकी इन्द्र के साथ गाढ़ मित्रता इत्यादि सब पुरुष के रूप में वर्णित है। इसी प्रकार वेदों के अनेकों अन्य स्थलों में इन देवताओं को पुरुष के समान रूपाकार वाले, पुरुष के समान व्यवहार करते प्रस्तुत किया गया है। अब यह देवता कोई व्यक्ति तो हुए नहीं, नहीं तो वेद एक इतिहास ग्रन्थ ही बन जाता है। यह तो वर्णन करने की एक वैदिक शैली है जिससे कठिन से कठिन समस्यायें वा वैज्ञानिक तत्त्व सहजतया समझाये जा सकते हैं। जैसे आकाशीय विद्युत् के गुणों को, आजकल पाठशालाओं में पढ़ाया वा समझाया जाता है। वह सब समझने तथा स्मरण करने में अति कठिन होते हैं। परन्तु उसी विद्युत् को पुरुषविध (figurative) एक देवी "उर्वशी" के रूप में, इस रूप में समझाया जाये जैसे एक स्त्री अपने गुण वा स्वभाव तथा व्यवहार के अनुसार काम करती है तो वह समझना तथा स्मरण रखना अतिसहज हो जाता है। इसी शैली के द्वारा अनेकों वैज्ञानिक जटिल विषय वेदों में पुरुष रूपों में वर्णित किये हैं। वास्तव में वह कोई विशेष पुरुष वा स्त्री नहीं।

वेदों की इस शैली को ब्राह्मण-ग्रन्थों ने भी अपनाया और ब्राह्मणों से पुराणों ने स्वीकार किया। ब्राह्मणों और विशेषकर पुराणों ने तो इस पुरुषविध शैली को इतना बढ़ाया कि सहधर्मी व एक ही गुणों के पदार्थों के परिवार बनाये। उन पदार्थों वा शक्तिओं के स्रोतों को उनके माता-पिता के रूप में कल्पना की। इस प्रकार उनकी सन्तान, भाई, बन्धु और उनके विरोधी तत्त्वों वा पदार्थों को उनके शत्रु बना, उनमें परस्पर युद्ध, पुरुषों के समान वर्णित कर इस शैली को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया। हमारे ऋषि-मुनियों की विशाल बुद्धि का ज्वलन्त प्रमाण हमारे सामने यह सारा साहित्य उपस्थित है। खेद इस बात का है कि जब पढ़ाने वाले ही न रहे और वैदिक शिक्षा-पद्धति ही टूट गई तो हम आने वाले लोगों के सम्मुख वह सारा साहित्य बच्चों की सी कथा-गाथायें ही रह गई और उनका वैज्ञानिक वा तात्त्विक गुह्य अर्थ नितान्त ओझल हो गया। वह ब्राह्मण तथा पौराणिक साहित्य के अलंकार, केवल कपोलकल्पित गाथा (Imaginary legends) ही दीख रहे हैं और उनके सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, हृति-सम्बन्धी ज्ञान, जिस पर आज पाश्चात्य विज्ञान-कोविद इतना परिश्रम कर रहे हैं, इन ग्रंथों में भरा हुआ मूक पड़ा है। वेदों ब्राह्मणों और विशेषकर पुराणों में इन अनेक देवताओं का संचालन करने वाले मुख्य तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव वर्णन किये हैं। इन तीन देवताओं पर ही इस समय विचार रखा जा रहा है।

ब्रह्मा

इस देवता को देवताओं का पितामह और प्रथम कहा है। मत्स्यपुराण अ० ३, श्लोक २४ में पाठ है :—

तपश्चचार प्रथमम मराणां पितामहः।
आविर्भूतास्ततो वेदाः साङ्गोपाङ्गपदक्रमाः॥
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तत्र विनिःसृताः॥

अर्थात्—देवताओं में जो प्रथम और उनका पितामह था उसने तप किया और साङ्गोपाङ्ग वेद उसके मुखों से निकले इत्यादि।

इस देवता को सृष्टि का कर्त्ता वा रचयिता बताया जाता है। इसके चार मुखों की कल्पना की है और उससे वेदों का प्रसार हुआ। ब्रह्मा की विशेषता संसार वा विश्व की उत्पत्ति है। उसकी वृद्धि द्वारा सांङ्गोपाङ्ग सृष्टि का बनाने वाला कहा है। ब्रह्मा वास्तव में परमात्मा की एक व्यवस्था वा विधि है जिसके द्वारा विश्व की रचना हुई और अब भी क्षण-क्षण में विभिन्न क्षेत्रों में हो रही है। प्रभु की इस विभूति वा विधान की पुरुषविध कल्पना ब्रह्मा के रूप में की गई है। ब्रह्मा के साथ उसके चार मुखों तथा वेदों का प्रसारण जुड़ा हुआ है। इसमें ब्रह्मा, मुख, वेद ये पारिभाषिक तथा वैज्ञानिक शब्द हैं जिन पर पाठक तनिक ध्यान दें। पहिले ब्रह्मा शब्द को ही लीजिये। ब्रह्मा, बृह बृहि वृद्धौ (भ्वादिगण) से बनता है। जो बढ़ाये वा बढ़ा हुआ हो वह ब्रह्म वा ब्रह्मा है। उणादिकोष (४।१४६) के अनुसार "बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म"। "ब्रह्मा परिवृढः" (निरुक्त नै॰ १।३) अर्थात् पूर्णतया बढ़ा हुआ। कहने का अभिप्राय यह है कि ब्रह्मा बढ़ाने वा बढ़ने का एक विधान वा व्यवस्था प्रभु ने स्थापित की और उससे सृष्टि रची। दूसरा शब्द है 'मुख'। पुरुष-सूक्त में एक मंत्र आता है "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्... (यजु॰ अ॰ ३१ मं॰ ११)। इस मंत्र को प्रायः भाष्यकार सामाजिक अर्थ में लगाते हैं। अर्थ किया जाता है समाज में ब्राह्मण मुख के समान है वा समाज का मुख ब्राह्मण है वा ब्राह्मण पुरुष परमात्मा के मुख से उत्पन्न हुआ। इस मंत्र में भी ब्राह्मण का मुख से ही सम्बन्ध जोड़ा है। पुरुष-सूक्त सृष्टि की उत्पत्तिका ही वर्णन करता है। वहाँ सामाजिक विषय नहीं है, पर भाष्यकार जिधर सहज अर्थ लगता देखते हैं, लगा देते हैं।

ब्रह्मा का एक ओर बढ़ने वा वृद्धि से सम्बन्ध है दूसरी ओर मुख से, मुँह से नहीं। उणादिकोष (५।२०) के "डित् खनेर्मुट चोदात्तः" सूत्र के अनुसार खन् धातु को मुट् का आगम हो उसको उदात्त कर 'मुख' बनता है। और इस मुख की व्याख्या में कहा "खनति अन्नादिकमनेनेति मुखम्"। मुख का वास्तविक काम खनन है। 'खनु अवदारणे' धातु के अनुसार खन् का अर्थ दारण वा तोड़-फोड़ करना अर्थात् छोटा छोटा करना, विभाजन करना है। मुँह भी अन्न का दारण वा तोड़ तोड़ कर छोटे छोटे अंशों में विभाजन करता है। तो "मुख" वह विधान वा व्यवस्था हुई जिसके द्वारा खण्डन वा विभाजन किया जाय। इस प्रकार स्पष्ट हुआ कि ब्रह्मा में दो विधान काम करते हैं—एक वृद्धि, दूसरा विभाजन और इससे ही वृद्धि होती है। वृद्धि एक से दो, दो से चार, चार से आठ वा सोलह इत्यादि होना है और यह बढ़ना होता है विभाजन से। जितने जीव, पशु, पक्षी, मनुष्य, वृक्ष, वनस्पति आदि हैं, सब एक अण्ड (Fertilised ovum) के विभाजन-प्रविभाजन से उत्पन्न होते तथा बढ़ते हैं। उस एक अण्ड वा जीवन-कोष्ठ के खण्डन हो होकर अनेक रूप धारण कर शरीर उत्पन्न और परिवृद्ध होता है। इसी व्यवस्था को देख उपनिषत् ने कहा "एको रुपो बहुरूपो बभूव"। ऋ॰ ८ अ॰ ७ अ॰ ३ व॰ में तुच्छ से महान् होने का वर्णन है।

सो प्रभु ने ब्रह्मा द्वारा सृष्टि रची अर्थात् वृद्धि और खण्डन वा विभाजन द्वारा सृष्टि रची गई। हमारा सूर्य भी अकेला था। उसका भी यह नवग्रह परिवार उसके विभाजन से ही बना। तो स्पष्ट है कि ब्रह्मा में 'खण्डन' वा विभाजन और 'वृद्धि' का समन्वय है। वा यूँ कहें कि ब्रह्मा का ब्रह्मापन उसकी विभाजन-शक्ति और उससे वृद्धि ही है। इसी सिद्धान्त पर सृष्टि के चराचर, प्राणी-अप्राणी उत्पन्न हुए और बढ़े, हो रहे हैं और होते रहेंगे। वृद्धि चहुँमुखी ही होनी चाहिये, एकांगी वृद्धि पूर्ण वृद्धि नहीं, इसलिये सर्वाङ्ग विभाजन तथा सर्वाङ्ग वृद्धि को अलंकार से चहुँमुखी वर्णन किया और चहुँ ओर विश्व की वृद्धि कर चहुँ ओर सत्ता को स्थापित किया गया।

विद् धातु जिससे वेद बनता है जहाँ ज्ञान के अर्थों में आता है वहां विद, सत्तायाम् अर्थ में भी है। अर्थात् चहुँ दिशाओं में सत्ता का प्रसार किया। इसी आधार पर ब्रह्मा के चार मुखों की कल्पना की गई।

विष्णु

दूसरा पुरुषविध देवता विष्णु है। विष्णु का मुख्य काम ब्रह्मा की बनाई हुई सृष्टि को बनाये रखना है।

जहाँ ब्रह्मा को कर्त्ता कहा जाता है, विष्णु को धर्त्ता अर्थात् धारण किये रखने वाला कहा है। वेद में मंत्र है 'ध्रुवा दिग्विष्णु" (अथर्ववेद ३।:७)। इसका अर्थ प्रायः भौगोलिक दिशाओं में से नीचे की एक दिशा ध्रुवा दिक् बताते हैं। पर सीधा अर्थ है कि ध्रुवता वा स्थिरता का बने रहना, स्थित रहना ध्रुवा दिक् है। इस स्थिरता वा ध्रुवता की व्यवस्था को बनाये रखने वाला इस मंत्र के अनुसार विष्णु है। विश्व की रचना वा उत्पत्ति में ब्रह्मा स्वामी है, विश्व की स्थिति क्षेत्र (दिक्) में विष्णु का आधिपत्य है। वेद के इसी भाव को शतपथादि ब्राह्मण-ग्रन्थों विशेषकर पुराणों में अधिक विस्तार से, द्युलोक, अंतरिक्ष लोक तथा पृथिवी लोक में, विष्णु किसकिस रूप में विश्व की स्थिति, रक्षा का पालन कर रहा है, वर्णन किया है। इस विष्णु को भी पुरुष-रूप में कल्पना कर ब्राह्मण तथा पुराणों ने सुचारू रूप में निरूपण किया है। भिन्न भिन्न क्षेत्रों में भिन्न रूपों में इस विष्णु के अवतरण की कल्पना की।

विष्णु के इन विभिन्न अवतरणों का यदि वैज्ञानिक विश्लेषण किया जाय तो मूल में यही व्यक्त होता है कि विश्व में परस्पर विरोधी शक्तियाँ तीनों लोकों में काम करती हैं और उन शक्तियों की समता में विश्व उचित रूप से चल रहा है और उसी से उसकी स्थिति, धृति बनी रहती है। जब कभी भी इन विरोधी शक्तियों में परस्पर विषमता वा गड़-बड़ पड़ जाती है तो चाहे वह विषमता दैविक क्षेत्र में हो वा भौतिक, आध्यात्मिक हो वा सामाजिक, उस विषमता उत्पन्न करने वाली वा घातक बढ़ी हुई शक्ति को ठीक करने वो नाश करमें में, उस पर आधिपत्य रखने वाली विष्णु-शक्ति अपना नियन्त्रण कर पुनः समता की व्यवस्था को स्थापित कर देती है और विश्व में पुनः कल्याण होता है। यदि यह गड़बड़ द्यु वा अंतरिक्ष लोक में हुई तो कूर्म, मत्स्य तथा वराहादि के रूप में विष्णु की संयम शक्ति की कल्पना की, यदि वह राष्ट्र वा सामाजिक क्षेत्र में उत्पन्न हुई तो राम कृष्णादि महापुरुषों के रूप में कल्पना की। मौलिक रूप में हानि कारक विषमता के दूर करने वाली शक्ति को पुरुषविध विष्णु की कल्पना की और उसके संनियमन (control) करने से हर क्षेत्र में शांति की स्थापना तथा संसार का पालनपोषण तथा भरण होता रहा, हो रहा है और होता रहेगा।

जैसे ब्रह्मा की विशेषता, संविभाजन और वृद्धि द्वा विश्व की रचना है इसी प्रकार विष्णु की विशेषता व्या कता है। "व्याप्नोति आप्नोति इति विष्णुः" अर्थात् अच्छे प्रकार व्यापक हो वह विष्णु है। उणादि के (३।३९) के अनुसार "वेवेष्टि व्याप्नोति चरा जगदिति विष्णुः"। एवं निरुक्त के दैवत काण्ड अ० पा० २ ख० ७ में विष्णु की निरुक्ति इन शब्दों में की है:-

"अथ यद्विषितो भवति तद्विष्णुर्भवति। विष विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा"। अभिप्राय वही है कि जो प्रत्ये वस्तु में प्रवेश करने वा व्यापक होने की क्षमता रखता वही विष्णु है। इन प्रमाणों से यही स्पष्ट होता है पुरातन महामुनि लोग विष्णु को किसी व्यक्ति के रूप चिन्तन नहीं करते थे वरञ्च व्यापकता के विधान में विश्व की स्थिति वा ध्रुवता को देखते थे। अब विचारण है कि व्यापकता में स्थिति कैसे होती है। शरीर एक-एक घट वा जीवनकोष्ठ (cell) पृथक्-पृथ होता हुआ भी प्राण रूपी विष्णु की व्यापकता के का एक दूसरे में व्यापक है। यदि पैर की छोटी अंगु में काँटा गड़ जाता है तो उसकी पीड़ा उस अंगु तक ही सीमित नहीं रहती वरञ्च सारे शरीर में व्या होती है और सारे शरीर में क्षोभ उत्पन्न करती है इस प्रकार शरीर का एक एक अङ्ग वा भाग यह अनुभ करता है कि "तू मैं हूं और मैं तू है"। यह भाव उत्प हो जाता है तो व्याप्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार यदि किसी परिवार में परस्पर का यही व्याप्तिभा विराजमान होता है तो वह परिवार टूटता नहीं और उस परिवार में स्थिति बनी रहती है। इस प्रकार किसी देश के राष्ट्र वा जाति की स्थिति त ही हो सकती है जब उस राष्ट्र वा जाति के लोगों परस्पर व्याप्तिभाव विराजमान हो। और जब किसी दे में अपने अपने तक का भाव ही हो जिसे दूसरे शब्दों स्वार्थभाव ही कहते हैं तो उस देश के लोगों में फूट प जाती है और उस देश की ध्रुवता वा सत्ता नष्ट हो जात है। व्यापकता का दूसरा नाम विष्णु है। इसलिये जि लोगों में आपस में एक दूसरे के लिये प्रेम, सद्भाव आ हैं, अलङ्कारिक भाषा में उन्हें विष्णु के उपासक वा वैष्ण कहा जाता है।

(शेष पृष्ठ १२९ से देखें)

मृत्यु के पश्चात् का जीवन और उपनिषद्

[ले०—श्री पं० रामगोपाल जी शास्त्री, आर्यसमाज रोड, करौलबाग]

मृत्यु के पश्चात् आत्मा की क्या गति होती है, इसके सम्बन्ध में उपनिषदों में जो वर्णन आता है, उसका विचार इस लेख में किया जायेगा।

मृत्यु के पश्चात् की गति जानने से पूर्व जीव के सम्बन्ध में जो स्वरूप वर्णित किया गया है उसमें जीव को अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, चेतन, अनीश, नित्य, अक्षर, सत्त्व रज-तम इन तीन गुणों से युक्त, कर्म-कर्ता तथा सुख-दुःख रूप में उसके फल का भोक्ता कहा गया है। इसके लिए नीचे लिखे प्रमाण देखिए :—

ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशौ। श्वेताश्वेतर १।९॥

इस मंत्र में जीव को अज्ञ (अल्प) अज (अजन्मा), अनीश (पराधीन) बताया गया है।

क्षरं प्रधानममृताक्षरम्। श्वे० १।१०॥

इस मंत्र में प्रधान (प्रकृति), क्षर अर्थात् परिणाम धर्म वाली और जीव को अक्षर (अविनाशी) बताया है।

न जायते म्रियते वा विपश्चित्। कठ० १।२।१८॥

इस मंत्र में जीव को अजन्मा, न मरने वाला तथा विपश्चित् (चेतन) बताया है।

आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः। श्वेत० ५।८॥

इस मंत्र में आत्मा को आराग्रमात्र (सूई के नोक के तुल्य) की उपमा दी गई है।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।

भागो जीवः स विज्ञेयः। श्वेत० ५।९॥

इस मंत्र में बाल के अग्रभाग का सौवां भाग और उसका फिर आगे सौवें भाग की उपमा देकर जीव को परम सूक्ष्म बताया गया है।

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स

चोपभोक्ता। श्वे० ५।७॥

इस मंत्र में जीव को त्रिगुणा अर्थात् सत्त्व-रज-तम तीन गुणों से युक्त बताया गया है। इसी मंत्र में जीव को फलकर्मकर्ता अर्थात् फल की भावना से कर्म करने वाला तथा उपभोक्ता उस कर्म के फल का पाने वाला भी लिखा है।

पिप्पलं स्वाद्वत्ति० मुण्डक० उ० ३।१।१

जीव आत्मा अपने कर्मों का फल आप ही भोगता है। कठोपनिषद् १।३।४ में "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुः" अर्थात् शरीर इन्द्रिय और मन के संयोग से ही जीवात्मा सुख-दुखः का उपभोक्ता है।

जीवात्मा का शरीर में निवासस्थान

प्रश्नोपनिषद् ३।६ में लिखा है कि हृदि ह्येष आत्मा अर्थात् हृदय जीव का निवास-स्थान है। इस एक स्थान में बैठा हुआ यह जीव मन, बुद्धि और इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो कर ज्ञान-तन्तु, जो मस्तिष्क से लेकर पाँव के नखाग्र तक फैले हुए हैं, उनके द्वारा एक देश में बैठा हुआ सर्व शरीरांतर्गत सुख-दुःख की अनुभूति करता है। पक्षाघात आदि रोगों में जब स्नायु और ज्ञान-तन्तु विकृत हो जाते हैं; तो वहाँ त्वचा में सूई के चुभाने पर भी आत्मा को दुःख नहीं होता; क्योंकि उस स्थान से जीव का सम्बन्ध छूट जाता है। सर्वशरीर में चेतनता को देखकर ही कई विद्वान् आत्मा को सर्व शरीर व्यापी मानते हैं। ऐसा मानने से च्यूँटी और हाथी के शरीर में आत्मा का संकोच और विस्तार मानना पड़ेगा। संकोच और विस्तार मानने से जीवात्मा में विकार और अनित्यता का दोष उत्पन्न हो जाता है।

मृत्यु

छान्दोग्य उपनिषद् ६।११।३ में लिखा है कि—

"जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते इति"

निश्चय ही आत्मा से रहित शरीर ही मरता है, आत्मा नहीं मरता अर्थात् शरीर से आत्मा की पृथक्ता ही मृत्यु है और कुछ नहीं। मृत पुरुष की वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, नेत्रज्योति आदित्य में, मन

चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशा में, शरीर पृथ्वी में, आत्मा आकाश में, लोम ओषधियों में, केश वनस्पतियों में, वीर्य और रुधिर जलों में चले जाते हैं।

याज्ञवल्क्येति होवाच—यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति, वातं प्राणाः, चक्षुरादित्यं, मनश्चन्द्रं, दिशः श्रोत्रं, पृथ्वीं शरीरम्, आकाशमात्मा, ओषधीर्लोमानि, वनस्पतीन् केशाः, अप्सु लोहितं च रेतश्च निधीयते।

बृहदारण्यक उपनिषद् ३।२।१३॥

मरते समय यह आत्मा अपने ज्ञान कर्म और पूर्व जन्मों के संस्कारों को लेकर इस शरीर से निकलता है।

तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च।

बृहदारण्यक ४।४।२॥

अर्थात् यहाँ से प्रयाण करते हुए जीवात्मा को भीतर से ज्ञान होता है, बाह्य संसार का उसको ज्ञान नहीं होता। उस समय विद्या (ज्ञान) कर्म (शुभाशुभकर्मसंस्कार) पूर्व प्रज्ञा (पूर्व जन्मों की बुद्धि अर्थात् जन्मजन्मान्तर के उपार्जित संस्कार) इस आत्मा के साथ परलोक में जाते हैं।

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्॥

कठोपनिषद् २।२।७॥

जीव मरने के अनन्तर स्थावर और जंगम योनियों में यथाकर्म (कर्मानुसार) और यथाश्रुत (ज्ञान के अनुसार) जाता है। जैसे संकल्प विचार वाला जीव इस लोक में होता है। मरने के अनन्तर उन्हीं संकल्पों को साथ ले जाकर उन्हीं के अनुसार भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म पाता है। ऐसा छान्दोग्य उपनिषद् ३।१४।१ में लिखा है—

अथ खलु, क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।

यत् कर्म कुरुते तदभिसम्पद्यते। बृहदारण्यक ४।४।५॥

जैसे कर्म करने वाला जीव होता है, मरने के अनन्तर वैसा ही हो जाता है।

मरते समय जीव को भीतर से ज्ञान होता है और उसके अन्दर प्रकाश होता है।

प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति........सविज्ञानो भवति।

बृ० उ० ४।४।२।

आत्मा, नेत्र, मूर्धा, मुख, नासिका आदि किसी भी छिद्र से इस देह से बाहर निकल जाता है शरीर से निकल कर ईश्वर की व्यवस्था के अनुसार अपने आप ही उदान वायु के द्वारा अपनी वासना के अनुसार भिन्न-भिन्न स्थावर और जंगम योनियों में स्वयमेव ही चला जाता है।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।

प्रश्नोपनिषद् प्रश्न ३।७।

अर्थात् एक सुषुम्ना नाड़ी द्वारा उठा हुआ उदान वायु पुण्य संस्कार हों तो पुण्य लोक को, पाप संस्कार हों तो पाप लोक को और तुल्य पाप-पुण्य होने पर जीवात्मा को मनुष्य लोक में ले जाता है।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति, प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति। प्र०उ०३।१०

जैसा चित्त अर्थात् जीव के भाव हों उसके साथ युक्त हुआ उदान वायु उस जीव को उसके संकल्प के अनुसार भिन्न-भिन्न लोकों में ले जाता है।

जीवात्मा अपने संकल्पानुसार उदान प्राण द्वारा स्वयमेव उच्च-नीच योनियों में चला जाता है इसमें परमात्मा को बार-बार किसी जीव को इधर उधर भेजने के किसी प्रबन्ध की आवश्यकता नहीं भगवान् का यह सारा ब्रह्मचक्र Automat[ic] अर्थात् स्वयं सिद्ध रूप से ही चलता चला जा रहा है। यह ब्रह्माण्ड प्रज्ञानेत्र है अर्थात् ज्ञान की व्यवस्था से व्यवस्थित है और वह ज्ञान ब्रह्म ही है जो ब्रह्माण्ड को चला रहा है।

प्रज्ञानेत्रो लोकः..................प्रज्ञानं ब्रह्म।

ऐतरेयोपनिषद् ३।१।३

बृ० उ० ४।३।३६ में लिखा है कि पुरुष इन शरीर के अंगों से निकल कर न्यायानुसार दूसरे जन्म के लिए अनेक प्रकार की योनियों में जाने के लिए चला जाता है।

पुरुष एभ्योऽङ्गेभ्यः संप्रमुच्य पुनः प्रतिन्या

प्रतियोन्याद्रवति प्राणायैव । बृहदारण्यक उपनिषद ४।४।४ में स्वर्णकार (सुनार) का दृष्टांत देकर सिद्ध किया है कि जैसे सुनार सोने की मात्रा को लेकर नये आभूषण बनाता है इसी प्रकार जीव जन्मान्तर में अपने शुभाशुभ ज्ञान और कर्मों के अनुसार पितर-संबन्धी, गंधर्वसंबन्धी, देवसंबन्धी, प्रजापतिसंबन्धी शरीरों को धारण करता है और निकृष्ट कर्मों के कारण मनुष्य, पशु आदि प्राणियों के जन्मों को धारण करता है। इसी के आगे ४।४।५ में लिखा है कि 'यथाकारी यथाचारी तथा भवति' जैसे कर्म करने वाला और आचरण करने वाला होता है उसी के अनुसार जन्म पाता है।

उपनिषदों में मरने के अनन्तर जीवों के तीन मार्ग बतलाए हैं अर्थात् एक देवमार्ग, दूसरा पितृ-मार्ग और तीसरा दंदशूक मार्ग। दंदशूक का ही दूसरा नाम जायस्व-म्रियस्व है। छांदोग्य उपनिषद् ५।१०।२-८ में लिखा है कि जो इस प्रकार भगवान् को जानते हैं और वन में श्रद्धा और तप से उस परमात्मा की आराधना करते हैं, वे पुरुष ज्योति को प्राप्त होते हैं और ऐसे निष्काम कर्म करने वाले पुरुषों को परमात्मा अपने दर्शन देता है। यह देवमार्ग कहलाता है। यह लोग मुक्त हो जाते हैं। जो सकाम कर्मी इष्टापूर्त्त आदि यज्ञों को करते हैं वे मरने के अनन्तर पितृलोक को जाते हैं। वहाँ पर पुण्य फल को प्राप्त करके फिर इस मानव लोक में आ जाते हैं। जो लोग देवयान और पितृयान इन दोनों के मार्गों का आचरण नहीं करते वे क्षुद्र जीव जन्मो और मरो ऐसे दंदशूक मार्ग में पड़े हुए जन्म मरण के चक्र को काटते रहते हैं।

अथैतयोः पथोर्न कतरेणचन, तानीमानि क्षुद्राण्य-सकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति। जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्।

यही भाव मुण्डकोपनिषद् २।१०।११ में दिया गया है।

उपनिषदें जीवात्मा को नित्य और बार-बार जन्म और मरण को मानती है। देवयान मार्ग से गया हुआ जीव मुक्त हो जाता है और फिर जन्म-मरण के बंधन में नहीं पड़ता। पितृयान और दंदशूक मार्ग द्वारा गये हुए जीव बार-बार जन्म-सरण के चक्र को काटते रहते हैं।

मृत्यु का ब्रह्मचारी

[*ले०—श्री पूज्य स्वा० गङ्गागिरि जी महाराज, आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय, रायकोट (लुधियाना)*]

पाठक वृन्द! बालक मूलशंकर को अपनी बहिन की मृत्यु का अवलोकन करके मन में विचार पैदा हुआ कि "मौत बड़ी भयानक वस्तु है"। इससे बचने का उपाय खोजना चाहिए। मौत के उपाय को जानने की इच्छा पैदा हुई। इसके लिए घरबार छोड़ा, माता पिता का प्यार छोड़ा और जंगल का मार्ग अपनाया। किसी योग्य आचार्य की खोज में नदियों के स्रोतों व हिमालय की गुफाओं को खोज मारा। गद्दियों को संभालने वाले बड़े-बड़े महन्त तो मिले, परन्तु मृत्यु से उद्धार कराने वाला कोई सन्त न मिल सका। पाँच हजार वर्ष पूर्व योगिराज श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन को उपदेश देते हुए गीता में कहा है कि:—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
अ० ७।३॥

भाव यह है कि:—हे अर्जुन! यदि हजारों

मनुष्यों को एकत्रित किया जाय तो उनमें से कोई ही ऐसा निकलेगा जिसके हृदय में यह जिज्ञासा पैदा हो कि—मैं उस वेद को जानूँ। जिसके लिए यह मानव तन मिला है। सौभाग्य से जिस किसी पवित्रात्मा के मन में यह तत्त्वजिज्ञासा उत्पन्न हो जाती है वही संन्यासाश्रम में प्रवेश करता है। जब मानव स्थूल से ऊपर उठ जाता है तो परमात्मा उसकी परीक्षा के लिए उसके आगे सूक्ष्म संसार उपस्थित कर देता है। जिसे सिद्धियों का 'सूक्ष्म संसार' कहा जाता है। आजकल बहुत से महात्मा मनुष्यों को यत्र-तत्र अपनी सिद्धियों के चमत्कार दिखाते फिरते हैं। उनमें कोई एक आध भले ही भूला-भटका सिद्ध हो अन्यथा सभी स्थूल या सूक्ष्म प्रकृति के वशीभूत होते हैं।

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहुभिर्यन्न विद्युः।
आश्चर्योवक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्योज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥
कठ० १।२।७॥

अर्थात् बहुतों को तो यह वेदतत्त्व सुनने को भी नहीं मिलता है। अनेक इसे सुनते हुए भी नहीं समझ पाते। इस वेदतत्त्व का उपदेष्टा भी दुर्लभ है। इसका ज्ञाता वस्तुतः कुशल और चतुर है। किसी कुशल आचार्य से शिक्षित इसका ज्ञाता तो दुर्लभ है। नचिकेता ने मृत्यु का ब्रह्मचारी बनकर यमाचार्य को प्राप्त किया था। ऋषि दयानन्द ने मृत्यु का ब्रह्मचारी बनकर खोजते-खोजते आचार्य विरजानन्द को प्राप्त किया।

वेद इसी भाव को बड़े सुन्दर रूप में हमारे सामने उपस्थित करता है—

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि॥
अ० ६।१३३।३॥

(अहम्) मैं (मृत्योः) मृत्यु का ब्रह्मचारी हूँ (यत्) क्योंकि मैं (भूतात्) भूतमात्र से (यमाय) संयम के लिए (पुरुषं) पौरुष अर्थात् पुरुषार्थ को (निर्याचन्) (अस्मि) माँग रहा हूँ। (तमहं) उसे मैं (ब्रह्मणा तपसा श्रमेण) ज्ञान, तप, और श्रम से (आनय) लाकर (एनम् मेखलया) मेखल से (सिनामि) बाँधता हूँ।

ब्रह्मचारी की महिमा का वर्णन अथर्ववे ११ कांड। सू० ५ में विस्तार से किया गया है अथर्व० ६।१३३ में ब्रह्मचर्य के बहिरंग साधन मेखल अर्थात् कौपीन धारण का माहात्म्य दर्शाया गया है इस मंत्र में जिस ब्रह्मचारी की चर्चा है वह स ब्रह्मचारियों से विलक्षण है। यह है "मृत्यु का ब्र चारी" अर्थात् मौत को जीत लेने वाला ब्रह्मचारी मृत्यु को वही जीत सकता है जो मौत को गुरु बना है। यह कार्य अति कठिन है। मौत का ब्रह्मचा तो कोई विरला नचिकेता जैसा ही हो सकता है संदेह शून्य तथा ज्ञानी है। जिसने समस्त संस के सार को देखकर उसे असार मान लिया है जिसे यह ज्ञान हो गया है कि मृत्यु अवश्यंभा है। नूतन भोगसामग्री देने वाला है और मु का साधन है। वही मृत्यु के पास जाता है। अथर्व ११।१५।१४ में कहा है :—

आचार्यो मृत्युर्वरुणः, सोम औषधयः पयः।
जीमूता आसन् सत्त्वानस्तैरिदं स्वराभृतम्॥

इस मंत्र में आचार्य को मृत्युर्वरुणः अर्थात् श्रेष्ठ गु धारण करने वाला बताया है। वह सोम = शां जल, औषध, दूध और बादल की शक्ति तथा गु से संपन्न होता है। क्योंकि इन शक्तियों ने ही (स्व सर्व प्रकार के सुखों को धारण किया हुआ है। व मान जीवन की चिन्ता से परिमुक्त कर नवजीवन नूतन भोग-सामग्री दिलाना मृत्यु द्वारा ही होता है किसी सन्त ने क्या ही ठीक कहा है कि—

जिस मरने से जग डरे, मेरे मन आनन्द।
मरने ही से पाइये पूरण परमानन्द॥

मौत का ब्रह्मचारी भूतों से अर्थात् समस्त भौति पदार्थों से संयम के लिए पुरुषार्थ की याचना कर है। "तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेण" अर्थात् ब्रह्मचा संयम, ब्रह्मचर्य, ज्ञानार्जन, तपोऽनुष्ठान तथा परिश्र से जीवनरूपी भिक्षा को उपलब्ध किया करता है इसी जीवन की याचना वह अपने आचार्य मौत करता है। अर्थात् मृत्यु पर विजय प्राप्त करने

लिए पूर्ण संयम, ब्रह्मचर्य, ज्ञानार्जन, तपोऽनुष्ठान तथा घोर परिश्रम की आवश्यकता है। क्योंकि मृत्यु सभी द्विपाद् व चतुष्पाद प्राणियों का ईश है। अतएव वेद ने उसे प्रजापति नाम दिया है। उपनयन संस्कार की समाप्ति पर आचार्य शिष्य को कहता है:—

'प्रजापतये त्वा परिददामि' अर्थात् हे बालक! मैं आचार्य तुझे प्रजापति अर्थात् मृत्यु को सौंपता हूँ। अर्थात् मृत्यु का रहस्य जानने के लिए तू ब्रह्मचारी बनाया गया है। तुझे ब्रह्मचर्य व्रत धारण कराया गया है। ब्रह्मचारी सच्चा ब्रह्मचारी बनकर आवश्यक मृत्यु को जीत सकता है। उसे जीत लेने पर ही उसको नव जीवन उपलब्ध होता है। "तं जातं द्रष्टुं अभिसंयन्ति देवा:" अ० १।१५।३॥ अर्थात् उस नवजात को देखने के लिए सभी ओर से विद्वान् आते हैं।

महर्षि दयानन्द का जीवन वेदप्रतिपादित सर्व गुणों से भरपूर था। तभी भगवत्कृपा से श्री स्वा० विरजानन्द जैसे आचार्यप्रवर का सहयोग उन्हें प्राप्त हो सका। हिमालय की घाटियों को छानबीन कर भी जिस आचार्य को दयानन्द न प्राप्त कर सके, मथुरा की छोटी-सी कुटी में वे आचार्य मिल गये। ऋषि दयानन्द ने द्वार खटखटाया—भीतर से आवाज आई "कौन है?" उत्तर मिला "दयानन्द"। कैसे आए दयानन्द! "भगवन्! कुछ शिक्षा प्राप्त करने के लिए"। अब तक कौन २ से पुस्तक पढ़े हैं? उत्तर में सारे ग्रन्थों की लिस्ट सुना दी गई। आचार्य की परीक्षा में पास होना सुगम नहीं होता है। गुरु जी ने आज्ञा दी कि "दयानन्द! इन सब पुस्तकों को गट्ठा बाँध कर यमुना में बहा दो—फिर मेरे समीप बैठकर शिक्षा प्राप्त करो। यह परीक्षा ऐसी ही थी जैसे कि किसी माता को कहा जाय कि "हे माता! गोदी में उठाये अपने लाल को नदी में डाल दो और दूसरे बालक की आशा करो।" दयानन्द दिन भर यमुनातट पर बैठ विचार करते रहे। अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि :—दयानन्द! जिन पुस्तकों के स्वाध्याय से तेरे मन की शंकाएँ ज्यों की त्यों हैं, उन पुस्तकों के रखने से लाभ भी क्या है? यह सोचकर "सर्वं वै पूर्णं स्वाहा" बोलकर सब पुस्तकों को यमुना की भेंट कर दिया गया। दूसरे दिन गुरुजी के चरण स्पर्श कर बोले कि भगवन्! महाराज की आज्ञा का पालन कर दिया गया है। वेद शास्त्रों के मर्मज्ञ आचार्य ने तीन ही वर्ष में दयानन्द को ऋषि बना दिया। गुरुदक्षिणा में ऋषि ने कुछ लौंग आचार्य की भेंट किये और विदाई की आज्ञा लेने लगे। आचार्य ने इन्कार करते हुए कहा कि "दयानन्द! मेरी दक्षिणा लौंग नहीं हैं! मैं तो दक्षिणा में आपसे कुछ और चाहता हूँ। ऋषि ने कहा कि भगवन्! आज्ञा कीजिए जो कुछ आप चाहते हैं। आचार्य ने कहा कि दयानन्द! "वेद प्रचार", "आर्ष ग्रन्थों का उद्धार", "कुरीतियों का खण्डन" और "सत्य का मण्डन" करो। यह है मेरी दक्षिणा। दयानन्द ने कहा कि भगवन्! "तथास्तु।" हो सकता है, भगवन्! मेरा और आपका पुनर्मिलन न हो सके, अत: मुझे कोई अन्तिम उपदेश दीजिए। जिसे मैं सदा ध्यान में रख सकूँ। आचार्यप्रवर ने अंतिम उपदेश करते हुए कहा कि :—दयानन्द! मनुष्यकृत ग्रन्थों को मत पढ़ना—ऋषिकृत ग्रन्थों को पढ़ना। दयानन्द ने पूछा कि भगवन्! इसकी कसौटी क्या है? आचार्य ने बताया कि दयानन्द! ऋषि वेद के साथ चलते हैं और मनुष्य स्वच्छन्द। अत: जो ग्रन्थ वेदानुकूल हों, वह ऋषि प्रणीत हैं और जो वेद के प्रतिकूल हों, वह मनुष्य कृत हैं।

ठीक यही बात हमें वेद बताता है :—

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्त्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह।

अ० ७।१०५।१॥

अर्थात् पौरुषेयात्=मनुष्य सम्बन्धी वचनसे अपाक्रामन्=दूर भागता हुआ और दैव्यं वचः= देवप्रणीत वचन का वृणानः=वरण करता हुआ विश्वेभिः सखीभिः सह=संपूर्ण सखाओं के साथ प्रणीतीः=उत्तमचालों को अभ्यावर्त्तस्व=सब ओर से बर्त्ताव में ला।

क्योंकि मनुष्य चाहे कितना भी बड़ा पण्डित हो, वह अवश्य भूल करता है। उदाहरण के लिए निश्चलदास पण्डित को लीजिए। वे बहुत बड़े विद्वान

थे। उन्होंने नवीन वेदान्त के दो पुस्तक लिखे। एक "विचारसागर" दूसरा "वृत्तिप्रभाकर"। वृत्तिप्रभाकर की भूमिका में वे लिखते हैं कि जिसे मेरी पंडिताई को देखना हो वह मेरे वृत्तिप्रभाकर ग्रंथ को देखे। इसमें मैंने २७ लक्ष श्लोकों तथा वेदमंत्रों का आशय प्रकट किया है। इत्यादि :—

मैंने दोनों पुस्तकों को भली प्रकार से पढ़ा है। निश्चलदासजी "विचारसागर" में वैराग्य का लक्षण करते हुए कितनी बड़ी भूल कर गये हैं। वे लिखते हैं कि :—"ब्रह्मलोक के भोग लो चहे सबन का त्याग। वेद अर्थ ज्ञाता मुनि कहत तोहे वैराग।" अर्थात् इस लोक के भोग क्या हैं? ब्रह्मलोक के भी भोगों का त्याग रहे। वेदों के ज्ञाता मुनि इसे वैराग्य कहते हैं।

दुःख से लिखना पड़ता है कि दयानन्दजी से पहिले बड़े-बड़े विद्वान् भी वेद का पठन-पाठन छोड़ चुके थे। वेद ने वैराग्य का लक्षण कैसा सुन्दर किया है :—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

अर्थात् कानों द्वारा भद्र सुनो, आंखों द्वारा भद्र देखो। फिर आपके अंग-प्रत्यंग स्थिर रहेंगे। आप पूर्ण आयु को सुखपूर्वक भोगेंगे। ऋषि पतंजलि वेद के साथ आते हैं :—"दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।" आँखों से देखी हुई, कानों से सुनी हुई बातों से मन की वृत्ति को वश में करना ही वैराग्य है। ऋषि ने वेद का साथ दिया है। निश्चलदास कहीं अन्यत्र चला गया। दूसरा उदाहरण और लें।

रामायण दो मिलते हैं। वाल्मीकीय रामायण और तुलसीकृत रामायण। पहला ऋषिप्रणीत है। दूसरा मनुष्यप्रणीत। दोनों में जमीन आसमान का अन्तर है। भरत जब अयोध्या में लौटकर आये तो कैकेयी को कहने लगे कि हे माता! तेरे विचारों को इतना मैला किसने बना दिया? माता ने कहा कि— "बेटा! मन्थरा दासी ने।" यह सुनकर शत्रुघ्न मन्थरा पर हाथ उठाने लगता है। भरत ने उसे रोकते हुए कहा है कि :—हे भाई!

इमामपि हतां कुब्जां यदि जानाति राघवः।
त्वां मां च धर्मात्मा नाभिभाषिष्यते ध्रुवम्॥

अर्थात् इस अपराधिनी मन्थरा को भी तुम्हारे अपमानित जानकर निश्चय से धर्मात्मा राम हम दोनों ही से नहीं बोलेंगे। ऋषि ने इस उदाहरण द्वारा स्त्रीजाति के प्रति कितना मान प्रदर्शित किया है और इधर मुकाबिले में गोसाईं जी लिखते हैं कि:— "ढोल गँवार पशु अरु नारी, ये सब ताड़न के अधिकारी"

अध्यात्मवाद ही विश्व का कल्याण कर सकता है

[*ले०—श्री पं० द्विजेन्द्रनाथ जी शास्त्री, विद्यामार्त्तण्ड, मेरठ*]

मानव जीवन का चरम उद्देश्य सभी शास्त्रकारों ने मोक्ष प्राप्ति को बताया है, जिसको अत्यन्त पुरुषार्थ भी कहा गया है। तथापि उसके साधनभूत धर्म, अर्थ, काम भी मानव जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्व रखते हैं, क्योंकि साध्य तक पहुँचाने वाले साधन ही तो होते हैं। इसलिए यदि धर्म, अर्थ, काम जब तक यथार्थतया सिद्ध नहीं होते तब तक मोक्षप्राप्ति न केवल कठिन या दुःसाध्य ही होती है, अपितु असम्भव होती है। अतः मनुष्यमात्र को, जो अपने जीवन को सफल बनाना चाहते हैं, उनको भौतिक जड़वाद से अलग रहकर अध्यात्मवाद की तरफ ही प्रवृत्त होना चाहिए।

अध्यात्मवाद का प्रथम सोपान धर्म ही है। यद्यपि धर्मवाद में अभ्युदय एवं निःश्रेयस अर्थात् ऐहिक (सांसारिक) उन्नति तथा पारलौकिक दोनों ही मिश्रित हैं। इन दो

को पृथक् नहीं किया जा सकता है, क्योंकि एक साध्य है और दूसरा उसका साधन है; जैसा कि शास्त्रकारों ने भी मुक्तकंठ से प्रतिपादित किया है—

यतो अभ्युदयनिःश्रेयस्सिद्धिः स धर्मः ।

अर्थात् जिससे कि ऐहलौकिक एवं पारलौकिक दोनों की ही पूर्णतया निष्पत्ति हो उसी का नाम धर्म है । तथापि यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि ऐहिक उन्नति साध्य के साधनभूत होने से गौण है । मुख्य तो पारलौकिक उन्नति या मोक्षप्राप्ति को ही कहा जा सकता है । इसी तत्त्व की ओर वेद भी स्पष्ट शब्दों में संकेत करते हैं—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ।। (वेद)

इससे ध्वनित होता है कि हिरण्यमय जो भौतिकवाद है, उसकी भी उन्नति होना आवश्यक है । उससे पृथक् होकर जो सत्यधर्म अर्थात् अध्यात्मवाद है, वही मुख्य है ।

साधारणतया हम देखते हैं कि बुद्धिमान् व्यक्ति भी भौतिकवाद की चकाचौंध से चकरा जाता है । अधिकतर मनुष्य बहिर्मुखी प्रवृत्ति वाले ही होते हैं, अन्तर्मुखी प्रवृत्ति तो बहुत कम महापुरुषों में ही दृष्टिगोचर होती है । यह सिद्ध है कि जब तक संसार इस अन्तर्मुखी प्रवृत्ति से विमुख रहेगा और जड़वाद के जंजाल में फँसा रहेगा, तब तक सुख और शान्ति मृगतृष्णा जल के समान ही नितान्त असम्भव रहेगी । उपनिषद् वचनों में भी उक्त तत्त्व का विवेचन बड़े रोचक ढंग से किया गया है । यथा—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
स्वयं धीरा पण्डितम्मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमाना परियन्ति मूढ
अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ।।

अर्थात् मनुष्य प्रायः अविद्या लोक में ही अपने आपको सुखी समझते हुए, धीर एवं विद्वान् समझते हुए एक दूसरे को स्वार्थवश हनन करते हुए मूढ़ अंधों के पीछे चलते हुए अंधों के समान नष्ट हो जाते हैं । इसी प्रकार जड़वाद में रत हुआ जनसमुदाय विनाश का ग्रास बनता है । यह एक ध्रुव सत्य है । संस्कृतसाहित्य में तो इस तत्त्व का पदे-पदे विवरण मिलता है । यद्यपि उपनिषत्कारों ने विद्या दो प्रकार की बतलायी है—परा और अपरा । अपरा से तात्पर्य ऋग्वेदादि सत् शास्त्रों का ग्रहण एवं परा से मोक्षशास्त्र का अर्थात् उपनिषदों में वर्णित अध्यात्मवाद से उसका सम्बन्ध बताया गया है । कुछ अंश तक यह है भी ठीक । परन्तु वास्तविक दृष्टि से पर्यालोचन करने से सम्पूर्ण संस्कृतवाङ्मय का उद्देश्य ही अध्यात्मवाद है, विशेषकर वेदों तक का भी मुख्य प्रतिपाद्य विषय अध्यात्मवाद ही है । यास्काचार्य लिखते हैं कि तीन प्रकार की ऋचायें होती हैं अर्थात् अध्यात्मिक आधिदैविक, आधिभौतिक । परन्तु अध्यात्मपरक तो सभी ऋचाये हैं । जितने वैदिक देवता हैं वह सब मौलिक रूप से परमात्मा में ही घटित होते हैं । वेद के किसी भी मंत्र को ले लीजिये और उसका किसी भी प्रकार का अर्थ कीजिये उसमें अध्यात्मतत्त्व सम्पूर्णतया निहित ही दीख पड़ेगा ।

शम, दम आदि अनुष्ठान करने पर एवं यम, नियम आदि की सम्यक् सिद्धि के द्वारा मनुष्य अपने अन्तरात्मा में जब अन्तर्ज्योति को प्रदीप्त करता है, तभी उसके अन्दर अन्तर्निहित प्रचेतना का अनावरण होता है । तब निसर्गतः अन्तर्निहित उस दिव्य ज्योति का भान होने लगता है तभी वह अध्यात्मज्योति कहाती है । इसी का नाम अध्यात्मवाद है । इस स्थिति को जो प्राप्त कर लेता है उसको एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है, जिसका कि वाणी वर्णन नहीं कर सकती ।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ।।

अर्थात् वह आनन्द वाणी का विषय नहीं है, अपितु अनुभूतिका विषय है ।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।

अर्थात् उसी दशा में आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति होती है और उसी स्थिति में आत्मा के द्वारा परमात्मा अवभासित होता है ।

सा काष्ठा सा परागतिः ।

वही काष्ठा है अर्थात् चरम स्थिति है । वही परागति है । इस स्थिति को प्राप्त करके ही मुमुक्षु मनुष्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । जो इस मनुष्य जीवन का चरम प्रयोजन है ।

"मरुद्भिः अग्ने आगहि" इस नव ऋचा वाले सूक्त का सायण आदि भाष्यकारों ने वर्षकामेष्टि में विनियोग किया है परन्तु इसका मुख्य तात्पर्य अध्यात्म ही है। अन्य भी अर्थ इसके हो सकते है किन्तु प्रधान विषय अध्यात्म ही है। ये केवल हम उदाहरण के लिए प्रस्तुत करते हैं। इस सूक्त की अन्तिम ऋचा ही पर्याप्त है। वह ऋचा निम्नप्रकार है :—

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु।
मरुद्भिरग्न आ गहि॥

ऋ॰ १। १९। ९॥

हे अग्ने परमात्मन्! तेरे प्रति मैं अपने कल्याण करने वाले मधु को रक्षा के लिए सम्पादित करता हूँ। आप अपनी सर्व सामर्थ्य से आइये और मुझे कृतकृत्य कीजिये। अर्थात् अपने सब साधनों से सम्पन्न होकर आपके शरण आता हूँ। आप मुझे आनन्द मधु का पान कराइये। इस प्रकार सारे सूक्त का अर्थ अध्यात्मपरक लगता है।

इसी प्रकार वस्तुतः किसी भी देवता को लेकर तत्तद्-विषयक अर्थ हो सकते हैं, परन्तु मुख्य तात्पर्य अध्यात्म-परक ही है। इसलिए यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि जितने ज्ञान, विज्ञान, शिल्प-कला आदि शास्त्र हैं वे सब अध्यात्मवाद के स्वार्थ ही हैं। राजनीति यदि अध्यात्मवाद से विहीन है तो वह भयंकर मानवविनाशकारी शक्ति बन जाती है और जहाँ वह अध्यात्मवाद के रक्षार्थ काम में लायी जाती है, वहाँ वह अपने यथार्थ प्रयोजन को सफल करती है। व्यक्तिरूप से अथवा समष्टिरूप से वास्तविक उन्नति का हेतु अध्यात्मविद्या ही है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपनी अध्यात्मवाद रूपी दिव्य अग्नि को प्रज्वलित रखे।

भारत के प्राचीन इतिहास के पर्यालोचन से स्पष्ट हो जाता है कि शासनचक्र पर भी अध्यात्मवाद का प्रभाव रहता था। यदि किसी बात में गड़बड़ होती थी, एवं कोई जटिल समस्या उत्पन्न होती थी तो तब ऋषि-मुनियों की ही सम्मति से कार्य किया जाता था और उनकी सर्व-कल्याणकारी निष्पक्ष एवं निःस्वार्थ सम्मति ही राष्ट्रों को बड़ी-बड़ी समस्याओं से बचा लेती थी। इसी प्र व्यक्तिगत भी आत्मा अध्यात्मप्रकाश से अपने जीवन कण्टकाकीर्ण मार्ग को प्रकाशित कर सरल बना लेता था और दुनिया में अजातशत्रु होकर पक्ष-विपक्ष दोनों के हि उस ज्योति को प्रज्वलित करता था कि जिससे आ समान अन्य सभी को प्रकाश मिलता था और स कल्याण-पथ के पथिक बन जाते थे। उसके हृदय में ए अखण्ड शुभ कामना प्राणीमात्र के लिए आविष्कृत जाती है। और एक दिव्यध्वनि से सम्पूर्ण गगनमण्ड प्रतिध्वनित हो उठता है।

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु।
सर्वः सर्वमवाप्नोतु सर्वः सर्वत्र नन्दतु॥

अर्थात् सब मनुष्य दुस्तर दुःखों को तर जायें सब कोई कल्याण को देखें एवं अनुभव करें। और कोई सम्पूर्ण इष्ट कामनाओं को प्राप्त करें। तथा सब सब प्रकार आनन्दों का उपभोग करें। कितने सु भाव हैं। अध्यात्मवाद के द्वारा ही एक न अद्भुत और प्रकाशमय लोक का निर्माण हो सक है। इसीलिए शास्त्रकारों ने कहा है कि:— मनुष्य! यदि तू जीवन की दुर्गम घाटियों को करना चाहता है और अपनी मनोवाञ्छित कामना को पूर्ण कर अपने को पूर्णता की कोटि पर पहुँचाना चाह है और उस चरमपद मोक्ष आनन्द का रसास्वादन क चाहता है तो अध्यात्मवाद की शरण ले। उसको पूर्ण समझ और सम्यक्तया क्रियान्वित कर, उसकी तन्म को प्राप्त कर और परमानन्द का रस ले। जैसा कि कहता है :—

"त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

यजु॰ ३।६०

हम उस अनन्तशक्ति वाले पुष्टिवर्धक परमेश्वर उपासना करते हैं जो हमें मृत्यु के बन्धन से मुक्त क है और अमृतत्व को प्राप्त कराता है, जिस प्र खरबूजा पकने पर अपनी बेल के बन्धन से छूट जाता

नासदीय सूक्त तथा अनेकान्तवाद

[ले०—श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री, गाज़ियाबाद]

उपक्रम—

किसी अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये शास्त्रकारों ने अनेक विधियों का उद्भावन किया है। उनके अनुसार ऊहापोहपूर्वक विवेचन करते हुए किसी भी वस्तु के निश्चय तक पहुँचने का यत्न किया जाता है। अर्थ-विवेचन के ये सभी प्रकार अपने में कुछ न कुछ विशेषता रखते हैं। इन सब के बीच में साध्य-साधन भाव के आधार पर अन्वय और व्यतिरेक की आत्मा बराबर झाँकती रहती है। जब हम किसी वस्तु का निश्चय करना चाहते हैं, तो वह हमारा सोचना, विवेचन करना किन्हीं साधनों के आधार पर होता है, जहाँ साधनों का उपयुक्त जमाव दीखेगा, वहीं हमारी भावना हमें टिकाने का यत्न करेगी, और इस प्रतिपत्ति से हम अभिभूत हो जायेंगे कि उस वस्तु के निश्चयात्मक स्तर पर हम पहुँच गये हैं, यह प्रक्रिया 'अन्वय' का रूप है। इसी प्रकार विवेचन की दशा में जब हम किसी वस्तु के प्रतिकूल साधनों का कहीं जमाव देखते हैं, तब समझ लेते हैं यह वस्तु ऐसी नहीं है। विचार का यह प्रकार वस्तु के स्वरूप को यथार्थ रीति पर निखार देने में हमें पूर्ण सहयोग देता है। विवेचना के इस प्रकार को 'व्यतिरेक' कहा जाता है।

अनेकान्तवाद

गंभीरतापूर्वक देखा जाय तो अनेकान्तवाद इसी व्यतिरेक-प्रक्रिया का विस्तार है,। जिन आचार्यों ने तत्त्व-विवेचना के लिये इसको अपनाया है, उनमें मुख्य रूप से आर्हत विद्वानों का उल्लेख किया जाता है। आर्हतशास्त्रों में इसके सात स्तर माने गये हैं, यहाँ उनके विस्तार की उपेक्षा करते हुए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है, कि उन सातों में तीन ही आधारभूत स्तर हैं—वस्तु का होना, अथवा न होना, अथवा न कह सकना। इनको दर्शन की रीति पर—अस्ति, नास्ति, अवक्तव्य—इन पदों के द्वारा प्रदर्शित किया जाता है। सात में से शेष चार इन्हीं के प्रस्तार हैं।

यह स्पष्ट है, जब कहा जाता है—एक वस्तु है, दूसरी वस्तु नहीं है, इसमें किसी को कोई आशंका नहीं होती, क्योंकि 'है' और 'नहीं' का आधार अलग-अलग हैं। इस तरह की भावना या उक्ति में कोई आपत्ति नहीं होती, एक वस्तु का होना और दूसरी का न होना सम्भव है। परन्तु जब एक ही वस्तु में 'है' और 'नहीं' का प्रयोग होता है, तब साधारण रूप से यह आपत्ति होती है कि ये दोनों [होना, न होना] विरुद्ध धर्म एक वस्तु में एक साथ रहने सम्भव नहीं। यह ठीक है, आपाततः ऐसा ही प्रतीत होता है। कि यह कथन ठीक नहीं, परन्तु दार्शनिक रीति पर विचार करने से हम इस कथन में भी सचाई परखते हैं।

देखिये—हमारे सामने एक घड़ा रक्खा है, हम देखते हैं और कहते हैं 'यह घड़ा है', पर उसी समय हम इसे 'नहीं है' भी कह सकते हैं। सो कैसे? वह ऐसे, देखिये—यह घड़ा है, पर यह 'कपड़ा' नहीं है। घड़े के रहते हुए भी 'कपड़ा' रूप में घड़े का अभाव है। घड़ा 'है', पर कपड़ा रूप में घड़ा 'नहीं है'; यहाँ एक ही आश्रय और एक ही काल में 'है' और 'नहीं है' इन दोनों का अस्तित्व रहता है, इसी आधार पर घड़े को हम 'कपड़ा' रूप में कथन नहीं कर सकते, इसी कारण वह 'अवक्तव्य' है, इस प्रकार 'अस्ति, नास्ति और अवक्तव्य' एक ही वस्तु में प्रतिभासित हो जाते हैं। जैनशास्त्रों में जहाँ इसके लिये 'नय' का सातवाँ स्तर पृथक् माना गया है, वहाँ अन्य शास्त्रों से इसका अभिलपन 'अन्योन्याभाव' के आधार पर हो जाता है।

अनेकान्तवाद की यह विशेषता है कि वह वस्तु के एक ही रूप में स्थिर नहीं। वह समझता है कि वस्तु की वास्तविकता उसकी अनेकरूपता की परख में ही निहित है। इसी आधार पर इस वाद के और भी एक-दो बहन-भाई दृष्टिगोचर होते हैं, इनको रहस्यवाद, संशयवाद और छायावाद के नाम से कहा जाता है। यह सर्वथा संभव है। कि इनमें थोड़ा बहुत अन्तर रहता हो, पर इनका मुख्य उपादान तत्त्व एक ही है, और ये उसी के चारों ओर घूमा करते हैं। जब हम किसी एक ही वस्तु में साथ-साथ 'है' और 'नहीं है' का प्रयोग करते हैं, तब

इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं। कि इसके पीछे कोई 'रहस्य' होगा, अन्यथा एक ही वस्तु में 'है-नहीं' यह दोनों कैसे ? दूसरे हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं। कि इस प्रकार का कथन हमें 'सन्देह' की ओर खींच ले जाये, क्योंकि हम इससे यह निश्चय नहीं कर पाते कि वस्तुतः यह 'है' अथवा 'नहीं है'। इसके अतिरिक्त हम यह भी समझ सकते हैं, कि 'है-नहीं' की छाया में कोई ऐसी चीज कही जा रही है, जहाँ यह प्रतीत होने वाली विरोधी भावना अपने घोंटू टेक देती है, और इसका आपाततः प्रतीत होने वाला स्वरूप विलीन हो जाता है। फलतः ये सब 'वाद' एक ही खूँटे से बँधे हैं, यह समझना भ्रम न होगा।

नासदीय सूक्त की तीन ऋचा—

अब देखना चाहिये कि नासदीय सूक्त का विषय-प्रतिपादन इस वाद की छाया में कहाँ तक सामञ्जस्य रखता है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल का १२९ वाँ सूक्त नासदीय सूक्त है। सूक्त के सर्वप्रथम पदों के आधार पर इसका यह नामकरण है। सूक्त में सात ऋचा हैं। इनमें प्रलय और सर्ग का वर्णन है, और उसके साथ स्रष्टा की आश्चर्य-जनक महिमा का संकेत। प्रथम दो ऋचाओं में प्रलय की अवस्था तथा उस काल में स्रष्टा और उपादान तत्त्व के अस्तित्व का वर्णन है। विषय को समझने की सुविधा के लिये ऋचाओं का अर्थसहित निर्देश किया जाता है—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं,
नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः,
किमासीद् गहनं गभीरम्॥ १॥

सर्गकाल से पूर्व प्रलय-अवस्था में नहीं असत् था न सत् था, न था लोक-लोकान्तर समूह और जो भोक्ता आत्मा, उसके आवरण फिर कहाँ? किसके सुखभोग के लिये? समुद्र क्या था गहरा गंभीर? अर्थात् यह सब न था।

वस्तुतः प्रलयकाल की स्थिति को सर्गस्थित वस्तुओं के निषेध द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है। यह न समझा जाये कि उस दशा में सब कुछ अत्यन्त अभाव-तुच्छ-शून्य रूप हो जाता है, इसलिये ऋचा में सब से पहले पद हैं—'न असद् आसीत्' असत् नहीं था। पर सर्गकाल के समान दृश्यमान जगत् का रूप भी तब न था, इसी कहा—'नो सद् आसीत् तदानीम्' न सत् था उस स ऋचा के अगले पदों में इसी की व्याख्या है कि तब सत् न था। दृश्यमान जगत् के लोक-लोकान्तर, आत्मा, आत्मा का आवेष्टन करने वाले तत्त्व, उसके आदि की सामग्री तथा गहन समुद्र आदि कुछ न था।

अगली ऋचा में यही प्रसंग चालू रहता है, अन्त में बताया कि तब फिर था क्या? ऋचा है—

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रके आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्च

न मृत्यु थी, क्योंकि अमृत = आत्मा देही भोक्ता उस समय, न रात्रि और दिन का था चिह्न कोई। अर्था था निर्दोष स्वधा के साथ वह अकेला, उससे भि अन्य नहीं उत्कृष्ट कोई है।

स्पष्ट है, आत्मा के नित्य होने से प्रलयकाल उनका अस्तित्व रहने पर भी देह के साथ संयोग रूप उस समय न होने से देह-वियोग रूप मृत्यु के होने तब प्रश्न ही नहीं उठता? क्योंकि जन्म-मरण आदि व्यवहार देही भोक्ता जीव-चेतन के साथ रहता है। और दिन का चिह्न सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि हैं, स्पष्ट है, प्रलयकाल में ये सब न थे। उस अवस्था आभास, सर्गकाल की वस्तुओं का उस समय अभाव द्वारा ही दिया जा सकता है, जो उपर्युक्त ऋचाओं से किया गया है। तब उस दशा में था क्या? इसका द्वितीय ऋचा के उत्तरार्ध में वर्णित है—स्वधा के साथ निर्दोष चेतन तत्त्व अवस्थित था जो सब से उत्कृष्ट है, से महान् है।

इस प्रसंग में 'स्वधा' पद का अर्थ जगत् का उपा कारण प्रकृति है। सर्वोत्कृष्ट महान् चेतन सत्ता से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। 'स्वधा' पद के साथ तृतीया वि का प्रयोग स्पष्ट करता है, कि ये दोनों तत्त्व स्वरू परस्पर सर्वथा पृथक् और एक [प्रकृति = जड़ त अप्रधान = अपकृष्ट तथा दूसरा [चेतन] उत्कृष्ट तत्त्व है। के अनेक व्याख्याकारों ने इस पद का माया, अवि चेतन की शक्ति आदि अर्थ किया है, और उसको चे तत्त्व से अभिन्न बताया है, परन्तु यह व्याख्यान प्रामा प्रतीत नहीं होता, क्योंकि पर-अपर अर्थात् उत्कृष्ट-अप

की भावना अभेद मानने पर समञ्जस नहीं कही जा सकती। यह स्थिति तो भेद स्वीकार किये जाने पर ही संभव है।

इन ऋचाओं में 'सत्' पद व्यक्त जगत् के लिये प्रयुक्त हुआ है, और 'असत्' पद जगत् की अव्यक्त अवस्था को प्रकट करते हुए उसके 'तुच्छ' अथवा 'शून्य' रूप अर्थ का उस अवस्था में प्रतिषेध बताता है। इसी सूत्र की चौथी ऋचा में भी 'सत्' पद का प्रयोग 'व्यक्त' जगत् के लिये किया गया है, इसलिये प्रलयकाल में 'सत् नहीं था' का अभिप्राय स्पष्ट होता है कि तब व्यक्त जगत् का अस्तित्व न था। फलतः जो व्याख्याकार प्रकृत प्रसंग में 'सत्' और 'असत्' के निषेध से 'सदसद्विलक्षण' तत्त्व की खोज करना चाहते हैं, वह व्यर्थ एवं निराधार है। क्योंकि ऐसी व्याख्या स्वतः ऋचाओं के पूर्वापर प्रसंग से विरुद्ध है। वस्तुतः 'सत्' और 'असत्' के निषेध से यहाँ किसी विलक्षण तत्त्व का संकेत किया गया हो, ऐसा नहीं है; प्रत्युत स्पष्ट रूप से यह सर्ग से पूर्व का प्रलयकाल की अवस्था का वर्णन है। इसीलिये दूसरी ऋचा में जगत् के मूल उपादान प्रकृति [स्वधा] तत्त्व के साथ चेतन एकमात्र परमात्मा के अस्तित्व को तब बताया है, इसमें सदसद्विलक्षण तत्त्व के माने जाने का कोई आधार नहीं है।

प्रलय का वर्णन मनुस्मृति के एक प्रारम्भिक श्लोक [१।५] में किया गया है, जो सूक्त के अनुसार है। श्लोक है—

> आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
> अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

सूक्त की तीसरी ऋचा द्वारा उक्त अर्थ का प्रतिपादन इस रूप में किया गया है—

> **तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।**
> **तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥**

जगत् का मूल उपादान [तम] था अन्धकार से छिपा हुआ सर्ग के पहले, चिह्नरहित कारण में अविभागापन्न [सलिलं] सब था यह। कारण से [तुच्छयेन] कार्य [आभु] ढका हुआ जो था, तेजोमय की वह महिमा से प्रकट हो गया अविभागापन्न [एकम्]।

ऋचा का प्रथम 'तमस्' पद जगत् के मूल उपादान का बोधक है, संभवतः इसी आधार पर सांख्य-ग्रन्थों में गुणत्रय की साम्यावस्था का 'तमस्' पद से अनेकत्र[1] उल्लेख किया गया है।'तमस्' नामक वह मूल उपादान प्रलयकाल में अन्धकार से आवृत इसीलिये था कि तब भौतिक प्रकाश का कोई साधन न था, प्रकाशक लोक सूर्य आदि तथा अग्नि, विद्युत् आदि सब प्रकाश-साधन अपने मूल 'आः' कारणों में तब लीन रहते हैं। 'सर्वम् आः इदम्' में 'आः' क्रियापद है 'आसीत्' अर्थ में। 'सलिलं' पद का अर्थ है—कारण में संगत होना, कारण में प्राप्त होना अर्थात् कारण में अविभागापन्न होना, कार्य का कारण में लीन होना। यह पद गत्यर्थक 'सल्' धातु से औणादिक 'इलच्' [१।५४] प्रत्यय होकर सिद्ध होता है। आचार्य सायण ने इस पद का ऐसा ही अर्थ किया है, और सायण से प्राचीन आचार्य दुर्ग ने निरुक्त की वृत्ति [७।३] में इसी ऋचा की व्याख्या करते हुए 'सलिलं' पद का अर्थ 'सद्भावे लीनं' किया है, जिसका अर्थ है— सद्रूप कारण में लीन।

ऋचाओं का अन्यथा व्याख्यान—

इसके विपरीत गीतारहस्य के अध्यात्म प्रकरण [पृष्ठ २५३, हिन्दी प्रथम संस्करण] में इस पद का अर्थ 'जल' किया गया है। 'अप्रकेतं' पदको इसके साथ मिलाकर 'भेदाभेदरहित जल था' ऐसा उल्लेख किया है।

वस्तुतः यह कथन प्रकरण से संगति नहीं रखता, उक्त ऋचाओं में सर्ग से पहले प्रलय-अवस्था का वर्णन है, उस काल में प्रथम ऋचा द्वारा सर्गकालीन अन्य वस्तुओं के समान जल के अस्तित्व का भी प्रतिबेध किया है, फिर यहाँ उस अवस्था में 'जल' का होना बतावे, यह कैसे संगत कहा जा सकता है। इस प्रकार की विप्रतिपत्ति से अभिभूत होकर संभवतः गीतारहस्य के लेखक ने प्रस्तुत ऋचा की व्याख्या पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"मूलारम्भ में पानी वगैरह पदार्थ थे, ऐसा कहने वालों को उत्तर देने के लिये इस सूक्त में यह ऋचा

१. सांख्यसप्तति की माठरवृत्ति, ७१ कारिका की अवतरणिका॥ सांख्य संग्रह के अन्तर्गत तत्त्वयाथार्थ्यदीपन पृ० ५२, पं० ४॥ निरुक्त, दुर्गवृत्ति ७।३ पर उद्धृत 'पारमर्षसूत्र' सांख्यसन्दर्भ।

आई है। और इसमें ऋषि का उद्देश यह बतलाने का है कि तुम्हारे कथनानुसार मूल में तम पानी इत्यादि पदार्थ न थे, किन्तु एक ब्रह्म का ही आगे यह विस्तार हुआ है।" [पृष्ठ २५३, हिन्दी प्रथम संस्करण]।

गीतारहस्य के लेखक का यह समाधान सन्तोषप्रद नहीं है। कारण यह है। कि इस ऋचा में—मूलारम्भ में पानी वग़ैरह न होने का उल्लेख ही नहीं है। रहस्य-लेखक के अनुसार यदि 'सलिल' पद का यहाँ 'जल' अर्थ समझा जाय, तो उस अवस्था में इसका निषेध करने अथवा अभाव बताने के लिये कोई पद ऋचा में नहीं है। वहाँ स्पष्ट लेख है—'अग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्' प्रलयकाल में यह सब चिह्न-रहित विशेषतारहित 'सलिल' था। यहाँ निषेधार्थक पद कोई नहीं है, तब 'मूलारम्भ में पानी वग़ैरह पदार्थ थे' ऐसा कहने वालों को उत्तर क्या दिया गया ? उत्तर तो तब होता, जब यह कहा जाता कि उस समय 'पानी नहीं था'। इसके विपरीत रहस्य-लेखक ने तो यही माना है, कि 'भेदाभेदरहित जल था।'

रहस्य-लेखक ने अपने अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट करने के लिये ऋचाओं का संपिण्डित भाव बतलाते समय लिखा है—"परन्तु प्रश्न यह है कि जब सृष्टि के मूलारम्भ में निर्गुण ब्रह्म के सिवा और कुछ भी न था, तो फिर वेदों में जो ऐसे वर्णन पाये जाते हैं कि 'आरम्भ में पानी, अन्धकार या आभु और तुच्छ की जोड़ी थी' उनकी क्या व्यवस्था होगी ? अतएव तीसरी ऋचा में कवि ने कहा है कि इस प्रकार के जितने वर्णन हैं जैसे कि, सृष्टि के आरम्भ में अन्धकार था, या अन्धकार से आच्छादित पानी था, आभु (ब्रह्म) और उसको आच्छादित करने वाली माया (तुच्छ) ये दोनों पहले से थे इत्यादि, वे सब उस समय के हैं कि जब अकेले एक मूल परब्रह्म के तप-माहात्म्य से उसका विविध रूप से फैलाव हो गया था—ये वर्णन मूलारम्भ की स्थिति के नहीं हैं।"

प्रतीत होता है, रहस्य-लेखक एक विशेष प्रकार की दार्शनिक विचारधारा से सर्वथा अभिभूत है, और किसी भी तरह उन भावानाओं को प्रस्तुत ऋचाओं के आधार पर करने के प्रयत्न में है। कम से कम इन ऋचाओं से यह प्रकट नहीं होता कि मूलारम्भ में निर्गुण ब्रह्म के सिवा और कुछ न था। दूसरी ऋचा में यह स्पष्ट है कि सर्ग से पहले 'स्वधा' के साथ निर्दोष सर्वोत्कृष्ट चेतन

अवस्थित था। यदि स्वधा वस्तुतः उस चेतन का आ
शक्ति रूप है, तब उसकी स्थिति अपकृष्ट प्रकट करने
तृतीयान्त पद से उसका निर्देश सर्वथा अनुपयुक्त
रहस्य-लेखक ने जो वेदों में वर्णन पाये जाने का उल्ले
किया है, सो वैसा वर्णन वेद में कहीं अन्यत्र पाया
जाता, ऐसा वर्णन इस प्रस्तुत ऋचा में है केवल। वह
ऋचा के पदों को अन्यथा जोड़कर किया गया है—
के आरम्भ में अन्धकार था—यह ऋचा के 'तम आसी
इन पदों को अलग तोड़कर अर्थ किया है, जब कि 'तम आ
तमसा गूढम्' इतना इकट्ठा अर्थ अपेक्षित है।
'तमसा गूढं' को 'सलिलं' के साथ जोड़कर— अन्धका
आच्छादित पानी था—यह अर्थ किया है, जो वस्तुतः अ
है। ऋचा में यह एक वाक्य इस प्रकार बनता है—'इदं स
अप्रकेतं सलिलम् आः' यह सब कार्यजगत् अविशिष्ट का
में अविभागापन्न था। 'अग्रे' पद का अर्थ है—सर्ग से
और उसका संबन्ध ऋचा के प्रत्येक वाक्य से है।
रहस्य-लेखक ने इन सब को 'सृष्टि के आरम्भ में' बता
आगे सन्दर्भ के उपसंहार में लिख दिया है—ये व
मूलारम्भ की स्थिति के नहीं हैं, यह लेख अपने पूर्व
के विरुद्ध हो गया है। फिर ऋचा में 'अग्रे' पद स्पष्ट
जो बताता है कि यह वर्णन सर्ग के पहले का है।

आभु [ब्रह्म] और तुच्छय [माया] पदों के आ
पर उक्त लेखक ने ब्रह्म-माया की जोड़ी बताई है।
विचार से लेखक अभिभूत है, वहाँ यह जोड़ी ब्रह्म से वि
फैलाव होने के अनन्तर ही होती हो, ऐसा नहीं है।
तो सदा बनी रहती है, फिर यह कहने की क्या आव
कता है कि यह वर्णन मूलारम्भ के बाद का है, लेखक
बलात् अपने विचारों को यहाँ से निकाल लेने का
किया है। 'आभु' तथा 'तुच्छय' पदों का अर्थ भी 'ब्र
और 'माया' नहीं है, 'आभु' पद आङ् पूर्वक 'भू' धातु
निष्पन्न होता है, इसका अर्थ उत्पन्न होना, फैलाव हो
अथवा परिणत होना है। इस सूक्त की ही छठी तथा सात
ऋचा में यही अर्थ प्रकट करने के लिये इसका प्रयोग है
इसलिये 'आभु' पद का अर्थ है—निश्चित कार्य, जि
'कार्य' होने में सन्देह न किया जा सके। 'तुच्छय' पद
प्रयोग मूल उपादानतत्त्व के लिये हुआ है। इस पद
'तुच्' धातु 'क्षुद्' के अर्थ में है, ऐसा ऋग्वेद के प्राच
व्याख्याकार वेङ्कटमाधव ने इस ऋचा की व्याख्या क

हुए लिखा है। 'क्षुद्' धातु का अर्थ 'संपेषण' है, जिसका तात्पर्य होता है निरन्तर विकृति की ओर गति होना, परिणतिशील होना। यह अर्थ मूल उपादान के निरन्तर गतिशील होने अथवा परिणामिस्वभाव को प्रकट करता है। इस प्रकार 'तुच्छय' पद इस प्रसंग में जगत् के मूल उपादान तत्त्व का बोधक है। ऋचा के पदों का अर्थ स्पष्ट है—'तुच्छयेन' मूल उपादान ने—सर्ग से पूर्व प्रलयकाल में 'यत्' जिस 'आभु' कार्यमात्र को 'अपिहितं' ढका हुआ 'आसीत्' था, समस्त कार्य,कारण में अविभाग को प्राप्त हुआ था। 'तपसस्तन्महिना जायतैकम्'—एकं तत् तपसः महिना अजायत—एकीभूत वह कार्य तेजोमय परब्रह्म की संकल्पशक्ति द्वारा प्रकट हो गया। प्रलय अवस्था में जो कार्य मूल उपादान के साथ एकीभूत हुआ था, सर्गकाल आने पर वह परब्रह्म की संकल्पमय प्रेरणा द्वारा उस मूल कारण से पुनः प्रकाश में आ गया।

इस प्रकार नासदीय सूक्त की प्रथम तीन ऋचाओं के द्वारा प्रलय अवस्था का स्पष्ट वर्णन करने के अनन्तर अन्तिम पदों में पुनः सर्ग का आभास दे दिया गया है। इस प्रसंग से सदसद्विलक्षण, अनिर्वचनीय अथवा रहस्यमय तत्त्व की कल्पना करना निराधार है। जो कुछ यहाँ प्रतिपादन किया गया है, वह संशय से परे है, और सर्वथा स्पष्ट है।

अन्तिम दो ऋचा—

चौथी-पाँचवीं ऋचा में सर्ग की प्रक्रिया का संकेत किया गया है, लेख के विस्तार-भय से उसका विवेचन न करते हुए अन्तिम, दो ऋचाओं को प्रस्तुत किया जाता है। जो इस प्रसंग में अपेक्षित हैं, छटी ऋचा है—

को अद्धा वेद क इह प्रवोचत्
कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा
को वेद यत आबभूव॥

कौन निश्चयपूर्वक जाने, कौन इस विषय में बोले, किस उदापान से यह उत्पन्न = प्रादुर्भूत् हुआ, किस निमित्त से यह विसर्ग = फैलाव हुआ। अनन्तर होते हैं विद्वान् इस सर्ग से, तब फिर कौन जाने जहाँ से यह हुआ।

इसका तात्पर्य कतिपय व्याख्याकारों ने ऐसा समझा है कि यह जगत्-सर्जन इतना चमत्कारपूर्ण एवं आश्चर्यजनक है, इसके विषय में न कोई जान पाता है न कह पाता, जो क्रान्तदर्शी विद्वान् कहे जाते हैं, जिनसे यह आशा की जाती है, कि वे इस विषय में जानते और कह सकते हैं, उनका प्रादुर्भाव तो सर्ग के अनन्तर ही हो पाता है, तब वे भी सर्जन की वास्तविकता को कैसे जानें? इस प्रकार वस्तुतः यह एक पहेली हो जाती है, जो इस विषय में सन्देह एवं रहस्यमय स्थिति की ओर धकेला करती है। इन व्याख्याकारों का कहना है, कि अन्तिम ऋचा में तो यहाँ तक बता दिया गया है कि जो इस जगत् का अध्यक्ष है, वह भी इसके स्वरूप व वास्तविकता को जानता है, या कदाचित् नहीं भी जानता।

इन ऋचाओं की इस प्रकार की व्याख्या करके वस्तु-विवेचन में अनेकान्त एवं संशयवाद की उद्भावना का प्रयत्न किया जाता है। मूलतत्त्व की परख के लिये प्रवृत्त जिज्ञासु को यह प्रक्रिया किसी सन्तोषप्रद स्तर पर नहीं ले जा पाती, इसलिये यह विवेच्य है। इसमें सन्देह नहीं कि जगत्-सर्जन अत्यन्त चमत्कारपूर्ण एवं आश्चर्यजनक है, पर यह सब अल्पज्ञ आत्मा के लिये है। अनेकान्त या संशयवाद की प्रक्रिया अध्यक्ष परब्रह्म को भी उसी स्तर पर ला बैठाती है, जो सर्वथा चिन्त्य है। वस्तुतः परब्रह्म के सर्वोत्कृष्ट अस्तित्व को स्वीकार करने वाले ऋषियों अथवा विद्वानों ने उस विषय में इस प्रकार की सन्देहपूर्ण भावना को कभी अभिव्यक्त नहीं किया। वेद में इस प्रकार की भावना को अवकाश देना तो वास्तविकता के साथ उपहास करना है। वेद में कहीं ऐसी भावना उपलब्ध नहीं होती, जहाँ ईश्वरीय ज्ञान में सन्देह होना प्रकट किया गया हो। मानने वालों ने परब्रह्म को सर्वत्र पूर्णज्ञान माना है। तब तदुक्त वेद में उसको सन्दिहान होना कैसे बताया जा सकता है?

आचार्य शंकर ने वेदान्त के तीसरे सूत्र की व्याख्या में अत्यन्त आस्थापूर्वक लिखा है—अनेक ज्ञानों के भण्डार, ज्योति के समान सब अर्थों को प्रकाशित करने वाले, सर्वज्ञसदृश महान् ऋग्वेदादि शास्त्र का उत्पाद; सर्वज्ञ परब्रह्म को छोड़कर अन्य किसी से संभव नहीं है। बृहदारण्यक [२।४।१०] उपनिषद् के वर्णन के अनुसार ऋगादि वेद परब्रह्म के निःश्वास के समान हैं। इसी प्रसंग में आगे आचार्य शंकर ने बताया—'तस्य महतो भूतस्य

निरतिशयं सर्वज्ञत्वं...इति'। उस महान् परब्रह्म की सर्वज्ञता निरतिशय है। तब उसका ज्ञान संन्देहमय कैसे?

उपसंहार—

हमारा निवेदन है कि इन ऋचाओं के पारस्परिक सम्बन्ध और वास्तविक अभिप्राय तक पहुँचने में कहीं शिथिलता हुई है, अधर में ही पड़ाव डाल दिया गया है। छठी ऋचा का अर्थ ऊपर दिया जा चुका है। सृष्टि के वास्तविक तत्त्व को कौन जानता है यह बताने या स्पष्ट करने के लिये वह पूर्वपीठिका है। इस ऋचा द्वारा यह जानने की इच्छा प्रकट की गई है कि सर्ग का कौन उपादान और कौन निमित्त है? जानने या बताने वाले विद्वान् तो सर्ग के बाद के हैं, तब उनके द्वारा इस प्रश्न का उत्तर कैसे संभव होगा? अगली अन्तिम ऋचा में इस प्रश्न का उत्तर है,

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥

जगत् के दो ही रूप हैं—कार्य और कारण। कार्यरूप जगत् सर्ग-अवस्था है, और प्रलय-अवस्था कारणरूप है। परब्रह्म अपनी सर्वातिशायी प्रेरणा-शक्ति से सर्ग-अवस्था में कार्यजगत् को धारण करता है, उसी की शक्ति से वह इस रूप में अवस्थित रहता है। प्रलय-अवस्था में वह कार्यजगत् को धारण नहीं करता। जैसे पूर्व की ऋचाओं में कार्य जगत् की वस्तुस्थिति का अभाव बताकर प्रलय के स्वरूप का वर्णन किया है, वैसे ही यहाँ भी प्रलय की स्थिति को 'कार्यजगत् को धारण न करने' के द्वारा स्पष्ट किया गया है। फलतः जहाँ से यह सर्ग प्रकट होता है, और प्रकट होने के अनन्तर उस रूप में धारण किया जाता है अर्थात् उसी रूप में चिरकाल तक अवस्थित रक्खा जाता है, यह सर्ग-स्थिति काल है, इसके अनन्तर अन्य अवसर आता है, जब यह सर्गरूप में धारण नहीं किया जाता। यह प्रलय-अवस्था है। सर्ग एवं उसकी स्थिति और प्रलय इन दोनों ही वास्तविकताओं को सर्वव्यापी जो इसका अध्यक्ष है—वह जानता है। अन्तिम पदों में इन दोनों स्थितियों की ओर संकेत है कि वह सर्ग और प्रलय अर्थात् कार्य और कारण दोनों स्थितियों को साक्षात् जानता है। उसके जानने में सन्देह या अज्ञान का [लेश] नहीं है।

यह प्रतिपादन हमें इस परिणाम पर ले जाता है [कि] यदि जगत् के आश्चर्य को हम जानना चाहते हैं, तो [उस] जानने वाले को जानने का हमें यत्न करना चाहिये। [इस] पहेली को सुलझाने के अन्य समस्त साधन सन्देह [और] आशय से लिपटे हैं। इसके ज्ञाता परब्रह्म का ज्ञान [...] है, वहाँ पहुँचकर हम इसे वास्तविक रूप में जान [सकते] हैं। इसके पहले पड़ाव डाल देना हमारे लिये वास्तवि[क] के ज्ञान में कभी उपयोगी नहीं हो सकता। उस अ[...] में हमारे सामने सन्देह और अनेकान्त का भण्डार [...] पड़ा है, उसकी लपेट से हम अपने को कभी बचा [न] सकेंगे।

इस विवरण के प्रकाश में ऋचा का यह शब्[दार्थ] होगा—

यह विसर्ग जहाँ से प्रकट हुआ है, प्रकट होकर [...] रूप में धारण किया जाता है, फिर उस रूप में धारण [न] किया जाता है। जो इसका अध्यक्ष है सर्वव्यापक, जिज्ञासु! (वेद) वह जानता है [धारण की अव[स्था] को—कार्य अवस्था को] (यदि वा न) जब वह [का]रूप अवस्था नहीं रहती, (वेद) जानता है [उ[स]े भी]।

निवेदन—

यह बात कहकर हम विराम लेते हैं, एक [घड़ी] का निर्माता घड़ी की प्रत्येक अवस्था को सचाई [के] साथ समझता है, जब तक उसका मस्तिष्क ठीक र[हता] है। घड़ी-निर्माता के ज्ञान को, घड़ी के विषय में [यह] नहीं कहा जा सकता कि वह इसे जानता हो, कदाचित् न भी जानता हो। ऐसे कहने वाले के मस्ति[ष्क] में किसी विशेष विकार का होना ही मानना पड़ेगा। घड़ी-विषयक पूर्ण ज्ञान के लिये हमें घड़ी-निर्माता [की] शरण लेनी होगी। विश्व-सर्ग का भी यही पाठ है। जिसकी इच्छा हो पढ़ ले, न हो छोड़ दे; पर मार्ग [यही] है। और वेद के अतिरिक्त वह अन्यत्र उपलब्ध हो[ना] कठिन है।

पूर्व और उत्तर

[*ले०—श्री पं० बुद्धदेव जी विद्यालङ्कार*]

अथर्ववेद ११ वें काण्ड ५ वें सूक्त का ६ टा मंत्र इस प्रकार है—

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः
काष्र्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्व्वस्मादुत्तरं
समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्।

इसका अनुवाद ग्रिफ़िथ ने इस प्रकार किया है—

Lighted by fuel goes the Brahmachari, clad in black buck skin, consecrate, long-bearded. Swiftly he goes from east to northern ocean, grasping the worlds, oft bringing them anear him.

इस अनुवाद में 'From east to northern ocean' ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं।

From east किसका अर्थ है? पूर्व्वस्मात् इस शब्द का, ग्रिफ़िथ को ज्ञान होना चाहिये था कि यदि यहाँ पूर्व्व का अर्थ पूर्व्व दिशा होता तो वाक्य 'पूर्व्वस्याः उत्तरस्याम्' इस प्रकार होता। पूर्व्व दिशा संस्कृत में पुँलिङ्ग नहीं है।

स्पष्ट है कि यहाँ पूर्व्व शब्द समुद्र का विशेषण है। यदि दिशावाची अर्थ करना ही था तो From eastern to northern ocean इस प्रकार होना चाहिये था।

परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि यहाँ ग्रिफ़िथ बिलकुल ही मार्ग से भटक गये हैं।

पूर्व्व शब्द के दो रूप हैं—एक दिशावाची, दूसरा कालवाची। दिशावाची में पूर्व का उलटा पश्चिम होता है।

पूर्व्व का उलटा उत्तर कालवाची अर्थ में होता है, जैसे पूर्वार्द्ध-उतरार्द्ध, पूर्व्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, पूर्व्वाह्ण-उत्तराह्ण इत्यादि।

अब यहाँ ब्रह्मचारी के आगमन का वर्णन है। सो ब्रह्मचारी के आगमन का अर्थ क्या है, ब्रह्मचारी गुरुकुल में चला गया है। जब वह विद्यासमाप्ति करके गुरुकुल से घर की ओर लौटता है। जब हम कह सकते हैं कि वह एति अर्थात् आ रहा है। यह बात दीक्षितः और दीर्घश्मश्रुः इन शब्दों से और भी अधिक स्पष्ट होती है। ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा से गुरुकार्यार्थ कहीं भी जा सकता है। किन्तु उस अवस्था में उसका दीर्घश्मश्रु होना आवश्यक नहीं। दीर्घश्मश्रु के साथ एति का जोड़ समावर्त्तन-संस्कार में ही हो सकता है। फिर यदि उसमें कोई सन्देहलेश का अवकाश था, उसे दीक्षित ने दूर कर दिया। उपनयन-संस्कार के समय वह ब्राह्मण क्षत्रियादि धर्म्म की शिक्षा प्राप्ति के लिये दीक्षार्थी होकर आया था। आज गुरु ने परीक्षा लेकर वह दीक्षित है ऐसा क्तप्रत्ययान्त निर्णय दे दिया। अब वह एति अर्थात् लौट रहा है। तब वह गुरुकुल को गया था आज वहाँ से आ रहा है। जो जाते समय वेदारम्भ-संस्कार में उसने गुरु के यज्ञकुण्ड में समिधा डाली थी, क्यों डाली थी? वेदारम्भ के मन्त्रों से सुनिये—

ओम् अग्नये समिधमाहार्षम् बृहते जातवेदसे यथा त्वमग्ने समिधा समिध्यस एवमहमायुषा मेधया वर्चसा प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन समिन्धे जीवपुत्रो ममाचार्यो मेधाव्यहमसान्यनिराकरिष्णुर्यशस्वी तेजस्वी ब्रह्मवर्चस्व्यन्नादो भूयासꣳ स्वाहा। पार. का. २।४।३॥

अर्थात् हे अग्ने, आज मैंने आचार्य के यज्ञकुण्ड में समिधा आहरण की है। वह इस स्थूलाग्नि के लिये नहीं, किन्तु उस बड़े जातवेदाः अर्थात् अन्तार्यामी महान् अग्नि परमात्मा के अर्पण की है। हे स्थूलाग्नि, जिस प्रकार तुम समिधा से चमकते हो, इस प्रकार इस ब्रह्मार्पण द्वारा ब्रह्मचारी बनकर मैं आयु से, मेधा से, वर्चस् से, प्रजा से पशुओं से, ब्रह्मवर्चस से चमकूँ मेरे आचार्य के पुत्र जीते रहें, मैं मेधावी बनूँ, गुरु की आज्ञा का कभी निराकरण न करूं, इसीलिये यशस्वी-तेजस्वी-ब्रह्मवर्चस्वी और इस यश-तेज तथा ब्रह्मोपासना द्वारा उपार्जित अन्न का खाने वाला बनूँ।

अब वह १२ वर्ष तक लगातार आचार्य के कुण्ड में दी हुई आहुति रङ्ग लाई है और वह समिधा से समिद्ध हो गया है।

यही नहीं ब्रह्मचर्याश्रम में उसने विद्यासङ्ग्रह किया। अब लोकसङ्ग्रह का समय आया है। इसलिये कहा कि **लोकान् संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्**। अब वह लोक-चर्याश्रम में आ गया है इसलियें लोकसंग्रह करके मुहुः वारंवार फिर-फिर इसी में आचरिक्रत् = चक्कर काट रहा है और कर्म्म कर रहा है। पहिले वह विद्यासमुद्र में गोते लगा रहा था, अब वहां से स्नान करके कर्म्म के वीर-रसमय समुद्र में सद्यः एति जल्दी जाना चाहता है। इससे स्पष्ट है कि इसमें समावर्तन संस्कार की ओर निर्देश है जिसकी सबसे अधिक पुष्टि सद्यः इस क्रियाविशेषण द्वारा होती है।

धन्य है, महर्षि दयानन्द जो संस्कारविधि में पूर्वस्मा-दुत्तरं समुद्रं का अर्थ करते हैं—

"वह पूर्ण समुद्र रूप ब्रह्मचर्यानुष्ठान को पूर्ण करके गुरुकुल से उत्तर समुद्र अर्थात् गृहस्थाश्रम को शीघ्र प्राप्त होता है।

अब यदि ग्रिफिथ ने यह विचार किया होता कि संस्कृत में पूर्व का विरोधी उत्तर कालवाची है, दिशावाची नहीं, तो वह क्यों धोखा खाते। खैर, ग्रिफिथ तो विदेशी थे। उन्होंने वेद को समझने का यत्न किया। यही प्रशंसा की बात है। परन्तु जो भारतवासी संस्कृतज्ञानशून्य न होकर भी इन पाश्चात्य लेखकों के अन्ध भक्त हैं उनसे भगवान् वेद को बचावे।

अब लगे हाथों उत्तर और दक्षिण दिशा की भी कुछ कथा सुन लीजिये।

संसार में नियम है कि कर्मप्रवाह ऊँचे से नीचे की ओर चलता है और फल नीचे से ऊपर की ओर। इसीलिये वर्षा ऊपर से नीचे आती है और वीरुधः अर्थात् फलदायक वृक्ष-वनस्पति आदि इससे उलटे चलते हैं, नीचे से ऊपर की ओर। जहाँ बड़े प्रेम की वर्षा करते-करते वर्षा की तरह मिट्टी में मिल जाते है, वहाँ छोटे फलों की दक्षिणा लेकर ऊपर की ओर भागते हैं। यही बड़े-छोटे का ठीक समन्वय है और जहां यह समन्वय हो वहीं आनन्द है। इसीलिये वेद में उत्तर और दक्षिण का अनुवाद होगा upper (उत्तर) तथा compensater (दक्ष समृद्धौ)। इन अर्थों के अनुसार विंध्याचल के उत्तर की ओर की भूमि दक्षिण कहलाएगी तथा विन्ध्याचल उत्तर। क्योंकि भारत में सबसे ऊँचा पर्वत हिमालय है इसीलिये उस दिशा का नाम उत्तर दृढ़ हो गया।

वेद में दक्षिण शब्द पारिभाषिक है। वेद अप[ना] परिभाषा स्वयं बताता है—

कृतम् मे दक्षिणे हस्ते
जयो मे सव्य आहितः।

अथर्व, काण्ड ७. सू. ५० मं.

पुरुषार्थ मेरे दक्षिण हाथ में है, जय मेरे सव्य हा[थ] में। दक्षिण हाथ को दक्षिण इसीलिये कहते हैं कि व[ह] हमको दक्षिणा का अधिकारी बनाता है। यदि कि[सी] मनुष्य को बाएँ हाथ से ही काम करने का अभ्यास [हो] तो वैदिक भाषा में वही उसका दक्षिण हाथ होगा।

इन परिभाषाओं को न जानने से वैदिक कर्मका[ण्ड] निरर्थक उपहासास्पद सा दीखता है।

उदाहरण के लिये विवाह-संस्कार में सप्तपदी इ[स] प्रकार आरम्भ होती है—मा सव्येन दक्षिणमतिक्राम

इसका अर्थ हुआ कि बायाँ पैर दाहिने से आगे निकलने दें। इससे क्या उपदेश मिला?

किन्तु वैदिक परिभाषा समझ लेने पर इसका अ[र्थ] हुआ कि जीवन-यात्रा में पुरुषार्थ से अधिक फल प्रा[प्ति] की इच्छा न कर।

Let not thy claims exceed th[y] achievements.

समावर्त्तन संस्कार में पितरों को दक्षिण दिशा [में] बैठाने का यही भाव है कि उनकी ओर हमारा कर्त[व्य] है और उनका हम पर अधिकार है, इसलिये बड़ों [को] सदा दाहिने बैठाते हैं। यह जो Keep to the le[ft] अर्थात् बाँयें चलो का नियम चला है इसका मूल भ[ाव] भी यही है कि जो जिसे बड़ा समझे वह उसे दाहि[ने] रक्खे तथा आप बायें चले।

इस प्रकार हमने यह दिखाने का यत्न किया [कि] पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि शब्दों के वैदिक अ[र्थ] जब तक ठीक न समझ लिये जावें तब तक जो लोग [वेद] में प्रवेश करेंगे उन्हें सिवाय दिङ्मोह के कुछ प्राप्त [न] होगा। इसलिये चलो सच्चे दिग्दर्शक दयानन्द की शर[ण] में, अथवा उसके उपास्य स्वयं भगवान् की शरण में। पाश्चात्य पद्धति से तो सिवाय भटकने के कुछ न मिलेगा। हे प्रभो, भारत के लोगों का दिग्विभ्रम दूर कीजिये। आ[प] ही हमारे सच्चे दिग्दर्शक हैं।

ईश्वर के दो भ्राता

[ले०—श्री पं० जगदीशचन्द्र जी शास्त्री दर्शनाचार्य, यमुनानगर]

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का एक सौ चौंसठवाँ सूक्त 'अस्य वामीय सूक्त' कहलाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में इस सूक्त का बड़ा महत्त्व वर्णन किया है। कारण यह है कि अध्यात्मवाद के रहस्यों पर जितना आवश्यक प्रकाश इस सूक्त में डाला गया है, उतना वैदिक-साहित्य में अन्यत्र कहीं भी उपलब्ध नहीं होता। इस सूक्त में ५२ मन्त्र हैं। निदर्शन और दिग्दर्शन मात्र के लिये सूक्त के प्रथम मन्त्र का संक्षिप्त व्याख्यान किया जाता है। मन्त्र में परमेश्वर के दो भ्राताओं का वर्णन किया गया है। यथा—

अस्य वामस्य पलितस्य होतुः
तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्त्यस्य
अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥१॥

(१) अस्य वामस्य पलितस्या होतुः—यह जगत्, आनन्दस्वरूप सर्वपालक और कर्मफलप्रदाता परमेश्वर का है। चारों पदों में षष्ठी विभक्ति का निर्देश इसलिये किया गया है कि संसार में स्वस्वामिभाव सर्वत्र विद्यमान है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो स्व तो हो अर्थात् उसकी अपनी सत्ता हो परन्तु उसका कोई स्वामी न हो। जो नास्तिक दुःसाहसपूर्वक कहा करते हैं कि स्वस्वामिभाव का नियम भ्रान्तियुक्त है और इस जगत् का कोई स्वामी नहीं है। उनसे पूछा जाना चाहिये कि यदि यह नियम असत्य है तो आप का प्रत्येक अंग और अंगों की क्रिया इस नियम से क्यों बँधी हुई है। आप देखते हो तो अपनी आँखों से देखते हो। आप खाते हो तो अपने मुख से खाते हो। आप सुनते हो तो अपने कानों से सुनते हो। आप सोचते विचारते हो तो अपने मन से ही सोचते विचारते हो—किसी दूसरे व्यक्ति की इन्द्रियों से नहीं। दूसरे लोग भी अपने २ इन्द्रिय और मन आदि से ही कार्य लेते हैं। प्रत्येक व्यक्ति अपने २ शरीर का स्वामी है, अपनी २ बुद्धि का स्वामी है, अपनी २ सम्पत्ति का स्वामी है, जब पूछा जाता है कि यह आँखें किसकी हैं तो कहता है कि मेरी हैं, घोडा किसका है तो कहता है कि मेरा है। जब पूछा जाता है कि ये घर, दुकान, खेत और स्त्री पुत्र आदि किसके हैं तो नास्तिक भी मुँह फाड़कर कहने लगता है कि मेरे हैं। जब ये सकल पदार्थ आप के, मेरे और किसी के हैं तो जगत् के पदार्थ भी अवश्य किसी के हैं—इनका भी कोई स्वामी अवश्य है। यह विशाल पृथ्वी भी किसी की सम्पत्ति है। यह सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रगण भी किसी की सम्पत्ति हैं। इस वेगवान् वायु का कोई स्वामी है। इन उच्च शिखरों वाले पर्वतों का भी कोई स्वामी है। इन कलकल करने वाली नदियों का भी कोई स्वामी है और घनघोर वनों तथा निर्जन मरुस्थलों का भी कोई स्वामी है। इस गम्भीर समुद्र का और अनन्त आकाश का भी कोई स्वामी है—और अवश्य है। वेद ने बतलाया कि इस विशाल विश्व का स्वामी परमेश्वर है। यह न समझ बैठना कि इस जगत् का कोई स्वामी नहीं है—यह अनाथ है, इसका कोई नाथ नहीं है। नहीं-नहीं—इसका स्वामी है, इसका भी नाथ है। जगत् के स्वामी के तीन विशेष विशेषण दिये गये हैं। अर्थात् जगत् का स्वामी परमेश्वर क्यों है—इसकी सिद्धि में तीन हेतु दिये गये हैं। इन तीन हेतुओं से सिद्ध होता है कि जगत् का कोई स्वामी अवश्य है।

पहिला हेतु—वामस्य। आनन्दस्वरूप परमेश्वर का यह जगत् है। संसार का प्रत्येक प्राणी सुख की अभिलाषा करता है और अभिलषित पदार्थों को प्राप्त करके सुखी होता है। यदि सुखस्वरूप आनन्दघन परमेश्वर न होता तो जगत् में सर्वत्र ढूँढने पर कहीं भी सुख का लेश दिखाई न देता। परन्तु जगत् में तो प्रत्येक प्राणी जी रहा है और सुख के साँस ले रहा है। विचारिये, जीवन से बढ़कर और क्या सुख हो सकता है। उपनिषत् ने भी इसी बात को स्पष्ट करते हुए कहा है—

क एवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष
आकाश आनन्दो न स्यात्—तैत्तिरीय०

कौन क्रिया कर सकता और कौन प्राणधारण कर सकता यदि परमेश्वर व्यापक और आनन्दस्वरूप न होता।

वाम का अर्थ सुन्दर भी है। जगत् के प्रत्येक पदार्थ में विलक्षण सौन्दर्य और सामञ्जस्य भी दिखाई देता है। अतः इस कलापूर्ण सुन्दर कृति का कोई ऐसा कलाकार होना चाहिये जिसके पास सौन्दर्य का अनन्त भण्डार हो, जिससे संसार के प्रत्येक पदार्थ को तदनुरूप पृथक्-पृथक् सौन्दर्य देकर सुन्दर बना सके। मन्त्र कहता है कि इस जगत् के कण-कण में सौन्दर्य भरने वाला कोई सौन्दर्य की खान अवश्य है। जिसको गन्दा, भद्दा और कुरूप कहकर सभी लोग घृणा करने लगते हैं—वह भी सुन्दर स्वरूप ही है। यदि वह सचमुच गन्दा और भद्दा होता तो संसार भर में उसका कोई ग्राहक और प्रशंसक न पाया जाता, परन्तु ऐसा नहीं है—गन्दे से गन्दे और भद्दे से भद्दे कहे जाने वाले पदार्थों में सौन्दर्य और आकर्षण होता है और वे पदार्थ अपनी ओर अपने प्रेमीजनों को आकृष्ट करते ही हैं। शूकर, कौए, मछली, मक्खी, कुत्ते आदि जीव बड़े चाव और प्रेम से, गन्दे कहे जाने वाले पदार्थों को ग्रहण करते हैं। व्यापक परमेश्वर का प्रदान किया हुआ सौन्दर्य उनमें पहिले भी था—जब आपने ग्रहण किया था और पीछे भी विद्यमान रहा—जब आपने गन्दा समझ कर फेंक दिया। एक सौन्दर्य और सुखस्वरूप के ग्राहक आप थे और एक अवशिष्ट सौन्दर्य तथा सुख के ग्राहक शूकरादि जीव हैं। परमेश्वर की व्यापकता-सुन्दरता और सुखरूपता में कमी कभी नहीं होती।

इस सुन्दर और आनन्दभरे संसार का स्वामी परमेश्वर है और वह सौन्दर्य, आकर्षण और आनन्द से भरपूर है।

दूसरा हेतु—पलितस्य। पालन करने वाले परमेश्वर का यह जगत् है। इस जगत् के प्रत्येक पदार्थ को शक्ति की प्राप्ति हो रही है। निर्जीव और जड़ पदार्थों को गति मिल रही है। जिससे उनमें अनेक प्रकार के भ्रमणादि व्यवहार हो रहे हैं। चेतन पदार्थों को खानपानादि की सामग्री प्राप्त हो रही है जिससे उनके जीवन-व्यापार सम्पन्न हो रहे हैं। अतः जगत् के जड़-चेतन पदार्थों का पालन-पोषण और संरक्षण देखकर निश्चय होता है कि इस ब्रह्माण्ड का कोई संरक्षक, पालक, पोषक और व्यवस्थापक परमेश्वर अवश्य है। यदि जगत् का स्वामी सर्वपालक न होता तो किसी भी पदार्थ को गति और जीवन की प्राप्ति न होती। परन्तु ऐसा नहीं हैं, अतः जगत् का स्[वामी] सर्वपालक परमेश्वर है।

तीसरा हेतु—होतुः। कर्मफल प्रदान करने [वाले] परमेश्वर का यह जगत् है। इस जगत् में अनेक प्रका[र के] कर्म और कर्मफल देखने में आते हैं। इन कर्मों का [कोई] साक्षी होना चहिये। जीवधारी कर्म करते अवश्य हैं प[रन्तु] किसी को स्मरण नहीं रहता कि अमुक सुखदुःख मेरे अ[मुक] कर्म का फल है। यदि स्मरण होता तो वैद्यों, ज्योतिषियों [और] विद्वान् उपदेशकों के पास जाकर न पूछता, कर्म स्व[यं] जड़ हैं—वे नहीं जानते कि हम क्या हैं और क्या [फल] देना चाहिये। जो स्वयम् ज्ञानरहित है वह साक्षी [और] फलप्रदाता कैसे हो सकता है। अतः जीवों और कर्मों [के] अतिरिक्त कोई कर्मों का साक्षी तथा कर्मों का फलप्रदा[ता] परमेश्वर अवश्य है और वही इस जगत् का शासक त[था] स्वामी है। मन्त्र के प्रथम चरण ने बताया कि इस ज[गत्] का स्वामी आनन्दस्वरूप, सर्वपालक और न्यायक[ारी] परमेश्वर है। इसी तत्त्व को समझाने के लिये मन्त्र के [अगले] चरण कहे गये हैं यथा—

(२) तस्य भ्राता मध्यमो अस्ति अश्नः—[उस] परमेश्वर का एक भ्राता है जो मध्यस्थानीय है। उस[का] नाम है अश्न। मोटे शब्दों में यह समझिये [कि] परमेश्वर के दो भ्राता और भी हैं अर्थात् इस सं[सार] में केवल एकमात्र परमेश्वर ही नहीं है, परमे[श्वर] से अतिरिक्त दो तत्त्व और भी हैं। परमेश्वर का व[र्णन] हो चुका और उसके विशेषण वामस्य, पलितस्य [और] होतुः दिये गये जिससे सिद्ध हुआ कि परमेश्वर दो[नों] जगत् का स्वामी है—जड़ जगत् का भी और चेतन ज[गत्] का भी। अलंकार की दृष्टि से जीव-जगत् को मध्यम भ्रा[ता] और जड़-जगत् के कारण अव्यक्त (प्रकृति) को तृती[य] भ्राता कहा गया है। अब मध्यम भ्राता के विषय में क[हा] जाता है।

जीव को मध्यम इस लिये कहा गया है कि यह शरी[र] में रहकर ही अपनी सत्ता का प्रकाश कर सकता है। यदि शरीर के मध्ये प्रविष्ट न हो तो इस जीवात्मा [के] अस्तित्व का भी पता नहीं लग सकता। खाना, पीना, उठना-बैठना आदि इन्द्रियों के द्वारा अनेकविध भोग शरीर धारण करने पर ही सिद्ध होते हैं और मोक्षप्रा[प्ति] के प्रयत्न, ज्ञान-वैराग्य आदि भी शरीर धारण करने पर ह[ी]

सिद्ध होते हैं, दूसरी बात यह है कि जीवात्मा का स्थान ईश्वर और प्रकृति के मध्य में है अर्थात् जीवात्मा के एक ओर परमेश्वर है और दूसरी ओर अव्यक्त प्रकृति है। जीवात्मा दोनों के मध्य में स्थित होने के कारण पूर्णतया स्वतन्त्र है—चाहे परमेश्वर की ओर झुके और अपना मोक्ष सिद्ध कर ले और चाहे तो प्रकृति की ओर झुके और भोग-विलास में लिप्त होकर जन्म मरण के चक्र में फँसा रहे। इतनी बात अवश्य है कि जीवात्मा जहाँ कर्म करने में स्वतन्त्र है वहाँ कर्मफल भोगने में सर्वथा परतन्त्र है। मोक्ष की प्राप्ति में परमेश्वर के अधीन है और प्राकृतिक सुख दुःख भोगने में परमेश्वर और प्रकृति दोनों के अधीन है। प्रकृति के पदार्थों से ही भोग प्राप्त होते हैं—इस दृष्टि से प्रकृति के अधीन होता है और बिना परमेश्वर की व्यवस्था के प्रकृति भी कुछ दे नहीं सकती। इस दृष्टि से परमेश्वर के अधीन होता है।

अश्नः—जीवात्मा को 'अश्न' इसलिये कहा गया है कि इसकी वृत्ति सदा खाने अर्थात् भोग भोगने की ओर ही लगी रहती है। जिस किसी योनि में भी यह जाता है वहाँ भोग ही भोगता है। भोगों को भोगते-भोगते इसकी इच्छा समाप्त नहीं होती शान्त नहीं होती सदैव ही नित्य नये भोग भोगना चाहता है,'भोगाः न भुक्ता वयमेव भुक्ताः' वाली बात है। कहना पड़ता है कि यह बड़ा खाऊ है—बड़ा पेटू है। इसी कारण से इस जीवात्मा का नाम 'अश्न' अर्थात् खाऊ है। प्रकृति जड़ होने के कारण कोई भी भोग नहीं भोग सकती और परमेश्वर अकामो धीरः अमृतः स्वयंभूः और रसेन तृप्तः तथा न कुतश्चनो नः होने के कारण, भोग की इच्छा तक नहीं कर सकता; अतः संसार के विशालातिविशाल और महाविशाल क्षेत्र में भोग भोगने वाला जीवात्मा ही 'अश्न' है।

(३) तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्य—इस परमेश्वर का तृतीय अर्थात् तीनों में छोटा भ्राता अव्यक्त (प्रकृति-तत्त्व) है जिसकी पीठ पर घृत रखा हुआ है। यह इस घी के कनस्तर को अपनी पीठ पर लादकर जीवात्मा की ओर चलता रहता है। घी बलकारी और बलवर्धक पदार्थों का उपलक्षण है। वास्तव में प्राकृतिक पदार्थों के अन्दर जो बलवर्धक प्राणदायिनी शक्ति है वह जीवात्माओं के लिये ही है। जीवात्मा को सभी प्रकार के भोग इस तृतीय भ्राता से ही प्राप्त होते हैं। परमेश्वर तो देने वाला आज्ञापक अथवा अनुमन्ता मात्र है। पदार्थमात्र का संग्रह तो प्रकृति के ही अन्तर्भूत है। भोग-विलास की सारी सामग्री इसी भ्राता के पास है।

(४) अत्र अपश्यम् विश्पतिम् सप्तपुत्रम्—इसी तृतीय भ्राता में सम्पूर्ण सृष्टि के भरण-पोषण की सामग्री और सातों पुत्रों को मैंने देखा है। सच तो यह है कि यह अव्यक्त प्रकृतितत्त्व ही सात पुत्रों के साथ सम्पूर्ण जीव-सृष्टि को अनेक प्रकार का भोगविलास प्रस्तुत कर रहा है। महर्षि कपिल के सांख्यसूत्रों के अनुसार प्रकृति के सात पुत्र ही सात विकृतियें हैं।

"प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारः, अहंकारात् पञ्च-तन्मात्रा०" अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार और शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धस्वरूप पञ्चतन्मात्रायें। इन सात तत्त्वों के सहारे ही जीवों को सुख-दुःख की प्राप्ति होती है।

स्मरणीय बात यह है कि इस मन्त्र में 'भ्राता' शब्द केवल भाई के अर्थ में ही नहीं आया है किन्तु इसका अर्थ है—ग्रहण करने वाला। परमेश्वर के सौन्दर्य, आनन्द आकर्षण, पालन, पोषण और दान आदि गुणों को ग्रहण करने वाले परमेश्वर से अतिरिक्त दो और तत्त्व भी हैं—एक जीवात्मा दूसरा अव्यक्त प्रकृति। कुछ गुणों को जीवात्मा ग्रहण करता है और कुछ गुणों को प्रकृतितत्त्व ग्रहण करता है। इसीलिये परमेश्वर के भ्राता कहे गये हैं। 'हृ' धातु से हर्ता या ह्राता शब्द बनता है और वैदिक व्याकरण के नियमानुसार 'ह' को 'भ' हो जाने से भ्राता सिद्ध होता है।

जो लोग वेद में तीन तत्त्वों का दर्शन देखना चाहते हों, वे इस मन्त्र पर और मन्त्र के प्रत्येक पद पर गम्भीर दृष्टि डालने का साहस करें, उनको ईश्वर-जीव-प्रकृति के विषय में स्पष्ट प्रकाश दिखाई देगा। ऋग्वेद के इस "अस्य वामीय सूक्त" के अन्य ५१ मन्त्रों में भी इसी अध्यात्म-वाद के आवश्यक रहस्यों पर प्रकाश डाला गया है। जिज्ञासु सज्जन पूरे सूक्त का स्वाध्याय करने की कृपा करें॥

सृष्टि-रचना का वैदिक दर्शन

"याथातथ्यम्" एवं "यथापूर्वम्"—की भूमिका

[ले०—श्री पं० वैद्यनाथशास्त्री आचार्य, पंचवटी, नासिक]

वेदान्वेषण और उसका तर्कपूर्ण विश्लेषण इस परिणाम पर पहुँचाता है कि वेद में अनेक प्रकार की दार्शनिक विचार-धारायें अपना स्थान रखती हैं। सृष्टि-रचना का दर्शन भी एक ऐसा विषय है जो तत्त्वदर्शन की दृष्टि से अपना अनुपम स्थान रखता है। वेद की दृष्टि से सृष्टि-रचना का विचार करते समय दो वस्तुएँ समक्ष उपस्थित होती हैं। वे हैं याथातथ्यवाद और यथापूर्ववाद की विचार-सरणियें। यदि संक्षेप में वैदिक सृष्टि-रचना के दर्शन को "याथातथ्य" और "यथापूर्व" का फल कहा जावे तो अनुपयुक्त न होगा। ये "याथातथ्य" और यथापूर्व क्या हैं इस पर विचार करना इस लेख की दृष्टि से उपयोगी है।

ऋग्वेद १०।१९२।३ में "यथापूर्वमकल्पयत्" पदों का प्रयोग है। यह "यथापूर्वम्" पद इस तत्त्व का ज्ञापक है कि धाता = परमेश्वर ने वर्तमान् सृष्टि में जो वस्तुएँ उत्पन्न की हैं—उन्हें यथापूर्व अर्थात् पूर्वकल्प के समान ही बनाया है। जो वस्तु पूर्वकल्प में जिस प्रकार आयोजित थी इस कल्प में भी वैसी ही आयोजित है। ऐसा नहीं है कि पूर्वकल्प में किसी वस्तु की योजना और रही हो और इस कल्प में और तरह की हो। इस विचार-धारा पर और भी अधिक बल पड़ जाता है, जब हम यजुर्वेद ४० वें अध्याय के ८ वें मंत्र पर दृष्टि डालते हैं। इस मंत्र में हमें "याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्" पदों का प्रयोग मिलता है। इसका भाव यह है कि परमेश्वर ने सृष्टि में पदार्थों की रचना याथातथ्य से की है। याथातथ्य का अर्थ यह है कि जो घटना, योजना अथवा वस्तु जैसी हो सकती हैं, जैसी होनी चाहिए और जैसी उसकी वास्तविकता है; वैसी ही वह बनायी गयी है। यथा का अर्थ है जैसा एवं अनतिक्रमण। तथा का अर्थ है वैसा एवं वस्तुतादात्म्य। वस्तु के तथ्यपने को विना लांघे हुए उसकी योजना करना याथातथ्य है। ये दोनों पद हैं बहुत ही लघु, परन्तु इनके अन्दर दार्शनिक रहस्य छिपा दृष्टिगोचर होता है। अगर इन दोनों प[दों पर] सविस्तर विचार किया जावे तो पता चलेगा कि व[र्तमान] में प्रचलित अनेक अवैदिकी दार्शनिक दृष्टियों का [स्व]यं ही निराकरण हो जाता है।

चेतन की क्रिया की निमित्तता से जो कार्य [होता] है उसके दो छोर पाये जाते हैं। एक तरफ वस्तु के आकार में परिवर्त्तन लाकर या अन्य प्रकार योजना करके वस्तु का प्रकटीकरण करती है और [दूसरी] तरफ से वह इस परिवर्त्तन एवं आयोजन के नियम प्रकट करती जाती है। कुम्भकार यदि घड़े को ब[नाता] है तो जहाँ उसकी निमित्तता वस्तु को घड़े के रू[प में] प्रकट करती है वहाँ उस घड़े की रचना के नियम को वह व्यक्त करती जाती है। वस्तु-निर्माण से नियम और जहाँ दृष्टि जाती है वहाँ नियम के दर्शन से भी [वस्तु] की ओर दृष्टि जाती है। इस प्रकार नियम और [वस्तु] दोनों साथ रहते हैं। सृष्टि-रचना में महान् चेतन पर[मेश्वर] की क्रिया से भी यही उदाहरण पुष्ट होते दिखायी [देते] हैं। एक तरफ वह सृष्टि के पदार्थों की रचना कर[ता है] और दूसरी तरफ से साथ में ही नियमों (Univer[sal] Laws) को भी प्रकट करता है। वस्तु को सत्य [और] नियम को ऋत कहा जाता है। इनमें अन्यतर [का] अध्ययन अन्यतर का ज्ञापक है। चाहे ऋत के अध्[ययन] से वस्तु का ज्ञान करे और चाहे वस्तु के अध्ययन से [ऋत] का ज्ञान करे।

याथातथ्य और यथापूर्व की भूमिका पर आधा[रित] दर्शन कई कल्पित दार्शनिक मान्यताओं का निरा[करण] कर देता है। जो लोग यह विचार करते हैं कि ज[गत्] की उत्पत्ति शून्य अथवा अभाव से हुई है उनके विच[ार] पर इस विचार-धारा से कुठाराघात हो जाता है। क्यों[कि] जो अभाव है अथवा अभावात्मक है उसमें याथात[थ्य] और यथापूर्व की रचना का प्रश्न ही नहीं उठता है।

कुछ हो ही नहीं वह यथापूर्व कैसे ? जो निरा अभाव है उसमें भेद कैसे और पुनः उसका याथातथ्य आयोजन किस प्रकार संभव है।

एक विचार-धारा यह है कि दुनियाँ की उत्पत्ति में अनेकों त्रुटियाँ हैं। यह भी इस प्रक्रिया में निरस्त हो जाता है, क्योंकि जो यथापूर्व और याथातथ्य से हो वह गलती नहीं। जिस वस्तु की रचना पूर्ववत् और जैसी थी वैसी है तो वह गलती नहीं। जगत् में आवृत्ति पायी जाती है जो पूर्वकल्प के समान है, फिर इसे त्रुटिपूर्ण क्यों कर कहा जा सकता है।

जगत् को मिथ्या एवं भ्रम मानने वालों का मत भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि मिथ्या और भ्रम पुनरावृत्ति में पूर्ववत् और यथावत् नहीं। जब पूर्वकल्प में रचे गये सृष्टिपदार्थ के समान ही और यथावत् ही ये सृष्टि-पदार्थ हैं तो ये मिथ्या एवं भ्रमरूप नहीं, अपितु यथार्थ हैं। परमात्मा के ज्ञान में जब पूर्वकल्प के पदार्थों का ज्ञान बना है और तदनुसार ही इस कल्प में रचना हुई, तो फिर ये मिथ्या क्यों कर हो सकते हैं। जो यह मानते हैं कि सृष्टि के पदार्थ एक से बने रहते हैं, वे कभी उत्पन्न नहीं होते—उनके मत का भी निराकरण इसमें हो जाता है। जब सृष्टि के पदार्थ यथापूर्व = अर्थात् पूर्वकल्प के समान और वैसे ही हैं जैसे वे उस समय रचे गये थे तो फिर जगत् के पदार्थ बनते नहीं—यह संभव कैसे। आवृत्ति होने का तात्पर्य ही है कि उत्पत्ति और विनाश होता है। बिना उत्पत्ति और विनाश के आवृत्ति संभव नहीं।

क्षणिकवाद और बाह्यार्थ भंगवाद भी इससे निरस्त हो जाते हैं। जब वस्तु पूर्वकल्प के समान और स्थिर आयोजन का विषय है तो फिर वह क्षणिक एवं बाह्यार्थाभाववत् कैसे ? क्षणिक में पूर्वापर कारण-कार्यभाव नहीं। परन्तु इस सृष्टि में है। बाह्यार्थ जब यथापूर्व और यथातथा प्रतीत हो रहा है तो वह बाह्यरूप में अभाव कैसे हो सकेगा। यह केवल विज्ञानमात्र भी नहीं, क्योंकि वस्तु तत्त्व के परिणाम के रूप में रचित होकर अस्तित्व में है।

यह अकस्मात् भी नहीं, क्योंकि अकस्मात् (chance) में रचना का नियम नहीं। परन्तु यहाँ सृष्टि में आवृत्ति और नियमपूर्वक आयोजन पाया जाता है और वह भी आयोजक के द्वारा। फिर वह अकस्मात् किस प्रकार हो सकती है। अकस्मात् का अर्थ है कि जिसमें कारण-कार्य की व्याख्या न की जा सके। परन्तु यहाँ पर कार्य, कारण और कर्त्ता तीनों ही व्याख्यात हैं। जिसमें, "क्यों", "कैसे" और "कहाँ" का उत्तर मिल जावे वह अकस्मात् नहीं।

बिना कर्त्ता के जगत् की रचना भी सम्भव नहीं है। यथापूर्व और यथातथा रचना करने, वाले के बिना सम्भव नहीं। जगत् का कोई कर्त्ता है जो ऐसी नियमित रचना करता है। साथ ही सृष्टि के पदार्थों की आकृति उस कर्त्ता के ज्ञान में विद्यमान है और प्रत्येक कल्प में वह इन पदार्थों का यथावत् आयोजन करता है। वह भी याथातथ्य से—क्योंकि इससे उल्टा बन ही नहीं सकता है।

विकासवाद का सिद्धान्त भी इस आधार पर खंडित हो जाता है। क्योंकि विकासवाद में "धाता" का अभाव है और साथ ही साथ उद्देश्य (Final purpose) का अभाव है। यहाँ पर यथापूर्व और यथातथा सृष्टि में उद्देश्य पाया जाता है। जगत् की रचना एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिये है। यह उद्देश्य द्रष्टा पुरुष के भोग और मोक्ष की सिद्धि है। इसी दृष्टि से कहा गया है—याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः = अर्थात् प्रभु ने सृष्टि के पदार्थों की याथातथ्यतः रचना अनादि प्रजा जीव के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिये की।

यहाँ पर जड़ाद्वैतवाद और चेतनाद्वैतवाद का भी निरास हो जाता है। क्योंकि केवल जड़कारण और केवल चेतनकारण मात्र सृष्टि की पहेली को सुलझाने में असमर्थ हैं। न केवल जड़ जगत् का कारण हो सकता है और न केवल चेतन। जगत् में जड़-चेतन दोनों कारण हैं। प्रकृति और जीव तथा परमेश्वर अनादि कारण हैं। अन्यथा सृष्टि यथापूर्व और यथातथा नहीं बन सकती है। सृष्टि में यह आयोजन इन तीनों पदार्थों की अनादिता का ज्ञापक है।

इस यथापूर्व और याथातथ्य दर्शन में जहाँ उपर्युक्त वादों का खण्डन होता है वहाँ निम्न धारणाओं की पुष्टि भी होती है—

१—जगत् की रचना होती है।

२—जीव, प्रकृति और ईश्वर—तीन अनादि पदार्थ हैं।

३—कार्यकारणभाव—सत्कार्यवाद का नियम सृष्टि में पाया जाता है।

४—परमात्मा निमित्त कारण है और जगत् की रचना में कोई त्रुटि नहीं।

५—जगत् की रचना में उद्देश्य (final purpose) है।

यह संक्षेप में दो वैदिक पदों का अर्थ दिखलाने का प्रयत्न किया गया। वेदमंत्रों में ऐसे अनेक पद हैं जिनमें विविध ज्ञानविज्ञान भरे पड़े हैं?। मैंने वैदिक ... नामक अपनी पुस्तक में ऐसी गुत्थियों के सुलझाने ... प्रयत्न किया है। अभी जो बृहत् पुस्तक लिखकर ... तैयार की है उसमें पाश्चात्यों और एतद्देशीयों द्वारा ... लाये गये सभी वैदिक इतिहासों का निराकरण किया ... है। इस पुस्तक में ऐसे वैदिक सूत्रों की व्याख्या है ... ज्ञान और विज्ञान की कुंजी सिद्ध होगी और ऋषि ... दयानन्द के सिद्धान्तों की पुष्टि में एक अद्भुत ... सिद्ध होगी। कर्ममीमांसा और शिक्षण तरंगिणी ... नामक मेरी पुस्तकें अपने विषयों में ऐसे सूत्रों से सम्बद्ध ... दर्शन हैं।

हमारा अनुसन्धान-विभाग

[ले०—श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, इलाहाबाद]

पिछले लगभग अस्सी-नव्वे वर्ष के ऊहापोह के पश्चात् अब समय आ गया है कि आर्य्यसमाज के अनुसन्धान की कार्य्यशैली में कुछ परिवर्तन होना चाहिये। जिस प्रकार आज के युग में वैयक्तिक कृषि के स्थान में सामूहिक कृषि पर बल दिया जा रहा है जिससे देश की अन्नोत्पत्ति में वैज्ञानिक रीति से संवृद्धि की जाय। इसी प्रकार अनुसन्धान भी वैयक्तिक रीति से न होकर सामूहिक और साहयोगिक हो तो परिश्रम का अधिक से अधिक फल मिल सकेगा, आर्य्यसमाज में यों तो अनेक अनुसन्धान कर्ता और कतिपय अनुसन्धान केन्द्र हैं परन्तु यदि हमारे अनुसन्धान का वैज्ञानिक रीति से लेखा लिया जाय तो कुछ बहुत अच्छा परिणाम नहीं निकल सकता। संसार के सभ्य भागों में, भारतवर्ष में भी और अन्य देशों में भी अनेक वैज्ञानिक विभागों में अनुसन्धान हो रहे हैं। प्रत्येक दस वर्ष में मानव-ज्ञान में उन्नति हो जाती है। हम पचास वर्ष के परिश्रम और परिणाम का तुलनात्मक अध्ययन कर सकते हैं। परन्तु क्या आप बता सकेंगे कि अमुक अनुसन्धान-कर्त्ता ने अपने जीवन में इतना कार्य्य किया और इतनी अज्ञात या कुज्ञात बातों में जनता के भ्रमोच्छेदन करने में सफलता प्राप्त की। इसके दो ... कारण प्रतीत होते हैं एक तो अनुसन्धान की कार्य्य... निश्चित नहीं, दूसरे अनुसन्धान-कर्त्ताओं में सहयोग नहीं ... कोई ऐसी संस्था नहीं जो भिन्न-भिन्न परिश्रमों का सम... कर सके। अनुसन्धान खोज का विषय है व्याख्यान ... प्रचार का विषय नहीं, जब कोई अनुसन्धीयमान वस्तु अनु... सन्धान की कोटि से निकल कर निश्चितता को प्राप्त ... जाती है तो वह सार्वजनिक प्रचार का विषय बन जाती ... है। जब तक एक वस्तु विचार कोटि में रहती है, जनता ... उसको समझने के सर्वथा अयोग्य रहती है। कोई कु... खाने वाला उस समय तक अपनी वस्तु को बाज़ार में नहीं ... लाता जब तक कि वह पूरी तरह से तैय्यार न हो जाय ... अधबनी कुर्सी और बाजार में बिकने वाली कुर्सी में ... अन्तर होता है। परन्तु हमारे समाज में यह प्रथा है ... जिन बातों को केवल विशेषज्ञ ही समझ सकते हैं उन... चमकीली भाषा में जनता के सम्मुख रक्खा जाता है ... ऊटपटांग बातें भी ख्याति या निर्वाचन का साधन बन... नीतिनिपुण लोगों के हाथ में अनुसन्धान का रूप धा...

कर लेती हैं, और रिसर्च और रिसर्चस्कालर मखौल का विषय बन जाते हैं।

अनुसन्धाता के लिये आवश्यक है कि वह हर बात में अपना मस्तिष्क खुला रक्खे। प्रचारक के लिये निश्चितता और अनुसंन्धानकर्त्ता के लिये अनिश्चितता आवश्यक प्रारम्भ-विन्दु है। जो प्रचारक किसी विषय में निश्चित नहीं, वह प्रचार किस चीज का करेगा। परन्तु जो पुरुष किसी चीज में सन्देह नहीं रखता। वह अनुसन्धान क्या करेगा। युद्धक्षेत्र के सम्बन्ध में गीता कहती है कि 'संशयात्मा विनश्यति'। क्योंकि जो सैनिक 'ननु नच' करेगा, वह युद्ध कैसे कर सकता है। परन्तु न्यायदर्शन में 'संशय' को सोलह पदार्थों में गिना है। अतः अनुसन्धानकर्त्ताओं के लिये पहली आवश्यक बात यह है कि वह साहस के साथ कह सकें कि अमुक बात में उनको सन्देह है और ऐसी स्पष्टवादिता का अन्य सहयोगी अनुसन्धानकर्त्ता अनुचित लाभ न उठावें न उनकी हँसी करें। अनुसन्धान के लिये विचार-स्वातंत्र्य आवश्यक है।

वेदों के विषय में दो विचारधारायें चल रही हैं। एक स्वामी दयानन्द की है, दूसरी उससे विरुद्ध। विरुद्ध धारा में अनेकानेक विकल्प हैं और वे सब अनुसन्धान के विषय हैं। आज के युग में पाश्चात्य और पूर्वात्य सभी वेदों के अनुसन्धान में लगे हुए हैं। उनमें मतभेद भी बहुत है परन्तु है विचार-स्वातंत्र्य। परन्तु आर्य्यसमाज के भीतर कोई ऐसा विचार-स्वातंत्र्य न केवल गर्हित समझा जाता है अपितु दण्ड्य भी। स्वामी दयानन्द ने अमुक शब्द का यही अर्थ किया है, अतः यह संभव ही नहीं कि दूसरा अर्थ भी विचारणीय हो। थोड़ा-सा मतभेद भी हो तो जनता में बात का बतंगड़ बन जाता है। गाली-गलौज, छीछालेदार, बहिष्करण जो कुछ हो जाय सो थोड़ा। इसको अनुसंधान की मनोवृत्ति नहीं कह सकते। अनुसंधान के लिये 'संशय' को खुली छूट होनी चाहिये। मुझे एक शब्द या मंत्र के अर्थ में शंका होती है। यह हो सकता है कि मुझे स्वामी दयानन्द का किया हुआ अर्थ ठीक प्रतीत न होता हो। यदि आप इस शंका के लिये मेरी हँसी करेंगे या मेरी निन्दा करेंगे तो परिणाम यह होगा कि मैं अपनी शंका को प्रकट करने से डरूँगा। इससे अनुसंधान का काम आगे नहीं बढ़ेगा। और यदि मुझमें धृष्टता आ गई तो मैं विरोधी दल में शामिल हो जाऊँगा। इससे वैदिक सिद्धान्तों की रक्षा नहीं होती।

मतभेद दो प्रकार के हैं। एक मौलिक बातों में, दूसरा गौण। साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आता कि दो विद्वान् एक ही बात पर क्यों मतभेद रखते हैं। वह यह नहीं समझ सकता कि हर छोटी बात में भी मतैक्य क्यों नहीं। दृष्टिकोण का भेद उसके लिये कोई भेद ही नहीं। पूर्वमीमांसा में महर्षि जैमिनि ने इन गौण बातों के निर्णय और समन्वय के लिये श्रुति, वाक्य, प्रकरण, लिङ्ग, क्रम, समाख्या आदि मौलिक बातों पर बल दिया है। यह केवल वेदों पर ही नहीं अपितु विश्वभर की सभी संदिग्ध बातों के निर्णय पर लागू होती हैं। कम से कम 'वेदवाणी' के एक भाग में इस प्रकार के विचार होने चाहियें।

मैं यहाँ उदाहरण के रूप में एक शब्द को लेता हूँ। यजुर्वेद के १९ वें अध्याय के १६ वें मंत्र में **'राजासन्द्यै'** शब्द आया है। उवट और महीधर ने इसका अर्थ किया है **'सोमासन्द्याः'** अर्थात् वह स्थान जहाँ सोम रक्खा जाता है। स्वामी दयानन्द ने अर्थ किया है **"राजानः सीदन्ति यस्यां तस्यै।"** अर्थात् राजाओं के बैठने की राजगद्दी। 'आसन्दी' का अर्थ गद्दी है, 'सीदन्ति यस्यां सा' (जिस पर बैठा जाय)। 'राजासन्दी' में 'राजा' का अर्थ है राजा यह अर्थ यौगिक या योगरूढ़ि है। 'राजा' का अर्थ 'सोमलता' पारिभाषिक है। स्वामी दयानन्द ने इससे पहले मंत्र में 'सोमस्य' का अर्थ किया है 'सोमलताद्योषधि-समूहस्य'। इनकी संगति कैसे मिलाई जाय, यह प्रश्न है। सम्भव है दोनों अर्थ ठीक हों, सम्भव है एक ठीक हो। वेदमंत्र के अर्थ करने में पारिभाषिक अर्थ कहाँ तक उचित होगा, यह प्रश्न है। सोम के लिये 'राजा' का प्रयोग आद्य-कालीन था या बीच में प्रचलित हो गया। यदि हुआ तो कब से और क्यों? यह अनुसन्धान का विषय है। इसमें उन लोगों के परिश्रम से भी सहायता लेनी होगी जो इतिहास-सम्प्रदाय के हैं और आर्यसमाज के बाहर सभी इतिहास-सम्प्रदाय के हैं। उनके लिये केवल यह उक्ति पर्याप्त नहीं है कि वेदों में आद्यकालिक होने के कारण 'इतिहास' का प्रश्न नहीं उठता। आपको यह देखना पड़ेगा कि ऐतिहासिक पक्ष ने विशेष स्थलों या विशेष शब्दों के ऐतिहासिक अर्थ करने में क्या आन्तरिक भूल की है। एक मोटा लौकिक उदाहरण लीजिये। 'जवाहर वास्केट'

के दो अर्थ हो सकते हैं—एक वह वास्केट जिसमें जवाहर जड़े हों। यह हुआ यौगिक अर्थ। दूसरा वह वास्केट जिसकी प्रथा पं० जवाहरलाल के विशेष वस्त्र को देखकर पड़ गई। यह है ऐतिहासिक। यह दूसरे अर्थ तभी लिये जा सकेंगे जब यह सिद्ध किया जाय कि जिस वाक्य में यह शब्द है, वह इसी युग में लिखा गया है। ५०० वर्ष पूर्व की पुस्तक में यह अर्थ नहीं हो सकते। एक तीसरी बात भी संभव है अर्थात् समस्त वाक्य का अर्थ पहले यौगिक रहा हो परन्तु अब नई प्रथा के अनुसार पूरे वाक्य का अर्थ बदल गया हो। अर्थात् यजुर्वेद का १९.–१६ मंत्र पहले कभी सामान्य अर्थ में आता हो। परन्तु जब से यह मन्त्र विशेष सौत्रामणि यज्ञ में प्रचलित होने लगा तब से याज्ञिकों ने एक विशेष अर्थ ले लिया। यह विनियोग के अर्थ हैं, जो मौलिक नहीं हैं। इस समय आर्यसमाज में कुछ मिले-जुले अर्थ लिये जा रहे हैं, जिनमें कहीं-कहीं पौराणिक अर्थों की छटा आ जाती है। सनातनधर्मियों के लिये तो यह अधिक हानिकारक नहीं, क्योंकि सनातन-धर्म है ही एक चूँचूँ का मुरब्बा। परन्तु आर्यसमा[ज के] लिये यह आवश्यक वस्तु है चाहे, हमको अपनी मान्यतायें छोड़नी ही क्यों न पड़ें। मुझे कभी-कभी प्रतीत होने लगता है कि हम आर्यसमाजियों ने मान्यतायें बना लीं और पिछले अस्सी वर्ष में उन ताओं की लकीरें गहरी हो गईं, वह स्वामी दयान[न्द की] भी मान्यतायें न थीं परन्तु हम इस डर से कि यदि छेड़ा गया तो हमारा बना बनाया भवन धम से नी[चे] गिरेगा, इन प्रश्नों को छेड़ना नहीं चाहते। यह मन संप्रति कुछ मान्य भी हो परन्तु चिरकाल तक च[ल नहीं] सकती। इसलिये हमारा अनुसन्धान-विभाग अधिक होना चाहिये और हम को विरोधिनी विचार धा[रा] का अध्ययन भी गांभीर्य के साथ करना चाहिये। संभव है कि वर्तमान मान्यताओं में कुछ उथल[-पुथल] करनी पड़े, परन्तु सैद्धान्तिक दृढ़ता में यह बाधक [नहीं] अपितु साधक होगी। क्योंकि आर्यसमाज का उद्देश्य वेदों को सार्वभौमिक मान्यता प्रदान करना

[विद्वानों के विचारार्थ—इस सम्बन्ध में आये उपयुक्त लेखों का हम स्वागत करेंगे। —सम्पादक]

दो मार्ग

[ले०—प्रो० श्री मुंशीराम शर्मा, एम० ए०, डी० लिट्०, कानपुर]

जीवन में मार्ग तो कई दिखाई देते हैं, पर उन सबको हम विकास की ओर ले जाने वाले मार्ग नहीं कह सकते। जो मार्ग मानव को सुख और शान्ति की ओर ले जाने वाले हैं, वे दो हैं। आर्य-संस्कृति में इन्हें देवयान और पितृयाण कहा गया है। देवयान द्वारा संसार-समुद्र को सीधे तैर कर पार करना होता है। पितृयाण में विश्राम लेते हुए अनेक चक्कर काटते हुए इसे पार किया जाता है। देवयान द्वारा प्राप्त स्थिति स्थिर होती है, परन्तु पितृयाण द्वारा प्राप्त स्थिति आवागमन की आकुलता को जड़ से नष्ट नहीं कर पाती।

देवयान को उत्तरायण तथा पितृयाण को दक्षिणायन भी कहा जाता है। उत्तरायण उष्णता, आग्नेयता, क्रिया आदि का द्योतक है तो पितृयाण शैत्य, जड़त्व, अकर्मण्यता आदि का। सूर्य उत्तरायण में उत्तर दिशा की ओर [गमन] करता है, दक्षिणायन में दक्षिण दिशा की ओर। उत्त[र] दिशा उन्नति की, और दक्षिण की दिशा अवनति की कही जाती है। दक्षिण का एक अर्थ दान, उत्सर्ग त्याग भी है। जिस दशा में उपलब्धि नहीं, प्रत्युत उप[लब्ध] को छोड़ने, निकाल देने का भाव जाग्रत होता है, [अ] संचित शक्ति का ह्रास होने लगता है, वह दशा भी [द]कही जा सकती है। इस अर्थ में शक्ति का संचय, [ज्ञान] का उपार्जन अर्थात् ब्रह्मचर्य की अवस्था उत्तर दिशा [है], शक्ति का व्यय तथा ज्ञान का दान करने वाली गृहस्थ अवस्था दक्षिण दिशा है। 'ब्रह्मचर्य में आग्नेयता [है] गृहस्थ में शक्ति-व्यय के कारण शैत्य। व्यय करने से शक्ति का ह्रास होने लगता है, तो उसकी न्यूनता को

करने के लिये संचय की प्रवृत्ति जागरूक हो उठती है। प्रवृत्ति के कभी संचय और कभी व्यय की ओर मुड़ने के कारण चंचलता बनी रहती है और स्थिरता प्राप्त नहीं हो पाती। देवयान-पथ का पथिक इसी हेतु गृहस्थाश्रम के झमेले में नहीं पड़ता। वह सीधा ब्रह्मचर्य से संन्यास में जाता है, परन्तु गृहस्थ-आश्रम में जाने वाले पितृयाण के पथिक को शक्ति-संचय के लिये वानप्रस्थ ग्रहण करना पड़ता है। वानप्रस्थ के पश्चात् ही वह संन्यास में जा सकता है।

देवयान का पथिक सूर्यद्वार से निकलकर विरजा ज्योतिर्धाम को प्राप्त करता है। पितृयाण के पथिक की गति चन्द्रलोक तक ही सीमित है। चन्द्रमा जैसे घटता बढ़ता रहता है, उसका प्रकाश एक रस या साम्य अवस्था में नहीं रहता, उसी प्रकार पितृयाण का पथिक पुण्य कर्मों से प्राप्त सुख का उपभोग करके बार-बार जन्म-मरण के चक्र में पड़ता है। चन्द्रमा का प्रकाश भी अपना नहीं। वह सूर्य से उधार लिया हुआ है। पितृयाण वालों की स्थिति भी ऐसी ही है। वे आत्मरूप में स्थित नहीं, प्रत्युत दान, दक्षिणा, यज्ञ, व्रत, तप आदि के सहारे टिके हुए हैं और इसी हेतु इन अवलम्बनों की उपलब्धि और क्षीणता के साथ ही सुख और दुःख दोनों के पात्र बनते रहते हैं।

दान, दक्षिणा, यज्ञ आदि कर्म भी श्रेयस्कर हैं। अतः समाज में दानी, त्यागी, परदुःखकातर, शूर वीर व्यक्ति प्रशंसा के भाजन बनते हैं। जनता उन्हें सम्मान की दृष्टि से देखती है और वे कर्म-फल की प्राप्ति रूप सुखी जीवन भी प्राप्त करते हैं। अतः यह पथ अवांछनीय नहीं है। कंजूस, स्वार्थी, लोभी, शोषक व्यक्ति का जीवन एकान्त अनिष्टकारक है। अयज्ञिय, अव्रती, विलासी जीवन स्पृहा की नहीं घृणा की वस्तु है। दुर्जन ही उस दिशा में चलते हैं। सज्जनों की विभूति परोपकार है। दूसरों के लिये तन, धन तथा मन के द्वारा प्राणों की आहुति चढ़ाने वाले मानव पुण्यात्माओं की पदवी से विभूषित होते हैं। उनका जीवन वस्तुतः वांछनीय है। वे कल्याण-पथ की ओर प्रयाण करने वाले हैं। पितृयाण वालों को हम कर्मकाण्ड तथा आचारपरायणता के धनी कह सकते हैं।

देवयान प्रमुखरूप से ज्ञान और भक्ति-भावना पर आश्रित है। चिति के सूक्ष्म से सूक्ष्म स्तरों में प्रवेश पाना और चिदानन्दघन प्रभु के आश्रित रहकर अपनी समस्त कामनाओं को उसी में केन्द्रित कर देना इस मार्ग पर चलने वालों की विशेषता है। इन्हें गृहस्थ में जाकर अपने स्नेह को संतति-समूह तक सीमित नहीं कर देना है, प्रत्युत उस स्नेह को मानव मात्र के लिये बिखेर देना है। अपनी उपार्जित ज्ञानराशि से इन्हें मानवता का कल्याण करना है और वास्तविक विप्र अर्थात् व्यापक भावना वाले बनकर संकीर्णता की सीमाओं को अतिक्रान्त कर जाना है। ससीम से असीम बनना, नाक के सुख पर भी लात मारकर द्यौ की ओर उद्यान (उत्-यान) करना, ज्ञान-यज्ञ करते हुये भाव-यज्ञ में मग्न होना इन्हीं महाप्राण सुकृती आत्माओं का काम है। इन्हीं को अन्धकार में प्रकाश के दर्शन होते हैं। ज्योतिष्मती, विशोका, मधुमती, और आनन्दमयी अवस्था इन्हीं भाग्यवानों के भाग्य में पड़ती है।

मानव शरीर में कटि से नीचे शक्ति का अधः-स्राव होता रहता है। शक्ति का ऊर्ध्व गमन कटि के ऊपर सुषुम्ना नाड़ी में निहित चक्रों का आरोहण है। कटिप्रदेश में मल-मूत्र-वाहिनी इन्द्रियों के बीच में इस शक्ति का मूल स्थान है, जो मूलाधार चक्र कहलाता है और जहाँ शक्ति साढ़े तीन चक्कर काटकर कुण्डलिनी के रूप में अवस्थित है। जिसने इस शक्ति को नीचे गिराया वह देवयानपथ का पथिक नहीं बन सकता। जिसने इस शक्ति को जगाकर ऊपर उठाया और चक्रों का भेदन करते हुए सहस्रार तक पहुँचा दिया, वही देवयानी है, वही मुक्त है। इस पथ में भी आज्ञाचक्र पर जाकर सीमा आ जाती है। देवयानी को इस सीमा का भी उल्लंघन करना पड़ता है। तभी वह असीम में प्रवेश कर पाता है। शक्ति का शिव से संयोग, आत्मा का परम्परा से मिलन इसी असीम अवस्था में होगा, इसके पूर्व नहीं।

पितृयाणी शक्ति का स्रावण करता है, परन्तु तुरन्त सँभल भी जाता है। विलास के नारकीय कीटों की भाँति वह उसी में रमण नहीं करता रहता। गृहस्थ के नियमों का पालन करता हुआ वह सकाम यज्ञिय कर्तव्यों के पालन में दत्तचित्त रहता है। वानप्रस्थाश्रम उसे एकान्त रूप से ज्ञानकाण्ड और भक्तिकाण्ड में निरत कर देता है। इस प्रकार चक्कर काटता हुआ वह भी सुकृत पथ पर पहुँच जाता है। पर जो भूमिका देवयानी की बन जाती है, वह

पितृयाणी की नहीं बन पाती। उसके अंदर ऐहिकता से सम्बद्ध संस्कार एकान्त नष्ट नहीं हो पाते और इसी हेतु देवयानी की अपेक्षा उसकी स्थिति हीन रहती है। दोनों में अपर और पर का अन्तर बना रहता है। हैं दोनों ही वाञ्छनीय। हममें से प्रत्येक को इन्हीं दोनों में से किसी एक का पथिक बनना चाहिये। इनके अतिरिक्त और पथ हैं, पर वे पतनोन्मुख हैं, अवनति की ओर ले जाने वाले हैं। अतः अवांछनीय हैं। जीव अवयान, प्रयाण के लिये यहाँ नहीं आया है। उसे उत्-यान करना है, ऊपर उठना है। ऊर्ध्वगमन ही हम सब का लक्ष्य है।

श्रीमती जुहू (ब्रह्मजाया)

[*श्री० पं० वीरेन्द्र जी शास्त्री एम० ए०, मन्त्री सार्वदेशिक विद्यार्यसभा (देहली) रायबरेली*]

ऋग्वेद के लगभग ३५४ मन्त्रद्रष्टा ऋषियों (व्याख्याताओं) में से लगभग २० ब्रह्मवादिनी ऋषिकाएँ भी हैं, जिन्होंने मन्त्रों के दर्शन कर और संसार में उनका प्रचार कर विश्व में नारीजाति का नाम प्रकाशित किया है। आज हम उन ऋषिकाओं के प्रति नतमस्तक होकर उन्हें नमस्कार करते हैं—नम ऋषिकाभ्यः।

किस सूक्त की कौन ऋषिका है—इसका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

नाम	ऋग्वेद मंडल। सूक्त। मन्त्र
१. रोमशा	१।१२६।७
२. लोपामुद्रा	१।१७९।१–६
३. विश्ववारा	५।२८।१–६
४. शश्वती	८।१।३४
५. अपाला	८।९१।१–७
६. यमी	१०।१०।१,३,५,६,७,११,१३ तथा १०।१५४।१–५
७. घोषा	१०।३९,४०।१–१४
८. सूर्या	१०।८५।१–४७
९. इन्द्राणी	१०।८६।१–२३ तथा १०।१४५।१–६
१०. उर्वशी	१०।९५।२,४,५,७,११,१३,१५,१६,१८
११. दक्षिणा	१०।१०७।१–११
१२. सरमा	१०।१०८।२,४,६,८,१०,११
१३. जुहू	१०।१०९।१–७
१४. वाग्	१०।१२५।१–८
१५. रात्रि	१०।१२७।१–७८
१६. गोधा	१०।१३४।७
१७. श्रद्धा	१०।१५१।१–५
१८. इन्द्रमातरः	१०।१५३।१–५
१९. शची	१०।१५९।१–६
२०. सार्पराज्ञी	१०।१८९।१–३

उपर्युक्त ऋषिकाओं में ऋग्वेद दशममंडल के १०९ सूक्त की ऋषिका श्रीमती जुहू भी हैं। 'भी' से अभि- यह है कि आपके साथ श्री ऊर्ध्वनाभ ब्राह्म ने भी सूक्त के दर्शन किये थे, जैसा कि कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी और शौनककृत बृहद्देवता ग्रन्थ के निम्नलिखित वचनों से विदित होता है—

'तेऽवदन् सप्त जुहूर्ब्रह्मजाया ब्राह्मो वा ऊर्ध्वनाभ
—सर्वा० ६२

'तेऽवदन्निति सूक्तस्य ब्रह्मजाया जुहूर्मुनिः।
अथवोर्ध्वनाभो नाम ब्रह्मपुत्र ऋषिः स्मृतः॥
—बृहद्देवता, आर्षानुक्रमणी

जिसके द्वारा हवन किया जाय अथवा जिसके त्याग किया जाय, वह 'जुहू' है। इस प्रकार हवन की स्रुवा का नाम भी 'जुहू' है जिससे घृत आदि छोड़ा है। जुहूशब्द वैदिक याज्ञिक कर्मकाण्ड का उप- है। श्रीमती जी का नाम जुहू इस कारण पड़ा हुआ प्र- होता है कि आप संभवतः इस सूक्त के द्वारा कर्मकाण्ड को नर-नारियों में फैलाया करती थीं तथा के त्याग का भी उपदेश दिया करती थीं।

ब्रह्मजाया का अर्थ है ब्रह्म की पत्नी। वेदविद्या (वैदिक क्रिया) तथा प्रकृति ही परमात्मा की पत्नी है। परमात्मा वेदविद्या और प्रकृति का पति (रक्षक तथा स्वामी) है। सूक्त में इस ब्रह्मजाया का वर्णन होने से इस सूक्त का प्रचार करने वाली ऋषिका का भी यौगिक विशेषण 'ब्रह्मजाया' पड़ गया। संभव है कि किसी ब्रह्मवित् की पत्नी होने के कारण भी ब्रह्मजाया नाम पड़ा हो।

इस सूक्त के सम्बन्ध में श्री सायणाचार्य लिखते हैं—

"इस विषय में विद्वान् इतिहास कहते हैं कि जुहू यह वाक् का नाम है। यह बृहस्पति की जाया हुई। दौर्भाग्य के कारण बृहस्पति ने इसके पाप की आशङ्का कर इसको त्याग दिया। पश्चात् आदित्य आदि देवों ने परस्पर विचारकर इसको अपापा बनाकर बृहस्पति को देकर कहा कि "यह जुहू निष्कलङ्का और अपापिनी है, आप इसको पुनः ग्रहण कीजिए। शङ्का को त्याग दीजिए। हम सब देव साक्षी हैं।" इत्यादि

प्रसिद्ध इतिहासकार श्री रमेशचन्द्रदत्त इस सूक्त पर आलोचना करते हुए कहते हैं—

"ए सूक्तेर मर्म्म ग्रहण करिते पारिलाम ना। सूक्त टी अपेक्षाकृत आधुनिक। ताहार सन्देह नाई। एवं अनेक आधुनिक सूक्तेर न्याय गूढ़भावे विजडित। इहाते जे ब्रह्मचारित्वेर कथा आछे, ऋग्वेदे प्रथम अंश समूहे से कथाय कोन ओ उल्लेख नाई। बृहस्पतिर स्त्रीर सतीत्व सम्बन्धे सन्देह भंजनई एई सूक्तेर विषय"।

भाव यह है कि सूक्त का रहस्य जानना कठिन है। सूक्त आधुनिक है क्यों कि इसमें आई कथा ऋग्वेद में पहले कहीं नहीं आई। बृहस्पति की स्त्री के सतीत्व के सम्बन्ध में उत्पन्न सन्देह को दूर करना ही इस सूक्त का विषय है।

ग्रिफिथ इस सूक्त का अंग्रेज़ी अनुवाद करते समय अपने ऋग्वेद के अंग्रेज़ी पद्यानुवाद में आलोचना करते हुए कहते हैं—

"The wife of a Brahman appears to have been taken to his home by a kshatriya, and then restored. The hymn is an almost in-intelligible fragment and of comparatively late origin!"

अर्थात्—प्रतीत होता है कि कोई क्षत्रिय एक ब्राह्मण की पत्नी को अपने घर ले गया और फिर उसे वापस प्राप्त किया गया। सूक्त अधिकांश में समझ में न आने योग्य और अपेक्षाकृत परवर्ती रचना है।

इस सूक्त पर इसी प्रकार के भाव विलसन आदि अन्य अनेक विदेशी विद्वानों ने प्रकट किये हैं। सबका आधार सायणभाष्य ही है।

मन्त्रों का सत्यार्थ न समझकर इन लोगों ने कैसा अनर्थ किया है। सायण! तुम्हें पता नहीं था कि तुम अपने अज्ञान में क्या किये जा रहे हो!! किस प्रकार मन्त्रों के अर्थ की दुर्गति कर ईश्वरीय ज्ञान को भविष्य के पाठकों के सम्मुख कलंकित रूप में रखकर अपराधी बन रहे हो!!! सूक्त में तो कहीं इतिहास की गन्ध भी नहीं। किन्तु यदि तुमने भी स्वपूर्ववर्ती आचार्यों के आधार पर आलंकारिक रूप में इतिहास लिखा है तो तुम क्षम्य हो। तब तो अलंकारशास्त्र से अनभिज्ञ पाठक ही दोषी हैं। क्या तुम्हारा यह भाव तो नहीं है कि—

जुहू यह वाक्=वाणी तथा कर्म (वेदवाणी तथा वैदिक क्रिया) का नाम है। यह बृहस्पति (परमात्मा तथा विद्वान्) की पत्नी (रक्ष्या और पोष्या) है। जब कोई विद्वान् कभी-कभी शंकितचित्त होकर इस वेदवाणी तथा वैदिक क्रिया-काण्ड को अनावश्यक समझकर त्याग दिया करता है, उस समय अन्य विद्वान् पुनः उसका शुद्ध स्वरूप सम्मुख प्रकट कर उसे ग्रहण करने का उपदेश दिया करते हैं।

वस्तुतः इस सूक्त का एक भाव यह अवश्य है। वर्तमान युग में ही जब कि वैदिक कर्मकाण्ड विकृत अवस्था में पहुँच चुका था, महर्षि दयानन्द ने उसका शुद्ध स्वरूप संसार के सम्मुख पुनः प्रस्तुत किया।

इस सूक्त का दूसरा भाव आध्यात्मिक है। वह यह है कि इस ब्रह्मजाया प्रकृति को परमात्मा ने बनाया है। यह प्रकृति संसार के रूप में परिणत होकर विकृति को प्राप्त हुई है। वेदवित् मनुष्य गृहस्थाश्रम में इसको स्वीकार कर अर्थात् सांसारिक भोगों से सम्पर्क करके पुनः वानप्रस्थाश्रम और संन्यास में इसका त्याग कर दिया करते हैं।

क्योंकि वेद में प्रायः तीन प्रकार के अर्थ ध्वनित होते हैं, अतः उपर्युक्त दोनों अर्थों के अतिरिक्त तीसरा आधिभौतिक (राजनीतिक) अर्थ यह भी है कि चाहे

राजतन्त्र हो, चाहे जनतन्त्र अथवा गणतन्त्र, राज्यसत्ता ब्राह्मण (प्रधानमंत्री) की शक्ति के अधीन होनी चाहिए। जब वह क्षत्रिय (सैनिक शक्ति) के अधीन हो जाती है तो प्रजा में स्वतन्त्रता और सन्तोष नहीं रहता। पुनः जब वह ब्रह्मशक्ति के अधीन हो जाती है तब प्रजा सन्तुष्ट और सुखी होती है। इस सूक्त का देवता (विषय) 'विश्वेदेवाः' अर्थात् समस्त दिव्यशक्तियाँ और विद्वान् जन हैं।

उपर्युक्त तीनों प्रकार के अर्थों के साथ सूक्त के ७ मन्त्र प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

प्रथम मन्त्र

तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्म-किल्बिषेऽ-
कूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीडुहरास्तप उग्रो मयोभू-
रापो देवीः प्रथमजा ऋतेन ॥ १ ॥

दैविक (याज्ञिक) अर्थ—ब्रह्म (वेद = वैदिक कर्म-काण्ड) के किल्बिष (त्यागरूपी पाप) के होने पर वे प्रथम कोटि के स्त्री-पुरुष एकत्र होकर विचार-विनिमय कर उपदेश करें जो कूप (कूपमंडूक = संकीर्ण विचार) न हों, पुरुष जल के समान शीतल, वायु के समान सर्वत्र भ्रमण करने वाले, बहुत तेजस्वी, उग्र तपस्वी और सुखोत्पादक हों, तथा सर्वत्र घूमकर जनता की अवस्था को जानने वाली, दिव्यगुणयुक्त श्रेष्ठों में भी उत्तम विदुषी स्त्रियाँ हों।

आत्मिक—वे सबसे प्रथम सूर्य, जल और वायु ब्रह्माण्ड की रचना के विषय में हमें बतलाते हैं कि ऋत रूप से प्रथम उत्पन्न होने वाले वे तीनों तत्त्व उस प्रभु की वीडु = शक्ति को धारण करने वाले हैं। उसी से उग्र तप (सूर्य), मयोभूः (सुखदायक वायु) और दिव्यगुणयुक्त आपः (जल) प्रकट हुए।

भौतिक— राज्य में ब्रह्मशक्ति (प्रधानमन्त्री की सत्ता) के क्षीण होने पर राज्य के समस्त विद्वान्, तपस्वी, शान्ति-प्रेमी और उदार स्त्री-पुरुषों का कर्तव्य है कि सभा का आयोजन कर अपने-अपने विचार प्रकट करें।

द्वितीय मन्त्र

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायाम्
पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसी-
दग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय ॥२॥

१. याज्ञिक—श्रेष्ठ, सर्वप्रिय राजा लज्जारहित है वैदिक कर्मकाण्ड को पुनः ब्रह्मवित् पुरुष के लिये दे णीय और मित्र-जन उसके अनुवर्ती हों। आह्वानकर्ता, विद्या को जानने वाले अपने हाथों से वैदिक कर्मकाण्ड शुद्धरूप में जनता के सम्मुख व्यावहारिक रूप में शित करें।

२. आत्मिक—सबका उत्पादक और प्रकाशक मात्मा सर्वप्रथम वर्तमान रहता है। उसने प्रकृति प्रलयानन्तर पुनः सृष्टि रूप में प्रदान किया। पीछे प्रकट होने वाले वरुण (आकाश), मित्र (और अग्नि हुए। होता परमेश्वर उस प्रकृति को हा पकड़कर अर्थात् अपनी शक्ति से संसार के रूप आता है।

३. भौतिक—शान्तिगुणयुक्त राजा, किसी प्रका लज्जा किये बिना, राज्यसत्ता को प्रधनमन्त्री ब्राह्मण को पुनः प्रदान कर देता है। सभा तथा सेनाओं के उस राज्यसत्ता को अपने-अपने हाथों से चलाते उसके अनुकूल चलने वाले हो जाते हैं।

तृतीय मन्त्र

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या
ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा
तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य ॥३॥

१. याज्ञिक—इस वैदिक क्रिया का सब वशीकृत स्वरूप हाथ से ही ग्रहणीय है अर्थात् कार्यरूप में परिणत करने योग्य है। यह वेद की शुद्ध है। इस प्रकार सबको कहना चाहिए। यह अन्य प्रतिनिधि के पास शुद्ध रूप में प्रकाशित नहीं सकती (दक्षिणा देकर दूसरे द्वारा कराये हुए कर्मकाण्ड से निजको लाभ नहीं हो सकता), जैसे का रक्षित राज्य स्वयं ही रक्षा किये जाने से स्थिर है (उसी प्रकार स्वयं विद्वान् ही वैदिक क्रिया-कला शुद्ध रख सकता है)।

२. आत्मिक—इस प्रकृति का सर्वतः वशीकृत हाथ के समान व्यापक बल से ही ग्रहण करने योग्य विद्वान् इसको ब्रह्म की पत्नी के रूप में बताते हैं। परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी प्रेरक के अधीन रहती। इस प्रकार क्षत्रिय (निर्बलों के रक्षक, वीर्यशा परमेश्वर का विश्वराष्ट्र सुरक्षित रहता है।

३. भौतिक—इस राज्यसत्ता का स्वरूप अपने हाथ से ही (स्वयं) ध्यान देकर नियन्त्रण में रक्खा जाता है। यह ब्रह्म (प्रधानमन्त्री) के द्वारा रक्षणीय है। उसके अतिरिक्त अन्य किसी साधारण जन के द्वारा यह स्थिर नहीं रखी जा सकती। निर्बलों के रक्षक क्षत्रिय शासक का राष्ट्र इसी के द्वारा रक्षित होकर प्रकाशित होता है।

चतुर्थ मन्त्र

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे
सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता
दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥४॥

१. याज्ञिक—श्रेष्ठ विद्वान् इस वैदिक क्रिया की प्रशंसा करते हैं और जो सप्त = विचरणशील, मन्त्रद्रष्टा तपस्या में स्थित हैं (वे भी इसका उपदेश करते हैं)। यह ब्राह्मण वेदवित् की क्रिया (यज्ञ आदि तथा वैज्ञानिक परीक्षण) भयानक भी हैं (यदि ठीक न किये जावें)। दुःख से धारण करने योग्य इसको वह उत्कृष्ट स्थान में स्थापित करता है।

२. आत्मिक—जो इस प्रकृति में पूर्व ही विद्यमान सात कारणरूप तत्त्व तप के लिये विराजमान हुए वे देव (प्रकाशमान तत्त्व) बतलाते हैं कि यह ब्रह्म की पत्नी प्रकृति (जो सृष्टि को उत्पन्न करने वाली है) निकट से गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करने पर अति भयानक है। वह प्रभु इस दुर्धारणीय प्रकृति को अपने परम बल पर ही धारण करता है।

३. भौतिक—श्रेष्ठ विचरणशील ऋषि-मुनि, संन्यासी, तपस्वी जन इस राज्यसत्ता के विषय में वर्णन करते हैं कि यह ब्राह्मण प्रधानमन्त्री के अधीन रहने वाली राज्य-शक्ति दुष्टों और शत्रुओं के लिये भयङ्कर हो जाती है। वह इस कठिनता से रखी जा सकने वाली सत्ता को अपने परम बल पर ही धारण करके स्थिर रखता है।

पंचम मन्त्र

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः
स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दत् बृहस्पतिः
सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः ॥५॥

१. याज्ञिक—हे विद्वानो, जो ब्रह्मचारी होकर समस्त विषयों में व्यापक दृष्टि रखता हुआ विचरण करता है वह विवेकी पुरुषों का एक अङ्ग हो जाता है। इससे वह बृहस्पति विद्वान् सोमयाग में होम के पश्चात् त्यागकर, पुनः शुद्धकर ग्रहण किये गये जुहू नामक यज्ञपात्र के समान, वैदिक क्रिया को अशुद्ध हो जाने पर त्यागकर पुनः शुद्ध करके ग्रहण करता है।

भाव यह है कि याज्ञिक कर्मकाण्ड में त्रुटियाँ तथा रूढ़ियाँ आ जानी स्वाभाविक हैं। विद्वान् जन ज्ञानकाण्ड द्वारा उनका शोधन करते रहते हैं।

२. आत्मिक—ब्रह्माण्ड में व्यापक परमेश्वर प्रकृति के परमाणुओं में व्यापक होता हुआ सर्वत्र विद्यमान है। वह प्रकाशक दिव्यशक्तियों का एक अद्वितीय प्रकाशक होता है, इससे वह बृहस्पति (महान् शक्तियों का पालक स्वामी) परमेश्वर प्रकृति को अनुकूल रूप में रखता है और उस सोम परमेश्वर से वश में की हुई, तथा तत्त्वरूप से ग्रहण की गई प्रकृति को, हे विद्वानो, तुम अपने ज्ञान से साक्षात् करो।

३. भौतिक—प्रधानमंत्री को ब्रह्मचारी होकर सर्वत्र भ्रमण करना चाहिए और प्रजाओं के मनोभावों को जानते रहना चाहिए। साथ ही उसे विद्वानों का अंग बनकर रहना चाहिए। उसे अपने सोम (शान्ति) गुण से प्रजा को वश में करके अपनी राज्यसत्ता को ध्यान देकर अपने अनुकूल रखना चाहिए।

षष्ठ मन्त्र

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायाम् पुनर्ददुः ॥६॥

१. याज्ञिक—विद्वान् तथा मननशील मनुष्य और सत्य के पालनकर्ता राजागण सभी उस वैदिक क्रिया को बार-बार शुद्ध रूप में रखते हुए उसका अधिकार वेदवित् के लिये प्रदान करते हैं।

२. आत्मिक—सत्य का उपदेश करते हुए विद्वान्, मननशील और राजा (दीप्तियुक्त) पुरुष परमेश्वर की सर्वोत्पादक प्रकृति का बार बार त्याग किया करते हैं। ब्रह्मचर्य में त्याग किया, गृहस्थ में स्वीकार किया, वानप्रस्थ में फिर त्यागा तथा संन्यास में और अधिक त्याग किया, पुनः मृत्युके समय मोक्षाधिकारी बनकर सर्वथा त्याग किया।

३. भौतिक—विद्वान्, विचारशील और सत्य का पालन करने वाले राजा (शासक) लोग ब्राह्मण प्रधानमंत्री के अधिकार को (यदि आपत्काल में अपने हाथ में ले लिया हो तो पुनः) उसके लिये प्रदान कर दिया करते हैं। सैनिक शासन और राष्ट्रपति के अध्यादेश (आर्डिनेंस) सदा नहीं चल सकते।

सप्तम मन्त्र

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते ॥७॥

१. याज्ञिक—विद्वान् जन वैदिक कर्मकाण्ड को पापरहित, शुद्ध करके पुनः वेदवित् के लिये उसका अधिकार देकर, पृथिवी के रस (आनन्द) का सेवन कर ... कीर्ति परमात्मा की उपासना करते हैं।

२. आत्मिक—इस प्रकार विद्वान् लोग जगत् ... उत्पादक प्रकृति को पुनः पुनः यत्नपूर्वक त्यागकर ... अपने को पापरहित करके इस पृथिवी (शरीरोत्पत्ति) फल का सेवन करते हुए महान् स्तुत्य प्रभु की उपा... किया करते हैं।

३. भौतिक—विद्वान् (मन्त्रिपरिषद् तथा ... के सदस्य) राज्यसत्ता को अपराधों से रहित करके ... प्रधानमन्त्री के अधीन करके पृथिवी के अन्न और बल ... उचित विभाग करके अपने यशस्वी राष्ट्रपति के स... स्थित रहते हैं।

आर्ष-ज्योति के महान् उद्धारक

[ले॰—श्री॰ पं॰ युधिष्ठिर जी मीमांसक, महर्षिदयानन्दमहालय, टङ्कारा, सौराष्ट्र]

इतिहास इस बात का साक्षी है कि प्राचीन काल में आर्यावर्त्त समस्त भूमण्डल का गुरु था। काल के कराल चक्र से संसार का कोई भी देश, जाति, समाज और व्यक्ति सदा एकावस्था में नहीं रहता। इसी अटूट काल-नियम के अनुसार यहाँ के ऋषियों के विमल मस्तिष्क से प्रसूत जो आर्ष-ज्ञान-ज्योति सारे संसार को आलोकित करती थी, वह आर्ष-ज्योति कालान्तर में मन्द पड़ने लगी और धीरे-धीरे सर्वथा क्षीण हो गई। बाहर के देशों को अपने ज्ञान से प्रकाशित करना तो दूर रहा, हमारा देश भी अज्ञानरूपी महान् अन्धकार से पूर्णतया आच्छादित हो गया। उस अज्ञानान्धकार में जिसकी जैसी इच्छा हुई उसी के अनुसार मतमतान्तर खड़ा कर दिया, कोई उससे पूछने वाला भी न रहा कि तू क्या कर रहा है? वेद जो कि आर्यजाति के शिरोमणि-ग्रन्थ थे, आर्ष-ग्रन्थ जिनसे वैदिक ज्ञान आलोकित होता था, अन्ध-महासागर निमग्न हो गए।

हमारे वाङ्मय (=साहित्य) में जितने आर्ष-ग्रन्थ ... वे सभी विमलमति, सर्वसुहृद्, आप्त ऋषियों द्वारा प्रो... संस्कृत अथवा परिष्कृत हैं। शास्त्रीय ग्रन्थों की सर्व... अभिनव रचना किसी ऋषि ने नहीं की।[1] प्रत्येक शा... प्रवक्ता ऋषि-मुनि ने अपने पूर्ववर्ती शास्त्रों को ही देश-का... और अवस्था के अनुरूप बनाने के लिए उनमें कु... संस्कार अथवा परिष्कार मात्र किया। पाणिनीय व्याक... की उससे प्राचीन व्याकरणों के उपलब्ध सूत्रों[2] के सा... तुलना करने से यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। पाणि... नीय शिक्षा और उससे पूर्ववर्ती आपिशल शिक्षा में कु... पाठ-भेदों और दो-चार सूत्रों के न्यूनाधिक्य के अतिरि...

१. पाणिनि ने सारे वाङ्मय को पाँच विभागों में बाँटा है—दृष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत और व्याख्यान। द्र॰ अष्टा॰ अ॰ ४ पाद २, ३ के एतद्विषयक सूत्र।

२. प्राचीन वैयाकरणों के उपलब्ध सूत्रों का संग्रह हमने अपने 'सं॰ व्याकरण शास्त्र के इतिहास' में उन उन वैयाकरणों के प्रकरण में किया है।

कोई भेद नहीं है। अतः सभी शास्त्रीय वाङ्मय प्रोक्त माना जाता है, कृत नहीं।

आर्षयुग में प्रवचन भी आजकल के समान सभी अधिकारी अनधिकारी, जिसके मन में जैसा आवे, नहीं कर सकता था। प्रत्येक ग्रन्थ सबसे प्रथम ऋषि-समाज के सम्मुख उपस्थित किया जाता था। वहाँ से पारित होने पर लोक में प्रकाशित किया जाता था। यह वृत्त आयुर्वेद की चरक संहिता के प्रथम अध्याय में सुरक्षित है। पाणिनि और व्याडि आदि आचार्यों को भी इसी प्रकार ऋषि-परिषद् से अनुज्ञा प्राप्त करनी पड़ी थी, यह इतिहास में सुप्रसिद्ध है।

आर्षज्योति की क्षीणता के आरम्भ होने पर मन चले विद्वान् नये-नये अनार्ष ग्रन्थ रचने लगे। उनसे जनता को सावधान करने के लिए उत्तरवर्ती प्रवक्ता अथवा संस्कर्ता मुनियों ने कैसे ग्रन्थ पढ़ने चाहिएँ, कैसे नहीं पढ़ने चाहिएँ, इस रहस्य को स्पष्ट रूप से खोलकर लिखा और आर्ष-ग्रन्थ पढ़ने का आदेश दिया। इस विषय का एक उत्कृष्टतम विवरण वैशम्पायन अपर नाम चरक मुनि द्वारा संस्कृत आयुर्वेदीय चरकसंहिता में उपलब्ध होता है। वहाँ लिखा है—

शास्त्रमेवादितः परीक्षेत। विविधानि हि शास्त्राणि भिषजां प्रचरन्ति लोके। तत्र यन्मन्येत सुमहद् यशस्वि धीरपुरुषासेवितम्, अर्थबहुलम्, आप्तजनस्य पूजितम्, त्रिविधशिष्यबुद्धिहितम्, अपगतपुनरुक्तदोषम्, आर्षम्, सुप्रणीतसूत्रभाष्यसंग्रहक्रमम्, स्वाधारम्, अनवपतितशब्दम्, अकष्टशब्दम्, पुष्कलाभिधानम्, क्रमागतार्थम्, अर्थतत्त्वनिश्चयप्रधानम्, संगतार्थम्, असंकुलप्रकरणम्, आशुप्रबोधकम्, लक्षणवच्चोदाहरणवच्च, तदभिप्रपद्येत शास्त्रम्। शास्त्रं ह्येवं विधम् अमल इवादित्यस्तमोविधूय प्रकाशयति सर्वम्। विमान० ८।३॥

अर्थात्—प्रथम शास्त्र की परीक्षा करे। अनेक प्रकार के शास्त्र वैद्यों के लोक में प्रचलित हैं। उनमें से जिसे समझे कि यह उत्कृष्ट, यशस्वी और धीर पुरुषों से सेवित, पुनरुक्त दोषरहित, ऋषिप्रणीत, सूत्र-भाष्य-संग्रह = क्रमादि द्वारा अच्छे प्रकार प्रणीत, दृढ़ आधारवाला, शब्दपात से रहित, क्लिष्ट शब्द रहित, अधिक अभिप्राय को कहने वाला क्रमपरम्परा से प्राप्त अर्थ से युक्त, अर्थ = वस्तु तत्त्व के निश्चय की जिसमें प्रधानता हो, संगत अर्थ वाला, विशद प्रकरणवाला, शीघ्र ज्ञान करानेहारा, लक्षण और उदाहरण से युक्त[1] है उस शास्त्र को स्वीकार करे। इसी प्रकार का शास्त्र निर्मल सूर्य के समान अन्धकार को नष्ट करके सब पदार्थों को प्रकाशित करता है।

इस प्रकार जनता को सावधान करने का फल यह हुआ कि जनता की अनार्ष-ग्रन्थों के अध्ययन में अरुचि उत्पन्न हो गई। इससे अनार्ष ग्रन्थों की जो बाढ़ आने वाली थी, वह रुक गई। इस सामयिक चेतावनी का प्रभाव चिरकाल तक रहा। दो सहस्र वर्ष पूर्ववर्ती महावैद्य वाग्भट्ट के काल में भी यह प्रभाव पूर्णरूप में विद्यमान था। इसलिए उसे भय था कि चरक-सुश्रुत आदि आर्ष-ग्रन्थों को छोड़कर मेरे अनार्ष-ग्रन्थ को कौन पढ़ेगा? अतः उसने चरक-सुश्रुत आदि आर्ष-ग्रन्थों की निन्दा करके अपने ग्रन्थ का गौरव बताने का प्रयत्न किया। वह लिखता है—

यदि चरकमधीते तद् ध्रुवं सुश्रुतादि,
प्रणिगदितगदानां नाममात्रेऽपि बाह्यः।
अथ चरकविहीनः प्रक्रियायामखिन्नः
किमिव खलु करोतु व्याधितानां वराकः॥
अभिनिवेशवशादभियुज्यते सुभणि-
तेऽपि नयो दृढमूलकः।
पठतु यत्नपरः पुरुषायुषं
स खलु वैद्यकमाद्यमनिर्विदः॥
ऋषिप्रणीते प्रीतिश्चेन्मुक्त्वा चरकसुश्रुतौ।
भेलाद्याः किन्न पठ्यन्ते तस्माद् ग्राह्यं सुभाषितम्॥

अर्थात्—यदि चरक को पढ़ता है तो सुश्रुतादि में कहे रोगों के नाम, ज्ञान से भी रहित रहता है। यदि चरक नहीं पढ़ता तो चिकित्सा की प्रक्रिया को न जानने वाला मूर्ख रोगी का क्या उपकार करेगा।

जो दृढ़मूलक (श्रद्धावान्) अभिनिवेश (आर्ष-ग्रन्थ ही पढूँगा, इस धारणा) के कारण अच्छे प्रकार कहे गये

१. तुलना करो—ते वै खल्वपि विधयः सुपरिगृहीता भवन्ति, येषां लक्षणं प्रपंचश्च। केवलं लक्षणं, केवलः प्रपञ्चो वा न तथा कारकं भवति। महाभाष्य ६।३।१४॥

(=श्रेष्ठ) ग्रन्थ को भी नहीं पढ़ता, तो वह (मूर्ख) अखिन्न होकर सारी आयु आद्य (ब्रह्माकृत महान्) शास्त्र को पढ़ता रहे।

यदि ऋषिप्रणीत ग्रन्थों के पढ़ने में ही प्रीति है तो चरक और सुश्रुत को छोड़कर भेल आदि (ऋषियों के द्वारा प्रोक्त) तन्त्रों को क्यों नहीं पढ़ते? इसलिए सुभाषित ग्रन्थ को ही ग्रहण करना चाहिए।

यदि वाग्भट्ट के मन में उक्त भय न होता, तो उसे अपने ग्रन्थ का महत्त्व, चरक-सुश्रुत की न्यूनता और भेल आदि संहिताओं की असमीचीनता दर्शाने की क्या आवश्यकता थी?

महाकवि कालिदास के मन में भी यह भय छिपा हुआ था। अतः वह भी मालविकाग्निमित्र के आरम्भ में लिखता है—

परिपार्श्वकः—मा तावत्, प्रथितयशसां भाससौमिल्लककविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः?

सूत्रधारः—अयि! विवेकविश्रान्तमभिहितम्। पश्य! पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्। सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

अर्थात्—परिपार्श्वक कहता है—यह ठीक नहीं, प्रसिद्ध यशस्वी भास, सौमिल्लक और कविपुत्र के प्रबन्धों (नाटकों) का अतिक्रमण करके वर्तमान कवि कालिदास की कृति (नाटक) में क्यों अति-आदर है?

सूत्रधार उत्तर देता है—अरे! यह बात विवेक की जिसमें विश्रान्ति हो जाती है ऐसे (अर्थात् मूर्ख)[1] से कही गई है। देखो—जो कुछ पुराना हो वह सब अच्छा नहीं होता, न कोई काव्य नवीन होने से अयुक्त होता है। ज्ञानी लोग परीक्षा करके पुराने और नये में से युक्ततर को स्वीकार करते हैं। मूढ़ ही दूसरे की बुद्धि के पीछे चलने वाले होते हैं।

यह है कालिदास के मन में स्थित भय का उद्गार। यही अस्त्र आजकल के कम्युनिस्ट भारतीयों को आर्षज्ञान और संस्कृति से पराङ्मुख करने के लिए वर्तते हैं।

इस प्रकार जब अनाप्त लोगों ने आर्ष-ग्रन्थों की नि[...] और उनकी अपूर्णता दर्शाने के लिए प्रयत्न करने आ[...] किये, तब जनता में आर्ष-ग्रन्थों के अध्ययन की प्र[...] शनैः-शनैः न्यून होने लगी और अनार्ष ग्रन्थों के अध[...] की प्रवृत्ति की वृद्धि से अज्ञान की वृद्धि होने ल[...] उसका फल यह हुआ कि उन साधारणमति विद्वानो[...] अभिमान उत्पन्न हुआ और प्रत्येक नया ग्रन्थ लि[...] लगा। वेदभाष्य-सम्बन्धी इस प्रवृत्ति का वर्णन ऋग्वे[...] भाष्यकार वेङ्कटमाधव ने इस प्रकार किया है—

स्कन्दस्वामी नारायण उद्गीथ इति ते क्रमात्।
चक्रुः सहैकमृग्भाष्यं पदवाक्यार्थगोचरम्॥
भाषमाणास्तमेवार्थमथ सम्प्रतिमानवाः।
मायाविनो लिखन्त्यन्ये व्याख्यानानि गृहे-गृहे

अर्थात्—स्कन्दस्वामी, नारायण और उद्गीथ ने [...] कर पद और वाक्य के अर्थ को दर्शाने वाला ऋग्वे[...] एक भाष्य लिखा। इस समय मायावी लोग उसी अ[...] [नए रूप से] कहते हुए घर घर में वेद के भाष्य [...] रहे हैं।

वेङ्कटमाधव ने अपने काल की जिस अवस्था का [...] चित्र खींचा है, क्या वही अवस्था आज आर्यसमा[...] नहीं है? हर एक सभा यही चाहती है कि मैं वेद[...] कराऊँ और हर एक विद्वन्मन्य वेदभाष्य ही लि[...] चाहता है। इतना ही नहीं, अपनी अयोग्यता को छि[...] के लिए ये लोग सदा आर्षज्ञान की निन्दा करते हैं।

अनार्ष-ग्रन्थों की बाढ़ से सहस्रों आर्ष-ग्रन्थ लु[...] गए, जो कथंचित् शेष रहे उनका भी अध्ययन छ[...] गया। वेद के मुख्य अंग व्याकरण, जिसका कथंचित् [...] पाठन अद्य यावत् विद्यमान है, का व्याडिप्रोक्त एक [...] श्लोक परिमाण का "संग्रह" नामक महाग्रन्थ दो सह[...] पूर्व ही लुप्त हो चुका था।[2] महाभाष्य जैसे प्रामाणि[...] आकर ग्रन्थ के अध्ययन का अनेक बार लोप हुआ। [...] बार विक्रम से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व (आ[...] ऐतिहासिकों के मत में विक्रम के आसपास) मह[...]

---

१. टीकाकारों ने अन्य अभिप्राय लिखा है।

२. प्रायेण संक्षेपरुचीन् अल्पविद्यापरिग्रहान्। संप्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते। वाक्यपदीय २[...] विशेष देखिए, सं० व्या० शास्त्र का इतिहास पृष्ठ १९४–२०८।

के अध्ययन का लोप हुआ था। उस समय कश्मीर के महाराज अभिमन्यु के साहाय्य से आचार्य चन्द्र ने महाभाष्य का उद्धार किया।[1] दूसरी बार विक्रम के पश्चात् पुनः लोप हुआ। इस बार विक्रम की नवम शती के पूर्वार्ध (सं० ८०८–८३६) में कश्मीर के महाराज जयापीड ने देशान्तर से "क्षीर" नामक महावैयाकरण को बुलाकर विच्छिन्न महाभाष्य का पुनरुद्धार किया।[2] विक्रम की १५ वीं शती से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन अष्टाध्यायी के क्रम को छोड़कर प्रक्रिया रूप से लिखे गए प्रक्रियाकौमुदी, सिद्धान्तकौमुदी आदि ग्रन्थों के अनुसार होने लगा। इस क्रमभंग का फल यह हुआ कि महाभाष्य जैसा दिव्य और सरलतम व्यावहारिक संस्कृत में लिखा गया ग्रन्थ विद्वान् कहे जाने वाले लोगों की समझ से बाहर की वस्तु बन गया और लोगों ने कहना आरम्भ कर दिया—

कौमुदी यदि कण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः।
कौमुदी यद्यकण्ठस्था वृथा भाष्ये परिश्रमः॥

अर्थात्—सिद्धान्तकौमुदी यदि कण्ठस्थ है तो महाभाष्य में श्रम करना व्यर्थ है और यदि कौमुदी कण्ठस्थ नहीं है तो भी महाभाष्य में श्रम करना व्यर्थ है। अर्थात् महाभाष्य पढ़ना बेकार है।

इस बार न केवल एकमात्र महाभाष्य का, अपितु समस्त आर्षवाङ्मय का उद्धार एक असहाय कौपीनमात्रधारी परमहंस दण्डी विरजानन्द और उनके शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया। कहाँ आचार्य चन्द्र और क्षीर का केवल एकमात्र महाभाष्य का उद्धार सम्राटों की सहायता से करना, और कहाँ सम्पूर्ण आर्षज्योति-आर्षज्ञान-आर्षग्रन्थों का इन कौपीनमात्रधारी सम्राट्-साहाय्यरहित परिव्राजकों द्वारा उद्धार होना। **निस्सन्देह यह महान् कार्य सम्राटों के सम्राट्, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म के साहाय्य से परिव्राट् ही कर सकते थे, यहाँ क्षुद्र सम्राटों के साहाय्य से कृतकार्यता असम्भव थी।** अस्तु

उक्त अवस्था तो वेद के उस अङ्ग की हुई, जो सबसे प्रधान माना जाता है और कथंचित् पढ़ा जाता रहा है, अन्यों का तो कहना ही क्या। ऐसे घोर अनार्ष काल में श्री दण्डी विरजानन्द का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने प्रचलित पाठ्यग्रन्थों में पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त करके तात्कालिक विद्वत्-समाज में मूर्धन्य स्थान प्राप्त किया। तत्पश्चात् उनके हृदय में दैवी प्रेरणा से आर्षज्ञान की ज्योति सहसा प्रकट हुई। **ऋषिर्दर्शनात्** नियम के अनुसार उन्होंने उक्त महान् सत्य को प्रत्यक्ष कर ऋषित्व प्राप्त किया और उसमें दीक्षित होकर आजन्म इस आर्ष-ज्योति-उपस्थान रूप महासत्र को धारण किया।

इस आर्ष युग में उनके पास अनेक शिष्य आए, परन्तु उनमें से किसी में इस चकाचौंध को उत्पन्न करने हारी दिव्यज्योति की असह्यता को सहन करने की शक्ति नहीं थी। गुरुवर इस बात से पूर्ण विज्ञ थे। वे चिन्तित थे कि ये साधारण छात्र इस ज्योति को धारण ही नहीं कर सकते, तब भला ये इसको कैसे प्रज्वलित और प्रसारित करेंगे। इस दिव्य ज्योति को धारण करने वाला, कालकूट को पान करने वाले महादेव के समान कोई महात्मा ही हो सकता है। गुरुवर के जीवन के अन्तिम चरण में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने उनकी कुटिया में पैर रखा। लौकिक रत्नों के महापारखी[3] विरजानन्द अलौकिक रत्नों की परख में भी असाधरण क्षमता रखते थे। उन्होंने दयानन्द का परिचय प्राप्त करते ही भांप लिया कि यह मेरे द्वारा सतत प्रज्वलित रखी गई आर्ष-ज्योति को पूर्णात्मना धारण कर सकता है। फिर क्या था, गुरुवर ने चिन्तामुक्त होकर अपने इस नये शिष्य में चिरकाल-आराधित आर्षज्योति को अतिस्वल्पकाल में पूर्णरूप से संचारित कर दिया। इस परम दिव्य आर्षज्योति को दयानन्द में संचारित करके जहाँ गुरुवर विरजानन्द चिन्तामुक्त हो गए, वहाँ स्वामी दयानन्द भी इस आर्षज्योति को प्राप्त कर उसकी दिव्यता से प्रकाशित अन्तःकरण होकर स्वयं भी ऋषि बन गए।

---

१. वाक्यप्रदीप २।४८७–४८९। राजतरंगिणी १। १७६॥ देखो सं० व्याकरणशास्त्र का इतिहास, भाग १, पृष्ठ २४३, २४९।

२. राजतरङ्गिणी ४।४८८, ४८९॥ सं० व्या० शास्त्र का इतिहास, पृष्ठ २५०।

३. आंखों से विहीन होने पर भी उनमें रत्न-परीक्षा की अलौकिक क्षमता थी। देखो विरजानन्द-प्रकाश।

ऋषि दयानन्द सरस्वती ने स्वगुरु से प्राप्त आर्षज्योति को अपने तप और त्याग से पूर्णरूपेण उद्दीप्त किया। इसे सतत प्रज्वलित रखने और प्रसारित करने की आज्ञा अपने अनुयायियों को देकर महर्षि ने अकाल में ही इहलोक से प्रयाण किया।

आर्यसमाज में उन दिनों श्री पं० गुरुदत्तजी को छोड़ कर कोई दूसरा उस आर्षज्योति को धारण करने की पूर्ण क्षमता नहीं रखता था। ऋषि को भी पं० गुरुदत्त से ही विशेष आशा थी। इसलिए उन्होंने अपने अन्तिम समय में अद्भुत और अनिर्वचनीय रूप योगबल से पं० गुरुदत्त के हृदय में आर्षज्योति का संचार किया। उस आर्षज्योति-प्रकाश से उनका कट्टर नास्तिकपना, जो उत्कृष्टतम था और प्रमाणों से दूर न हुआ था, क्षणभर में शशशृङ्गवत् लुप्त हो गया। परन्तु आर्यजाति को दुर्भाग्य के दिन अभी देखने को बाकी थे, इस कारण पं० गुरुदत्त का अतिस्वल्पायु में ही स्वर्गवास हो गया।

आर्यसमाज के स्वर्णयुग के श्री पं० लेखरामजी, महात्मा हंसराजजी, श्री आर्यमुनिजी, श्री पं० शिवशङ्करजी प्रभृति महानुभावों ने अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उस आर्षज्योति को जगमगाए रखने का भरसक प्रयत्न किया, परन्तु उस आर्ष-ज्योति का प्रकाश शनैः शनैः मध्यम पड़ने लगा। अब तो वह यत्र-तत्र टिमटिमाता मात्र रह गया है। वर्तमान पीढ़ी के ये महानुभाव (पं० भगवद्दत्त, पं० ब्रह्मदत्त, पं० शंकरदेव, पं० उदयवीर प्रभृति) जिनमें आर्षज्योति का कुछ प्रकाश विद्यमान है, महाप्रयाण कर गए तो सर्वथा लुप्त हो जाएगा; पुनः सदियों ही नहीं, सहस्राब्दों से जब किसी विरजानन्द अथवा दयानन्द का प्रादुर्भाव होगा, तभी यह पुनः प्राप्त हो सकेगी। इस सबका महापाप वर्तमान के उन आर्यसमाजी नेताओं और अधिकारियों को लगेगा जो इस आर्षज्योति को कथंचित् धारण किए हुए इन तपस्वियों की स्वाधिकार-मदवश अवहेलना कर रहे हैं। अस्तु

आर्यसमाज ने वेदों के प्रचार के लिए अनेक पाठशालाएँ खोलीं, अनेक गुरुकुल चलाए। परन्तु उन में से किसमें आर्ष-ग्रन्थों का पठन-पाठन हो रहा है? उन आर्ष-ग्रन्थों को, जिन्हें पढ़ने की मनु से लेकर दयान[न्द] पर्यन्त सभी ऋषि-मुनि आज्ञा करते रहे, पठन-पाठन [न] होने से, आर्षज्योति से विहीन होने के कारण हमा[री] पाठशालाओं और गुरुकुलों के छात्र नास्तिक अथवा अ[र्ध]-नास्तिक और वैदिक आर्ष-ग्रन्थों के वास्तविक ज्ञान रहित उत्पन्न हो रहे हैं।

दूसरी ओर आर्ष-ज्योति के नाश और अज्ञान [की] वृद्धि करने के लिए स्कूल और कालेजों के रूप में [हम] अत्युत्साह से प्रयत्न कर रहे हैं। और विशेषता यह [है] कि हम अपने को आर्षज्योति-प्रसारक महर्षि का अ[नु]यायी कहते हुए उनसे बहुधा साक्षात् प्रतिषिद्ध अंग्रे[जी] के पठन-पाठनरूप मार्ग का पूर्ण प्रयत्न से अनुसरण क[रते] हुए यत्किञ्चित् लज्जा अनुभव नहीं करते, यह है हमा[री] धृष्टता की पराकाष्ठा। देखिए आर्षज्योति की महत्ता [को] समझने वाला दयानन्द क्या कहता है—

आप लोगों की पाठशाला में आर्यभाषा संस्कृ[त] का प्रचार बहुत कम और अन्यभाषा अंग्रेजी व उर्दू फारसी अधिक पढ़ाई जाती है।......यह हजा[रों] मुद्रा का व्यय संस्कृत की ओर से निष्फल हो[ता] भासता है।......बहुत काल से आर्यावर्त्त में संस्कृ[त] का अभाव हो रहा है वरन् संस्कृतरूपी मातृभा[षा] की जगह अंग्रेजी लोगों की मातृभाषा हो चली है ......इस [अंग्रेजी] की वृद्धि में हम तुम [को] आवश्यकता नहीं दीखती।

पत्र और विज्ञापन पृष्ठ २९० द्वि० सं०

तुम्हारी पाठशाला में अलिफ बे और कैटबै की भर्मार है जो कि आर्यसमाज का कर्तव्य नही[ं]

पत्र और विज्ञापन पृष्ठ ४०५ द्वि० सं०

ऐसे उद्गार महर्षि ने अपने अनेक पत्रों में प्र[कट] किए हैं। ऊपर केवल निदर्शनार्थ दो स्थल उपस्थि[त] किए हैं।[1]

आज सहस्रों आर्यसमाजें हैं, कई प्रतिनिधि सभा[एँ] हैं, सार्वदेशिक सभा है, स्वयं ऋषि के द्वारा संस्थापि[त] उनकी उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा है। इनमें किसके द्वारा ऋषि की देनरूप जो आर्ष-ज्योति है, उ[स]

१. जो वास्तविक रूप में इस विषय में अधिक जानना चाहते हैं वे ऋषि के पत्र और विज्ञापन की श्री पं० भगवद्द[त्त] जी लिखित भूमिका पढ़ें और ठण्डे मस्तिष्क से उस पर विचार करें।

प्रज्वलित रखने के लिए प्रयत्न किया जा रहा है। किस आर्षज्योति-सम्पन्न विद्वान् को ये सभाएँ अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने[1] की वैदिक भावना के अनुसार निस्स्वार्थ भाव से केवल आर्षज्योति को जगमगाए रखने के लिए सहयोग दे रही हैं ? ये प्रश्न हैं, जिनका उत्तर सर्वथा नकारात्मक है। इस दृष्टि से हमारा, ऋषि के अनुयायी होने का दम्भ भरने वाले हम आर्य लोगों का, इतिहास पूर्ण निराशा का इतिहास है।

आर्ष-ग्रन्थों के अध्ययनाध्यापन, अनुवाद, और प्रसार की बात तो दूर रही, ऋषि के ग्रन्थों का ही शुद्ध और दिव्य, नहीं-नहीं, गीता प्रेस गोरखपुर जैसा साधारण संस्करण भी हम प्रकाशित नहीं कर सके।

गत १०० वर्षों में सायण का ऋग्वेदभाष्य दो बार पूर्ण प्रयत्न से छपकर प्रकाशित हुआ। प्रथम बार मैक्समूलर ने अपनी आयु का अधिकतम भाग लगाकर और लगभग एक लाख रुपया व्यय करके उत्तम संस्करण तैयार किया था। तत्पश्चात् पूना के 'वैदिक संशोधन मण्डल' द्वारा लगभग ३० वर्ष के प्रयत्न और लगभग तीन लाख के व्यय से उसका पुनः परिशोधित संस्करण प्रकाशित किया गया।

इसकी तुलना में हमारे प्रकाशनों की गति इससे सर्वथा उलटी हुई। प्रत्येक ग्रन्थ के प्रत्येक नये संस्करण में न केवल अशुद्धियाँ ही बढ़ीं, अपितु पाठ भी परिवर्तित होते चले गए। हमारी संस्थाओं, सभाओं और आर्यसमाजों के पास द्रव्य की कमी नहीं। देहली की प्रत्येक बड़ी समाज अपने वार्षिक उत्सव में ३०-४०-५० हजार रुपए तक तीन दिन की तड़क-भड़क में आतिशबाजी के समान फूँक देती है। न्यूनता है वास्तव में आर्षज्ञान की, उसके प्रचार के लिए कटिबद्ध होने की, उस पर विश्वास और श्रद्धा की, उसकी आवश्यकता को अनुभव करने की। अन्यथा अकेले देहली की १०० समाजों के जो कि अपने उत्सवों पर प्रतिवर्ष लगभग ८-१० लाख रुपया व्यय करती हैं, केवल एक वर्ष के उत्सव के व्यय से महान् कार्य हो सकता है।

दूसरा कारण संस्थाओं का, और वह भी स्कूल-कालेज जैसी निरर्थक, निष्प्रयोजन, समाज के सिद्धान्त के विपरीत, अज्ञान का प्रसार करने वाली संस्थाओं का मोह है। किसी भी शुभ प्रवृत्ति का आरम्भ होते ही, उसके अङ्कुर के प्रस्फुटन से पूर्व ही, ये स्कूल-कालेजरूपी महारोग उसे नष्ट कर देते हैं। सम्पूर्ण द्रव्य और शक्ति को आत्मसात् करके पाश्चात्य मत के अनुयायी भारतीय सभ्यता और वाङ्मय की निन्दा और उपहास करने वाले कृष्णचर्म योरोपियन उत्पन्न करते हैं, और हम उन्हीं जैसे लोगों से की गई स्तुति नहीं निन्दा से अपने को अहोभाग्य समझते हुए सब शुभ प्रवृत्तियों को रोककर, इस पापप्रवृत्ति में सर्वात्मना लिप्त हुए जाते हैं॥

---

१. जैसे किसी महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए राजकीय अश्वशालाओं के घोड़े, तांगा हाँकने वाले के घोड़े के समान नित्य का मेहनताना न चुकाकर भी खड़े-खड़े (बिना काम किए) उत्तम-उत्तम पदार्थों को प्राप्त होते हैं। उसी प्रकार विद्वानों को निर्वाह की सामग्री देनी चाहिए।

वेद-मन्त्रों का तुलनात्मक अनुशीलन

महर्षि दयानन्द तथा अन्य वेद भाष्यकार

[ले०—श्री पं० धर्मदेव जी विद्यावाचस्पति, विद्यामार्तण्ड, गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय]

शिक्षा-विषयक मन्त्रों के अर्थ का घोर अनर्थ

इस लेख में यजुर्वेद के २३ वें अध्याय के कुछ मन्त्रों पर तुलनात्मक अनुशीलन पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहता हूँ, जिनमें वस्तुतः शिक्षा-सम्बन्धी अत्युच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है; किन्तु जिनकी उवट, महीधरादि भाष्यकारों तथा उनके अनुयायी ग्रिफिथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने अश्वबलिपरक व्याख्या करके घोर अनर्थ किया है।

पाठक निष्पक्षपात होकर इन मन्त्रों के अर्थों पर विचार करेंगे तो उन्हें महर्षि दयानन्द के भाष्य की विशेषताओं और मध्यकालीन उव्वट, महीधरादि तथा उनके अनुयायी पाश्चात्य भाष्यकारों की भूलों का स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा।

यजु० २३।३९ में निम्न मन्त्र आया है—

कस्त्वा छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति क उ ते शमिता कविः ॥

उव्वट लिखते हैं कि कस्त्वा छ्यति इत्यादि छः मन्त्रों का पाठ करके चर्बी निकालने के लिये घोड़े के पेट को फाड़ा जाए (अश्वोदरं पाटयति मेदस उद्धरणाय)। अश्वदेवत्याः षड् ऋचः। हे अश्व ! (कः) प्रजापतिः त्वाम् (आच्छयति) छिनत्ति, छो छेदने। हे अश्व ! (कः त्वां विशास्ति) त्वचा वियोजयति (ते) तव (गात्राणि) (कः शम्यति) शमनेन हविः करोति (कः) कश्च प्रजापतिरेव (कविः) मेधावी (ते) तव (शमिता) शमयिता **प्रजापतिरेव सर्वं करोति नाहमित्यर्थः।** यजुर्वेद उव्वटभाष्य पृ० ४१५ ॥

अर्थात्—घोड़े के पेट को फाड़कर घोड़े को सम्बोधित करते हुए कहा जाता है कि हे अश्व ! प्रजा का पालक परमेश्वर ही तुझे काटता है। वही तुझे त्वचा से वियुक्त करता है—तेरी खाल उतारता है। वही तेरे अङ्गों की आहुति देता है। इस प्रकार मेधावी वह प्रजाप[ति] परमेश्वर ही सब कुछ करता है, मैं नहीं। महीधर ने[भी] अक्षरशः उव्वट-भाष्य के अनुसार अर्थ किया है। [ए]क शब्द का भी परिवर्तन नहीं किया। अतः उसको उ[द्धृत] करने की आवश्यकता नहीं[1]।

अपने समय के सुप्रसिद्ध पौराणिक विद्वान् पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र ने अपने यजुर्वेद के अनुवाद में उव्वट-महीध[र] के भाष्यों का अनुसरण करते हुए इस मन्त्र का 'अश्ववि[श]सने विनियोगः' अर्थात् घोड़े के काटने में विनियोग मा[नते] हुए निम्न अनुवाद किया है:—

हे अश्व ! (कः) कौन प्रजापति (त्वा) तुझ[को] (आच्छयति) छेदन करता है (कः) कौन (त्वा) तुझको (विशास्ति) त्वचा वा आवरण से पृथक् करता [है] (कः) कौन (ते) तुम्हारे (गात्राणि) शरीर [को] (शम्यति) शमन व हवि करता है (मेधावी) बु[द्धि] सम्पन्न (कः) प्रजापति (उ) ही (ते) तेरा (शमि[ता]) शमित वा मोक्ष करने वाला है। सब कुछ प्रजापति [ही] करता है मैं नहीं करता।[2]

उव्वट महीधर का ही अन्धानुसरण करते हुए [मि०] ग्रिफिथ ने अपने यजुर्वेद के अंग्रेज़ी अनुवाद में इस म[न्त्र] का निम्न अनुवाद करते हुए टिप्पणी दी है—

O horse ? Who flays thee ? Wh[o] dissects thee ? Who prepares th[y] limbs for sacrifice ? Who is the sa[ge] that slaughters thee ?

Foot-note :—Who or ka that Prajapati himself performs the

१. देखो महीधरभाष्य जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित कलकत्ता १८८२ सं० पृ० ९९६।

२. श्रीज्वालाप्रसाद मिश्र कृत यजुर्वेद अनुवाद पृ० ९९८।

sacrificial operations and not I, the human priest.

Texts of the white Yajurveda translated by Griffith P. 214

अर्थ और टिप्पणी उव्वटभाष्यानुसार ही है, जिसका तात्पर्य है कि क अर्थात् प्रजापति परमेश्वर ही तुझ घोड़े को मारने, खाल उतारने और अग्नि में तेरे अङ्गों की आहुति देने का सब कार्य करता है, मैं मनुष्य पुरोहित नहीं।

यह कितनी वाहियात बात है कि स्वयं अश्व की हत्या करके और उसके अङ्गों की आहुति अग्नि में डाली जाए, उसकी खाल उतारी जाए और फिर मरे हुए घोड़े को कहा जाए कि यह सब कार्य प्रजा का पालक परमेश्वर कर रहा है, इससे बढ़कर असङ्गत बात और क्या हो सकती है ? अब इसके वास्तविक अर्थ को देखिये जिसका निर्देश महर्षि दयानन्द ने अपने भाष्य में किया है। महर्षि दयानन्द ने इसका देवता वा प्रतिपाद्य विषय 'अध्यापकः' लिखते हुए कहा है कि **'पुनरध्यापका विद्यार्थिनां कीदृशीं परीक्षां गृह्णीयुरित्याह'**— अर्थात् फिर अध्यापक विद्यार्थियों की कैसी परीक्षा लें, यह इस मन्त्र में बताया गया है। उनके अनुसार मन्त्रार्थ इस प्रकार है :—

पदार्थ :—(कः) (त्वा) त्वाम् (आच्छ्यति) समन्ताच्छिनत्ति (कः) (त्वा) (विशास्ति) विशेषेणोपदिशति (कः) (ते) तव (गात्राणि) अङ्गानि (शम्यति) शाम्यति शमं प्रापयति (कः) (उ) वितर्के (ते) तव (शमिता) यज्ञस्य कर्ता (कविः) सर्वशास्त्रवित्।

अन्वयः—हे अध्येतस्ते क आच्छ्यति कस्त्वा विशास्ति कस्ते गात्राणि शम्यति क उ ते शमिता कविरध्यापकोऽस्ति ?

भावार्थः—अध्यापका अध्येतॄन् प्रत्येवं परीक्षायां पृच्छेयुः के युष्माकमध्ययनं छिन्दन्ति के युष्मानध्ययनायोपदिशन्ति केऽङ्गानां शुद्धिं योग्यां चेष्टां च ज्ञापयन्ति कोऽध्यापकोऽस्ति किमधीतं किमध्येतव्यमस्तीत्यादि पृष्ट्वा सुपरीक्ष्योत्साह्याधमान् धिक् कृत्वा विद्यामुन्नयेयुः ॥

अर्थात्—हे पढ़ने वाले विद्यार्थिजन ! तुझे कौन छेदन करता अर्थात् तेरी पढ़ाई में विघ्न डालता है। कौन तुझे विशेषरूप से अच्छी तरह सिखाता है ? कौन तेरे अङ्गों को शान्ति पहुँचाता और कौन तेरा यज्ञ करने वाले (शान्तिदाता) समस्त शास्त्रों का ज्ञाता अध्यापक है।

भावार्थ—अध्यापक लोग पढ़ने वालों से प्रश्न करें कि कौन तुम्हारे पढ़ने में विघ्न करते, कौन तुमको पढ़ने के लिये भलीभाँति उपदेश देते हैं ? कौन तुम्हें अङ्गों की शुद्धि और योग्य चेष्टा का ज्ञान कराते हैं ? क्या तुमने पढ़ा है, क्या २ और पढ़ना है इत्यादि पूछकर अच्छी प्रकार परीक्षा करके उत्तम विद्यार्थियों को उत्साह देकर और दुष्ट स्वभाव वालों को धिक्कार देकर विद्या की उन्नति करावें।

अब विचारशील निष्पक्षपात विद्वान् देखें कि इन दोनों अर्थों में कितना आकाश-पाताल का अन्तर है ? कहाँ घोड़े की हिंसा करके उस मरे हुए घोड़े को कहना कि प्रजा-पालक परमेश्वर ने तुझे काटा है, उसी ने तेरी खाल उतारी है और तेरे अङ्गों की अग्नि में आहुति दी है, मैंने नहीं (अपने हिंसा के पाप को प्रजापति परमेश्वर के सिर पर मढ़ना) और कहाँ आचार्य तथा अध्यापकों के विद्यार्थियों के भलीभाँति निरीक्षण और उनके दोषनिवारणपूर्वक विद्यावृद्धि के प्रयत्न का प्रतिपादक सुन्दर उपदेश ! वस्तुतः कात्यायनादि के नाम से कल्पित विनियोग और विशसन तथा शमिता के अर्थ को ठीक न समझने से ही यह अनर्थ हुआ। विशास्ति का सीधा अर्थ विशेष रूप से ज्ञान देता है यही है। शासु-(अनुशिष्टौ, अनुशिष्टिर्विविच्य ज्ञापनम्) अदा०पर०। उसका काटता है यह अर्थ अयुक्त है। शम्यति का अर्थ शान्ति पहुँचाता है, यही स्पष्ट है। हिंसापरक अर्थ कल्पित है। यही बात शमिताके विषय में है, जिसका अर्थ शान्तिदाता अथवा शान्तियज्ञ को करने वाला है। विनियोग के विषय में महर्षि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में ठीक ही लिखा है कि—

तस्माद् युक्तिसिद्धवेदादिप्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतो विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति ॥

अर्थात्—ब्राह्मण, श्रौतसूत्रादि का भी वही विनियोग ग्रहण करने योग्य है जो युक्तिसिद्ध वेदादि प्रमाण के अनुकूल और मन्त्रार्थके अनुसार हो, अन्य नहीं। मैं यजुर्वेद के तुलनात्मक गम्भीर अनुशीलन के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि मन्त्रों के प्रायः कात्यायनादि के नाम से प्रचलित असङ्गत वस्तुतः मन्त्रार्थ के विरुद्ध विनियोगों के कारण

ही मध्यकालीन भाष्यकार सरल और सुस्पष्ट मन्त्रों के भी अर्थ का अनर्थ कर गये हैं। इसलिये महर्षि दयानन्द ने उन कल्पित विनियोगों की उपेक्षा करके मन्त्रों के वास्तविक तथा सार्वभौम शिक्षाप्रद अर्थों का निर्देश किया है। मैं इसे महर्षि के भाष्य की बड़ी विशेषता समझता हूँ ॥

अब इसके अगले मन्त्रों को तुलनात्मक दृष्टि से देखिये।

ऋतवस्त्वा ऋतुथा पर्व शमितारो विशासतु।
संवत्सरस्य तेजसा शमीभिः शम्यन्तु त्वा ॥

यजु॰ २३।४०

उव्वट और महीधर ने इस मन्त्र का भाष्य इस प्रकार किया है :—हे अश्व (ऋतवः) शमितारः (ऋतुथा) ऋतौ ऋतौ काले काले तव (पर्व) पर्वाणि अस्थिग्रन्थीन् (शमीभिः) कर्मभिः (विशासतु) भिन्नानि कुर्वन्तु। केन (संवत्सरस्य) संवत्सरात्मकस्य कालस्य (तेजसा) किंच (ऋतवः) (त्वा) त्वां (शम्यन्तु) पर्वविशसनेन हविः कुर्वन्तु ॥ महीधरभाष्य में (जैसे कि उसकी चोरी की आदत प्रायः सर्वत्र प्रतीत होती है) उव्वटभाष्य को अक्षरशः उद्धृत कर दिया है, अतः उसे दुबारा लिखने की आवश्यकता नहीं! इसका तात्पर्य यह है कि हे घोड़े! ऋतुएँ शमन (इन भाष्यकारों के अनुसार) हिंसा करने वाली हैं। वे समय समय पर तुम्हारी हड्डियों के जोड़ों को तोड़ती रहें। संवत्सररूप काल के तेज से। ये ऋतुएँ तेरी हड्डियों को तोड़कर उनकी हवि या आहुति दें। महर्षि दयानन्द जी ने इसका भाष्य इस प्रकार किया है—पुनः स्त्रीपुरुषाः कथं वर्तेरन्नित्याहः—

पदार्थ—(ऋतवः) वसन्ताद्याः (ते) तव (ऋतुभ्यः) (पर्व) पालनम् (शमितारः) अध्ययनाध्यापनाख्ये यज्ञे शमादिगुणानां प्रापकाः (विशासतु) विशेषेणोपदिशन्तु (संवत्सरस्य) (तेजसा) जलेन तेज इत्युदकनाम निघ॰ १।१२ (शमीभिः) कर्मभिः (शम्यन्तु) (त्वा) त्वाम्।

अन्वयः—हे विद्यार्थिन्। यथा ते ऋतवः ऋतुथा पर्वेव शमितारोऽध्येतारं विशासतु संवत्सरस्य तेजसा शमीभिस्त्वा शम्यन्तु तांस्त्वं सदैव सेवस्व।

भावार्थः—यथा ऋतवः पर्यायेण स्वानि-स्वानि लिङ्गान्यभिपद्यन्ते तथैव स्त्री-पुरुषः पर्यायेण ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासाश्रमान् कृत्वा ब्राह्मण ब्राह्मण्यश्चाध्यापयेयुः। क्षत्रियाः प्रजा रक्षन्तु वैश्याः कृष्यादिकमुन्नयन्तु, शूद्राश्चैतान् सेवन्ताम्।

अर्थात्—जैसे ऋतुएँ क्रम से अपने-अपने चिह्नों प्रकट करती हैं वैसे स्त्री-पुरुष क्रम से ब्रह्मचर्य, गृहस्थ वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों को ग्रहण कर ब्राह्मण ब्राह्मणियाँ अध्यापन करें, क्षत्रिय प्रजाओं की रक्षा वैश्य कृषि आदि को उन्नत करें और शूद्र इनकी सेवा करें

इस प्रकार मन्त्र में ऋतुओं के दृष्टान्त से वर्णाश्र धर्मविषयक कितनी सुन्दर शिक्षा दी गई है, जब उव्वट, महीधरादि तथा उन के अनुयायी ग्रिफिथ जिस ने

In due time let the seasons as th slaughters divide thy joints ;

And with the splendour of the ye sacrifice thee with holy rites. (p. 214

इस रूप में अक्षरशः उव्वट, महीधर का ही अविवे पूर्वक अनुसरण किया है। ऋतुओं के घोड़े की हड्डियों जोड़ों के तोड़ने की बेहूदी बात है, जिसका कोई भी बुद्धि मान् उपहास किये बिना नहीं रह सकता। यहाँ विशासतु और शम्यन्तु इत्यादि के 'विशेषरूप से उपदे करें' और 'शान्त करें' इस सीधे अर्थ को छोड़ हिंस परक अर्थ करने से यह अनर्थ हुआ है ॥

अब हम इससे अगले २३।४१ मन्त्र को लेते हैं निम्नलिखित है:—

अर्द्धमासाः परूंषि ते मासा आच्छ्यन्तु शम्यन्तः।
अहो रात्राणि मरुतो विलिष्टं सूदयन्तु ते ॥ य. २३।४

इसका उव्वट भाष्य निम्न प्रकार है:—

(अर्धमासाः) पक्षा मासाश्च तदभिमानिनो देव (शम्यन्तः) संस्कुर्वन्तः, हे अश्व ! (ते) तव (परूंषि पर्वाणि (आच्छ्यन्तु) समन्ताच्छिन्दन्तु किंच (अहो रात्राणि) अहोरात्राभिमानिदेवाः (मरुतः) च देवाः (ते (विलिष्टम्) लिश अल्पीभावे विशेषेण अल्पमङ्गं त (सूदयन्तु) सन्दधतु सूद निरासे, अत्र सन्धानार्थः, व्या मास्तु ॥ महीधरभाष्य में भी अक्षरशः उव्वट को उठाक रख दिया गया है।

उव्वट-महीधर भाष्यानुसार मन्त्र का अर्थ यह बनत है कि हे अश्व ! पक्ष और मास के अभिमानी देव संस्का करते हुए तेरे जोड़ों को चारों ओर से काटें और फि देव जो थोड़ा अङ्ग है उसको जोड़ दें। अब पाठक विचा करें कि यह बात क्या बनी ? पक्ष और मास के अभिमान

देव घोड़े के जोड़ों को चारों ओर से तोड़ दें, यह क्या असङ्गत बात मारे जाते हुए घोड़े को सम्बोधन करके कही जा रही है ?

ग्रिफिथ ने भी इन दोनों का ही अनुसरण निम्न अंग्रेजी अनुवाद में किया है:—

Let the half months and let the months, while sacrificing, flay thy limbs. Let day and night and maruts mend each fault in sacrificing thee. P. (214.)

यहाँ ग्रिफिथ साहब ने चतुर्थ चरण के अनुवाद में एक बात अधिक जोड़ दी है जो उव्वट और महीधर के भाष्य में अस्पष्ट थी कि तेरी बलि चढ़ाने में जो त्रुटि रह गई हो उसको दिन-रात और मरुत् देवता ठीक कर दें। अब महर्षिदयानन्दकृत अर्थ को देखिये:—

पदार्थ—(अर्धमासाः) कृष्णशुक्लपक्षाः (परूंषि) कठोरवचनानि (ते) तव (मासाः) चैत्रादयः (आ) समन्तात् (छ्यन्तु) छिन्दन्तु (शम्यन्तः) शान्तिं प्रापयन्तः (अहोरात्राणि) (मरुतः) मनुष्याः (विलिष्टम्) विरुद्धम् अल्पमपि व्यसनम् (सूदयन्तु) दूरीकारयन्तु (ते) तव।

अन्वयः—हे विद्यार्थिन्! अहोरात्राणि, अर्धमासा मासाश्च आयूंषीव तव (परूंषि) शम्यन्तो महतो दुर्व्यसनान् छ्यन्तु ते तव मासा विलिष्टं सूदयन्तु।

भावार्थः—यदि मातापित्रध्यापकोपदेशकातिथयो बालानां दुर्गुणान्न निवर्तयेयुस्तर्हि ते शिष्टाः कदाचिन्न भवेयुः॥

तात्पर्य यह है कि यह सम्बोधन मारे जाने वाले घोड़े को नहीं अपितु विद्यार्थी को किया जा रहा है। उसे कहा जा रहा है कि मातापिता अध्यापक और अतिथि तेरे कठोर वचनों तथा सब छोटे से छोटे व्यसनों को भी क्रम से काटते वा दूर करते जाएँ। इस प्रकार व्यसनरहित बनाकर वे तुझे शान्ति पहुँचाएँ। यहाँ घोड़े के अङ्गों को काटने की शिक्षा नहीं, किन्तु विद्यार्थी के परुष वा कठोर वचनों (परु और परुष शब्द एक ही धातु के रूप हैं) को काटने और उसके छोटे-बड़े सब दुर्व्यसनों को दूर करने की है जो शिक्षा की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। निष्पक्ष पाठक विद्वान् विचार करें कि इन दो प्रकार के अर्थों में कितना आकाश-पाताल का अन्तर है और वेदों के महत्त्व की दृष्टि से (जो सायण, उव्वट, महीधरादि सब भारतीय भाष्यकारसम्मत है) कौन-सा अर्थ उपादेय है॥

अब हम इसके अगले मन्त्र ३३।४२ का तुलनात्मक अनुशीलन प्रस्तुत करते हैं। मन्त्र इस प्रकार है:—

दैव्या अध्वर्यवस्त्वाच्छ्यन्तु वि च शासतु।
गात्राणि पर्वशस्ते सिमाः कृण्वन्तु शम्यन्तीः॥

इसका उव्वटकृत भाष्य निम्न प्रकार है:—

देवानामिमे दैव्याः अश्विनौ देवानामध्वर्यू इत्युक्तत्वात् अश्विप्रभृतयो देवसम्बन्धिनोऽध्वर्यवः। हे अश्व (त्वा) आछ्यन्तु आच्छिन्दन्तु (विशासतु) च हविःकुर्वन्तु किंच तव (गात्राणि) विभक्तिव्यत्ययः गात्रेषु शरीरेषु (पर्वशः) पर्वणि पर्वणि (सिमाः) सीमाः मर्यादाः (कृण्वन्तु) कृ करणे स्वादिः कीदृशीः सीमाः (शम्यन्तीः) संस्कुर्वाणाः॥

महीधर ने भी अक्षरशः इसी भाष्य को उद्धृत कर दिया। प० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने इसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार किया है:—

हे अश्व! देव-सम्बन्धी अध्वर्यु अश्विनीकुमार तुझको छेदन करें (काटें) और विशसन करते (काटते हुए) हवि को सम्पादन करें। संस्कार करती हुई सीमाएँ तेरे गात्रों को भिन्न-भिन्न करें।

यहाँ फिर विशासतु का अर्थ 'विशेषरूप से उपदेश करना' यह छोड़कर काटने वाले लिया गया है और घोड़े के अङ्गों की आहुति देने का विधान इन मध्यकालीन भाष्यकारों ने कर दिया है। जब घोड़े को काटा ही जा रहा है तो उसके लिये मर्यादा स्थापित करने और उसे शान्ति पहुँचाने का अर्थ ही क्या रह जाता है ?

ग्रिफिथ ने भी ठीक इनका अनुसरण करते हुए अनुवाद कर दिया है जो निम्न है:—

Let the divine Adhvaryus flay thy body and dissect thy frame,
And let the sacrificing lines prepare thy members joint by joint.

(P. 214)

अब महर्षि दयानन्द कृत अर्थ को देखिये। वे विषय का निर्देश करते हुए लिखते हैं :—

'अथाध्यापकादयः कथं वर्तेरन्नित्याह' अर्थात् अब अध्यापकादि कैसे व्यवहार करें इसका उपदेश दिया जाता है।

पदार्थ—(दैव्याः) देवेषु विद्वत्सु कुशलाः (अध्वर्यवः) आत्मनोऽहिंसाख्ययज्ञमिच्छन्तः (त्वा) त्वाम् (आछ्यन्तु) छिन्दन्तु (वि च शासतु) उपदिशन्तु (गात्राणि) अङ्गानि

(पर्वशः) सन्धितः (ते) तव (सिमाः) प्रेमबद्धाः (कृण्वन्तु) (शम्यन्तीः) दुष्टस्वभावं निवारयन्त्यः।

अन्वयः—हे विद्यार्थिन् विद्यार्थिनि वा दैव्या अध्वर्यवः त्वा विशासतु च ते तव दोषान् आच्छयन्तु पर्वशो गात्राणि परीक्षन्तां सिमाः शम्यन्तीः सत्यो मातरोऽप्येवं शिक्षां कृण्वन्तु॥

भावार्थः—अध्यापकोपदेशकातिथयो यदा बालकान् शिक्षयेयुस्तदा दुर्गुणान् विनाश्य विद्यां प्रापयेयुरेवमध्यापिकोपदेशिका विदुष्यः स्त्रियोऽपि कन्याः प्रत्याचरेयुः। वैद्यकशास्त्ररीत्या शरीरावयवान् सम्यक् परीक्ष्यौषधान्यपि प्रदद्युः॥

तात्पर्य यह कि (अध्वर्यवः) अहिंसा रूप यज्ञ की इच्छा करने वाले विद्वान् विद्यार्थियों के दोषों को काटें। वे उनके अङ्गों की वैद्यकशास्त्र की रीति से अच्छी प्रकार परीक्षा करें। (शम्यन्तीः) दुष्टस्वभाव का प्रशमन अर्थात् निवारण करती और शान्ति को देती हुई प्रेमबद्ध माताएँ भी कन्याओं को इसी प्रकार की शिक्षा दें।

यहाँ भी विद्यार्थियों के स्थान पर घोड़े पर इसे लगाने और विशासतु-शम्यन्ती-इत्यादि शब्दों के सीधे 'उपदेश करें' तथा दुर्गुणों का प्रशमन करके शान्ति पहुँचाती रहें, इनके स्थान में हिंसापरक अर्थ ले लेने से कितना अनर्थ हो गया है और किस प्रकार की असङ्गत बात बन गई है इसे विद्वान् लोग विचार करें। अध्वर शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्त में यास्काचार्य ने १।६ में स्पष्ट कहा है कि 'अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः' अध्वर्युः का अर्थ वहाँ 'अध्वरं युनक्तीति वा अध्वरं कामयत इति वीं' किया गया है अर्थात् अहिंसात्मक यज्ञ की कामना करने वाला अथवा उसकी व्यवस्था करने वाला। ऐसे अध्वर्युशब्द का प्रयोग करते हुए फिर उसके साथ अश्वादि पशुओं के अङ्ग-अङ्ग काटने की बात जोड़ देना कितना असङ्गत और परस्पर विरुद्ध कथन है। अतः महर्षि दयानन्द ने अध्वर्युपद का अहिंसारूप यज्ञ की इच्छा करते हुए—यह अर्थ देकर विशासतु का अर्थ उव्वट, महीधर ग्रिफ़िथ आदि की तरह काटने वा काटे हुए अङ्गों की आहुति देने का अर्थ न करके जो विशेष रूप से उपदेश देने का किया है, वह सरल और सुसङ्गत है। इसके साथ छात्र-छात्राओं वा सन्तानों के दुर्गुण निवारण और समय-समय पर उनकी शारीरिक परीक्षा की बात कितनी महत्त्वपूर्ण है।

अब हम इसी २३ वें अध्याय के ४३ वें मन्त्र पर विचार करना चाहते हैं जो निम्नलिखित है:—

'द्यौस्ते पृथिव्यन्तरिक्षं वायुश्छिद्रं पृणातु ते।
सूर्यस्ते नक्षत्रैः सह लोकं कृणोतु साधुया॥

इसका उव्वटकृतभाष्य इस प्रकार है:—(द्यौ... स्वर्गः (पृथिवी) (अन्तरिक्षम्) लोकत्रयाभिमानि... देवा अग्निवायुसूर्याः वायुश्चः शरीरस्थः प्राणादिः... अश्व (ते) तव (छिद्रं पृणातु) वचनव्यत्ययः पृ... पूरयन्तु यत् न्यूनं तत्पूरयन्तु किंच (नक्षत्रैः सह) नक्षत्र... सूर्यः (ते) तव (साधुया) साधु समीचीनं (लोकं कृणो... करोतु सूर्यस्ते उत्तमं लोकं ददात्वित्यर्थः॥ पृ॰ ४१५

घोड़े के अङ्गों को काटकर और उनकी आहुति ... में देने के पश्चात् यह प्रार्थना कि अग्नि, वायु, सूर्य ... न्यूनताओं को पूरा करें, कितनी असङ्गत है; पाठक इ... विचार करें। कर्म फलदाता भगवान् है। उसके स्थान ... सूर्य से यह प्रार्थना कि नक्षत्रों के साथ वह तुझे उ... गति देवे, उत्तम लोक में पहुँचाए; यह भी कितनी अस... और उपहासजनक प्रार्थना है। अब महर्षि दयानन्द ... अर्थ को देखिये। उनके अनुसार पूर्व मन्त्रवत् यहाँ स... धन मारे जाते हुए अश्व को नहीं अपितु शिष्या वा अ... पिका को है कि—

पदार्थः—(द्यौः) प्रकाशरूपा विद्युत् (ते) तव (पृथि... भूमिः (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (वायुः) पवनः (छिद्र... इन्द्रियम् (पृणातु) सुखयतु (ते) तव (सूर्यः) स... (नक्षत्रैः) (सह) (लोकम्) दर्शनीयम् (कृणो... (साधुया) साधु सत्यम्।

अन्वयः– हे शिष्येऽध्यापिके वा यथा द्यौः पृथिव्य... रिक्षं वायुः सूर्यो नक्षत्रैः सह चन्द्रश्च ते छिद्रं पृणातु (ते... तव व्यवहारं साध्नोतु (ते) तव साधुया लोकं कृणोतु।

भावार्थ :—यथा पृथिव्यादयः सुखप्रदाः सूर्या... प्रकाशकाः पदार्थाः सन्ति तथैवाध्यापका उपदेशक... अध्यापिका अप्युपदेशिकाश्च सर्वान् सन्मार्गस्थान् कृ... विद्याप्रकाशं जनयन्तु।

तात्पर्य यह है कि जैसे पृथिवी आदि पदार्थ सु... दायक हैं और सूर्यादि प्रकाशक हैं वैसे ही अध्या... उपदेशक तथा अध्यापिकाएँ और उपदेशिकाएँ सब... सन्मार्ग पर चलाकर विद्याप्रकाश को उत्पन्न करें। विद्... पृथिवी, आकाश और वायु तेरी इन्द्रियों को सुख ... और सूर्य तेरे लिये सारे लोक को भली भाँति दर्शनी... बनाए। सूर्य-प्रकाश से तुम सदा लाभ उठाते रहो। अ...

पाठक देखें कि इन दो प्रकार के अर्थों में कितना अधिक अन्तर है? कहाँ तो शिष्य-शिष्याओं के लिये यह शुभकामना कि पृथिवी, वायु, आकाशादि सब उनकी इन्द्रियों के लिये सुखदायी हों और यह उपदेश कि अध्यापक, उपदेशक अथवा अध्यापिका, उपदेशिकाएँ उनको उत्तम मार्ग पर चलाने वाली और विद्या-प्रकाश को देने वाली हों और कहाँ घोड़े को मारकर उसकी त्रुटियों को पूरा करने की अग्नि-वायु-सूर्यादि से प्रार्थना? वेदों के महत्त्व की दृष्टि से कौन सा अर्थ उपादेय है, यह विचारशील पाठक स्वयं विचार करें। हमें तो महर्षि दयानन्द-कृत अर्थ ही सरल और सुसङ्गत प्रतीत होता है। अब इस प्रकरण के अन्तिम अर्थात् ४४ वें मन्त्र पर हम तुलनात्मक दृष्टि से विचार करना चाहते हैं। यह मन्त्र निम्नलिखित है :—

शं ते परेभ्यो गात्रेभ्यः शमस्त्ववरेभ्यः ।
शमस्थभ्यो मज्जभ्यः शम्वस्तु तन्वै तव ॥

इसका उव्वटाचार्यकृतभाष्य इस प्रकार है :—

हे अश्व! (ते) तव (परेभ्यः) उच्चेभ्यः अवयवेभ्यः शिरआदिभ्यः (शम्) सुखम् (अस्तु) (अवरेभ्यः) अधःस्थेभ्यश्च पादादिभ्यः (गात्रेभ्यः) अवयवेभ्यः शम् अस्तु। (अस्थभ्यः) तवास्थिभ्यश्च शम् अस्तु (मज्जभ्यः) पृष्ठधातुभ्योऽपि शम् उ अस्तु किं बहुना तव (तन्वै) तन्वाः सर्वस्यापि शरीरस्य (शमु) सुखमेवास्तु। उ एवार्थे।

महीधर ने यहाँ भी अपने स्वभावानुसार उव्वट के भाष्य की अक्षरशः नकल कर ली है अतः उसको उद्धृत करना अनावश्यक है। पं० ज्वालाप्रसाद मिश्र ने उव्वट-महीधरभाष्य का ही अनुवाद निम्न शब्दों में किया है—

हे अश्व! तुम्हारा हर अवयव अर्थात् शिर आदि से सुख हो अर्थात् तुम्हारे उत्तमाङ्ग हमारे लिये कल्याणकारी हों। नीचे स्थित कर-चरणादि गात्रों से वा अङ्गों को सुख हो। अस्थियों के निमित्त-मज्जा के निमित्त सुख हो वा इनसे हमारा मङ्गल हो। तुम्हारा शरीर सब के निमित्त सुखकारी हो वा तुम्हारे शरीर को सुख हो।

ग्रिफिथ ने भी इस मन्त्र का अंग्रेजी अनुवाद इसी आशय का किया है, सम्बोधन अश्व (Horse) को ही है—

Well be it with thine upper parts, well with thy marrow and with all thy frame!

जहाँ तक इस मन्त्र के शब्दों के अर्थ का सम्बन्ध है उसमें कोई दोष वा आक्षेपयोग्य बात नहीं। ये शब्द इतने सरल और स्पष्ट हैं कि दूसरे अर्थ की कल्पना भी नहीं हो सकती। इसलिये, जैसे कि मैं अभी दिखाऊँगा, महर्षि दयानन्द ने भी शब्दों का अर्थ इसी प्रकार किया है किन्तु प्रश्न केवल विनियोग का है अथवा इस चीज का कि यह सब अङ्गों तथा समस्त शरीर के सुखकारी होने का आशीर्वाद किसको दिया जा रहा है। जहाँ उव्वट, महीधर, ग्रिफिथ आदि यह मानते हैं कि यह आशीर्वाद घोड़े के अङ्गों को काटकर उसकी आहुति अग्नि में देते हुए उसे दिया जा रहा है कि तेरे सिर, हाथ, पैर आदि सब अङ्गों को सुख हो तथा तू हमारे लिये भी कल्याणकारी हो (जिसकी असङ्गतता को एक अत्यन्त मूढ व्यक्ति भी समझ सकता है), वहाँ महर्षि दयानन्द इस आशीर्वाद को विद्यार्थी के लिये मानते हुए अर्थ करते हैं कि—हे विद्यामिच्छो! ते (परेभ्यः) उत्कृष्टेभ्यः (गात्रेभ्यः) (शम्) सुखम् (अस्तु) (अवरेभ्यः) मध्यस्थेभ्यो निकृष्टेभ्यो वा (शम्) (अस्थभ्यः) अस्थिभ्यः (मज्जभ्यः) (शम् उ अस्तु) (तन्वै) शरीराय (तव)।

अन्वयः—हे विद्यामिच्छो! यथा पृथिव्यादि तत्त्वं तव तन्वै शम् अस्तु परेभ्यः गात्रेभ्यः शम् उ अवरेभ्यः गात्रेभ्यः शम् अस्तु अस्थभ्यो मज्जभ्यः शम् अस्तु तथा स्वकीयैरुत्तम-गुणकर्मस्वभावैरध्यापकास्तं शंकरा भवन्तु।

भावार्थः—अत्र वाचकलु०—यथा माता पित्रध्यापकोपदेशकैः सन्तानानां दृढाङ्गानि दृढा धातवश्च स्युर्यैः कल्याणं कर्तुमर्हेयुस्तथाध्यापनीयमुपदेष्टव्यं च।

तात्पर्य यह है कि हे विद्या की इच्छा करने वाले! पृथिवी आदि तत्त्व तेरे शरीर, तेरे ऊपर नीचे के अङ्ग, अस्थि, मज्जा आदि सब के लिये सुखकारी हों तथा अपने उत्तम गुण कर्म स्वभाव के कारण अध्यापक तेरे लिये सुख-शान्तिदायक हों।

भावार्थ—माता-पिता, अध्यापकों और उपदेशकों को ऐसा पढ़ाना और उपदेश करना चाहिये जिससे सन्तानों और विद्यार्थियों के अङ्ग और धातुएँ दृढ़ हों।

इस प्रकार मैंने यजुर्वेद के २३ वें अध्याय के ६ मन्त्रों का तुलनात्मक अनुशीलन विचारशील पाठकों के सम्मुख

प्रस्तुत किया है, जिनके अशुद्ध विनियोग के कारण महान् अनर्थ हो गया है। महर्षि दयानन्द ने इनका अश्व देवता नहीं माना। उनके अनुसार मन्त्र ३९ और ४२ का अध्यापक, मं॰ ४० और ४१ की प्रजा और मं॰ ४३ और ४४ का राजा देवता है। यदि कथञ्चित् अश्व देवता मानने पर किसी का आग्रह हो तो भी 'वीर्यं वा अश्वः'—शत. २.१.४.२४ के अनुसार उसका अर्थ वीर्यवान् ब्रह्मचारी वा अध्यापक होने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। 'क्षत्रं वा अश्वः'—शत. १३.२.२.१५। वज्री वा अ॰ प्राजापत्यः–तै॰ ३.८.४.२। इन्द्रो वा अश्वः कौ॰—१॰ इत्यादि के अनुसार अश्व का अर्थ क्षात्रबलसम्पन्न वज्रध॰ इन्द्र वा राजा हो ही सकता है। इसलिये उव्वट, महीध॰ ग्रिफिथ आदिकृत इनके अर्थ वेदों की पवित्र शिक्षा॰ विरुद्ध, असङ्गत और उपहासास्पद हैं। महर्षि दयानन्द॰ इनका शिक्षादिपरक जो उत्तम अर्थ किया है वह सर्व॰ उपादेय है॥

धर्म्म और राजनीति

[ले॰—श्री पं॰ हरिशङ्कर जी शर्मा]

जिसे प्राण प्यारा सदाचार होगा,
वही वीर संसार से पार होगा।
नहीं नाम का धर्म धारी तरेगा,
भला काठ का केहरी क्या करेगा।

धर्म्म का राजनीति से अटूट सम्बन्ध है। जब-जब राजनीति धर्म्म से विलग हुई है, तब तब भयंकर आपत्तियाँ संसार के सिर पर सवार हुई हैं। महायुद्धों महासंग्रामों की सृष्टि उसी समय होती है, जब धर्म्म को धत्ता बताई जाती है। हमारा देश स्वतंत्र तो हो गया परन्तु उस की राजनीति से धर्म्म का कोई सम्बन्ध नहीं रखा गया, जब कि महात्मा गांधी का स्पष्ट कथन है कि 'धर्म्म के बिना मैं स्वराज्य की कल्पना भी नहीं कर सकता'। महर्षि दयानन्द ने तो यह बात बहुत पहले कही थी। आज स्वतन्त्र देश की दशा देखिए। धर्म्महीन राजनीति के 'चमत्कार' अवलोकन कीजिए। एक ओर तो विधान-सभाओं में विधान-निर्माण पर पानी की तरह, जनता की गाढ़ी कमाई का, धन बहाया जा रहा है, दूसरी ओर भ्रष्टाचार, अनाचार, अत्याचार और हत्याएँ उत्तरोत्तर वृद्धि की ओर हैं। कानून तो किसी अपराध के रोकने का बहुत साधारण-सा उपाय है, यदि कानूनी कोड़ों से अनाचार रुक सकते होते तो एक 'अपराधी' एक बार दण्ड पाकर, पुनः-पुनः अपराध न करता। परन्तु ऐसा नहीं हो रहा॰ अपराधी बार-बार जेल जाते और अपराध की कुप्रवृत्ति॰ त्याग नहीं करते। इसके लिये हृदय-परिवर्तन की आवश्य॰ कता है। हृदय-परिवर्तन धर्म्माचार, स्वाध्याय और सत्॰ से ही सम्भव है। इसके लिये प्रयत्न करना अनिवार्य है॰ अपराधियों के लिये कारागार बने हुए हैं, जो थोड़े॰ लोग कानूनी जकड़-पकड़ में आ जाते हैं वे उन में ब॰ कर दिये जाते हैं; परन्तु बहुसंख्यक अपराधी-समूह, ॰ कानूनी-शिकंजे से बचने में कुशलता प्राप्त कर चुका ॰ चैन की बंसी बजाता रहता है।

'स्वराज्य' तो हो गया परन्तु 'सुराज्य' अभी नहीं ॰ पाया। 'सुराज्य' उस समय समझा जाएगा, जब सा॰ जनता सदाचार-सम्पन्न होकर सुख-शान्ति अनुभव करेगी॰ पद-लोलुपता से 'सत्ता' की कुर्सियाँ हड़पकर कुछ लो॰ के सुख-समृद्धि युक्त होने का नाम 'सुराज्य' नहीं है॰ 'सुराज्य' के लिये सारे देश की जनता को धार्म्मिक बनना॰ पड़ेगा और राजनीति में धर्म्म को प्रमुखता देनी होगी॰ महात्मा गांधी 'सुराज्य' की व्याख्या करते हुए लिखते हैं॰

"सुराज्य का अर्थ है अन्न-वस्त्र बहुतायत।—इतना॰ कि उसके बिना किसी को नंगा भूखा न रहना पड़े। ए॰ बालिका भी घोर अन्धकार में निर्भयता के साथ घूम-फि॰ सके। एक दूसरे की रक्षा तथा आदर करे। स्त्रियाँ माताएँ॰

और बहनें समझी जायें। ऊँच-नीच का भेद-भाव न हो। कोई मन्त्री महलों में न रहे। किसी मन्त्री या अधिकारी को ऊँची तनख्वाहें न दी जाएँ। बड़े-बड़े खर्चीले तथा बरबादी-भरे सरकारी महकमे न हों। रिश्वत लेने का पाप नष्ट कर दिया जाए। शिक्षा मानसिक व्यायाम या दिमागी अय्याशी का नाम न हो; बल्कि उसका अर्थ हो मानवता का विकास और जीवनयापन सम्बन्धी प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायक होना। 'सुराज्य' का अर्थ यह नहीं है कि मुट्ठी-भर लोग तो महलों में रहकर सुख भोगें और करोड़ों बुरी तरह संकट सहें। यदि एक आदमी अपना पेट भरता जाता है और ग़रीबों की परवाह नहीं करता तो वह चोरी करता है। 'सुराज्य' में नीचे से नीचे और ऊँचे से ऊँचे आदमी को आगे बढ़ने का अवसर मिलना चाहिए। न किसी का शोषण किया जाए और न करने दिया जाए। लेखनी और वाणी दोनों स्वतन्त्र रहें।"

महात्मा गांधी ने सुराज्य की यह धर्म्म-मूलक व्याख्या की है। आज सारे उत्पात और उपद्रव 'ज़र' (धन), 'ज़मीन' (धरणी) और 'ज़न' (स्त्रियों) के कारण हो रहे हैं, ऊपर की सुराज्य-व्याख्या में इन तीनों का समाधान है। धर्म्म के सम्बन्ध में महात्मा गांधी लिखते हैं—

"मेरे नज़दीक धर्म्महीन राजनीति कोई चीज नहीं है। धर्म्म के मानी हैं विश्वव्यापी सहिष्णुता का धर्म्म। मैं धर्म्म से भिन्न राजनीति की कल्पना भी नहीं कर सकता। वास्तव में धर्म्म तो हमारे हर एक काम में व्यापक होना चाहिये। धर्म्म का अर्थ है—विश्व की राजनैतिक सुव्यवस्था। बाहर की अपेक्षा भीतरी पवित्रता की ज़्यादा जरूरत है। भीतर अगर घुन लगा हुआ हो तो उस पर बनाया हुआ सर्वथा दोषहीन राज-विधान भी सफ़ेद कब्र-सा होगा। हमें आत्मतुष्टि और आत्मत्याग की भावना बढ़ानी होगी। चरित्र के बिना सारा ज्ञान बुराइयों की जड़ है। नीति, सदाचार और धर्म्म एक ही बात है। इनके बिना मनुष्य-जीवन बालू पर खड़े किये गये मकान की तरह है।"

धर्म्ममय राजनीति और धर्म्ममय जीवन के सम्बन्ध में, उपर्युक्त पंक्तियों में, महात्मा गांधी ने जो भव्य भाव व्यक्त किये हैं, वे प्राचीन वैदिक आदर्श और परम्परा के ही प्रतीक हैं। आज महात्माजी की इन भावनाओं का कितना आदर किया जा रहा है, यह चिन्तनीय और विचारणीय है। कानूनों के बनाने पर तो करोड़ों रुपया बरबाद करना और धर्म्मप्रसार या नैतिकता-निर्माण की ओर ध्यान भी न देना कितने दुःख और आश्चर्य की बात है, हमारे परममान्य वेदों में राजनीति, राजा, राजसभा, राष्ट्र, स्वराज्य, सभा-संसद आदि का विशद विवेचन है। सर्वत्र ही धर्म्म और सदाचार की महत्ता मानी गयी है। उसी ओर महात्मा गांधी ने भी ऊपर संकेत किया है हमारा तो विश्वास है कि यदि धर्म्म का राजनीति में समावेश न किया गया तो 'स्वराज्य' 'सुराज्य' रूप में परिणत न हो सकेगा। आखिर हमने 'स्वराज्य' या स्वतन्त्रता की प्राप्ति धर्म्म के अटल आधार पर ही की है। 'सत्य' और 'अहिंसा' धर्म्म के ही मुख्य अंग हैं। 'सत्याग्रह' आत्मा को सुदृढ़ और सबल बनाकर लोकोपकार के लिये अर्पित करने का नाम है। हमें धर्म्माधार 'सत्याग्रह' द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्त हुई है। हिंसात्मक साधनों से उसकी उपलब्धि नहीं की गयी। यदि 'स्वराज्य, को सुस्थिर रख कर उसे 'सुराज्य' रूप में परिणत करना है तो निश्चय ही धर्म्ममय राजनीति का आश्रय लेना होगा। जिस 'पंच-शील' की इतनी अधिक चर्चा है, वह भी तो धर्म्मपरक ही है। फिर धर्म्म की उपेक्षा या आवर्जना करना कैसे उचित और न्यायसंगत कार्य कहा जा सकता है। राष्ट्रीय नेताओं की धर्म्महीन प्रवृत्ति के विरुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन होने की अत्यन्त आवश्यकता है।

स्वराज्य-संचालन के लिये कैसे व्यक्तियों की आवश्यकता है, इसको निम्नलिखित वेद-मन्त्र में संकेत किया गया है।

आपद् वामीयचक्षसा मित्र वयं सूरयः।
व्यचिष्ठे बहुपाय्ये यतेमहि स्वराज्ये॥

ऋ. ५।६६।६

स्वराज्य के लिये मित्र दृष्टि वाले, विस्तृत दृष्टि के लोग और ज्ञानी लोग ये तीन प्रकार के लोग योग्य होते हैं। अर्थात् आपस में झगड़ने वाले, संकीर्णदृष्टियुक्त, अज्ञानी लोग स्वराज्य चलाने में समर्थ नहीं हो सकते।

पूर्णो राजाऽपिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन्। आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शत शारदाय। अथर्व० १८।४।५३

जो राज्य खाद्य-पेयों का संग्रह कर प्रजा को सुख-सम्पन्न करता, उसका वीर्य, बल और पौरुष बढ़ाता, प्रजा को दीर्घजीवी बनाने का प्रयत्न करता है, वही वास्तविक राजा या राज्य है॥

वैदिक-परिधान-मीमांसा

(ले०—वैदिक गवेषक, श्री० पं० शिवपूजन सिंह जी कुशवाहा, पथिक, बी० ए०, कानपुर)

अब इस बात को सभी विद्वान् मानने लगे हैं कि जगद्गुरु भारत ने ही सम्पूर्ण भूमंडल में ज्ञान फैलाया। आज पराधीन भारत स्वाधीन हो गया है। हमारी दासता की बेड़ियाँ कट चुकी हैं। हमारी मातृभाषा हिन्दी अब राष्ट्रभाषा हो चुकी है, परन्तु अत्यन्त खेद के साथ लिखना पड़ता है कि भारतीयों की वेष-भूषा में अभी अन्तर नहीं पड़ा। वही अंग्रेजों की नकल कोट, पतलून, हैट, नेकटाई अब तक भारतीय अपनाए हुए हैं। सदैव दास मनोवृत्ति के व्यक्ति ही दूसरों की नकल करते हैं। आज तक किसी अंग्रेज को धोती, कुर्ता, पगड़ी पहने किसी ने भी नहीं देखा।

आर्यसमाज के प्रवर्तक **महर्षि दयानन्द जी महाराज** ने स्पष्ट कहा है। "देखो, कुछ सौ वर्षों के ऊपर इस देश में आये हुए यूरोपियनों को हुए, और आज तक यह लोग मोटे कपड़े पहिरते हैं जैसा कि स्वदेश में पहिरते थे; परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा और तुममें से बहुत लोगों ने उनकी नकल कर ली। इसीसे तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं।"[१]

पुनः आप ब्राह्मसमाजियों और प्रार्थना-समाजियों को सम्बोधन करके लिखते हैं—'और जो विद्या के चिह्न यज्ञोपवीत और शिखा को छोड़ मुसलमान, ईसाइयों के सदृश बन बैठना, यह भी व्यर्थ है। जब पतलून आदि वस्त्र पहिरते हो और तमगों की इच्छा करते हो तो क्या यज्ञोपवीत आदि का कुछ बड़ा भार हो गया था?'[२]

जब पाश्चात्य देशवासी अशिक्षित तथा अर्द्धनग्नावस्था में थे उस समय भी आर्यावर्त का परिधान उच्चकोटि का था। इसे प्रतीच्यविद्वानों के शब्दों में ही सुनिएः—

मेजर डी० ग्राह्मपोल लिखते हैं:—"यह भारत समय सभ्य और सुशिक्षित था, जब हमारे पूर्वज की सृष्टि की आदिकालीन पोशाक में इधर-उधर रहे थे।"[३]

१२ अप्रैल सन् १९१७ ई० को अमेरिकन क्लब के प्रीमियर ने अपने व्याख्यान में कहा था "मिस्टर लायड जार्ज द्वारा भाषण में बतलाई गई जातियाँ हमारे शासक अंग्रेज भी, विस्काउन्ट पालाम के शब्दों में जब अर्द्ध बर्बर अवस्था में थे, उस समय अपनी सभ्यता के उच्च शिखर पर आसीन था।"[४]

लार्ड डफरिन ने एक दिन परिधान के सम्बन्ध कहा था—"The west has still much learn from the east in matters dress." अर्थात् पोशाक के विषय में पश्चिम को पूर्व बहुत कुछ सीखना है।[५]

जर्मन यात्री **आर्स्ट्रिजर** कहता है—"भारतीय पो सादी, सस्ती और बहुत आराम देने वाली है।"[६]

सर फ्रिस्किन पेरे का कथन है कि "साड़ी महिलाओं की विश्वप्रसिद्ध पोशाक है। जब एक लड़की सुन्दर साड़ी पहनकर कुँए से जल भरा घड़ा कर चलती है तो वह अत्यन्त प्राचीनकाल की स्मृति के हृदय में जाग्रत कर देती है।"[७]

यात्री जेम्स फोर्वस भी हिन्दू ललनाओं की पोशाक की जी भर प्रशंसा करता है।[८]

धोती की उपयोगिता के विषय में मिसेज कहती हैं—"Any dress more perfect convenient to walk, to sit, to lie in,

१. 'सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास।

२. वही

३. "माडर्न रिव्यू" मासिक पत्र, कलकत्ता, जून १९३४ ई०

४. 'What India wants ?'

५. 'महान् भारत' प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३४, तथा 'वैदिक सम्पत्ति' द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ७६९.

६. 'महान् भारत' प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३४.

७. Birds' eye view in India.

८. See, "Memoirs" 1765 A. D.

would be impossible to invent." ९

अर्थात्—समस्त पोशाकों में धोती पूर्ण है और चलने फिरने, उठने-बैठने में सुविधा देने वाली है। इससे अच्छी दूसरी पोशाक असम्भव है।"

कम्बोडिया की प्राचीन सभ्यता में एक जगह राजा केवल धोती पहने दिखलाया गया है।‡

आज भारतीय नेकटाई पहनना गौरव की बात समझते हैं, पर इसकी वास्तविकता को उनको लेशमात्र भी ज्ञान नहीं है, अन्यथा कभी भी टाई नहीं बाँधते।

टाई के सम्बन्ध में **श्री राम मोहनजी बी. काम.** का एक सुन्दर लेख प्रकाशित हुआ है जो पाठकों के अवलोकनार्थ दिया जाता है—

"शिक्षित-अशिक्षित सभी वर्ग इसको इसी नाम से पुकारते हैं और प्रयोग करते हैं। वैसे 'टाई' अंग्रेजी शब्द है और इसका शाब्दिक अर्थ 'बाँधना' है। संज्ञा होने के नाते इसको बंधन भी कह सकते हैं।

इसका प्रयोग 'ईसा' की मृत्यु फाँसी के बाद सर्वप्रथम इंगलैण्ड से आरम्भ हुआ। भारत में इसका प्रयोग अंग्रेजी राज्य में हुआ। जहाँ-जहाँ अंग्रेजों का राज्य रहा वहाँ-वहाँ इसका प्रयोग स्वतन्त्रता के बाद और भी बढ़ गया है जब कि दासता समाप्ति के बाद, यह दासता का चिह्न है, जो भारत में हर मतावलम्बी बड़े गौरव से प्रयोग करता है। ईसा को फाँसी लगने की तिथि के बाद ईसाइयों ने इसको अपना धार्मिक चिह्नस्वरूप माना।

आज बड़े दुःख के साथ कहना पड़ता है कि जो सिक्ख, मुसलमान अपने धर्म पर इतने कट्टर हैं वे भी टाई प्रयोग करते हैं। एक तरफ तो पगड़ी और केश गुरु नानक देव की निशानी और उस पर मर-मिटने को तैयार। वह मुसलमान जो पाँचों समय की नमाज पढ़ता है। और कुरान में विश्वास करता है, वह टाई बाँधे। टाई तो ईसाई धर्म्म का प्रतीक है। यह तो उनका चिह्न है। दूसरे शब्दों में टाई दासता का प्रतीक है। मुझे तो दुःख होता है जब कि खादीधारी कांग्रेसी टाई लगाते हैं। जिन्हें आजाद कराने का ठेकेदार समझा हुआ है, वे गुलामी में पड़े हैं। अब तक पण्डित नेहरू भी विदेशों में जाते 'टाई' नहीं लगाते है और आई० सी० एस० तथा आई० ए० एस० अफसरों को भी टाई बन्धी देखकर कड़े शब्दों में आलोचना करते हैं। इसी के फलस्वरूप आप आमतौर पर अधिकारी वर्ग में देखेंगे कि टाई लगभग समाप्त है। हमारे राष्ट्रपति-मंत्री भी टाई का प्रयोग नहीं करते हैं। क्या वे पढ़े लिखे नहीं हैं।

सबसे बड़ा दुःख मुझे तब होता है जब हिन्दी के कवि और लेखक विदेशी वेशभूषा में रहते हैं और प्लेटफार्म पर राष्ट्रभाषा का गुणगौरव अलापते हैं। इतना ही नहीं हमारे बहुत से पढ़े-लिखे आर्यसमाजी नेता भी टाई में अपना गौरव समझते हैं। अपने सनातनी और जैनी भाइयों से तो क्या कहें कि वे टाई लगाकर मन्दिर में मत्था टेकना गौरव की बात समझते हैं। टाई बेचारी का कचूमर निकाल दिया है। पहले खुले कालर के कोट पर टाई बाँधी जाती थी। आमतौर पर बाड़ों में प्रयोग में अधिक आती थी। अंग्रेज, ईसाई तथा दफ्तर में जाने वाले प्रयोग में लाते थे। लेकिन अब तो देखिए बन्द कालर के कोट पर टाई कमीज पर टाई, पाजामा-धोती पहने टाई, यह दुःख की बात है।"१०

अब परिधान के सम्बन्ध में वैदिक सभ्यता देखिए। परमपिता परमात्मा की आज्ञा है कि गुप्तांगों को खुला न रक्खा जाय। उसने पशु-पक्षियों के गुप्तांगों को भी पूँछ से ढँक दिया है। इसलिए मनुष्यों को भी उचित है कि वे गुप्तांगों को ढका रक्खें। गुप्तांगों को ढकने के लिए वेद में स्पष्ट आदेश हैं—

"अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर।
मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।"
(ऋग्वेद मं० ८ सूक्त ३३, मंत्र १९.)

---

९. "Ancient and medieval India" Vol. II. P. 358.

‡. "Indian influence in Combodia" P. 134—142; "The cultural heritage of India." Vol. III, P. 106.

१०. मासिक "सुखमार्ग" अलीगढ़, वर्ष ३५, नवम्बर १९५८ ई० अङ्क ११, पृष्ठ ११, में प्रकाशित "टाई" शीर्षक लेख।

अर्थ—"हे नारि ! (अधः पश्यस्व) नीचे देख (मा उपरि) ऊपर न देख। (सन्तरां पादकौ हर) गम्भीरता से पांव रखकर चल। (ते कशप्लकौ) तेरे गुप्तांग (मा दृशन्) किसी को दिखाई न दें। क्योंकि (ब्रह्मा) आत्मा ही स्त्री रूप से तेरे अन्दर (बभूविथ) प्रकट हुआ है †"

नग्न स्त्री को देखना शास्त्रकारों ने भी वर्जित बतलाया है।

"वाराहगृह्यसूत्र" में लिखा है—"आच्छिन्नवस्त्रां विवृतां स्त्रियं न पश्येत्।" अर्थात् ब्रह्मचारी को चाहिए कि वह नंगी स्त्री को कभी न देखे।

अन्य आचार्यों व विद्वानों का यह भी कथन है कि पुरुष को भी नंगा न देखा जावे।

आर्षकाल में वस्त्र बुनने की कला उन्नत दशा में थी।[११] नारियों का मुख्य कार्यवस्त्र वयन था। यथा "वयन्ती वस्त्रं वयन्ती नारीव'—सायण। इससे सिद्ध होता है कि स्त्रियाँ वस्त्र बुनती थीं।

अतएव जो लोग यह कहते हैं कि भारत में यवनों के आने पर आर्यों ने सिले हुए वस्त्रों का पहनना सीखा भ्रम में हैं। सूई का उपयोग कपड़े सीने आदि के कामों में होता था।'[१२]

शतपथकार ने तीन सुइयों का वर्णन किया है। यथा—

"त्रय्यः सूच्यो भवन्ति। लोहमय्यो राजता हिरण्यः।" (शतपथ ब्रा० १३।२।१।३)

तीन प्रकार की सुइयाँ होती हैं, लोहे की, चाँदी की और सोने की।

कैंची शब्द तुर्की भाषा का है। वेदों में कैंची के "भुरिज"[१३] शब्द आया है। स्त्रियों का साधारण साड़ी था जो आधी पहिनी और आधी ओढ़ी जाती थी। बाहर जाने के समय उस पर उत्तरीय (दुपट्टा) रहता।

स्त्रियाँ नृत्य के समय लहँगे पहनती थीं, जिसका "पेशस्" [१४] था। ऐसे वस्त्रों को बनाने वाली स्त्रि 'पेशस्कारी' कहलाती थीं।

यजुर्वेद ३०।९ में तथा तैत्तिरीय ब्रा० ३।४।५। "पेशस्कारी" शब्द आया है। उसका अर्थ Fema embroiderer = कपड़े पर नकाशी का कार्य क वाली स्त्री है।

मथुरा के कंकाली टीले से मिली हुई एक शिला रानी और उसकी दासियों के चित्र अंकित हैं। र लहंगा पहने और ऊपर उत्तरीय धारण की हुई है।[१५]

स्त्रियों के पहनने के लहँगे जैसे वस्त्र को नारे से क जाता था, जिसे 'नीवि' कहते थे। 'नीवि' (unde garment) शरीर के साथ पहनने का वस्त्र।

"यत्ते वासः परिधानं या नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे तत्कृण्मः संस्पर्शेद्रूक्ष्णमस्तु ते॥
(अथर्व० ८।२।१६)

अर्थः—"जो मेरे लिए बीच में पहनने का क शरीर के साथ लेने का कपड़ा किया जाता है, वह (तन्वे शिवं कृण्मः) तेरे शरीर के लिए उत्तम शोभादा करते हैं और यह तेरे मृदु स्पर्श करने वाला होवे।"

† तुलना करो चतुर्वेदभाष्यकार पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ कृत "ऋग्वेद संहिता भाषाभा पंचम खंड, प्रथमावृत्ति, पृष्ठ ४५८ तथा पं० रामगोविन्द त्रिवेदी वेदान्तशास्त्री व पं० गौरीनाथ झा व्याकरणतीर्थ "ऋग्वेद संहिता सरल हिन्दी टीका सहित षष्ठ अष्टक" प्रथम संस्करण पृष्ठ ७४.

इस वैदिक सिद्धान्त से जैन सम्प्रदाय सर्वथा अवैदिक सिद्ध हो गया, क्योंकि इस सम्प्रदाय में सभी तीर्थङ्क को नग्न बतलाया गया है, देखो श्री कामताप्रसाद जैन कृत "दिगम्बरत्व और दिगम्बर मुनि" पुस्तक— लेखक

११. वस्त्र बुनने के प्रमाण देखो—अथर्व १०।७।४२-४३; १४।२।५१; ऋग्वेद ५।४७।६; यजु० १९।८०; ऋ० १०।५३।६; १०।१३०।२; १०।२६।६; २।३८।४; २।३।६; अथर्व० १४।१।४५; ६।९।२.

१२. सूची (सूई) का वर्णन—अथर्व० ११।१०।३; ऋ० १।१९१।७; २।३२।४; यजु० २३।३६; ऐतरेय ब्रा० ३।३७; यजु० २३।३६; शतपथ ब्रा० १३।२।१०।२; १३।२।१०।३; तैत्तिरीय ब्रा० ३।९।६।४; जैमिनीय ब्रा० २।१ जैमिनीय उपनिषद् ब्रा० १।१०।३.

१३. देखो अथर्ववेद २०।१२७।४, ऋ० ८।४।१६.

१४. ऋग्वेद २।३।६.

१५. मासिक "शौण्डिक" फरवरी १९५३ ई. पृष्ठ ५.

"विभद्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त्र निर्णिजम्"

(ऋग्वेद १।२५।१३)

अर्थात्—वरुण (हिरण्ययं, द्रापिं) सोने के कलाबत्तू का नक्काशी का काम किया हुआ चोगा पहनता है और (निर्णिजं) सुन्दर वस्त्र धारण करता है।

वेदों में नक्काशी काम किये हुए वस्त्रों का वर्णन है। यथा—

तुष, झालर, गोट, किनारी, किनारा—(तैत्तिरीय संहिता १।८।१।१॥ २।४।९।१॥ ४।१।१।३ ॥ काठकसंहिता १३।१.)

दशा (Border) किनारी—(शतपथ ब्रा० ३। ३।२।९)

दशा पवित्र (Border) किनारी—ऐतरेय ब्रा० ७।३२, शतपथ ब्रा० ४।२।२।११.)

किनारियाँ, गोट आदि से शोभा लाने की सूचनायें भी शब्द दे रहे हैं। इसके अतिरिक्त कपड़े के अन्त में जो तन्तु खुले रहते हैं उनको ग्रन्थियाँ लगाकर शोभा लाने की सूचना 'प्रगाथ', शब्द दे रहा है। यह शब्द तैत्तिरीय संहिता ४।१।१।३, काठक संहिता २३।१ में है।

इसका अर्थ (**End of cloth, Closely woven ends of a cloth**) कपड़े के अन्त के सूत्रों को विशिष्ट प्रकार से बनाना है।

इसके अतिरिक्त "प्रवर, प्रवार" (बृ० उ० ६।१।१०) वरासी, (का० सं० १५।४) प्राचीनावीत (शतपथ ब्रा० २।४।२।२) इत्यादि अनेक शब्द हैं जो विविध प्रकार के छोटे और मोटे वस्त्रों के दर्शक हैं।

विवाह के लिए जो विशेष वस्त्र होता है उसको "वाधूयं वासः" (**Bridal garment**) कहते हैं। ऋग्वेद १०।८५।३४ तथा अथर्ववेद १४।२।४१ में इसका उल्लेख है। काश्मीर आदि की तरफ वाले कछनी, हाफपैन्ट पहनते थे।[१६]

वृक्ष और पौधों के रेशों के वस्त्र भी बनते थे जो वल्कल कहलाते थे। महाभारत, रामायण आदि में इनका वर्णन मिलता है। ये वस्त्र बहुधा तपस्वी तथा उनकी स्त्रियाँ पहना करती थीं।

सीताजी ने भी वनवास के समय वल्कल धारण किया था।

प्राचीन मौलिक आर्य सभ्यता की पोशाक में नीचे धोती, शरीर में चादर का ओढना, शिर पर केशों का मुकुट और गले में फूलों की माला है।

"अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वो वाससः स्वमंगमभ्यूर्णुते॥"

—(ऋग्वेद १०।८५।३०, अथर्व० १४।१।२७)

अर्थात्—(यत्पतिः) जब पति (स्वं अंगं) अपना शरीर (वध्वः वाससः) स्त्री के कपड़े से (अभिऊर्णुते) लपेटता है तब (अमुया पापया) इस पाप के व्यवहार के साथ (रुशती तनूः) दिखाई देने वाला उसका शरीर (अश्लीला भवति) अपवित्र हो जाता है।

इस मन्त्र पर अनेक भाष्यकारों की सम्मतियाँ—

श्री पं० क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी :—"चमकता हुआ रूप उस पापक्रिया से अश्लील हो जाता है जब कि पति वधू के वस्त्र से अपने अंग को ढक लेता है।"

भावार्थ—"जब पति पुरुषार्थ छोड़कर कामी होकर बुरी स्त्रियों के समान कुचेष्टा करता है तब उस दुर्बलेन्द्रिय का रूप बिगड़ जाता है और वह लज्जा को प्राप्त होता है।"

चतुर्वेद भाष्यकार पं० जयदेव शर्मा, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ :—"(यद) यदि (वध्वः) वधू के (वाससः) वस्त्र से (पतिः) (स्वम् अंगं) अपना शरीर (अभिऊर्णुते) आच्छादित करे तो (अमुया) इस (पापया) पाप या बुरे काम से (रुशती) सुन्दर शोभायुक्त (तनूः) शरीर भी (अश्लीला) गन्दा, मलीन, शोभा-रहित (भवति) हो जाता है। पति कभी अपनी स्त्री के उतरे हुए कपड़े न पहना करे।"[१७]

पं० राजाराम शास्त्री :—उस पापिनी (कृत्या) के साथ चमकता हुआ इसका तन शोभाहीन हो जाता है, पति जब वधू के वस्त्र से अपने तन को ढाँपता है।"

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी :—"जब स्त्री के वस्त्र से पति अपने शरीर को आच्छादित करता है तब इस पापी रीति से सुन्दर शरीर भी शोभारहित होता है।"

---

१६. श्री राधाकुमुद मुकुर्जी "हर्ष" पृष्ठ १७०-१७१.

१७. "अथर्ववेद संहिता भाषाभाष्य" तृतीयखंड, द्वितीयावृत्ति, पृष्ठ ५१३.

भावार्थ—"स्त्री का वस्त्र पुरुष कभी न पहने, यदि किसी ने पहना तो उसका तेजस्वी शरीर भी शोभारहित हो जाता है।"

इस मंत्र से स्पष्ट हो जाता है कि पुरुषों को कभी भी स्त्रियों के वस्त्र नहीं धारण करना चाहिए। इससे यह भी सिद्ध हुआ कि दोनों के वस्त्र भिन्न-भिन्न हैं।

अनेकों भिन्न भिन्न वस्त्र पहनने का वर्णन वेद में मिलता है यथा······

"वसिष्वा हि मियेध्य वस्त्राण्यूर्जापते।
सेमं नो अध्वरं यज।" (ऋग्वेद १।२।१)

अर्थ :—हे (मियेध्य ऊर्जापते) पवित्र और बलों के स्वामिन्! (वस्त्राणि वसिष्व) अनेक वस्त्र पहनो और (नः) हमारे (इमं अध्वरं यज) इस सत्कर्म को करो।"

"पंच रुक्माज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति।" (अथर्व० ९।५।२६)

अर्थात्—सोने के पाँच आभूषण इसके लिए होते हैं और शरीर के लिए कवच तथा अनेक वस्त्र होते हैं।"

स्वदेशी परिधान—हमें स्वदेश के बने हुए वस्त्रों का ही उपयोग करना चाहिए। खादी इसके लिए सबसे उपयोगी, मजबूत समझा गया है।

वेद की आज्ञा है कि—**"युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे युवोरछिद्रा मंतवो हि सर्गाः।"** (ऋ० १।१५२।१)

अर्थात् :—(युवं) आप (पीवसा वस्त्राणि) मोटे अनेक कपड़े (वसाथे) पहनते हैं। तथा (युवोः) आपकी (मंतवः सर्गाः) मननशक्ति के प्रभाव (अच्छिद्राः) दोष-रहित हैं।"

यहाँ मोटे कपड़े से तात्पर्य खादी आदि हो सकती है।

वेद में, 'वर्षनिर्णिजः' शब्द स्वदेशी कपड़े के लिए आता है।

संस्कृत भाषा में, 'वर्ष' शब्द देशवाचक प्रसिद्ध है। 'निर्णिज' शब्द पहनाव, वस्त्रालंकार आदि का द्योतक है।

"अग्निश्रियो मरुतो विश्वकृष्टयः आ त्वेषमुग्रमव ईमहे वयम्। ते स्वामिनो रुद्रिया वर्षनिर्णिजः सिंहा न हेषक्रतवः सुदानवः। (ऋग्वेद ३।२६।५)

अर्थः—"(अग्निश्रियः) अग्नि के समान तेजस्वी (सुदानवः) अत्यन्त दानशील (सिंहाः न हेषक्रतवः) सिंह के समान गंभीर शब्द करने वाले (स्वामिनः) और गर्जना करने वाले (रुद्रियाः) भयंकर (विश्वकृष्टयः मरुतः) सब मनुष्य जो मरने के लिए तैयार वीर (वर्ष-निर्णिजः) स्वदेश की पोशाक पहनने वाले हैं उनसे (उग्रं अव) तेजोमय उग्र संरक्षण का बल (वयं आ ई...) हम प्राप्त करते हैं।"

"वातत्विषो मरुतो वर्षनिर्णिजो
यमा इव सुसदृशः सुपेशसः।
पिशंगाश्वा अरुणाश्वा अरेपसः
प्रत्वक्षसो महिना द्यौरिवोरवः॥
(ऋग्वेद ५।५७...)

अर्थः—(वातत्विषः) वायु के समान बलिष्ठ (... इव सुसदृशः) जोड़े के समान एक जैसे दिखाई देने... (सुपेशसः) सुन्दर रूपवाले (पिशंगाश्वाः अरुणा...) भूरे और लाल रंगों के घोड़ों पर चढ़ने वाले (अरे...) निष्पाप (प्रत्वक्षसः) विशेष शक्तिमान् (वर्षनि... मरुतः) स्वदेशी कपड़े पहनने वाले मरने के लिए ... वीर हैं, इसलिए वे (महिना द्यौः इव उरवः) महि... द्युलोक के समान विशाल हैं।

पांडव शब्द "शतपथ ब्रा० ८।३।५।२१" में ... है। वह श्वेत वस्त्र का वाचक है। पांडव शब्द ही बता... है कि शतपथ के समय रंगीन वस्त्र भी हुआ करते थे।

"तार्प्यं वासः भवति
(शतपथ ब्रा० ५।३।५...)

यहाँ "तार्प्य" शब्द का अर्थ रेशमी अथवा ... वस्त्र है।

यह शब्द अथर्ववेद में भी आया है यथा :

"एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर॥"
(अथर्व० १८।४...)

अर्थः—सविता देव धारण करने के लिए तुझे वस्त्र देता है इसलिए तू नियमों के अनुकूल चलने... के राज्य में (वसानः) रहता हुआ इस (तार्प्य) के... पोशाक को धारण करके चलो।

'तार्प्य' और 'तर्प्य' ये दोनों शब्द एक ही अ... प्रयुक्त होते हैं।

ऊनी वस्त्रों का वर्णन—

"सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिणः
ऊर्णसूत्रेण कवयो वयन्ति।"
(यजु० १९...)

अर्थात्—(कवयः मनीषिणः) कवि मननशील... (मनसा) मन के साथ (सीसेन तन्त्रं) सीसे के...

के साथ ताना फैला कर (ऊर्णासूत्रेण) ऊन के सूत्र से (वयन्ति) कपड़ा बुनते हैं।

"संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम् ॥"
(अथर्व० १४।२।६७)

अर्थ—उत्तम कम्बल के मैल को स्वच्छ कर उस पर बैठें।

मृदु स्पर्श के लिए ऊन की उपमा वेद में आती है:—

"ऊर्णम्रदा" (ऋग्वेद ५।५।४)

ऊन के समान मृदु।

"ऊर्णम्रदसं त्वा स्तृणामि"
(यजुः २।२)

ऊन के समान मृदु तू है, तुझे फैलाता हूँ।

इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं त्वचं पशूनां द्विपदां ......चतुष्पदाम् ।......मा हिंसीः।
—(यजुः १३।५०)

यह (ऊर्णायुं) ऊन देने वाला है, इसलिए इसकी हिंसा न कर।

यहाँ भेड़, बकरी तथा ऊन देने वाले प्राणी को नष्ट न करने की आज्ञा है। ऊन देने वाले भेड़ आदि का दान भी वेद में लिखा है :—

शतं मे गर्दभानां शतमूर्णावतीनां ।
शतं दासाँ अति स्रजः । (ऋग्वेद ८।५६।३)

सौ गदहे, ऊन देने वाले सौ भेड़, सौ भृत्य दिये हैं।

इसमें ऊन देने वाले सौ भेड़ दान देने का उल्लेख है।

"ऊर्णावती युवतिः···"
(ऋ० १०।७५।८)

ऊन जिसके पास बहुत है।

"श्रिये परुष्णीमुषमाण ऊर्णाम्
(ऋग्वेद ४।२२।२)

(श्रिये) शोभा के लिए (परुष्णीं ऊर्णां) परुष्णी ऊन को (उषमाणः) धारण करता है।

उत स्म ते परुष्ण्यामूर्णा वसत शुंध्यवः ।
(ऋग्वेद ५।५२।९)

वे पारुष्णी में शुद्ध होते हुए ऊन के कपड़ों को धारण किया करते हैं।

चोगाः—ऋषि लोग जो अपने साथ मध्य एशिया का वेष लम्बा चोगा लाये—वह चोगा अनेक युगों में धीरे-धीरे परिवर्त्तित होते हुए आज तक भारतवर्ष में चला आता है।"[१८]

पं० जयचन्द्र विद्यालंकार का यह मत सर्वथा ही भ्रमपूर्ण है। इस प्रकार आपने अनेक बातें भ्रमपूर्ण लिखी हैं जिनका उत्तर मैंने अलग से अपनी पुस्तक में दिया है।

वेद मन्त्रों में चोगा का वर्णन है:—

पिशंगं द्रापिं प्रति मुंचते कविः ।
(ऋग्वेद ४।५३।२)

भूरे रंग का चोगा कवि उतार कर रखता है।

"अयं कविमनयच्छस्यमानमत्कं यो अस्य सनितोत नृणाम् ।" (ऋ० १०।९९।९)

यह प्रशंसनीय कवि को चलाता है और उसको चोगा देता है तथा मनुष्यों को भी देता है।

"परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो विभजा वसु ।"
(ऋग्वेद १०।८५।२९)

ब्राह्मणों के लिए चोगा दो और धन वितरण करो।

"वसानो अत्कं सुरभिं दृशे कं स्वर्ण नृतविषिरो बभूथ ।" (ऋग्वेद ६।२९।३)

(सुरभिं अत्कं वसानः) शरीर के योग्य चोगा पहना हुआ (स्वः न) सूर्य के समान (दृशे) दिखाई देता है, हे (नृतो) नेता। तू (इषिरः बभूथ) प्रेरक होता है।

इस मंत्र के (सुरभिम् अत्कं) का अर्थ "शरीर के अनुसार यथायोग्य कोट अथवा चोगा" ऐसा होता है।

द्रापिः—ओवरकोट, सब कपड़ों पर पहनने का चोगा, कोट (ऋग्वेद १।२५।१३, १।११६।१०, ९।८६।१४, ९।१००।९; अथर्व० ३।१३।१)

इसी 'अत्कं' शब्द पर श्री ज्ञानचन्द्रजी ने "शेरवानी"

---

१८. पं० जयचन्द्र विद्यालंकार कृत "भारतीय इतिहास की रूपरेखा प्र० जिल्द २ द्वितीय संस्करण पृष्ठ ११३०। तथा त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' प्रयाग सन् १९३१ ई०, पृष्ठ २२७ में श्री रामकृष्णदास का 'अकबर काल का हिन्दू पहनावा और उसकी परम्परा' शीर्षक लेख। 'भारतीय इतिहास की रूपरेखा पर एक समीक्षात्मक दृष्टि' जयदेव ब्रदर्स, बड़ौदा द्वारा प्रकाशित।

की कल्पना की है।[१९] आप शेरवानी पर लिखते हैं—

"यह कुछ असाधारण लम्बाई का बन्दकोट मात्र है जिसका ऊपर का हिस्सा चुस्त और नीचे का घाघरेदार होता है। ऐतिहासिक पीठिका देखने से पूर्व विषयान्तर होते हुए भी यह कह देना आवश्यक है कि जिस तरह की वस्तु शेरवानी है, वैसी चीज किसी भी मुसलमान देश में नहीं पहचानी जाती और उसका ऊपर का चिपका हुआ खंड ही स्पष्ट बतला देता है कि यह इस्लाम की जन्मभूमि अरब सरीखे उष्ण देश की देन नहीं है। साथ ही यह बता देना भी अत्यावश्यक है कि शेरवानी का उल्लेख इस्लामी धर्मग्रन्थों में नहीं मिलता। वास्तव में शेरवानी पूर्णतया भारतीय वस्त्र है। ऋग्वेद में "अत्क" ऋ० १।६५।७, ४।१८।५ नामक एक वस्त्र का वर्णन आता है, जो अन्तर्वस्त्रों के ऊपर पहनने की ढीलीढाली चीज है। यह करीब-करीब पूरे वस्त्र को ढँक लेता था।

'हर्षचरित' में 'चंडातक' नामक वस्त्र का जिक्र आता है। बाद के ग्रन्थों में "आतक" नामक प्रयोग मिलता है। यदि यह 'अचकन' शब्द भी इसी 'अत्क' या 'आतक' की उत्पत्ति हो तो कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है। सिन्धु सभ्यता की खुदाई में मोहंजदाड़ो में एक ऐसी प्रतिमा मिली है, जो लम्बा सा वस्त्र पहने है। वह वस्त्र कमर के पास रस्सी से बँधा है।[२०] इससे स्पष्ट है कि वह ऊपर चुस्त और नीचे घाघरेदार हो जायगा। यहाँ यह भी ध्यान रखने की चीज है कि इस वस्त्र में जो क्रिया ऊपर की रस्सी से बाँध कर की गई है, शेरवानी में वही बगल के बन्द से की जाती है।

'धर्मसूत्र'[२१] तथा बौद्ध ग्रन्थों[२२] में 'कंचुक' नाम के वस्त्र का प्रयोग मिलता है। यह पुरुषों के पहनने के लिए लम्बा-सा वस्त्र होता था। मौर्य, शुंग और शतवाहन काल में भी उक्त प्रकार के कंचुक का प्रयोग मिलता है।

भरहुत में दो स्थानों पर इसके चित्रण मिलते। यहाँ के द्वार स्तम्भ पर एक मूर्ति है। उसके पास एक सेवक † की मूर्त्ति है जो पूरी आस्तीन का वस्त्र हुए हैं। बगल में उसके छोर गोल कटे हैं। आस्तीन, कफ और खुले हुए छोर फीते सरीखी वस्तु संवारे हुए है। इसमें मूर्त्ति पूरी आस्तीन का वस्त्र है, जो जंघे तक पहुँचता है।

यह दो स्थानों पर बंधा है—एक गले के निकट दूसरा कमर में। कोट या अचकन सरीखा वस्त्र पह उस समय काफी प्रचलित था। शुंगकाल की मूर्त्तियां इसकी साक्षी हैं। भीटा से मिली मूर्त्ति[२३] कल की तरह कोट पहनी है। वह काफी लम्बा है उसके सीने पर गांठ देने के लिए घुण्डियां लगी हैं।

सांची की मूर्त्तियों में भी इस ढंग के वस्त्र देखने मिलते हैं। राजाओं के अंगरक्षक पूरी आस्तीन का वस्त्र पहने हैं। तीर चलाते समय ये लोग अपनी आ मोड़ लेते हैं। ईस्वी सन् से चौथी सदी तक के का भी गान्धार कला की मूर्त्तियों में पूरी आस्तीनों के पहने मूर्त्तियां हैं।[२४]

मथुराकला में भी शक शासक प्रायः लम्बा वस्त्र पहनते थे[२५]। समुद्रगुप्त की जो आज भग्न मूर्त्ति है, उसमें उसने बिल्कुल शेरवानी से ही मिलती चीज पहन रक्खी है।

पायजामा—इसके विषय में आप लिखते हैं "इसकी विशेषता तो यही है कि इसकी टांगें सिली र हैं तथा यह कमर में नाड़ा डाल कर पहना जाता है इसके कई प्रकार होते हैं, यथा—चौड़ा, ढीला, सल नाटा, ऊँचा इत्यादि"[२६]।

मुस्लिम संस्कृति में तो घुटने और पिण्डी के बीच ही अधोवस्त्र सुन्नत है। वैदिक साहित्य का 'वासः' अथ

१९. मासिक पत्र 'विशाल भारत' कलकत्ता, भाग ३९ मई १९४७, अंक ५, पृष्ठ ३२३ से ३३४ तक प्रकाशि 'शेरवानी और पायजामा" शीर्षक लेख।

२०. मैके "फरदर एक्सकेवेशन्स ऐट मोहंजदाड़ो"।

२१. गूलर अनुवाद 'आपस्तम्बधर्मसूत्र'।

२२. 'भिक्खुनी पातिमोक्खः महावग्ग'।

†. डाक्टर बरुआ कृत "भरहुत"

२३. "आर्केलाजिकल सर्वे रिपोर्ट"

२४. फूशे "गन्धार की बौद्ध कला" (फ्रेञ्च में)

२५. "आर्केलाजिकल सर्वेरिपोर्ट"। अग्रवालकृत "मथुरा संग्रहालय की हैन्डबुक"

२६. पायजामे के और भी कई भेद होते हैं—"सुथना, तमान, इजार, चूड़ीदार, अरबी, कलीदार, पेशावरी नैपाली आदि" देखो—"संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर" चतुर्थ संस्करण पृष्ठ ७९१, कालम १.

(१४।२।७०) नामक वस्त्र कमर के नीचे कस कर पहना जाता था। हड़प्पा में भी एक ऐसी मूर्ति मिली है, जो जाँघिया[२७] की ही तरह वस्त्र पहने है। ई० पूर्व ३२० से ईस्वी सन् के प्रारम्भ तक घुटने तक के कस कर पहननेवाले वस्त्रों के उदाहरण मिलते हैं।[२८] गान्धार कला में सलवार[२९] भी पहने जाते थे तथा जांघिया का भी उपयोग होता था। मथुराकला में भी पायजामे[३०] प्रयुक्त होते थे। बच्चों को जाँघिया पहनाया जाता था। हर्ष के साथियों में भी पायजामा पहनने का प्रमाण मिलता है।[३१]

श्री नगेन्द्रनाथ वसु, प्राच्यविद्यामहार्णव, तत्त्व-चिन्तामणि, शब्दरत्नाकर, एम. आर. ए. एस. लिखते हैं—पाजामा (फा. पु.) पैर में पहनने का एक प्रकार का सिला हुआ वस्त्र। इससे टखने से कमर तक का भाग छिपा रहता है। इसके टखने की ओर के अन्तिम भाग को मुहरी या मोरी, जितना भाग एक पैर में होता है उसे पायचा, दोनों पायचों को मिलाने वाले भाग को मियानी, कमर की ओर अन्तिम भाग को जिसमें इजारबन्द नेफा रहता है, और जिस सूत या रेशम के बन्धनों को नेफे में डालकर कसते हैं उसे इजारबन्द कहते हैं। पाजामे के कई भेद होते हैं। चूड़ीदार, बरदार, अरबी, पतलूननुमा, कलीदार, पेशावरी, काबुली और नेपाली। चूड़ीदार पाजामा घुटने के नीचे इतना तंग होता है कि सहज में पहना या उतारा नहीं जा सकता। जब यह पहना जाता है, तब घुटने के नीचे बहुत से मोड़ पड़ जाते हैं। इसके दो भेद होते हैं—आड़ा और खड़ा। आड़े की काट नीचे से ऊपर तक आड़ी और खड़े की खड़ी होती है। कभी-कभी इसमें मोहरी की तरफ तीन बटन लगते हैं। उस दशा में मोहरी और भी तंग रखी जाती है। बरदार पाजामा घुटने के नीचे और ऊपर बराबर चौड़ा होता है। इसकी एक-एक मोहरी एक हाथ से कम चौड़ी नहीं होती। अरबी पाजामे की मोहरी चूड़ीदार से अधिक ढीली होती है और यह अधिक लम्बा न होने के कारण सहज में पहन लिया जाता है। आजकल इसी पाजामे का रिवाज अधिक है। कलीदार या जनाना पाजामा नेफे की तरफ कम और मोहरी की तरफ अधिक चौड़ा रहता है। इसके नेफे का घेरा १ गज और मोहरी का अढ़ाई गिरह अधिक होता है। इसमें बहुत सी कलियाँ होती है। इन कलियों का चौड़ा भाग मोहरी की ओर और तंग भाग नेफे की ओर होता है। पेशावरी कलीदार का प्रायः उलटा होता है। काबुली और नेपाली भी इसी प्रकार के होते हैं।

पाजामे का व्यवहार इस देश में कब से आरम्भ हुआ, ठीक ठीक मालूम नहीं। अधिकांश लोगों का ख्याल है कि मुसलमानों के साथ यहाँ आया। पूर्व समय में यहाँ के लोग धोती पहना करते थे। परन्तु पहाड़ियों और शीतप्रधान देशों में आजकल इसका जितना व्यवहार है, उससे सन्देह हो सकता है कि पहले भी उनका काम इसके बिना न चलता रहा होगा। फिलहाल हिन्दू मुसलमान दोनों पाजामा पहनते हैं, पर मुसलमान अधिक पहनते हैं।[३२]

डा० भूपेन्द्रनाथदत्त अपने एक लेख[३३] में लिखते हैं—

"दसवीं सदी के समय इब्न हौकल और इस्ताखरी जैसे अरब और ईरानी यात्री सिन्ध में मंसूरा के अरब उपनिवेश का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि अरब लोग भारतीयों की तरह गलमोछे रखते थे और भारतीयों की ही तरह चोगा और पाजामा पहनते थे। हिन्दुओं में चोगा, चपकन और सिलवार वास्तव में प्राचीन शकों से लिए गए हैं। भारत में नागार्जुन कोण्डा की शकमूर्तियों और अफगानिस्तान में पाई गई मूर्तियों को देख कर इसकी सच्चाई साबित हो जाती है। इसके अतिरिक्त मुसलमानों की अचकन और सलवार या इज़ार भी प्राचीन शक पहनावा था जो हिन्दुओं के द्वारा मुसलमानों ने अपनाया।"

यहाँ पर श्री दत्त महोदय ने चोगा, चपकन, सलवार आदि को शकों का परिधान प्रदर्शित किया है, परन्तु

---

२७. मैके : इण्डस वैली सिविलीजेशन। २८. फर्गूसन : ट्री एण्ड सर्पेण्ट वर्शिप।

२९. फूशे : गान्धार की ग्रीक बौद्ध कला (फ्रेंच में)। ३०. आर्केलाजिकल सर्वेरिपोर्ट।

३१. फर्गूसन। ३२. देखो. हिन्दी विश्वकोष, त्रयोदश भाग, पृष्ठ १९५, १९६

३३. मासिक पत्रिका 'विश्ववाणी' प्रयाग, वर्ष ८, भाग १५, जनवरी १९४८ ई०, पृष्ठ १७ कालम २ में प्रकाशित 'भारत की मौलिक एकता' शीर्षक लेख.

राजर्षि मनु के कथनानुसार शक भी क्षत्रिय हैं यथा—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
पौण्ड्रकाश्चौड्द्राविड़ाः काम्बोजा यवनाः शकाः ॥
(मनुस्मृति १०। ४३, ४४)

इससे उपर्युक्त पहनावा भारतीय संस्कृति की ही देन है।

श्री वृन्दावनलाल वर्मा, एडवोकेट अपने 'हंसमयूर' नाटक की भूमिका में लिखते हैं कि पाजामा भारतीय परिधान है।

अतः जो लोग चोगा, चपकन, शेरवानी, पाजामा, सलवार प्रभृति को मुस्लिम संस्कृति की देन समझते हैं, वे भ्रम में हैं।

श्री भास्करनाथ मिश्र निर्मोही, एम० ए०, बी० ए० आनर्स अपने "गुप्त कालीन समाज" शीर्षक लेख[३४] में लिखते हैं "सम्राट् समुद्रगुप्त के सिक्कों से पता चलता है कि राजाओं की वेश भूषा में बहुधा मुकुट, लम्बे कोट, पायजामा तथा कमरबन्द आदि होते थे। रानियाँ विशेषकर घाँघरा और करधनी का प्रयोग करती थीं।

पगड़ी (Turban) हिं० स्त्री० उष्णीष, पाग, चीरा, साफा।[३५]

वह लम्बा कपड़ा जो सिर पर लपेट कर बाँधा जाता है।......[३६]

"विशानं वासोऽहरुष्णीषं" (अथर्व १५।२।५)

उपर्युक्त वेदमंत्र में "उष्णीष"[३७] शब्द आया है। यह शब्द सिर के ऊपर बाँधने के साफे का वाचक है।

श्रीनगेन्द्रनाथ वसु 'प्राच्यविद्यामहार्णव' ने 'उष्णीष, पगड़ी के लिए व्यवहार किया है।

अतएव वैदिक सभ्यता में नंगे सिर भ्रमण करना उचित नहीं समझा जाता वरन् सिर पर पगड़ी होनी चाहिए।

वर्तमान काल में भी हिन्दुओं की एक शाखा पगड़ी पहनना अपना धार्मिक चिह्न और कर्तव्य हैं। पंजाब के अधिकांश हिन्दू पगड़ी पहनते हैं।

महामहोपाध्याय डा० गौरीशंकर हीराचन्द्र ओ डी० लिट्० वैदिक काल के परिधानों का वर्णन हुए लिखते हैं—"सिर पर बाँधने के वस्त्र को, 'उ पगड़ी या साफा कहते थे।"[३८]

पुनः आप मध्यकालीन भारतीय परिधान का करते हुए लिखते हैं कि:—

"साधारण लोग (उष्णीष) पगड़ी बाँधते थे।"[३९]

पं० जयचन्द्र विद्यालंकार, आर्य-जीवन और का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि:—

"वेश भी बहुत सादा था। ऊपर-नीचे के उत्तरीय और अधोवस्त्र होता था। उष्णीष या पगड़ी रिवाज था।"[४०]

पुनः आप सातवाहन समृद्धि और संस्कृति का करते हुए लिखते हैं—"सातवाहन युग का भारतवर्ष कि रोम की सभ्य मंडली को पहनने का कपड़ा पहुँचा था, तब उसकी अपनी वेश भूषा भी निश्चय ही परिष्कृत थी। इस युग में पूर्वोल्लिखित मूर्त्त दृश्यों में वेश-भूषा का नमूना मिलता है। प्रायः खुले और कपड़े पहनने का रिवाज था, और समूचे देह को छिपा अभीष्ट न माना जाता था। सिले कपड़ों का विशेष रिवा नहीं दिखता, किन्तु श्रेष्ठियों और अन्य धनाढ्य व्यक्तियों मस्तक सुन्दर रत्नखचित पगड़ियों से ढँके रहते और भी वैसी पगड़ियाँ पहनती थीं।"[४१]

---

३४. मासिक पत्रिका "मानसी" लखनऊ, वर्ष १ नवम्बर सन् १९४७ ई०, अंक १, पृष्ठ ६०, ६१

३५. "हिन्दी विश्वकोष" द्वादश भाग, पृष्ठ ५२१, कालम १

३६. "संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर" चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ७४६

३७. तुलना करो, अथर्व० १५।२।१, काठक संहिता १३।१०, ऐतरेय ब्रा० ६।१, शतपथ ब्रा० ३।३।२।३, षड्विं ब्रा० ३।८।२२।

३८. "राजपूताने का इतिहास" जिल्द पहली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १७.

३९. "मध्यकालीन भारतीय संस्कृति" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४४

४०. "भारतीय इतिहास की रूपरेखा" जिल्द पहली, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ २५२.

४१. वही 'द्वितीय जिल्द' द्वितीय संस्करण पृष्ठ ११३०.

श्री प्रो० बी. एन. लुणियाँ एम. ए., एल. टी., होल्कर कालेज, इन्दौर, वैदिक युग का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"Both sexes wore turbans"[४२] अर्थात्—दोनों जातियाँ पगड़ी पहनती थीं।

प्रो० बी. एल. शर्मा एम. ए. अध्यक्ष, इतिहास विभाग, एन. आर. ई०. सी. कालेज खुरजा लिखते हैं—

"आर्यों का वेश-भूषा बहुत साधारण था। वे लोग कपड़ा बुनने में बड़े कुशल थे। पुरुष पगड़ी भी बाँधते थे। कपड़े कपास, ऊन और रेशम के बुनते थे[४३]।

पं० वासुदेव उपाध्याय एम., ए., गुप्तकालीन भौतिक जीवन का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि :—"साधारण मनुष्य सिर पर उष्णीष (पगड़ी) तथा राजा लोग मुकुट धारण करते थे।"[४४]

डा० सुबिमलचन्द्र सरकार एम. ए., डि. फिल्. आक्सन अपने "वैदकालीन शिरोभूषण और पादत्राण" शीर्षक लेख[४५] में लिखते हैं :—"यह ध्यान देने योग्य बात है कि 'उष्णीष' (पगड़ी) प्राचीन वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलता।"

परन्तु आप अगली पंक्ति में ही अपनी बात का खंडन करते हुए लिखते है कि "यजुर्वेद संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में भी कहीं-कहीं इसकी चर्चा की गई है। परन्तु वह भी व्रात्यों और राजाओं के सम्बन्ध में।

पुनः—"ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि नाग ऋषि (द्रष्टा) 'उष्णीष' की तरह के रूमाल से अपनी आधी आँख ढकी रखते थे। सम्भवतः सिर के चारों ओर बँधा हुआ यह रूमाल प्रारम्भ में ब्राह्मणकालीन 'उष्णीष' ही था। अतः जब शासक श्रेणी के राजकुमार अपने संस्कारों में सम्मिलित होते थे तब यह ब्राह्मण और क्षत्रिय एक विशिष्ट प्रकार की पगड़ी बांधा करते थे। ऐसे अवसरों पर राजसिंहासन भी पौरोहित्य-सम्बन्धी यज्ञादि संस्कारों के अनुसार नदी तट की पवित्र सामग्रियों से, अवसरानुकूल निर्मित होते थे। पुरोहितों की तरह देवी-देवताओं के साथ भी यही बात थी। ब्रह्मदेशीय तथा कोलार देशीय स्त्रियों की सी, इन्द्राणी भी बहुरंगे चित्रों से सुशोभित 'उष्णीष' धारण करती थी।"

यहाँ आठ विद्वानों ने 'उष्णीष' का अर्थ 'पगड़ी' ही किया है, पर डाक्टर रामजी उपाध्याय एम० ए०, डी० फिल्०, सागर विश्वविद्यालय, सागर 'उष्णीष' का अर्थ "टोपी" करते हैं। आप लिखते हैं:—"सिर पर वैदिक काल में लोग उष्णीष (टोपी) पहनते थे।"[४६]

उपाध्याय जी का 'उष्णीष' का अर्थ टोपी करना हास्यास्पद है।

गांधी टोपी—आजकल पगड़ी के स्थान पर अधिकतर गांधी टोपी पहनते हैं, फिर भी पंजाब और महाराष्ट्र में पगड़ी पहनने की प्रथा पायी जाती है। लोकमान्य पं० बाल गंगाधर तिलक और राजा राममोहन राय सिर पर पगड़ी धारण करते थे।

गांधी टोपी का इतिहास क्या है, इसे बहुत कम लोग जानते हैं। इस सम्बन्ध में श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के साप्ताहिक पत्र "आर्य"[४७] में प्रकाशित हुआ है कि :—"गांधी टोपी आज हमारे वेश का अंग है पर गांधी टोपी हमारे जीवन में कहाँ से आई? यह कितने आश्चर्य की बात है कि इसका आविष्कार दक्षिणी अफ्रिका की जेल के उस सुपरिन्टेन्डेन्ट ने किया, १९१० में गांधीजी जिसके कैदी थे।

सत्याग्रही के रूप में जब गांधीजी जेल गए तो वहाँ दो तरह के कैदी हो गए—गोरे और काले। सुपरिन्टेन्डेन्ट ने कालों की अलग पहचान के लिए यह सफेद टोपी बनवायी और सबसे पहली टोपी गांधीजी को दी। गांधीजी को इस टोपी पर इतना गौरव था कि वे जेल से बाहर आकर भी इसे पहनने लगे और यों इसका नाम गांधी टोपी पड़ गया।"

पं० कालूराम शास्त्री लिखते हैं :—आप शिरोवेष्टन को ही ले लीजिए, बंगाली नंगे सिर रहते हैं, नैपाली

४२. "इवोल्यूशन आफ इंडियन कलचर" प्रथम संस्करण, पृ० ५७.

४३. "भारतीय संस्कृति का विकास" प्रथम संस्करण, पृष्ठ २८.

४४. "गुप्त साम्राज्य का इतिहास" द्वितीय खंड, प्रथम संस्करण, पृष्ठ २३२,

४५. मासिक पत्रिका "गंगा" का "पुरातत्त्वांक" प्रवाह ३ जनवरी सन् १९३३ ई० तरंग १, पृष्ठ ९५ से १०२ तक।

४६. "भारत की प्रचीन संस्कृति" प्रथम संस्करण पृष्ठ ७७.

४७. "आर्य" अम्बाला छावनी वर्ष ३३ अगस्त ३१ सन् १९५२ ई० अंक १७ पृष्ठ ८ कालम १।

अपने देश की टोपी लगाते हैं, सीमाप्रान्तीय जनता डुपट्टे बाँधती है तो राजपूताना और दक्षिण देश निवासी पगड़ी। कहीं हजार डेढ़ हजार रुपए तनख्वाह हो गई तो सिर पर हैट, नहीं तो फि.ल्ट कैप। काँग्रेस वाले गांधी टोपी लगाने लगे। भारतीयों का एक लिबास ही न रहा। जब हम इस पर विचार करते हैं, तो यही समझते हैं कि शिर पर हैट लगाना योरोपियन लोगों की नकल करना है। फिल्ट कैप चन्द दिन से चली है और पैरों के नीचे रहने वाले चमड़े को शिर पर रख देती है, इस कारण धार्मिक भारतवासी इससे नफरत करते हैं। गांधी टोपी कम कीमत और मजबूत होती है, किन्तु यह टोपी हिन्दुओं की नहीं वरन् मुसलमानों की है। पहिले इसको मुसलमान लगाते थे और इसका नाम किश्तीनुमा टोपी था। इस मुसल्मानी पोशाक को गांधी ने सिर पर रख लिया, बस अब क्या था विचारशून्य मनुष्य यह समझ बैठे कि यह मुसलमानी टोपी ही देश को स्वराज्य दिलावेगी, इतना समझ कर लगाने लगे। यह कोई बात नहीं कि देश के किसी प्रतिष्ठित मनुष्य को हिन्दू पोशाक छोड़ते देख कर हम भी छोड़ दें। **हिन्दुओं का असली प्राचीन शिरोवेष्टन पगड़ी है।** प्राचीन काल में बाल, वृद्ध और युवा सभी हिन्दुओं के सिर पर पगड़ी दिखलाई देती थी। अब भी गुजरात, काठियावाड़, महाराष्ट्र, राजपूताना, दिल्ली, मथुरा आदि के हिन्दू इसको धारण करते हैं। पगड़ी सिर पर रखनेवाले हिन्दुओं की संख्या साफे से भी अधिक है। जब यह पगड़ी की संख्या साफे से भी अधिक है तो फि.ल्ट कैप आदि कोई भी शिरोवेष्टन इसकी बराबरी कैसे कर सकेगा।"[४८]

अतः गांधी टोपी पहनना धार्मिक दृष्टिकोण से अच्छा नहीं है।

श्रीयुत रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य, एम. ए. महाभारतकालीन सभ्यता का वर्ण करते हुए लिखते हैं :—"महाभारत के समय भारतीय आर्य पुरुषों की पोशाक बिल्कुल सादी थी। दो धोतियाँ ही उनकी पोशाक थीं। एक धोती कमर के नीचे पहिन ली जाती थी और दूसरी शरीर पर चाहे जैसे डाल ली जाती उल्लिखित दोनों वस्त्रों के सिवाय भारतीय आर्यों पोशाक में और कपड़े न थे। आजकल स्त्रियाँ लहँगे आदि वस्त्र पहनती हैं वैसे उस समय न थे। की तरह, पर उनके वस्त्रों से लम्बे होते थे।"[४९]....

महाभारत काल में भिन्न-भिन्न रंगीन वस्त्रों उल्लेख है। यथा—

तस्य कार्ष्णीवसं वर्म हेमचित्रं महर्द्धितम्।
पीतरक्तासितसितैर्वर्मवासोभिश्च सुवेष्टितम्॥
(महाभारत, द्रोणपर्व अ० १२७ श्लोक

अर्थात्—भीम के कवच का वर्णन करते हुए है—"वह लोहे का बना हुआ था। सोने के तारों से पर चित्रकारी की हुई थी। पीला, लाल, श्वेत और इन चार रंगों से रंगे हुए कपड़े द्वारा वह हुआ था।"

महाराज युधिष्ठिर के लिए अन्य देशीय राजा द्वारा लाये गये उपहारों का वर्णन देखने से ज्ञात होता कि उस समय सूती, ऊनी अनेक वस्त्र का व्यवसाय बहुत उन्नत हो चुका था यथा—

एवं बलिं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च।
शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम॥
(महाभारत, सभापर्व अ० ५१ श्लो०

अर्थात्—कार्पासिक देश (जहाँ पर कपास उत्पन्न होती है) के जो सैकड़ों दास, दासियाँ उप लेकर आई थीं, वे सभा में प्रवेश ही न पा सकीं।

"मणिरत्नानि भास्वन्ति कांचनं सूक्ष्मवस्त्रकम्।"
(महाभारत, सभापर्व अ० ५२ श्लो०

चोल और पांडव देश के लोग उपहार में हीरे-मो और महीन वस्त्र लाए।[५०]

शतञ्च कुथास्तत्र सिंहलः समुपाहरत्॥
(महाभारत, सभापर्व अ० ५२।

सिंहल देश से सैकड़ों शानदार गद्दे आये थे।

"दाक्षिणात्यः सनह्ने स्रगुष्णीषे च मागधः॥
(सभापर्व अ. ५३।

४८. मासिक पत्र "हिन्दु" अमरौधा, भाग ६, जुलाई सन् १९२१ ई०, अंग १२ पृष्ठ ४४७.
४९. "महाभारत-मीमांसा" पृष्ठ २६३, २६४.
५०. श्रीचिन्तामणि विनायक वैद्य, एम० ए० कृत "मध्ययुगीन भारत" भाग ३, पृष्ठ ४०९.

दक्षिण देश का राजा अपने साथ पेटियाँ, मालाएँ और पगड़ियाँ लाया।

"ऊर्णांचरांक बचैव कीटजं पदजं तथा।
सूक्ष्मं वस्त्रं सकार्पासं आविकं मृदु चाजिनम्॥२७॥

हिमालय वासियों ने हिमालय के पहाड़ी बकरों की ऊन के वस्त्र और सुन्दर सूत तथा रेशम के वस्त्र उपहार में दिए।

"ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य प्रददते करम्"॥१६॥
(सभापर्व अ० ५३.)

उत्तर देशवासियों ने अपने भेंट व दिव्य वस्त्र, गहने, दुशाले और मृगचर्म दिए।

श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकरजी, महाभारत-कालीन देवों के वस्त्रों का वर्णन करते हुए लिखते हैं—"इन्द्र सम्राट् का वस्त्र भी सुन्दर, उसका चोगा जरतारी का नकाशीदार और उत्तरीय भी जरतारी का नकाशीदार था। इनके शिरस्त्राण और उष्णीष और साफे का वर्णन भी ऐसा ही सुन्दर है। मरुतों के साफे तो बहुत ही सुन्दर होते थे तथा शमले भी मनोहर होते थे। अश्विनी कुमारों की सुन्दरता सर्वत्र प्रसिद्ध है। तात्पर्य देवों के कपड़े-लत्ते जब हम देखते हैं तो उनके सुन्दर और मनोहारी वस्त्रों का स्पष्ट वर्णन हमें निश्चय से कहता है कि त्रिविष्टप के देव वस्त्रों की सभ्यता के अन्दर आ चुके थे। भूटान के भूटिया लोगों की सभ्यता चमड़े पहनने की थी और उसी समय त्रिविष्टप के देव उमदा वस्त्र पहनने की अवस्था में पहुँच चुके थे।"[५१]

"उष्णीषैश्च तथा चित्रैः।"
(महाभारत, भीष्मपर्व अ० ७ श्लो० ७)

यहाँ योद्धाओं की पगड़ियों का वर्णन है।

"रामायण-काल में रेशमी वस्त्र पहनने का रिवाज अत्यधिक था।"[५२]

"सीताजी ने जिस समय नवोढ़ा (नव विवाहिता स्त्री) रूप में दशरथ के राजमहल में प्रवेश किया था, उस समय उसने रेशमी वस्त्र पहन कर ही उसका स्वागत किया था। इसी तरह भरत जिस समय श्रीरामचन्द्रजी से भेंट करने के लिए गये, उस समय उनकी पोशाक भी रेशमी ही थी। रावण सोने के समय भी रेशमी वस्त्र पहनता था।

सीताजी जिस समय दण्डकारण्य में विरह-विह्वल बैठी थी, उस समय भी उनके शरीर पर रेशमी ही साड़ी थी।"[५३]

"रामायण के अयोध्याकाण्ड के वर्णन से भी यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उस समय साधारण दासी की साड़ी तक रेशमी ही थी।"[५४].

कौटिल्य अर्थशास्त्र में मौर्य-काल में ऊनी वस्त्र सोलह प्रकार के बतलाये गये हैं। उनमें पलंगपोश (तालि छाका), अंगरखे (बारावाण), संपुटिका, परदे (लम्बार), दुपट्टे (प्रच्छापट्ट) तथा गलीचे (सत्तालिका) आदि का समावेश होता था।

संपुटिका—[५५] पं० गणपति शास्त्री की टीका के अनुसार इसके अर्थ होते हैं—संपुटिका जंघात्राणं सुक्थणाभिधानमिति क्वचिट्टीकादर्शे लिखितं, सन्थनमित्यन्यत्र लिखितं दृष्यते। संपुटक जंघों की रक्षा के लिए एक वस्त्र विशेष होता था। कोई-कोई टीकाकार इसे सुथना या संथन मानते हैं। पाजामे के लिए आज दिन भी सुथना (संस्कृत सूत्रनद्ध) शब्द का प्रयोग होता है।

"इनके सिवा दक्षिण, मदुरा, कोंकण, कलिंग, काशी, वंग, कौशाम्बी तथा माहिष्मती की रूई के वस्त्र सर्वोत्कृष्ट होते थे।"[५६]

जूते—'चर्म' का वर्णन वेदों में कई स्थलों पर आया है।

"चर्मकार प्रत्यञ्चा, गोफना, रथ कसने की बद्धियाँ, रास, चाबुक या मशक (दृति) आदि चमड़े का सामान तैयार करता था। चमड़ा कमाने की कला भी ज्ञात थी।"[५७]

---

५१. "महाभारत की समालोचना" द्वितीय भाग, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १८७.

५२. Samadar—"economic condition of ancient India" PP· 77.

५३. खादी मीमांसा, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ १५.

५४. वही, पृष्ठ १५. ५५. ग० शा०, अर्थशास्त्र १, पृष्ठ १८४.

५६. श्रीसतीशकुमारदासकृत "दि इकानामिक हिस्ट्री आफ एनसियन्ट इंडिया" पृष्ठ १४५.

५७. "वैदिक इण्डैक्स" १।२३४,२५७; "हिन्दू सभ्यता" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ७८-७९.

"वैदिक काल में चमड़े का काम भी उन्नति पर था। ऋग्वेद में चर्मकार को चर्मम्न कहा गया है। उसमें चमड़े के ऐसे थैलों का वर्णन है जिनमें दूध, दही, मदिरा आदि तरल पदार्थ रखे जाते थे।"[५८]

"शतपथ ब्राह्मण में खूँटी गाड़कर चमड़ा फैलाने का वर्णन मिलता है। इससे स्पष्ट है कि उस समय भी चमड़ा बनाया जाता था और उसकी बनी वस्तुएँ दैनिक व्यवहार में आती थीं।"[५९]

"वैदिक काल में पैर को सर्दी-गर्मी से बचाने के लिए 'पादत्राण' पहनने का अनेक बार उल्लेख मिलता है। युद्ध के अवसर पर सैनिकों के लिए पादत्राण पहनने की चाल थी। सेनानी लोग पैर से लेकर जंघा तक की रक्षा करने के लिए एक विशिष्ट प्रकार के 'पादत्राण' पहनते थे (वटूरिणा-पदा—ऋ० १।१३३।२)। अथर्व ५।२१।१० में उल्लिखित 'पत्सङ्गिणी' एक प्रकार का पादत्राण प्रतीत होती है जिसे सैनिक लोग दूर जाने के लिए या शत्रु पर आक्रमण करने के अवसर पर पहना करते थे। पिछले समय में जूते का बोधक 'उपानह' शब्द यजुर्वेद की संहिता और ब्राह्मण में (तै० सं० ५।४।४।४; शत० ब्रा० ५।४।३।१९) उपलब्ध होता है। जूता मृग या शूकर के चाम का बनाया जाता था (वाराही उपनिषद्; शत०)। व्रात्यों के जूते कुछ विलक्षण प्रकार के होते थे। उनके जूते काले और नुकीले हुआ करते थे (कर्णिन्यौ-कात्या० श्रौ० सू० २२।४)। वैदिक ग्रन्थों के उल्लेख से स्पष्ट है कि माथे पर चमकीली पगड़ी और पैर में काले नोकदार जूता पहनने वाले व्रात्य लोग उस समय शौकीनों में गिने जाते थे। छाता (छत्र) और छड़ी (दण्ड) आर्यों के नित्य सहचर थे।"[६०]

डॉ० सुविमलचन्द्र सरकार एम० ए० डी० फिल्० ... लेख[६१] में लिखते हैं:—

"ऋग्वेद के 'मंत्र' अथवा भारी "वाटूराणपदा" ... युद्ध क्षेत्र में सेनानियों द्वारा व्यवहृत विशेष आवरण ... बोध होता है, जिससे उनके पाँव से जंघा तक की ... होती है।"

"अथर्ववेद में भी लिखा है कि, इससे कुछ मिलती जुलती, पैर में बाँधने के लिए पत्-संगिनी होती थी ... बहुत असुविधाजनक तथा कुरूप होती थी और ... सैनिक दूर जाने तथा अनिवार्य आक्रमण के समय ... करते थे। 'उपानह' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ... के अन्तिम भागों में और फिर कहीं-कहीं यजुर्वेद ... और ब्राह्मण ग्रन्थों में, संस्कारों और व्रात्यों के सम्बन्ध ... हुआ है।"

डॉ० रामजी उपाध्याय एम. ए. डी. फिल्. लि... हैं:—"घर से बाहर निकलने के समय वे जूते पहिन ले... और हाथ में छड़ी या छाता ले लेते थे।"[६२] अथर्ववेद ... 'उपानह' की चर्चा है:—

उत्तानायै शयानायै तिष्ठन्नेवावगूहसि।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्य से॥
(अथर्व० काण्ड २० सू. १३३, मंत्र ...)

पं० जयदेव शर्मा 'विद्यालङ्कार' मीमांसातीर्थ :—... जैसे पृथ्वी पर पड़ी जूती को खड़ा पुरुष पहन लेता है।

इन उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर यह निःशङ्क कहा जा सकता है कि वैदिक परिधान सर्वोत्तम था।

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है॥

ऋषि दयानन्द

५८. बुचः—"इकोनॉमिक लाइफ इन ऐंश्येंट इंडिया" खण्ड १, पृष्ठ १३५–१३७.

५९. श्रीकृष्णदत्त भट्टकृत "भारतवर्ष का आर्थिक इतिहास" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४६.

६० पं० बलदेव उपाध्याय एम. ए. साहित्याचार्यः "वैदिक साहित्य और संस्कृति" प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४४२.

६१. मासिक पत्रिका "गङ्गा" का "पुरातत्त्वाङ्क" प्रवाह ३, जनवरी सन् १९३३ ई०, तरंग १ पृष्ठ ९८ "वेदकालीन शिरोभूषण और पादत्राण" शीर्षक लेख।

६२. "भारत की प्राचीन संस्कृति" प्रथम संस्करण पृष्ठ ८०.

६३. "अथर्ववेद संहिता भाषाभाष्य" चतुर्थखण्ड, द्वितीयावृत्ति, पृ० ७५१.

वेदोदधि के कुछ चुने हुए मोती

[श्री पं० लालचन्दजी, मेरठ]

पूजनीय की सुमति का आदर

तस्यं वयं सुमतौ यज्ञियस्य
अपि भद्रे सौमनसे स्याम ।
स सूत्रात्मा स्ववां इन्द्रो अस्मे
आराचिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु ॥
ऋ० ६।४७।१३॥

हम उस परम पूजनीय की शुभ मति में हों और उसी कल्याणकारी मंगलमय हितकारी के अनुकूल हमारे आचार-व्यवहार होवें । वह अपने सामर्थ्य में स्थित परम ऐश्वर्यवान् परमरक्षक भगवान् सुन्दर रीति से द्वेषभावों को सदा के लिए दूर करें ।

हम द्वेष से अलग रहें और भगवान् की प्रेरणा और सुमति के अनुसार व्यवहार करना सीखने से पहले हम अपने समीप रहने वाले आदरणीय चरित्रवान् व्यक्तियों की सुमति का आदर करते रहें ।

ऋत की पहली ज्योति

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान्
परीत्य सर्वा प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्य
आत्मना आत्मानमभिसंविवेश ॥
यजु० ३२।११॥

अपने आपको चेतन आत्मसत्ता जानने वाला मनुष्य सब प्राणियों में परमपुरुष को जानकर, सब पंचभूतों में भी उसे जानकर, सब लोकों में भी उसे जानकर, ऋत की पहली ज्ञान-ज्योति की उपासना करके, ऋतस्वरूप परमात्मा की अमर वेदवाणी द्वारा सत्य ज्ञान प्राप्त करके, आत्मा से आत्मा को सब प्रकार से जोड़ देता है ।

सत्यस्वरूप परमात्मा की प्रथम प्रकट वेदवाणी का भली प्रकार अध्ययन करके, सत्य ज्ञान प्राप्त करके मानव-आत्मा अपने आपको परमात्मा से जोड़ देता है । यह है योग, यह है मिलन आत्मा का परमात्मा से । यह मिलन कब होता है ? जब मानव आत्मज्ञानी हो जाता है सत्य ज्ञान प्राप्त करके जब यह जान लेता है कि सारे लोक में, सारे भूतों में, सारे प्राणियों में, सारी दिशा-उपदिशाओं में एक ही भगवान् विराजमान है ।

ऋत का तन्तु

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा
परि लोकान् परि दिशः परि स्वः ।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य
तदपश्यत तदभवत तदासीत ॥ यजु० ३२।१२।

यह आत्मज्ञानी मनुष्य तत्काल द्यौलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी लोकों में भगवान् को व्याप्त जानकर सब लोक-लोकान्तरों में भगवान् व्याप्त है, यह जानकर सब दिशाओं में भगवान् को व्याप्त जानकर, ऋत के फैले हुए तन्तु को भली प्रकार समझकर, अर्थात् सारी जगत् ऋत पर निर्भर है । यह ठीक-ठीक समझकर उस परमात्मा को साक्षात् करता है । उसमें तन्मय होता है, उसमें पूर्ण समर्पण करता है और उसमें स्थिर रहता है ।

तत्वज्ञानी मनुष्य का भगवान् में पूर्ण निश्चय और विश्वास हो जाता है और उसकी प्रज्ञा भगवान् में स्थिर हो जाती है । आत्मज्ञानी मनुष्य परमात्मा के फैलाये हुए ऋत के सूत्र को सम्यक्तया समझकर परमात्मा का साक्षात् करता है और तल्लीन रहता है । मनुष्य का अपनी अमर सत्ता को पूरी तरह समझना पहला काम है । मानव-आत्मा अपने स्वरूप को पहले पहचाने । वह शरीर नहीं है । प्राण-मन-बुद्धि ये सब उसके साधन हैं । इन साधनों द्वारा ही मानवआत्मा को अपना विकास करना है ।

प्रियतम की प्राप्ति

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषं स्वाहा ॥ यजु० ३२।१३ ॥

इस सर्वाश्रय ब्रह्मांड के रक्षक-पालक-पोषक निराले आश्चर्यमय जीवात्मा के कमनीय, सभी जीवात्माओं के कामना करने के योग्य, प्यारे, पूजा के योग्य, भक्ति के योग्य, मुक्त आत्माओं को अपने में आश्रय देने वाले परमात्मा को मैं समर्पण द्वारा प्राप्त होऊँ ।

मैं उस परमात्मा को अपने समीप अनुभव करूँ जो

मेरा आधार है, मेरा आश्रय है। मैं उसे अपने हृदय में तथा सबके हृदय में अनुभव करूँ।

भगवान् का वरद हाथ

परि पूषा परस्ताद् हस्तं दधातु दक्षिणम्।
पुनर्नो नष्टमाजतु ॥ ऋ० ६।५४।१० ॥

पोषक देव पीछे से, ऊपर से अपना दायां हाथ पूरे तौर पर रखे, हमारा नष्ट ऐश्वर्य फिर लौट आवे।

हमें सर्वपोषक देव परमेश्वर के शुभ आशीर्वाद सदा प्राप्त होते रहें। हमें भगवान् की कृपा और अपने पुरुषार्थ से जो पहला ऐश्वर्य नष्ट हो चुका है वह पुनः प्राप्त होवे। हम सब मिलकर सुकर्म करते रहें और भगवान् का आशीर्वाद पाते रहें।

ओज और आत्मसंबल के लिए प्रार्थना

त्वं न इन्द्र भर ओजो नृम्णं शतक्रतो विचर्षणे।
आवीरं पृतना सहम् ॥ ऋ० ८।९८।१० ॥

हे परम शक्त मन, परम ऐश्वर्यवान्, हे परम समर्थ भगवन्! तू हमें ओज और आत्मसंबल प्राप्त करा, हमें विजयशील वीरत्व प्राप्त करा दे।

जीवन में संघर्ष सतत चल रहा है। हम सत्य-न्याय की विजय चाहते हैं। शक्ति का स्रोत भगवान् है, वह हममें ओज और आत्मबल भर दे।

स्वर्णिम रथ

आ त्वा सहस्रमा शतं युक्ता रथे हिरण्यये।
ब्रह्मयुजो हरय इन्द्र केशिनो वहन्तु सोमपीतये ॥
ऋ० ८।१।२४ ॥ साम० २४५

हे ऐश्वर्यसंपन्न मानव! स्वर्णिम रथ में, नीरोग देह में, दीप्तियुक्त सुन्दर शरीर में लगे हुए सैकड़ों-हजारों ज्ञान-शक्तियुक्त ज्ञानतंतुओं से संपन्न आत्मगण वर्चस को धारण करने के लिए, जीवन-रस को सब अवयवों में पहुँचाने के लिए तुझे वहन करें, समर्थ बनावें, तुझमें धारण-शक्ति उदय करें।

नीरोग सुन्दर शरीर जिसमें सशक्त आत्मा है, स्वस्थ मन है और धारणशक्ति संयुक्त ऋतंभरा मेधा बुद्धि है, यह एक स्वर्णिम रथ है। इसमें सैकड़ों-हजारों ज्ञानतन्तु हैं। इनमें पवित्र वीर्य घूमता रहता है, इसी के कारण जीवन-शक्ति है, प्राणशक्ति है और मनुष्य में ओज है। शुद्ध वीर्य के कारण ही यह शरीर कान्तिमय है, स्वर्णिम है, इसमें चमक है। जीवन-रस की विपुलता उन्नति का मूल है। यह शरीर रथ जिस पर चढ़े हम अपना जीवन सफल कर रहे हैं। शरीर का रोगरहित कार्यक्रम रखते हुए हम अधिकाधिक उन्नति कर सकते हैं। नीरोग देह में स्निग्धता रहती है और कान्ति रहती है। जीवन-रस की रक्षा होनी चाहिये। शुद्ध भाव, शुद्ध विचार और शिव संकल्प से जीवन रस सुरक्षित रहता है।

मनुष्य ज्ञानतंतुओं से संपन्न है। इन ज्ञानतंतुओं के केन्द्र मस्तिष्क से लेकर नीचे तक लम्बी रीढ़ की हड्डी में होते हैं। ये ज्ञानतंतुओं के गुच्छे से हैं, इन्हें चक्र कहते हैं। मनुष्य का शारीरिक बल, आत्मशक्ति, मनोबल, बुद्धि, योग्यता और ज्ञानशक्ति स्नायुतंतुओं के केन्द्रों की स्वच्छता पर निर्भर है। ये चक्र आत्मशक्ति का नियमन करते हैं। ये चक्र स्वच्छ हों तो मनुष्य में मेधा होती है, धारणा शक्ति होती है, वह बुद्धि में ऋत को धारण करता है और उससे निरंतर ऋत का व्यवहार होता है। स्नायुजाल हमारा स्वच्छ रहे, यह शुद्ध वीर्य और रक्त पर निर्भर है। शुद्ध सात्त्विक आहार के सुपचन से रक्त शुद्ध रहता है।

यह स्वर्णिम रथ हमें भगवान् से अपनी जीवन-यात्रा के लिए मिला है, इसे ठीक रखना हमारा कर्तव्य है।

पाप पर विजय

(१) सत्य न्याय का आचरण

न तमंहो न दुरितं देवासो अष्टमर्त्यम्।
सजोषसो यमर्यमा मित्रो नयति वरुणो अतिद्विषः ॥
ऋ० ९।१२६।१ ॥ साम० ४

जिस मनुष्य को न्याय मित्र भाव और विघ्न और पाप को दूर करने वाली दिव्यशक्तियाँ बड़े उत्साह से कि बाधाओं से पार पहुँचा देती हैं उस मनुष्य को पाप और दुश्चरित नहीं व्यापते।

मनुष्य में पवित्रता, प्रेमभाव और सत्य न्याय की भावना हो तो उसमें आत्मबल होता है, वह विघ्न-बाधाओं और कठिनाइयों को लांघ जाता है।

वास्तव में दिव्य-शक्तियाँ प्रत्येक मनुष्य में हैं, पर तमस् के आवरण में छिपी पड़ी हैं, उन्हें जगाने के लिए पवित्र स्नेह और सत्यनाम की अपेक्षा है। ऐसे सज्जनों की संगति अपरिहार्य है, जिनमें आत्मबल है, जो स्नेह करते

और जो सत्यन्यायशील हैं। जीवन से जीवन का विकास होता है। अनुभवी सच्चरित्र मनुष्यों से ही ऋत जाना जाता है। मानव-जीवन में कठिनाइयाँ सबको आती हैं, पर जिसमें आत्मबल है उसे ही दिव्य-शक्तियाँ सहायता देती हैं। दिव्यशक्तियाँ भी तभी कार्य करती हैं जब उनके अनुकूल शुद्ध सात्विक जीवन-व्यवहार किया जाय। जिस प्रकार अन्धकार को दूर करने के लिए प्रकाश अपेक्षित है, इसी प्रकार पाप-वासनारूपी तमोमयी स्थिति को बदलने के लिए सहृदय सुहृद् की जीवन-ज्योति अनिवार्य है। जब मनुष्य अपने में मैल अनुभव करे, आत्मचिन्तन में बाधा हो, विचार स्पष्ट न होते हों तो पवित्र जनों का सम्पर्क आवश्यक है। इसी प्रकार संकोच और संकीर्णता को हटाने के लिए उदार जनों का संग होना ही चाहिये। मोह अंधकार को दूर करने के लिए प्रेम को प्रकाश की आवश्यकता है। सत्य, न्याय और प्रेम से जीवन उज्ज्वल होता है।

(२) बुरे संस्कारों को दूर करना

अपेहि मनसस्पते अपक्राम परश्चर।
परो निर्ऋत्या आचक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥

ऋ० १०।१६४।१॥ अथर्व० २०।९६।२४

हे मन को गिराने वाले, मन्दता को लाने वाले बुरे संस्कार! तू दूर हो, दूर परे चला जा, परे भाग जा। जीता-जागता मन बहुत सामर्थ्य धारण करता है। हे बुरे संस्कार! तू दुःख और अपना नाश देख।

यह बुरी आदत को ठीक करने की मानव आत्मा की स्व-प्रेरणा है। मनुष्य में जब विवेक जाग जाता है तो बुरे संस्कारों का परिणाम दुःख होता है। यह तथ्य वह जान जाता है और प्रयत्न करता है कि इनसे छूट जाय। मनुष्य सावधान होकर पाप के कारण को समझे और उसे दृढ़ संकल्प से दूर करे।

(३) आत्मसंकल्प द्वारा पाप से बचाव

यदाशसा निःशसाभिशसा
पारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतानि
अजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु॥ ऋ. ९०।९६४।३॥

जिस बुराई को हम इच्छा से अथवा अपनी इच्छा के विपरीत, दूसरे के दबाव से या कभी अपनी चाह से भी अपने साथ चिपकी सी देखते हैं। जिस बुराई को हम जागते हुए या सोते हुए हम सपने में अनुभव करते हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि हम उस बुराई में फँसे हैं, हमारा दृढ़ आत्मसंकल्प उन सब हानिकर बुराइयों को पाप-वृत्तियों को हम से दूर करे।

दृढ़ आत्मसंकल्प से मनुष्य पापवृत्तियों पर अबाध विजय पाता है। संकल्पहीन मनुष्य ही पाप से दबा रहता है। संकल्प की प्रेरणा बड़ी शक्तिशाली होती है। मनुष्य कभी भी दुर्बल, निर्जीव तथा असमर्थ भाव अपने में न आने दे। प्रत्येक मनुष्य आत्मा है, प्रगतिशील है, उन्नतिशील है, उसे दृढ़व्रती होना चाहिये पुण्यकर्म का संकल्प और पुण्य-कर्म में ही व्यस्त रहने से पाप की प्रवृत्ति नहीं पनप सकती। आत्मसंकल्प में महान् शक्ति है। संकल्प और आत्म-विश्वास द्वारा व्रतशील जन पाप पर विजय पाते हैं।

(४) बुरी संगति का त्याग

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पते अभिद्रोहं चरामसि।
सचेता न अङ्गिरसो द्विषतां पात्वंहसः॥

ऋ० ९०।१६४।४॥

हे परम ऐश्वर्यवान् महानज्ञान और सकल ब्रह्मांड के पालक भगवान् जो हम किसी से द्रोह का आचरण करें तो अंग-अंग में विराजने वाला हमारा चैतन्य आत्मा द्वेषियों के पाप से हमें बचावे।

द्रोह और द्वेष की भावना से हमारा चैतन्य आत्मा हमें बचावे। मनुष्य की अपनी प्रज्ञाशक्ति, विवेक की क्षमता मनुष्य को पाप-कर्म से बचाती है। सर्व अन्तर्यामी पर-मात्मा का अपने में विराजमान रहने का ज्ञान भी मनुष्य को पाप से बचाता है।

पाप की जड़ स्वार्थ है और वह अनृत में छिपना चाहता है। स्वार्थान्ध मनुष्य आँखों के अंधे से भी अधिक अंधा है। स्वार्थ में निमग्न मनुष्य औचित्य-अनौचित्य भूल जाता है और द्वेष तथा द्रोह करने लगता है। अपनी जगी हुई प्रज्ञा से ही मनुष्य पाप से बच सकता है।

वातावरण की अपवित्रता के कारण अश्लील विहार में मन लगने के कारण और विशेषतः स्वार्थपूर्ति की लालसा के कारण ही मनुष्य पाप में प्रवृत्त हुआ करता है। मनुष्य की अपनी प्रवृत्ति पाप के कीचड़ से अलग रहने की ही है, पर बुरी संगति का बुरा प्रभाव होता ही है, उसमें

मनुष्य अनिच्छा से भी पाप में प्रवृत्त होता है। बुरी अश्लील संगति को तो मनुष्य सावधान रहता हुआ विष समान त्यागे ही तभी उसका जीवन बन सकता है।

(५) पाप पर विजय

अजैष्माद्यासनामचा भूमानागसो वयम्। जाग्रत स्वप्नः संकल्पः पापो यं द्विष्मस्तं स ऋच्छतु यो नो द्वेष्टि तमृच्छतु। ऋ १०। १६४। ५

आज विजय कर लिया, आज हमने प्राप्त करने योग्य पा लिया, आज हम निष्पाप हो गये हैं। जागते और सोते समय पापरूप बुरी प्रवृत्ति द्वेषी को प्राप्त होती है, ऐसी बुरी प्रवृत्ति उसमें होती है जो द्वेष करता है। पाप उसे ग्रसे जो द्वेष करता है, जिससे सब हम अलग रहते हैं। हम द्वेषी से अलग रहते हैं। पाप द्वेषी को ग्रसे। हम पाप से अलग रहें, द्वेष से अलग रहें।

अनागस बिना हम उन्नत नहीं हो सकते। पापवासना की ओर प्रवृत्ति ही न हो तो मनुष्य अनागस होता है। अनागस होकर मनुष्य का अखंड जीवन होता है। निष्पाप हुए बिना जीवन का ह्रास ही होता रहेगा, ऐसी अवस्था में जीवन का विकास संभव ही नहीं।

अपने स्वरूप का ज्ञान, अपनी अमर चेतन सत्ता होने में पूर्ण विश्वास और निश्चय मनुष्य में सामर्थ्य भर देता है और मनुष्य पाप पर विजय पाता है।

पाप पर विजयी होकर मनुष्य द्वेष रहित हो जाता है। द्वेष की प्रवृत्ति बहुत ही बुरी है। ऐसे व्यक्ति में ईर्ष्या और घृणा दोनों होती हैं। द्वेष करने वाला व्यक्ति अपनी मनुष्यता तक खो देता है। कौन सा ऐसा कुकृत्य है, जो वह नहीं करता। उसमें लज्जा नहीं रहती। स्वार्थ-पूर्ति के लिए ही द्वेष होता है। द्वेष से पहले ईर्ष्या होती अथवा अपने से नीचे अनुन्नत लोगों से घृणा होती है दोनों से जीवन का ह्रास होता है।

मनुष्य स्वयं उन्नति करे, पर साथ ही दूसरे की उ में भी सहयोग अवश्य देवे तभी समाज में द्वेष शांत सकेगा और वह एक श्रेष्ठ जनों का समाज होगा— आर्यसमाज होगा।

द्वेष करने वाला न अपना हित करता है और किसी दूसरे का हित कर सकता है। द्वेष और द्रोह अ पाप हैं। इनसे ह्रास और नाश ही होता है। इन्हें नि न आने देना चाहिये।

(६) पावन परमेश्वर

पवमानः सः अद्य नः पवित्रेण विचर्षणिः।
यः पोता स पुनातु मा ॥ यजु० १९।४२
उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च।
मां पुनीहि विश्वतः ॥ यजु० १९।४३

जो आज सबका द्रष्टा, सबको पवित्र करने वाला, का शोधक परमेश्वर है, वह हम सबको और मुझे भी प ज्ञान और कर्म से पवित्र करे।

हे प्रकाशस्वरूप प्रेरक परमेश्वर! आप पवित्र और कर्म दोनों से मुझे सब प्रकार से पवित्र कीजिये।

दिव्यगुण धारण करने से हमारा जीवन व्यवहार प पावन भगवान् के अनुकूल हो जाता है और हमें भग से आशीर्वाद प्राप्त होने लगते हैं। हम निष्पाप होकर भगवान् से मिलते हैं। परम-पावन भगवान् से मेल अ गस होकर ही होता है। भगवान् की उपासना से मनुष्य सत्य ज्ञान उदय होता है जिससे उसके कर्म पवित्र होते हैं

'वेदो मानव-सम्पत्तिः' वेद मानवमात्र की सम्पत्ति है

[ले०—श्री पं० चूडामणि जी शास्त्री—देहली]

बहुत काल से यह चर्चा चली आ रही है कि वेद हिन्दुओं या आर्यों की धर्म-पुस्तक है। भारत के विद्वान् तो ऐसा मानते चले आ रहे हैं परन्तु यूरोप के मैक्समूलर मैक्डानल आदि विद्वान् भी वेदों को हिन्दुओं की धर्म-पुस्तक मानते हुए, उनपर श्री सायणाचार्य्य की क्वचित्-क्वचित् अमौलिक व्याख्या देखकर वेदों पर उपहास भी कर गये हैं। परन्तु मैं यह भी सुनता हूँ कि सत्यान्वेषी मैक्समूलर ने अपने पुस्तकालय में वेद की अल्मारी सबसे ऊपर रखी, जिस पर उसने बाहर से यह लिख दिया था—'संसार की सबसे प्रथम पुस्तक 'ऋग्वेदः'। इतनी बड़ी श्रद्धा उसने वेदों पर दिखायी। बस वेदों की रक्षा करना हमारा कर्तव्य है।

परन्तु आज मैं ज्यों-ज्यों वेदों का अध्ययन करता जाता हूँ, मुझे तो ऐसा दृढ़ निश्चय होता जाता है कि सचमुच 'वेदो मानव-सम्पत्तिः' है—वेद प्रभुका दिया हुआ मानव-कल्याणकारी एक प्रसाद ही हमें मिला है जिसका रसास्वाद हम सभी मनुष्यों को प्राप्त करना चाहिये। मुझे तो एक-एक मन्त्र के एक-एक अक्षर से मानव-कल्याण-धारा बहती हुई नजर आती है जिसे हम मन्द भाग्य से पूर्णतया पहचान भी नहीं पाते हैं।

जैसे मानव, अपनी सन्तान को सुशिक्षित बनाने के लिये एक गुरुकी खोज में रहता है, वैसे ही सृष्टि की आरम्भिक स्थिति में प्रभु ने स्वयं गुरु बनकर हम सभी बालकों को—संसार के सभी बालकों को—स्वयं उपदेश के रूप में वेद दिये हैं। यह बात मैं अन्धश्रद्धा से नहीं कह रहा हूँ—उदाहरणों द्वारा मैं मानवमात्र के हृदय में यह भाव पूर्णतया अंकित कर दूँगा कि सचमुच वेद मानव की सम्पत्ति है।

भारतीय विद्वानों द्वारा जो वेदाधिकार भारतीय द्विज-मात्र को—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यमात्र को—दिया गया है—ऐसी सीमा मैं एक भी मन्त्र में नहीं देख पाया हूँ कि अमुक मन्त्र केवल द्विजों को लाभदायक हो सकता है। श्रीमनु ने जो स्पष्ट 'ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्रयोवर्णा द्विजातयः।' प्रथम तीन वर्णों को ही द्विज माना है। माननीय श्री स्वामी दयानन्द जी ने इन तीनों वर्णों को ही 'द्विज' स्वीकार किया है (प्रायः सभी विद्वान् इन तीनों को द्विज मानकर ही 'पावमानी द्विजानाम्' में द्विजों को पवित्र करने वाली वेदमाता की स्तुति कर गये हैं)। परन्तु मैं तो द्विजका मानवमात्रगामी व्यापक अर्थ लेता हूँ। निष्पक्ष-भाव से विचार करें। 'द्वाभ्यां जन्मसंस्काराभ्यां जायते इति द्विजः' अर्थात् द्विज वह माना गया है जो मातृकुल से भी जन्मा हो और गुरुकुल से भी जन्मा हो। भट्टोजि-दीक्षित भी लिख गये हैं 'वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च।' बस कोई भी 'शिक्षित मानव' 'द्विज' माना जा सकता है। अब द्विज को तीन वर्णों में सीमित रखने का युग समाप्त हो गया है। मैं तो चार वर्णों को भी हिन्दुओं में सीमित करने को तैयार नहीं हूँ—समाज एक व्यक्ति है, उसमें ज्ञान देने वाला समुदाय ब्राह्मण है। उस ज्ञान के अनुसार वस्तु तैयार करने वाला तपस्वी (कर्मठ) शूद्र (तपसे शूद्रं-यजुः) है। उस बनी हुई वस्तु को संसार में विभक्त करने वाला उसका व्यापार करने वाला वैश्य और इस प्रबन्ध को निर्विघ्न रखकर चलाने वाला, योद्धा वीर क्षत्रिय है। ऐसी वर्णव्यवस्था संसार भर में चल रही है जिसे प्रभुने एक वेदमन्त्र द्वारा समाज को एक व्यक्ति बनाकर उसके चार अंग दिखा दिये हैं—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥यजु०॥

इस समाज का ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय भुजा है, वैश्य उरू है और शूद्र पाँव है। यह वेद का अक्षरार्थ है। इसमें हम सबको सब जगह पहुँचाने वाला—सबको सम्मानित करने वाला यह शूद्र ही तो है जिसे वेदने पाँव की उपमा दी है। पता नहीं भारतीय लोगों ने इसे अछूत कैसे मान लिया—जब कि पाँव शरीर का संयुक्त अंग ही देखा गया है। इस अत्यावश्यक अंग को केवल घटिया ही नहीं माना प्रत्युत द्विजों से उसे पृथक् ही कर दिया है। मेरी समझ में यह हमसे भूल हुई है। श्री करपात्रीजी तो इन्हें प्रभुके दर्शनाधिकार से भी वंचित कर चुके हैं और कर रहे हैं, परन्तु मैं तो ऐसा स्थिर कर चुका हूँ कि—

मानवो मानवत्वेन मानवानां सहोदरः।
अतो मानवसेवेयं मानवेन विधीयताम्॥

मनुष्य, मनुष्य भारतीय धर्मशास्त्र समस्त होने के नाते मनुष्य मात्रका भाई है, अतः सभी मानवों को सभी मानवों की सेवा करनी चाहिये। किसी भी अशिक्षित को सिखाना शिक्षितमात्र का कर्तव्य है, परन्तु अशिक्षितों की एक श्रेणी बनाकर उसे शिक्षाक्षेत्र से वंचित कर मानवता का तिरस्कार करना है।

वेदो मानवसंपत्तिर्न द्विजानां हि जन्मतः।
ईश्वरीयं हि यज् ज्ञानं द्विजानां केवलं कथम्॥

भारतीय धर्म-शास्त्र १७ वा प्रकरण, ३१ श्लो०

भला जो ईश्वरीय ज्ञान हो, वह केवल द्विजों का ही कैसे हो सकता है? अब आप नीचे लिखे वेदमन्त्र पर विचार कीजिये कि यह उपदेश केवल द्विजों के लिये है या भूमंडल के मानव मात्र के लिये है—

उद्यानं ते पुरुष! नावयानं,
जीवातुं ते दक्षतातिं करोमि।
आ हि रोह इमममृतं सुखं रथम्,
अथ जिर्विर्विदथमावदासि॥

अथ० ८।१।६॥

हे पुरुष! ते उद्यानम्—तेरा ऊपर जाना हो—उन्नति करना लक्ष्य हो, नावयानम्—नीचे जाना—नीच कर्म करना लक्ष्य न हो। ते जीवातुं दक्षतातिं करोमि—तेरी जीवनीय शक्ति को या जीवात्मा को (मैंने) चतुर बनाया है कि वह ऊपर जाना उत्तम समझेगा—पसन्द करेगा। हि—निश्चय से इमं अमृतं सुखं रथं आरोह—इस अमर सुख के देने वाले शरीररूप रथ पर चढ़ जा—इस शरीर से उत्तम कर्म करता हुआ ऊपर चढ़जा। अथ जिर्विः विदथम् आवदासि फिर जब जिर्वि होगा, बूढा होगा, तो यह ज्ञान दूसरों को भी देना उपदेश द्वारा इस ज्ञान का प्रचार करना कि मनुष्य आचारहीन न बने। इस वेदमन्त्र में कितना ऊँचा ज्ञान मिलता है। इसमें भूमंडल के पुरुष को संबोधन करके उसे समझाया गया है कि तू चरित्रवान् बन केवल भारतीय त्रैवर्णिक द्विज में तो यह व्यापक उपदेश नियत नहीं किया जा सकता। एक दूसरा मंत्र भी सुनिये—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो,
मनोजवेषु असमा बभूवः।
आदघ्नास उपकक्ष्यासः,
उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा ददृश्रे॥

अनेक विद्यार्थी एक श्रेणी में पढ़ते हैं—जो सब अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः एक जैसी आँख और एक जैसा कान रखते हैं अर्थात् सभी एक ही समय में एक ही अध्यापक से एक साथ मिलकर पढ़ते और सुनते हैं, सभी 'सखायः' एकट्ठा मिलकर काम करने वाले मित्र हैं। किन्तु मनो-जवेषु असमा बभूवुः—मानसिक वेग में वे साथी, आगे पीछे हो जाते हैं। कुछ जो अपने कर्म शोधित मन के द्वारा गुरुदत्त ज्ञान झट पकड़ लेते हैं, कुछ प्रखर मेधावी छात्र अपने गुरुजी से परिमित ज्ञान लेकर भी उसे अपनी प्रतिभा द्वारा अपरिमित रूप में लेकर गुरु से भी आगे बढ़ जाते हैं। किन्तु कुछ मन्दमति इतना ज्ञान लेकर भी पीछे के तैसे ही रह जाते हैं। इसी बात को उत्तरार्ध में सरोवर की उपमा देकर समझाया गया है। कुछ तो तालाब में घुसकर आदघ्नासः—आस्य तक, मुख तक घुसकर पहुँच जाते हैं। कुछ उपकक्ष्यासः—बगल तक पहुँच पाते हैं, आगे नहीं जा सकते। किन्तु कुछ मेधावी इतनी गहरी डुबकी लगाते हैं कि—

उ त्वे स्नात्वा ह्रदा इव ददृश्रे—स्नान के योग्य तालाब की परिधि में ऐसे समतल हो जाते हैं कि दृष्टिगोचर भी नहीं होते।

इस मन्त्र में मानवीय उन्नति का कितना सुन्दर मार्ग दिखाया गया है। सभी अपनी-अपनी योग्यता से आगे पीछे हो रहे हैं। कोई किसी को न तो रोक सकता है और न आगे धकेल सकता है।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदोऽ
मध्यमासो महसा विवावृधुः।
सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो
मर्त्या आ नो अच्छा जिगातन॥ऋ०

ये मरुत लोग—मरणधर्मा जन—जो कि अज्येष्ठाः—अपने को बड़ा न समझें, अकनिष्ठासः—दूसरे को छोटा भी न समझें, प्रत्युत अमध्यमासः कोई किसी को मध्यम श्रेणी का भी न समझे कि 'यह साधारण श्रेणी का है—इण्टर मिडियेट क्लास का है। किसी को ऐसा कहना भी अपराध है। उद्भिदः—सभी उन्नति करें महसा विवावृधुः—अपने तेज से सभी बढ़ते चले आये हैं। क्योंकि—

सुजातासो जनुषा—जन्म से सभी सुजात हैं—सभी पवित्र है, क्योंकि पृश्निमातरः—सबकी माता—सबकी निर्मात्री एक ही प्रकृति है—सबका पाँचभौतिक शरीर एक जैसा ही है। सभी दिवो मर्त्याः हैं—स्वर्गीय मनुष्य हैं, सभी स्वर्ग तक पहुँचने का अधिकार रखते हैं। नः—हम में सभी आ—चारों ओर—सभी विषयों में अच्छा जिगातन—अच्छी गति कर सकते हैं।

इसमें केवल उनचास मरुतों का वर्णन क्या जम भी सकता है? सीधा मानवमात्र को उन्नति का अवसर देता है। अपने को बड़ा और दूसरों को छोटा समझना भूल है। कुछ विद्वान् 'तिस्रः प्रजा आर्याः' इस वेदमन्त्र के अनुसार तीन वर्णों को आर्य मानते हैं। किन्तु तिस्रः प्रजाः का सीधा अर्थ यही है कि ज्येष्ठ कनिष्ठ मध्यम सभी श्रेणी के लोग आर्य माने जा सकते हैं। श्री हिटलर ने जर्मनी निवासियों को आर्य मान लिया। ईरान वाले भी आर्यान् से ईरान में बदल गये हैं। अतः 'कृण्वन्तो विश्वमार्य्यम्' हम विश्व को आर्य बनायें—सुकर्मा बनायें। आर्य को द्विजों में सीमित न रखें॥

वरुणयाग [नरमेध]

[ले०—श्री पं० जे० पी० चौधरी, गुरुकुल धूपचण्डी, वाराणसी]

हरिश्चन्द्र की १०० स्त्रियाँ थीं परन्तु पुत्र कोई नहीं था। उसने नारद से कहा कि पुत्र की इच्छा देव, मनुष्य सभी करते हैं। आप पुत्र का फल बतलाइये। नारद ने कहा कि पुत्र के बिना जितना भी संसार में भोग है, सब ही व्यर्थ है इत्यादि अनेक लाभ दिखलाकर राजा से कहा कि तुम वरुण की यह प्रार्थना करो कि मेरे एक पुत्र उत्पन्न हो, उससे तुम्हारा यज्ञ करूँगा।

वरुण-प्रसाद से उसे रोहित नामक पुत्र पैदा हुआ। वरुण ने आकर कहा—तुम मेरा यज्ञ करो, तुम्हें पुत्र हो गया। राजा ने कहा कि दश दिन बीत जाने पर यह मेध्य होगा, तब यज्ञ करूँगा। दश दिन के बाद आकर फिर कहा तो राजा ने कहा—जब पशु को दाँत निकल आते हैं, तब वह मेध्य होता है। दाँत निकल जाने पर वरुण ने फिर याद दिलाया। राजा ने कहा ये दाँत टूट जाने पर जब दूसरे दाँत जमेंगे तब यह मेध्य होगा।

दाँत जमने पर वरुण ने आकर फिर ताकीद की। राजा ने कहा कि यह क्षत्रियकुमार है, जब तक क्षत्रियोचित धनुष-बाण-कवच धारण करने के योग्य न हो तब तक मेध्य न होगा। जब वह इस योग्य हो गया तो वरुण ने कहा कि अब यज्ञ करो। राजा ने स्वीकार कर अपने पुत्र से कहा कि वरुण ने तुझे मुझको दिया है इसलिये तुमसे मैं वरुण-याग करूँगा। उसने इनकार किया और धनुष-बाण लेकर वन में चला गया। इधर वरुण के कोप से राजा को जलोदर रोग हो गया। जब रोहित ने यह सुना तो घर जाने के लिये तैयार हो गया। इसी बीच में इन्द्र ने ब्राह्मण का रूप धरकर उसे अनेक उपदेश देकर उसे घर जाने से रोक दिया। इस तरह पाँच बार उसे रोका। छटवीं बार जाने को तैयार हुआ तो अजीगर्त भूख से पीड़ित उसे वन में मिला। उसके तीन पुत्र थे शुनःपुच्छ, शुनःशेप, शुनोलांगूल। उसने कहा कि इनमें से एक मुझे मूल्य लेकर दे दो। उसने स्वीकार किया और सौ गाय लेकर उसके हाथ बेच दिया। वह उसे तथा अजीगर्त को लेकर घर गया और पिता से कहा—मैं अपने स्थान पर इसे खरीद कर लाया हूँ। आप इसी से यज्ञ कीजिये। वरुण ने कहा क्षत्रिय से ब्राह्मण श्रेष्ठ है। मैं स्वीकार करता हूँ।

वरुण ने राजा से राजसूय यज्ञ करने को कहा। उसने राजसूय यज्ञ आरम्भ किया। विश्वामित्र होता, वसिष्ठ ब्रह्मा, जमदग्नि अध्वर्यु और अयास्य उद्गाता बने। यूप में उसे बाँधने को कोई तैयार न हुआ तो उसके बाप अजीगर्त ने १०० गायें और लेकर उसे यूप में रस्सी से कटि-शिर-पाद में बाँध दिया।

अब उसे मारने वाला कोई न मिला तो १०० गायें

और लेकर हाथ में शस्त्र लेकर अजीगर्त उसे मारने के लिये तैयार हो गया। जब शुनःशेप ने देखा कि पशु के समान मेरा पिता मारने के लिये तैयार है तो वह प्रथम प्रजापति की "कस्य नूनं" इस ऋचा से आराधना करने लगा।

प्रजापति आकर बोले—(१) तू अग्नि की स्तुति कर, वही देवताओं का समीपवर्ती है। (२) उसने "अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानाम्" इस ऋचा से स्तुति की। अग्नि देव ने कहा—तू सविता की स्तुति कर। (३) उसने "अभि त्वा देव सवितः" इत्यादि तीन ऋचाओं से सविता की स्तुति की। सविता ने वरुण की आराधना के लिये कहा। तब उसने "नहि ते क्षत्रम्" इत्यादि २२ ऋचाओं से वरुण की स्तुति की। वरुण ने फिर अग्नि की स्तुति करने को कहा। इसने "वसिष्वा हिमियेध्य" इत्यादि २२ ऋचाओं से अग्नि की स्तुति की। अग्नि के कहने पर उसने "नमो महद्भ्यो" इस ऋचा से विश्वेदेव की स्तुति की। विश्वेदेवों ने इन्द्र की स्तुति करने को कहा। उसने "यच्चिद्धि सोमपः" इत्यादि २२ ऋचाओं से इन्द्र की स्तुति की। इसके आगे अश्वि-देव और उषा की प्रार्थना की।

इस तरह देवों के अनुग्रह से वह पाशमुक्त हो गया। तब सब देव और ऋत्विक् उसे बुलाकर कहने लगे—प्रिय देवरात शुनःशेप, इस दिन के अभिषेचनीयाख्य यज्ञ की समाप्ति आप ही कीजिये। जब सबने ऐसा कहा तो इसे अञ्जःसव नाम का सोमयाग भासित हुआ। तत्पश्चात् इसने—"यच्चिद्धि त्वं गृहे" इत्यादि चार ऋचाओं से सोम को अभिषुत किया। तब इस अभिषुत सोम को "उच्छिष्टं चम्वोर्भर० ऋ० १।२८।९ इस ऋचा से सोम को द्रोणकलश में स्थापित किया। तत्पश्चात् हरिश्चन्द्र "यत्र ग्रावा—ऋ० १।२८।१" इस मंत्र से स्वाहान्त होम करता है।

पाश से छूटने के बाद वह विश्वामित्र की गोद में बैठ गया। तब अजीगर्त कहने लगा कि यह मेरा पुत्र है, इसे लौटा दीजिये। विश्वामित्र ने कहा—तुम्हें ३०० गायें इसके बदले में मिल चुकी हैं। देवों ने इसे मुझे दिया है। यह देवरात वैश्वामित्र होगा। तब अजीगर्त ने देवरात से कहा—तू जन्म से अंगिरा गोत्र का है। अपने वंश से अलग न हो। शुनःशेप ने जवाब दिया—तुमने जो कर्म किया वह अतिशूद्रों में भी नहीं पाया जाता। मैं न जाऊँगा।

इस प्रकार पिता से अलग हो, विश्वामित्र को पुत्र बन शुनःशेप सुप्रसिद्ध ऋषि हुआ जिसका नाम अभी चला आता है।

समीक्षा—

इस आख्यायिका के तात्पर्य्य को न समझकर पा[illegible] पण्डितों ने इस गाथा से वेद में नरबलि का स्वप्न देखा। एतद्देशीय विद्वानों ने उन्हीं का अनुसरण किया। वास्तव में सारी की सारी आख्यायिका काल्पनिक है।

ऐसा कौन सा मूर्ख पिता संसार में होगा जो के[illegible] से इसलिये पुत्र मांगेगा कि मैं उस पुत्र को तुम्हारे पशुवत् बलि दूँगा। क्या इस पर कोई विश्वास कर स[illegible] है। फिर बार-बार वरुण का आना, बार-बार राजा[illegible] बात सुनकर लौट जाना इत्यादि बातें नाटकीय ढंग से गढन्त है। राजा मिथ्या बोलता है, वरुण महाला[illegible] क्रूर प्रतीत होता है इत्यादि हरिश्चन्द्र के पुत्र माँगने से अन्त तक की सारी कथा काल्पनिक सिद्ध होती है।

प्रजापति, वरुण, अग्नि, सविता, विश्वेदेव और उषा[illegible] अस्मदादिवत् विग्रहवती देवता नहीं हैं जो हरिश्चन्द्र—शुनःशेप से आकर स्तुति करने के लिये कहते हैं। सब ब्राह्मण की कल्पना है। इसलिये इनके सवाद[illegible] जो ब्राह्मण में लिखा गया है, सब ही कल्पना है। विश्वा[illegible] के सौ पुत्रों का वर्णन भी कल्पना मात्र है। उनके [illegible] बेटे थे ही नहीं। अपने बेटों को कोई भी बुद्धिमान् उचित बात कहने पर शाप नहीं दे सकता, फिर [illegible] महर्षि होने पर ऐसा निन्दनीय कार्य कैसे कर सकते [illegible] बेटों ने तो उचित ही कहा था। ऐसों को कभी भी [illegible] नहीं लग सकता। यहां पर केवल पिता के वचन मानने के लिये उपदेश है, पिता की बात न मानने [illegible] बड़ा पाप होता, यही इस लेख का भाव है।

× × ×

ऋगवेद के प्रथम मण्डल २४ वें सूक्त से ३० वे सूक्त [illegible] ९७ ऋचायें हैं। इतनी ऋचाओं का द्रष्टा शुनःशेप [illegible] है। प्रथममंत्र में अदिति देवी से माता-पिता के दर्शन [illegible] लिये प्रार्थना करता है। प्रथम तो उसके माता-[illegible] सामने ही थे, फिर उनके दर्शन के लिये क्यों प्रा[illegible] करता? दूसरे, माता-पिता से उसे बड़ी घृणा हो गई जैसा कि आख्यायिका में वर्णन है, ऐसी अवस्था में [illegible] उन्हें क्यों चाहेगा? माता-पिता के बार बार आग्रह [illegible] पर भी उसने उनका अनादर किया और विश्वा[illegible]

की गोद में जा बैठा, फिर माता पिता के लिये क्यों व्यग्र होगा।

उसे तो उस समय देवता से यह माँगना उचित था कि बिना अपराध ऋत्विजों ने हमें यूप में मारने के लिये बँधवाया है, मेरा पिता हाथ में शस्त्र लेकर मारने को तैयार है, राजा अज्ञानवश मेरी हत्या करवाना चाहता है। हे देव आप मुझे बचाइये, पर उसने ऐसी प्रार्थना न की। आख्यायिका में शुनःशेप के पाप की चर्चा नहीं। पर मन्त्रों में पापमोचन की चर्चा है। फिर वह पापमोचन के लिये प्रार्थना क्यों करेगा ? दूसरी यह बात सिद्ध है कि यह आध्यात्मिक दुःख का वर्णन है।

वेद में अनेक मंत्र हैं जिनमें वरुणपाश से छूटने के लिये प्रार्थनायें हैं। यथा—**प्र नो मुञ्चत वरुणस्य पाशात्** ६–७४–४। वशिष्ठ प्रार्थना करते हैं व्यस्मत् पाशं वरुणो मुमोचात्। क्या वशिष्ठादि वरुणपाश से शुनःशेप के समान बँधे थे ?"विवाह के समय पति पत्नी से कहता है—**प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्**। क्या स्त्री भी शुनःशेप के समान वरुणपाश में बँधी रहती है। पाठको ! इसका भाव कुछ अन्य ही है। लेख बढ़ जाने से मैं और प्रमाण नहीं रखता। लोक व्यवहार में भी वरुणपाश का उल्लेख है। प्रायः अनेक शुभकर्मों में यजमान-यजमानी, वरवधू आदि को किसी माला से या किसी अन्य वस्तु से हाथ, शिर तथा कटि में बाँध देते हैं। इस बन्धन का नाम वरुणपाश रखते हैं, फिर वरुण मंत्र पढ़कर खोल देते हैं। कात्यायन सूत्र में इसका स्पष्ट वर्णन है, जिसका अर्थ यह है कि यजमान अपने कण्ठ में २१ दानों का एक आभरण और ६ रज्जुओं से निर्मित शिक्यपाश धारण करता है, यही मानो वरुणपाश है और 'उदुत्तमं वरुणपाश' इस मंत्र से खोल देते हैं।

अब पाठकों के सामने दूसरी आख्यायिका रखकर ब्राह्मण के तात्पर्य को प्रकाशित करते हैं ब्राह्मणों में सभी आख्यायिका काल्पनिक होती हैं। ये विधि से तात्पर्य रखती हैं और विधियों को दिखलाने के लिए गाथा, इतिहास आदि कल्पित करते हैं। इस आख्यायिका के बाद अग्रलिखित गाथा है—प्रजापति ने यज्ञ की सृष्टि की। इसके बाद ब्राह्मण और क्षत्रिय बनाये। इसके पश्चात् हुताद अहुताद अन्य प्रजायें बनाईं। इनके बीचसे यज्ञ भाग गया। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों अपने-अपने अस्त्र लेकर उसके पीछे-पीछे चले। यज्ञ क्षत्रिय के अस्त्र को देखकर भय के मारे और दूर भाग गया परन्तु ब्राह्मण उसके पीछे लगा ही रहा। तब क्षत्रिय ने ब्राह्मण से कहा कि मुझे भी इसमें सम्मिलित कीजिये। ब्राह्मण ने स्वीकार किया परन्तु कहा कि तुम निज आयुध छोड़कर ब्राह्मण के योग्य आयुध धारण करो। वह ब्राह्मण स्वरूप से यज्ञ में सम्मिलित हुआ। इस गाथा का यह तात्पर्य नहीं है कि यज्ञ कोई चेतन देव है, क्षत्रिय के आयुध से भय खाता है। किन्तु तात्पर्य्य यह है कि यज्ञ के निकट बड़ी शान्ति-श्रद्धा-विश्वास से पहुँचना चाहिये। क्रोध, ईर्ष्या, हिंसा, जय, पराजय आदि को छोड़कर ईश्वर का भजन करे।

बस इतना ही लिखकर इस प्रकरण को समाप्त करते हैं। पाठकवृन्द मनन करके सत्यासत्य का निर्णय करे॥

आर्यसमाज का उद्देश्य

संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, अर्थात् शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना॥

इन्द्र

[ले०—श्री० डा० वासुदेवशरण जी अग्रवाल, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय]

ऋग्वेद में इन्द्र देवता की महिमा और व्याख्या के अनेक मंत्र हैं। इन्द्र ईश्वर का वाचक है। परमैश्वर्यरूप सृष्टि का विधाता यदि किसी शब्द से यथार्थ में अभिहित किया जाय, तो उसके लिये 'इन्द्र' यही उपयुक्त नाम हो सकता है। इस विश्व में सर्वव्यापक शक्ति-तत्त्व इन्द्र है। इस शरीर में इन्द्रियों का अधिष्ठाता मध्यप्राण भी इन्द्र कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट कहा है कि कोई मूलभूत शक्ति या अग्नि इस देह में प्रतिष्ठित हुई है। उसी के संचालन से अन्य सब अवयव कार्य में प्रवृत्त हैं। वह अग्नि या जीवनी शक्ति समिद्ध होने के कारण 'इन्ध' कहलाती है। उसका शतायुपर्यन्त समिन्धन हम सब प्रत्यक्ष देख रहे हैं। वनस्पति, पशु और मानव, इन तीन धरातलों या रूपों में वह शक्ति प्राणनक्रिया कर रही है। उसकी मध्यगत सत्ता से ही जीवन का सत्र संतत है। इस शक्ति की संज्ञा इन्धनात्मक होने के कारण परोक्ष या सांकेतिक भाषा में 'इन्द्र' कही जाती है। शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से इस निरुक्ति का जो कुछ मूल्य हो, तात्त्विक दृष्टि से यह नितान्त सत्यात्मक है।

मध्य या केन्द्रीय प्राणशक्ति मूलरूप में एक है। किन्तु सृष्टि या अभिव्यक्ति में आते ही वह बहुधा हो जाती है। 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' ऋषियों का दर्शन है। यह अर्थवाद या कथन मात्र नहीं, सृष्टि का अविचल तथ्य है। विश्व में मूल शक्ति एक है पर उसके रूप बहुधा हैं। शरीर की मूलभूत शक्ति एक है, पर वही चक्षु, श्रोत्र, वाक्, प्राण, मन आदि के रूप में कार्य करती है। इन्हें देव कहा जाता है। स्थूल इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवता शक्ति के ही रूप हैं। इन्द्रियों को प्रकारान्तर से लोक कहा गया है, और उनके देवों को लोकी या लोकपाल। देवों का अधिपति इन्द्र एक होते हुए भी नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। इसके मूल में इन्द्र की प्रातिस्विक शक्ति ही कारण है, यही उसका स्वभाव है—

इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपे ईयते

शरीर में इन्द्रियों की सत्ता इस बात का प्रमाण है कि उनके मूल में इन्द्रशक्ति सक्रिय और सत्तावान् है। वनस्पतिजगत्, पशुजगत् और मानवजगत् इन तीनों इन्द्रियों का विकास देखा जाता है। वृक्ष भी स्पर्श अनुभव करते हैं। उनमें स्पर्शेन्द्रिय का और इन्द्रियों अपेक्षा अधिक विकास है। जहाँ इन्द्रिय की क्रिया उसके मूल में मनस्तत्त्व अवश्य रहता है। अतएव इ को 'मनस्वान्' कहा जाता है—

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतु पर्यभूषत्।

इन्द्र मनस्वी देव है। उसीकी सत्ता अन्य देवों इन्द्रियों को क्रतु या संकल्पात्मक कर्मशक्ति से यु करती है।

इन्द्र इन्धनात्मक शक्ति है। उसके तीन रूप हैं— मन, प्राण, वाक्। पंचभूतों की संज्ञा वाक् है। क्यों पंचभूतों में सबसे सूक्ष्म आकाश है जिसका गुण शब्द है अतएव शब्द या वाक् को सब भूतों का प्रतीक मान लि जाता है। अग्नि, वायु, इन्द्र ये तीन रूप एकही मूल शक्ति तत्त्व के हैं। स्थूलभूत रूप में उसे अग्नि, प्राण में वायु और मनस्तत्त्व के रूप में इन्द्र कहा जाता है अग्नि पृथिवी लोक, वायु अन्तरिक्ष लोक और इन्द्र आदित्य द्युलोक की शक्ति है। द्युलोक में जो आदित्य है, ही इन्द्र भी कहा जाता है—

द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी।

हम अपने ही शरीर में देखें। जठराग्नि वासव इ है जो वसु या भूत-तत्त्वों को शरीर में सम्भृत करता है मध्यभाग में मरुत्वान् इन्द्र है जो हृदय और फुप्फुस संचालन करता है। यह ठीक वैसी ही विद्युत् शक्ति जो किसी यन्त्र को सञ्चालित करती है। मरुत् या प्रा के द्वारा ही यह विद्युत् मिल रही है। तीसरा मस्ति संस्थान है। जहाँ चिन्तन या मननशक्ति का अधिष्ठा है। वह सबसे सूक्ष्म और व्यापक है, एवं उसकी श सबसे अधिक प्रभावशालिनी है। वह मघवान् इन्द्र है मन की यज्ञिय शक्ति ही मघ तत्त्व है। मघ तत्त्व के अभा में ही मन मोहग्रस्त या तमोग्रस्त होता है।

इन्द्र का रथ यह शरीर है। इन्द्रको अपने रथ में गति की आवश्यकता है। गतितत्त्व ही अश्वतत्त्व है। पंजर का नाम रथ नहीं। रथ वह है जिसमें पंजर का संचालक वाहन भी हो। इन्द्र के रथ में दो अश्व हैं। उन्हें ही 'अश्विनी' कहते हैं। प्राणापान या प्राण के द्विविध रूप ही अश्विनी कुमार हैं। प्रत्येक शरीर को जीवन या प्राणन की आवश्यकता है। वनस्पति, पशु, मानव इन तीनों को गति या स्पन्दन प्राणापान से ही प्राप्त होता है। दो रूपों में अभिव्यक्त होते हुए भी प्राण एक ही है। शतपथ ब्राह्मण में उसकी यथार्थ वैज्ञानिक परिभाषा की गई है—

प्राणो वै समञ्चनप्रसारणम्।

फैलना और सिकुड़ना—यही स्पन्दन का रूप है। जहाँ यह क्रिया हो वहीं प्राणन की अभिव्यक्ति जाननी चाहिए। प्राणनात्मक कर्म ही जीवन का सब से महत्त्वपूर्ण लक्षण है। यह प्राणन क्रिया श्वास-प्रश्वास की धौंकनी है। जिस शरीर में यह धौंकनी चल रही है वहीं जीवन है। अथवा यह कहना उपयुक्त होगा कि प्राणापान की धौंकनी के लिये शरीर की अनिवार्य आवश्यकता है। विराट् शक्ति की अभिव्यक्ति हमारे अनुभव में तभी आती है जब वह शरीर में प्रकट हो। भूत-प्राण-मन की समष्टि संज्ञा शरीर है। इसी संघात को देह कहते हैं। प्रत्येक शरीर शक्ति का एक आवपन या पात्र है। यही यज्ञ की वेदि है, अथवा समष्टि या विराट् भुवन का केन्द्र बिन्दु या नाभि है—

अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः

इस मन्त्र भाग में शरीर की सीमा में प्रवर्तमान यज्ञ की ओर संकेत है। शरीर में जो शक्ति कार्य करती है, वह छन्द या सीमा से छन्दित हो जाती है। जहां छन्द है वहीं दैवी यज्ञ है। जो शक्ति छन्द से बहिर्भूत है वह आसुरी है। प्रत्येक शरीर देश और काल के छन्द का अनुशासन मानकर जीवित है। जन्म वृद्धि और अन्त ये कालकृत छन्द हैं जो क्रमशः शरीर की देशगत सीमा में प्रकट होते हैं। इन्हें ही गायत्री-त्रिष्टुप्-जगती इन नामों से अभिहित किया जाता है।

ऊपर जिस अश्व या अश्विनी का उल्लेख किया गया है उसकी एक संज्ञा दध्यङ् अथर्वा भी है। अथर्वन् की दो व्युत्पत्तियाँ हैं, जो दोनों संगत हैं। शतपथ के अनुसार प्राण या अग्नि अथर्वा है (श० ६।४।२।१)। यजुः ११।३२ के अनुसार अथर्वा ने प्राणाग्नि का सर्वप्रथम मथन किया:—

अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने।

अथर्वा में जो 'अथर्' शब्द है वह अग्नि का वाचक है, जिससे ईरानी परम्परा में अतर-आज़र- आतिश शब्दों की परम्परा चली। पर गोपथ में एक दूसरी व्युत्पति दी है—

तद् यद् अब्रवीद अथ अर्वाङ् एनम् एतासु अप्सु अन्विच्छ इति तद् अथर्वाऽभवत् तदथर्वणोऽथर्वत्वम् (गो०पू० १।४)। 'अथ अर्वाङ्' से अथर्वा की व्युत्पति क्या संकेत करती है? पहले जल की सृष्टि और उसमें अग्नि का जन्म या गर्भधारण—यह सृष्टि की प्रक्रिया है जिसका कई बार उल्लेख ऋग्वेद में आता है—अग्नि 'अपां गर्भः' (ऋ० ३।५।३) अर्थात् जलों का पुत्र है। देवों ने दर्शनीय अग्नि को जलों में ढूँढ निकाला—

अविन्दन्नु दर्शतमप्स्वन्तर्देवासो अग्निमपसि स्वसॄणाम् (ऋ० ३।१।३)

पहले ऋतात्मक जल, फिर सत्यात्मक अग्नि—यही सृष्टि का क्रम है। माता-पिता का शुक्र शोणित ऋत या सोम है। उसमें शिशु प्राणरूप अग्नि का जन्म होता है। इस शिशु को ऋग्वेद में 'चित्र शिशु' कहा जाता है। यही क्रमशः चित होनेवाला अद्भुत प्राणतत्त्व या जीवन है। कवियों ने इसे ही 'कुमार' कहा है जो किसी देश या काल विशेष की विजड़ित घटना नहीं, वरन् सृष्टि का नित्य तत्त्व है। इसका जन्म प्रतिक्षण हो रहा है। हमारे जीवन की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना या लीला यही 'कुमार-सम्भव' है जो तारकासुर रूपी मनस्तत्त्वको मर्यादित करने वाली दैवी शक्ति है। 'चन्द्रमा मनसो जातः' के अनुसार चन्द्रमा रूपी नक्षत्र या तारक ही मन है।

जल पहली सृष्टि है—अप एव ससर्जादौ। उसमें त्रयी विद्या का बीज अग्नि या प्राण का रूप है। वही 'अथ अर्वाङ्' इस व्युत्पति के अनुसार अथर्वा है। यह अथर्वा गति का ही प्रतीक है। यह अश्व या गति प्रत्येक प्राणी के मस्तक के साथ जुड़ा है। ऐसा कोई जीवधारी नहीं जिसमें अथर्वा अश्व का शीर्षभाग न हो। इस वैदिक आख्यान का मूल तात्पर्य क्या है? हमारा जो भौतिक शरीर है वह पार्थिव है। इस पृथिवी को जो प्राणात्मक स्पन्दन प्राप्त है उसका मूल मनस्तत्त्व में है। भौतिक दृष्टि

से भी समस्त शरीर में रुधिर का अभिसरण कराने वाला यन्त्र हृदय है। यह ऐसा इंजिन है जो जन्म से मृत्यु पर्यन्त स्पन्दन या संधमन करता रहता है। जिस शक्ति से यह निरन्तर संचालित होता है वह वैद्युत शक्ति इन्द्र कही जाती है। यह अन्तरिक्षचारी मरुत्वान् इन्द्र है। पर इस प्राणात्मक शक्ति के प्रेरणा-केन्द्र मस्तिष्क में है जहाँ से हृदय नित्य संचालित रहने का विधान प्राप्त करता है। जो स्थूल मस्तिष्क है वह भौतिक है। किन्तु उसके आधार पर प्रतिष्ठित जो मनस्तत्त्व है वह देव कहा जाता है। यह ऐसे ही है जैसे सूर्य के पाँच भौतिक शरीर के मूल में भी कोई सूर्य या भौतिक मस्तिष्क को स्थूल विज्ञानगत साधनों से देखा या जाना जा सकता है। पर मस्तिष्क के अभ्यन्तर में कार्य करने वाले मानस तत्त्व का केवल अनुभव किया जा सकता है। यही देवों का देवत्व है। प्रत्येक भूतात्मक संस्थान के पीछे यही देवमयी शक्ति है। वह देवात्मक मनस्तत्त्व जो मस्तिष्क की प्रतिष्ठा है, इन्द्र कहलाता है। ऋग्वेद में इन्द्र को यथार्थ ही 'मनस्—वान्' कहा है। उसी की शक्ति अन्य सब देवों या शरीर सस्थान के प्राणावयवों को शक्ति प्रदान करती है। वैदिक परिभाषाओं में अर्थ की व्यापकता निहित रहत। है। अतएव प्राण की शक्ति भी इन्द्र है आर मनस्तत्त्व भी इन्द्र है, एवं इन दोनों स ऊपर शुद्ध आत्मतत्त्व भी इन्द्र है।

अथर्वा को दध्यङ् क्यों कहा जाता है? कालान्तर के आख्यानों में इस ही दधीचि ऋषि की संज्ञा दी गई जिसके दृढ अस्थितत्त्व से इन्द्र के वज्र का निर्माण होता है। 'दधि अञ्चतीति दध्यङ्', अर्थात् जो 'दधि' का निर्माण करता हे वह दध्यङ् प्राण है। इसे ही 'दधिक्रा' या 'दधिक्रावा' भी कहा गया है। दधि का विकिरण करने वाला यह प्राण सूर्य के केन्द्र में है। वही अपनी रश्मियों स महती ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति का विकिरण या वितरण करता हुआ भूतों का निर्माण करता है। जिसे हम दधि कहते हैं, वह दुग्ध का जमा हुआ रूप है, उसे ब्राह्मण ग्रन्थों में पृथिवी लोक का प्रतीक माना गया है—

दधि हैवास्य लोकस्य रूपम्

(शतपथ ७।५।१।३)।

गेहूँ के पौधे में पहले जल या सोम संचित होता है। उस जलीय सोम में दूध मिलाया जाता है और वही दूध रूपी सोम गेहूँ के दाने के कोटर या पोखली में भर ... है। अन्त में वही दुग्ध जम जाता है जिसे लोक भा... दधि और विज्ञान की भाषा में श्वेतसार या स्टार्च ... हैं। पानी-दूध-दही ये तीनों सोम के ही तीन रूप ... सोम के कूटने-पीसने-छानने, दूध मिलाने और पीने ... समस्त प्रक्रिया प्रत्येक प्राणिसंस्थान में नित्य होती ... वनस्पति-पशु-मनुष्य तीनों के शरीर का निर्माण सोम ... चमत्कारिक पद्धति पर ही निर्भर करता है। जो प्राण... इस सोमयज्ञ का संधमन करता है, जो जीवन की धौं... चलाकर शरीरगत उष्णता और बाह्य सूर्य की उष्णता ... सोम का अधिश्रयण और पवित्रीकरण करता है, वही ... है। यदि वह इन्धनात्मक मध्यप्राण या समिद्ध जीव... अग्नि सक्रिय न हो तो सोमसम्बन्धी कोई प्रक्रिया शरीर... सिद्ध नहीं हो सकती।

प्रत्येक शरीर या देह संस्थान में प्राणाग्नि द्वारा रस ... सोम की शुद्धि और पाचन के लिये त.न अच्छिद्र प... लगे हुए हैं—पहला छानने का नतना शरीर की कोष्ठ... या वैश्वानर है जो खाए हुए अन्नको पचाकर रसों ... छानती है। आदि से अन्त तक यह अतिसूक्ष्म ... पेचीदा रासायनिक क्रिया है जिस में कई प्रकार के ... और क्षार स्वयम् उत्पादित होकर योग प्रदान करते ... दूसरे अच्छिद्र पवित्र प्राणापान हैं आर तीसरा मन ... शरीर की धातुओं का पवित्रीकरण इन तीनों के ... उत्तरोत्तर उत्कृष्ट बनाया जाता है। ये तीनों ही ... प्रकार की अग्नियाँ हैं, अथवा एक ही अग्नि के तीन ... हैं जो इसी कारण 'त्रिषधस्थ' कही जाती है। प... पार्थिव वैश्वानर अग्नि को 'पवमान', दूसरी आन्त... प्राणापानरूपी अग्नि को 'पावक' आर तीसरी दिव्य ... मानस अग्नि को 'शुचि' कहत हैं। पहली पवमान ... को निर्मथ्याग्नि भी कहा जाता है। यहां शरीर की ... के अरणि मन्थन स मथी जाती है। जीवन की मूल... अग्नि यही है। यह पार्थिव या स्थूल है जो रासाय... रूप में उन रसों में निवास करता हे जिन स शरीर ... अन्नसामग्री का परिपाक किया जाता है।

इन्द्र और सोमपान

वेदों में इन्द्र की सबसे बड़ी विशेषता सोमपान है ... इन्द्र रूपी अग्नि निरन्तर सोम चाहती है। सोम के अ...

में क्षणभर भी अग्नि का स्पन्दन या जीवन सम्भव नहीं। वैश्वानर जठराग्नि को अन्नरूपी सोम न मिले तो उसकी क्षीणता का अन्त मृत्यु है। ऐसी ही जितनी धातुचितियाँ हैं सब एक दूसरे से अनुस्यूत हैं और सब में प्राणाग्नि का संधमन हो रहा है। अन्न से रस, रस से रक्त, रक्त से मांस, मांस से मेद, मेद से अस्थि, अस्थि से मज्जा और मज्जा से शुक्र का संस्थान पुष्ट किया जाता है। पहला सोम है, बादवाला अग्नि है। प्रत्येक को सोम और प्रत्येक को अग्नि के रूप में कार्य करना पड़ता है। ये ही अध्यात्म शरीर यज्ञ की स्पष्ट चितियाँ हैं। सर्वत्र इन्द्र के सप्त मरुतों की शृंखला व्याप्त है। प्रत्येक चिति में इन्द्र का सोमपान चालू है। सबसे अन्त में उपोज और ओज से मनःशक्ति का निर्माण होता है। मनरूपी इन्द्र को सदा सोम चाहिए। सोम के भी अनेक रूप हैं। अंशु सोम स्थूल रसात्मक सोम है। सोम का अग्नि द्वारा जहाँ मन्थन होता है वही संस्थान 'ओषधि' कहलाता है। शरीर और उसके प्रत्येक अवयव या चिति में 'ओषधि' संस्थान कार्य कर रहा है। दूसरा ग्रह सोम है जो शरीर के भिन्न भागों में या इन्द्रियों में प्राणशक्ति रूप में स्चित होता है। तीसरा राजा सोम है जो मनस्तत्त्व के रूप में आलोम आनखाग्र व्याप्त है। इसे ही चन्द्रमा कहते हैं। चान्द्र सोम की शान्ति अमृत है जो शरीर को प्रतिक्षण जीवन देकर अमर बना रही है। सब से अन्त का वाज सोम है जो हमारे भीतर बुद्धि या विज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित है और जो हमारे व्यक्तिभाव को समष्टि प्राण, समष्टि विज्ञान और समष्टि चेतना के साथ जोड़ने वाला यही वाज सोम है।

इन्द्र और बृहस्पति

इसके अधिष्ठाता बृहस्पति समष्टि विज्ञान या सूर्य के ही रूप हैं। ये इन्द्र रूपी व्यष्टि मन और व्यष्टि अहङ्कार या चान्द्र-सोम या प्रज्ञान के नियामक गुरु हैं। बृहस्पति की गौएँ किसी अद्रि की गुफा में मुंदी हैं। वही समष्टि विज्ञान या विराट् मन है। उन गौओं को व्यष्टि जीवन के लिये उन्मुक्त करने वाला इन्द्र व्यक्ति का निजी मन है। बृहस्पति और इन्द्र दोनों एक दूसरे से अविनाभूत हैं। समष्टि और व्यष्टि दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक ब्रह्म है दूसरा क्षत्र है। जो क्षत्र है वही राजा है। जो राजा है वही धर्म का पालक या व्यवस्थापक है। धर्म ही मर्यादा या सीमाभाव है। यही व्यक्ति या व्यष्टि भाव है। क्षत्र से उच्चतर ब्रह्म भाव है। वह निर्धर्मक स्थिति है। उसमें सब धर्मों का अन्तर्भाव या समन्वय रहता है। वही ऋषि की स्थिति है। राजसूय से राजा और वाजपेय से सम्राट् बनता है—**स वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राडिति नामाधत्त** (गोपथ पू० ५।८) अनेक राजाओं का अधिपति सार्वभौम सम्राट् कहलाता है। एक जनपद की सीमित पृथिवी का स्वामी पार्थिव या राजा कहलाता है। समस्त जनपदों की भूमियों को वश में करने वाला सम्राट् होता है। व्यष्टि जीवन 'राजा' और समष्टि जीवन 'सम्राट्' के समान है। प्रत्येक जीवन एक इकाई, एक जनपदराज्य या एक यज्ञ के समान है।

जीवन का अधिपति देवता इन्द्र है। एक-एक प्रजा या जनता में एक-एक इन्द्र होता है। जो उसका सर्वश्रेष्ठ और ओजिष्ठ-बलिष्ठ रूप है, वही इन्द्र कहलाता है। इन्द्र की शक्ति का स्रोत सोमपान है। सोम की वैदिक कल्पना एक ओर सरल और दूसरी ओर जटिल है। सारे विश्व की व्याख्या ही अग्नि-सोम के रूप में की गई है। **'अग्निषोमात्मकं जगत्'** यही सृष्टि का संक्षिप्त सूत्र है। जहाँ भी प्राण या जीवन का स्पन्दन है वहीं 'अग्निषोमीय, पशु का आलम्भन हो रहा है। अग्नि अन्नाद है, सोम अन्न है। अन्नाद में अन्न की आहुति ही यज्ञ है। सोम मातृतत्त्व, अग्नि पितृतत्त्व है। अग्नि अक्षर या शक्ति है, सोम क्षर या भूत है। अग्नि के विना सोम निर्जीव है और सोम के बिना अग्नि अरूप रहता है। सोम से ही भूतात्मक शरीर का निर्माण गर्भित मातृ-कुक्षि या गर्भ में किया जाता है। अग्नि रूप इन्द्र को सोम की उपलब्धि ही उसकी पूर्णता है।

सोम की व्याख्या

सृष्टि के मूलभूत शक्तितत्त्व को वेदों में पारमेष्ठ्य समुद्र कहा गया है। वही ऋत हैं—**ऋतमेव परमेष्ठि।** उस महतो महीयान् अखंड समुद्र की ऊर्मियाँ या लहरें ही विश्व का ओजायमान जीवन-प्रवाह है। उस महासमुद्र की तुलना में एक-एक विश्व एक ऊर्मि या एक मधुबिन्दु है। उस मधुबिन्दु की निरन्तर आहुति सूर्य को प्राप्त हो रही है। उसी सोमाहुति से सूर्य का जीवन संचालित है। सूर्य की एक संज्ञा इन्द्र भी है। सूर्य अपने विश्व का केन्द्र या मध्यप्राण या इन्द्र है। पारमेष्ठ्य सोम की अजस्र

धारा ही सूर्यरूपी इन्द्र का विराट् सोमपान है। समष्टि विज्ञान के एकाकार अखंड संस्थान में जो सृष्टि के नाना भावों का उदय होता है, वही उसका सोमपान या मातृ-संपर्क है जिससे व्यष्टि का अस्तित्व संभव होता है। जहाँ अग्नि में सोम की आहुति नहीं, वहाँ तम या अन्धकार व्याप्त रहता है। अग्नि का निजी रूप कृष्ण है, वह अनभिव्यक्त है। सोम से ही उसमें प्रकाश उत्पन्न होता है। जो अग्नि काष्ठ या समिधा में व्याप्त है वह कृष्ण है। अग्नि के संयोग से सोमरूप समिधा का समिन्धन ही ज्योति या शक्ति का आविर्भाव है। सूर्य या इन्द्र द्युलोक का अधिपति है। **'द्यौरिन्द्रेण गर्भिणी'** का यही तात्पर्य है। जहाँ इन्द्र है वहीं द्युलोक है और जहाँ द्युलोक है वहाँ इन्द्र की सत्ता अवश्य है। कोई ऐसी पृथिवी नहीं जिसका निजी द्युलोक न हो। जो स्थूल दृश्य है वह भौतिक रूप पृथिवी है। उसी में अग्नि का पार्थिव रूप दिखाई पड़ता है। उस पृथिवी के आधार पर स्थित अग्नि का जो विरल रूप है वही द्युलोक का इन्द्र तत्त्व है। जैसे कोष्ठ की अग्नि क्षारात्मक रसों के रूप में स्थूल है। उससे अन्ततः उत्पन्न होने वाली जो मन की विचार-शक्ति या ज्योति है वह उसका विरल रूप है, वही इन्द्र है।

शीर्ष भाग में वह ज्योति का लोक है। उसे ही ज्योति से आवृत्त स्वर्ग कहा जाता है जहाँ मनस्वान् इन्द्र का अधिष्ठान है। जैसे व्यष्टि में मन है, वैसे ही समष्टि ब्रह्माण्ड में विज्ञानात्मा सूर्य है। वहाँ सूर्य से स्थूल भौतिक सूर्य का ग्रहण नहीं करना चाहिए। सूर्य का स्थूल भूतात्मक अंश तो उसका पार्थिव भाग है। उस पार्थिव लोक पर अधिष्ठित विज्ञान या बुद्धि तत्त्व ही सूर्य का द्युलोक है। यह बुद्धि ही प्रज्ञा या धी तत्त्व है। मस्तिष्क का जो स्थूल रूप है वह उसका पार्थिव भाग है। उसी संस्थान के द्वारा प्रज्ञा भाग प्रकाशित होता है। यही नियम प्रत्येक प्राणि-केन्द्र में चरितार्थ हो रहा है। जो सूर्यगत प्रज्ञातत्त्व या प्राण है उसे निरन्तर सोम चाहिए। इन्द्र ने अपना परिचय देते हुए 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' कहा है। प्राणमय संस्थान में अभिव्यक्त प्रज्ञात्मक चितितत्त्व ही इन्द्र है। यही विश्व में जीवन की अभिव्यक्ति है जो मानव, पशु और वनस्पति के रूप में त्रेधा विभक्त है। पर सबका मूलभूत नियम एक है। एक में मन, एक में प्राण, और एक में भूतों की विशिष्टता का तारतम्य या भेद है, अन्यथा तीनों में तीनों हैं। प्रत्येक त्रिवृत् सृष्टि है।

अश्व का प्रतीक

सूर्य के एक ओर परमेष्ठी है, दूसरी ओर पृथि पारमेष्ठ्य समष्टि सोम और पार्थिव व्यष्टि दोनों सूर्य सत्ता के लिये आवश्यक हैं। सूर्य अपनी रश्मियों से भी पृथिवी पर सोम है प्रत्येक तृण और जलाशय से उस संग्रह करता है। मेघों के रूप में सोम के विशाल कलश भौतिक सूर्य के चारों ओर आकाश में संचित जाते हैं। वही सोम अभिवर्षण द्वारा पुनः पृथिवी पर आ है। उससे ओषधि-वनस्पतियों का जीवन चक्र प्रव होता है। इसी सोमाहुति परम्परा से अन्त में पुरुष निर्माण होता है। जहाँ सोम की आहुति है वहीं भूत अभिव्यक्ति या भूतात्मक शरीर की रचना होती भूतात्मक देह की संज्ञा ही 'दधि' है। इस दधि का निर्म ही दध्यङ् अथर्वा अग्नि है जिसे सोमविद्या का रहस्य है। दध्यङ् अथर्वा मूल आग्नेय प्राण है। उसके द्वारा का रहस्य दो अश्विनीकुमारों को प्राप्त होता है। प्रा पान का द्विधा विभक्त क्रम ही अश्विनी हैं। जब शरीर में अश्विनीकुमारों का निवास है तभी तक उस गति से सम्बन्ध रहता है। गति का वास्तविक रूप ज्ञानप्रसारण है।

गति के दो रूप हैं, एक गति दूसरा आगति। ग आगति का युग्म ही एक अश्व के दो रूप हैं जिन्हें अश्वि कहा जाता है। ये अश्विनी वस्तुतः विराट् विश्व व्यष्टि शरीर दोनों के लिये आवश्यक हैं। विराट् में का स्रोत सूर्य है। सूर्य की शक्ति ही व्यष्टि में सूर्या सूर्या का वर सोम है। सोम और सूर्या का प्रतिक्षण विव विवाह ही जीवन और प्राण है। सोम के सहयोगी अश्वि हैं। यदि किसी संस्थान में अश्विनी रूप प्राणापान द्विविध स्पन्दन नहीं है तो उसमें सोम या मधु का पा नहीं हो सकता।

आख्यान के रूप में कहा जाता है कि अश्विनीकु वधू-कामुक सोम के सहयोगी हैं; अथवा उनके रथ बैठकर सूर्य की पुत्री सूर्या अपने पति के यहाँ जाती है यदि विराट् सूर्य की ब्राह्मण्ड-व्यापी शक्ति का एक हमें प्रतिक्षण न मिले, यदि हमारे जीवन का स्वस्ति विश्वस्वस्तिक के साथ संतुलित न रहे तो जीवन

रथ नहीं चल सकता। उसमें विषमता उत्पन्न हो जायगी जो उसकी गति कुंठित कर देगी। अतएव सूर्य-सूर्या-सोम-अश्विनी की कथा का रहस्य स्पष्ट है।

इसका ही परिवर्तित या उपबृंहित रूप विवस्वान्—सूर्य और सरण्यू-छाया की कहानी है। सूर्य की पुत्री या दुहिता शक्ति ही सरण्यू या उसकी छाया है। यह छाया प्रत्येक चिदंश या जीव को प्राप्त हो रही है। ईश्वर आतप और जीव छाया रूप है। विराट् प्राण सूर्य और व्यष्टि प्राण छाया है। इसी छाया ने अश्वा का रूप धारण किया और सूर्य ने अश्व का। उनके सम्मिलन से दो अश्विनी कुमारों का जन्म हुआ जो प्रत्येक जीवन-केन्द्र या शरीर संस्था के सञ्चालक हैं। एक ही मूलभूत तत्त्व की द्विविध कल्पना इन आख्यानों में पाई जाती है। सबसे रहस्यात्मक शक्ति तो प्राण या जीवन है। समष्टि जीवन का व्यष्टि जीवन के साथ जो स्थिर और फलवान् सम्बन्ध है उसको बताना ही वैदिक आख्यान का लक्ष्य है।

अश्व और अश्वा शब्द सृष्टिविषयक भावों के प्रतीक हैं। गतितत्त्व का स्थूल प्रतीक अश्व है। सूर्य ही विराट् अश्व है जिसके मेध से यह विश्व विरचित हुआ है और नित्य रचा जा रहा है। यह अनादि अनन्त अश्वमेध है। विराट् प्राण ही विराट् अश्व है। उस विराट् शक्ति के एकत्र संचय या यज्ञ से ही विश्व की रचना होती है। सूर्य ही अपनी सहस्र रश्मियों से प्राणों को समञ्चित और प्रसारित करता हुआ इस यज्ञ का विधाता है। सूर्य सापेक्ष काल या संवत्सर का प्रतीक है। संवत्सर प्रजापति के घूमते हुए चक्र की संज्ञा सूर्य है। सूर्य स्वयं महाकाल का अभिव्यक्त रूप है। यह अभिव्यक्त सापेक्ष काल ही हमारे वर्ष, अयन, ऋतु, मास, पक्ष अहोरात्रों के रूपों में प्रति-पल प्रकट हो रहा है। इनकी उपलब्धि ही जीवन है। काल के ये खण्ड जब तक हमें प्राप्त होते रहते हैं तब तक आयुष्य का अमृत-सत्र चलता रहता है।

महाकाल की दृष्टि से एक ही उषा है। सापेक्ष काल की दृष्टि से अनेक उषाएँ हैं जो आती-जाती रहती हैं। यही कालचक्र का परिभ्रमण है। वस्तुतः काल रूपी अश्व का जब से आरम्भ हुआ तभी से यह उषा है। अतएव उषा काल के उपक्रम का एक छोर या सिरा है—**उषा वै अश्वस्य मेध्यस्य शिरः**। जो सिर या मस्तक है वही शरीर का एक छोर है। प्रत्येक उषा सूर्य की पुत्री है। वह किसी एक दिन थी, दूसरे दिन नहीं—ऐसा नहीं है। प्रत्येक क्षण उषा के आरम्भ का क्षण है। प्रत्येक क्षण में संवत्सर के आरम्भ की गणना की जा सकती है। काल के पटल पर जितने भी चिह्न मानव ने अंकित किए हैं वे अपनी कल्पना के अनुसार हैं, वे ध्रुव नहीं, सापेक्ष हैं। अतएव शतपथ में जो यह कहा है 'कि संवत्सर उषा में अपने रेत का सिंचन करता है और उससे कुमार का जन्म होता है। वही कुमार रुद्र है। जो रुद्र है वह अग्नि है (श० ६।१।३।८-१०)।

संवत्सर सविता है, उषा उसकी सावित्री शक्ति है। संवत्सर और उषा के संयोग से ही कुमार या प्राण या जीवन का जन्म होता है। प्रत्येक प्राणी का जीवन चक्र उसका अपना संवत्सर है। जितनी कलावधि में जो अपने जीवन का एक मंडल चक्र पूरा कर लेता है वही उसका जीवन चक्र या संवत्सर चक्र है।

अग्निरूपी अद्भुत कुमार या चित्र शिशु

प्रत्येक बीज के अभ्यन्तर में यह अग्नि रूपी प्राणतत्त्व सोया हुआ रहता है। जब बीजाधान किया जाता है तब मातृकुक्षि में वह जीवन केन्द्र जाग्रत हो जाता है। उसका वह जागरण ही जीवन का आरम्भ या यज्ञ का उपक्रम है। वही कुमार का जन्म है। यही कुमार अग्नि भी कहा जाता है और इसी की संज्ञा इन्द्र है। समिन्धन या समिद्ध अग्नि ही इस कुमार का जागरण या सदन भी कहलाता है। अशनाया तत्त्व की संज्ञा रुदन है। बालक अन्न के लिये रोता है। ऐसे ही प्राण रूपी अन्नाद अग्नि जन्म लेते ही अन्न या सोम के लिये रोता है। ऐसे ही प्राणरूपी अन्नाद अग्नि जन्म लेते ही अन्न या सोम के लिये व्याकुल हो पड़ता है। इसी अशनाया या अन्न ग्रहण की इच्छा को ब्राह्मण ग्रन्थों में रुदन कहा गया है। पृथिवी और द्युलोक के मध्य में जितनी प्राणिसृष्टि है, वनस्पति-पशु मानव जिसके त्रिविध रूप हैं, उस सबको रोदसी सृष्टि कहते हैं। रोदसी में सर्वत्र अन्न-अन्नाद एवं स्त्री-पुरुष का नियम व्याप्त है। पुष्टि और प्रजनन प्राण के दो लक्षण हैं। अग्नि से पुष्टि और इन्द्र से कामात्मक प्रजनन संभव होता है। दोनों के मध्य में प्राणात्मक शक्ति वायु है।

जहाँ जीवन है वहाँ तीन नियम कार्य करते हैं। एक तो अन्न-अन्नाद या अशनाया का नियम है। इसी से

स्थूल भौतिक देह का निर्माण होता है। यह अग्नि देवता का पार्थिव क्षेत्र है। दूसरा नियम श्वास-प्रश्वास की क्रिया है। प्राण की धौंकनी से ही अन्न का ग्रहण और परिपाक होता है। प्राणन क्रिया बीच में होने से अन्तरिक्ष लोक का वायु देवता है। इसी में तीसरी अवस्था प्रजनन की है जिसके कारण प्रत्येक बीज वृक्ष के रूप में परिवर्तित होता हुआ अन्त में पुष्प और फल के माध्यम से पुनः बीजसृष्टि में पर्यवसान पाता है। बीज से चल कर फिर बीज तक पहुँच जाना ही जीवन का पूरा चक्र है। जो बोया जाता है वह बीज या शुक्र है। उसका अन्तिम परिणाम भी बीज ही है। यह समस्त रोदसी सृष्टि शुक्र-शोणित या बीज सृष्टि है। सर्वत्र माता-पिता का द्वन्द्व आवश्यक है। अर्ध शरीर पुरुष, अर्ध शरीर नारी—यही प्राणिसृष्टि है। इसमें प्रजनन की प्रक्रिया ही इन्द्र का रूप है। प्रजनन आनन्द की सर्वोच्च स्थिति है। उसका मूल काम है। काम मन का रेत या वीर्य है—**कामस्तदग्रे समवर्ताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्** (ऋ० १०।१२९।४)।

मन की रहस्यात्मक शक्ति है। मन ही इन्द्र है—**यन्मनः स इन्द्रः** (गोपथ उ० ४।१२)। **यो जात एव प्रथमो मनस्वान्** (ऋ० २।१२।१)—यह मनस्वान् इन्द्र ही सब देवों का अधिपति देव है। शरीर में मन ही सबसे महत्त्वपूर्ण दिव्य शक्ति है। इसे ज्योतियों की ज्योति एवं अमृत ज्योति कहा गया है। ऋषि ने प्रश्न किया है—

कवीयमानः क इह प्रवोचद्।
देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥ (ऋ० १।१६४।१८)

जो कवि है और जो अपने दर्शन को छन्दों में निबद्ध करता है, वह जानता हो तो इस बात को बतावे कि विश्व में मनरूपी देवता की सृष्टि कहाँ से और कैसे हुई।

सचमुच मन की रचना बहुत बड़ा रहस्य है। इन्द्रियाँ, प्राण और शक्ति के अन्य अनेक स्फुट रूपों का स्रोत और रहस्य मन में है। मन-प्राण-वाक् (=पंचभूत) की समष्टि ही तो मानव या जीवन है। ये तीनों ही आदित्य-वायु-अग्नि देवता हैं। तीनों इन्द्र के रूप हैं जो द्युलोक-अन्तरिक्ष-पृथिवी के अधिपति हैं। इन तीनों का एक सूत्र में नध जाना ही तानूनप्त्र सम्बन्ध कहलाता है। एक के भी अभाव से शरीर की स्थिति सम्भव नहीं रहती। **इन तीनों में भी मन की महिमा सबसे विशिष्ट है।** उपनिषद् के अनुसार—'तीन वस्तुएँ आत्मा के लिये ... गईं। मन-प्राण-वाक् को आत्मा की अभिव्यक्ति के ... निर्मित किया गया। जब मन अन्यत्र चला जाता है ... देखता सुनता नहीं। मन से ही व्यक्ति देखता है, ... ही सुनता है। वस्तुतः काम, संकल्प विचिकित्सा (सं... श्रद्धा, अश्रद्धा, धृति, अधृति, ह्री, धी, भय—ये सब ... मन के ही रूप हैं। वाङ्मय, मनोमय, प्राणमय ... और क्रियाओं की समष्टि आत्मा है (बृ० उप० १।५।...

जिसे प्रज्ञा या बुद्धि कहते हैं वह मन ही है। पु... ने इस रोचक विषय का और विस्तार किया। तद... क्षेत्रज्ञ पुरुष से अधिष्ठित प्रधान या प्रकृति से सर्व... महत् का प्रादुर्भाव होता है। गुणों के वैषम्य से ... नानात्व की सृष्टि होती है। इस महान् की अनेक सं... हैं, जैसे मन, मति, बुद्धि, प्रज्ञा, चिति, स्मृति, संवित्, ... ज्ञान आदि। सबको जानने और सबकी उपलब्धि ... के कारण मन को ही संवित् कहा जाता है। जितने ... हैं वे इस मन में ही घर बनाते हैं, इसलिए इसका ... नाम 'विपुर' है। लोक में मन ही सबका अधिपति ... नियामक है, अतएव ईश्वर भी इसकी संज्ञा है। ... सबसे बृहत् है, अतएव ब्रह्मा इसकी संज्ञा है। यह उ... होता है, अतएव भव है। शरीर रूपी पुर में नि... करने के कारण यही पुरुष है। विराट् में इसकी ... सत्ता सबसे पूर्व विद्यमान है; अतएव यह स्वयम्भू भी ... जाता है। सब कार्यों का स्मरण करने से यही स्मृति ... भोग्य पदार्थों का चयन करने के कारण इसे चिति ... कहते हैं। प्रत्येक में जो बोध शक्ति है वह बुद्धि म... है। कहाँ तक कहा जाय, भूतमात्रा, प्राणमात्रा और ... मात्रा—इन तीनों मात्राओं के छन्द और विवेक का ... मन ही है। भूतमात्रा से यह भूतों का अपने भीतर ... कर लेता है, प्राणमात्रा के रूप में भूतों के पृथक् ... विभागों को बाँटता है और प्रज्ञा मात्रा के रूप में ... ज्ञान रखता है—ऐसी विलक्षण रहस्यमयी शक्ति म... (बिभर्ति मानं मनुते विभागं मन्यतेऽपि च, वायु० ४।... ५०)। यजुर्वेद में शिव-संकल्प मन्त्रों के अनुसार प्र... के अन्तःकरण में निवास करने वाला यह मन ... यक्ष है। जो कभी विश्राम नहीं लेता, सदा काम में ... रहता है, जिसमें अनन्त शक्ति है, जो जाग्रत् और ... अवस्थाओं में अपनी दूरंगम प्रवृति का परिचय देती

कभी बाहर जाता है और कभी भीतर लौट आता है, जो नश्वर भूतों में रहते हुए स्वयं अमर ज्योति है, प्रज्ञान, चिति, धृति, चित्त जिसके अनेक रूप हैं, ऋक्-यजु-साम जिसकी नाभि या केन्द्र में पिरोए हुए हैं, भूत-भविष्य-वर्तमान की समस्त रचना जिसके अन्तराल में परिगृहीत हैं, जिसके बिना कोई कर्म करना सम्भव नहीं, यज्ञों में और सभाओं में होने वाले मानवों के कर्म जिसपर निर्भर हैं, जिसका स्वरूप अजर और वेग सबसे अधिक है—ऐसा विचित्र मन प्रजापति की सृष्टि में सबसे रहस्यमयी रचना है। वह मन ही इन्द्र तत्त्व है। मन की शक्तियों का भी क्या कहीं अन्त है? 'यदि यह पृथिवी दस गुनी बड़ी हो जाय और प्रतिदिन मनुष्य संख्या बढ़ने लगे तो भी रुद्र की बृंहण शक्ति का कभी अन्त नहीं होगा' (ऋ० १।५२।११)। ऐसा जो समष्टि मन है, उसी का एक अंश हमारा व्यष्टि मन है जो प्रत्येक व्यक्ति केन्द्र में स्फुट हुआ है। यह अभिव्यक्ति ही मानव का जीवन है। यही इन्द्र की प्रति रूपता है—**रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव**। विश्व का बड़ा या छोटा कोई रूप ऐसा नहीं जो इन्द्र के बिना बन सके। इन्द्र सबकी नाभि में बैठा हुआ नभ्य प्राण है। मन के रूप में प्रतिष्ठित उसी केन्द्र से प्राणों की रश्मियाँ चारों ओर छिटकती है जिनसे व्यक्तित्व रूपी मंडल का विधान बनता है।

इन्द्र और असुर

इन्द्र अपने मंडल का अधिपति है। वह विश्वकर्मा विश्वदेव है (ऋ० ८।९१।२)। वह धर्मकृत् है (ऋ० ८।९८।१), अर्थात् अपने मंडल में मर्यादा का पालन कराने वाला है। जहाँ तक इन्द्र की सत्ता है, कोई असुर उसका धर्षण नहीं कर सकता। असुरों का पराभव इन्द्र का अपराजित यश है।

जहाँ इन्द्र का मंडल है उस पर असुरों का आक्रमण होता रहता है। इन्द्र और असुर दैवी और आसुरी वृत्तियों के प्रतीक हैं। इन्द्र अपने मंडल का राजा है। वह असुरों का प्रवेश नहीं चाहता। असुर उसके मंडल में बलपूर्वक प्रवेश कर जाना चाहते हैं। इन्द्र और वृत्र के संघर्षों को दैवासुरम् कहा जाता है। दैवासुरम् की लीला भूत, प्राण, मन इन तीनों क्षेत्रों में हो रही है। वस्तुतः सृष्टि के मूल में दो प्रधान तत्त्व हैं—एक आकर्षण, दूसरा विकर्षण। मित्र और वरुण का सम्बन्ध पारस्परिक आकर्षण पर आश्रित है। इनके भी अपने अपने मंडल हैं। मित्र को आंगिरस और वरुण को भार्गव कहते हैं। पर ये दोनों मंडल माता-पिता की तरह एक दूसरे को अपनी ओर खींचते हैं। इसके विपरीत इन्द्र और वृत्र एक दूसरे को परे फेंकते हैं। उनमें विकर्षण का नियम काम करता है। विकर्षण या विरोध ही वैर है। आकर्षण से शृङ्गार और विकर्षण से वीर रस का जन्म होता है। इन्द्र सबसे महान् वीर है। जो वीर है उसे असुरों का पराजय करना ही चाहिए। विजयी युद्ध से ही वीर की चरितार्थता होती है। प्रसुप्त शक्ति का संघर्ष के लिये जागरण ही उसका वीरण है। एक बार जब इन्द्र को युद्ध का नायक कल्पित किया गया तो उसके वाहन, आयुध, सेना आदि अनेक उपकरणों का वर्णन रोचनात्मक अर्थवाद है। इन्द्र अपने रथ में दो अश्वों का संयोजन करता है—**योजा न्विन्द्र ते हरी**। ऋषि ने प्रश्न किया है—कौन इन्द्र के हरी अश्वों को जानता है—**हरी इन्द्रस्य नि चिकाय कः स्वित्** (ऋ० १०।११४।९)। कहा है—**ऋक्सामे वै इन्द्रस्य हरी**—ऋक् और साम ही इन्द्र के दो अश्व हैं (ऐ० ब्रा० २।२४)। ऋक् और साम को रथ में जोड़कर ऋषि उसका संचालन करते हैं—

यज्ञं विमाय कवयो मनीष ऋक्सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति। यज्ञ ही रथ है जिसे विमित किया गया है, अर्थात् मात्रा या नाप-जोख के अनुसार जिसका पञ्जर-संस्थान रचा गया है। इस यज्ञीय रथ को गति देनेवाले इन्द्र के दो अश्व है और इसकी व्यवस्था करने वाले मनीषी कवि हैं। प्रत्येक का शरीर ही देवरथ या इन्द्ररथ है। मन रूपी प्रज्ञातत्त्व का अधिष्ठाता इन्द्र इस रथ का नियामक है। ऋक् और साम वाक् और मन के, प्राण और अपान के या दो अश्विनी के या गति आगति के प्रतीक हैं। इन्द्र के मंडल का व्यास ऋक् और घेरा या परिधि साम कहा जाता है।

वस्तुतः इन द्वन्द्वों का अन्त नहीं है। समस्त रचना ऋक्-साम का वितान है। और परिधि को ही वृत्त का विस्तार समझना चाहिए। मंडल छोटा हो या बड़ा उसका केन्द्र-बिन्दु एक सदृश रहता है। उस केन्द्र में स्थिति के धरातल पर गतितत्त्व प्रतिष्ठित रहता है। केन्द्र-बिन्दु या स्थिति-गति के सम्मिलित रूप को यजु कहा जाता है। यजु में यत् और जू के दो प्रतीक हैं। 'यज्जू' ही सांकेतिक

भाषा में यजु कहा जाता है। यज्जू में 'यत्' गति और 'जू' स्थिति तत्त्व का प्रतीक है। इन्हीं सांकेतिक परिभाषाओं को और आगे बढ़ाते हुए गति को वायु और स्थिति को आकाश भी कहा जाता है। इस प्रकार स्थिति-तत्त्व, गति-तत्त्व और अगति-तत्त्व इन तीनों के सम्मिलन से वृत्त का मूर्त्त रूप या मंडल का सम्पूर्ण रूप बनता है। मंडल ही जीवन की इकाई है। प्रत्येक शरीर एक एक मंडल है।

मंडल ही पुर या राष्ट्र है। मुख्य प्राण इन्द्र मंडलेश्वर है, अन्य सब प्राण उसके सामन्त कहे जाते हैं। इन्द्र का असुरों से सदा युद्ध भी रहता है क्योंकि मंडल की रक्षा का दायित्व इन्द्र पर है। पर वस्तुतः वेदों और ब्राह्मणों में जो युद्धों के वर्णन हैं, वे सब रोचक अर्थवाद हैं। इन्द्र तो अशत्रु उत्पन्न हुआ है—**अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे**, (ऋ० १०।१३३।२), **अशत्रु हि मा जनिता जजान**, (ऋ० १०।२८।६)। इन्द्र के बलों की कहानी माया है। न उसका कोई शत्रु पहले था न आज है—

यदचरस्तन्वा वावृधानो बलानीन्द्र प्रब्रुवाणो जनेषु। मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न पुरा विवित्से॥ (ऋ० १०।५४।२)

शतपथ में भी इसी की व्याख्या करते हुए कहा है—

नैतदस्ति यद्दैवासुरं यदिदमन्वाख्याने त्वत् उद्यते इतिहासे त्वत्। (शत० ११।१।६।९)।

आख्यानों में और इतिहासों में जो देवों और असुरों के युद्ध की कहानियाँ कही जाती हैं, उनमें घटना की तथ्यात्मक सचाई नहीं देखनी चाहिए। वे वर्णन तो अर्थवाद रूप हैं। वे सृष्टि-विद्या के प्रतीक हैं। इन वर्णनों में इतिहास की खोज व्यामोह है। वृत्र, बल, शम्बर, पासि—ये असुर ऐतिहासिक नहीं, ये तो आसुरी भावों के प्रतीक हैं। जैसे इन्द्र कोई पुरुषविशेष नहीं, ऐसे ही असुर भी जातीय पुरुषों के नाम नहीं। दैवासुरम् की कल्पना सृष्टि के ज्योति और तम का संघर्ष है। वृत्र एक है, और अनेक भी है, इसीलिये उसे 'वृत्राणि' भी कहा जाता है। इन्द्र की शक्तियों का अवरोधक वृत्र है—**सर्वं वृत्वा शिश्ये**। जो सबको घेरकर बैठ गया, वही आवश्यक तत्त्व वृत्र है। वृत्र का निराकरण इन्द्र का सबसे बड़ा यशस्य कर्म है। इन्द्र वृत्रहन् है। इन्द्र की विजय शाश्वत है। वह जेता और अपराजित है। 'जितं ते' कहकर उसे प्रणाम किया जाता है। सूर्य प्रकाश का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रतीक है। सूर्य और प्रकाश पर्याय हैं। **इन्द्रः सूर्यम् अरोचयत्** (ऋ० ८।३।६), अर्थात् इन्द्रत्व के कारण सूर्य रोचना या ज्योति है। इन्धन ही इन्द्रत्व है। समिद्ध अग्नि ही 'इन्ध' या इन्द्र है। प्रत्येक व्यक्ति महान् अश्वत्थ वृक्ष की एक शाखा है। इस शाखा में अग्नि गर्भित है। शाखा का ज्वलनशील होना ही जीवन है। सौ वर्ष की अवधि तक जलने के लिये जीवन या प्राणरूपी समिधा शाखा का प्रकृति निर्माण करती है। इष् और ऊर्ज् इस शाखा को जीवन के लिये अन्न और शक्ति प्रदान करते हैं। यह शाखा कटी हुई नहीं है। इसकी अव्यक्त जड़ सदा हरी रहती है, अतएव यह शाखा फूलती-फलती है। मधु या सोम चखकर जीवित रहने वाला मध्वद, सुपर्ण या जीव इस शाखा पर रहता और प्रसव करता है। एक सुपर्ण की गति है, वही सब सुपर्णों के जीवन-चक्र का नमूना है।

इन्द्र और श्वा

ऋग्वेद में इन्द्र को '**शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रम्**' (ऋ० ३।२९।९॥ ३।३०।२२) आदि मंत्रों में श्वा कहा गया है। इन्द्र भौंकने वाला कुत्ता है, यह भी विचित्र कल्पना है। इसके पीछे तत्त्वात्मक संकेत है। जो अनन्त आकाश है, इन्द्र उसका अधिष्ठाता है। इसे ही परम व्योम कहते हैं। परम व्योम में परा वाक् या अमृता वाक् का स्रोत है। उसी की भूतात्मक अभिव्यक्ति भौतिक आकाश के रूप में होती है। आकाश का गुण शब्द है। शब्द ही वाक् है। जो शब्द या वाक् है, वही ब्रह्म है। वेदों में वाग्ब्रह्म का पूरा दर्शन ही है—**यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्** (ऋ० १०।११४।८)। परा वाक् और अपरा वाक् यही विश्वसृष्टि है। जहाँ आकाश है वहीं शब्द है। परमाकाश या अमृत आकाश है वही वैयाकरणों का स्फोट और ऋग्वेद में गौरी वाक् या चतुष्पदा वाक् का पहला 'परा' नामक चरण कहा जाता है। इसी आकाश तत्त्व का अधिष्ठातृ-देव इन्द्र है। आकाश में अनन्त शब्द भरा हुआ है। स्तनयित्नु मेघ-शब्द से लेकर नाना वर्णात्मक शब्दों का उद्गम आकाश है। यही इन्द्र का भौंकता हुआ कुत्ता है। श्वान तो एक प्रतीक है। जैसे स्तनयित्नु मेघगर्जन के रूप में प्रचण्ड शब्द सहसा उत्पन्न करता है, ऐसे ही कुत्ता अपने कण्ठ में अकस्मात् शब्द को उत्पन्न करता है। अतएव श्वा आकाश का प्रतीक है।

सरमा देवशुनी वाक् की संज्ञा है। जो सृष्टि व्यापिनी शक्ति का मूल सरस्वान् समुद्र है, जिसे ब्राह्मसर भी कहते हैं, उसी के जलों का मापन व्यष्टि रचना में होता है। प्रत्येक व्यक्तिगत शरीर एक कमण्डलु है जिसमें उस सरस्वान् समुद्र का सलिल भरा हुआ है। यही सर-मा का शब्दार्थ है। सरमा ब्रह्मवादिनी है। जैसे आम्भृणी, सरस्वती आदि वाक् की संज्ञाएँ हैं ऐसे ही सरमा है। सरमा इन्द्रकी गतिविधि से परिचित है। आकाश तत्त्व कहां नहीं है? वह इन्द्र का प्रत्यक्ष रूप है। आकाश का गर्जन या शब्द इन्द्र का वज्र है। भौतिक आकाश मानों परमव्योम या अमृताकाश रूपी सरस्वान् समुद्र का फेन है। शब्द तन्मात्रा ही सृष्टि का मूल है। पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश में आकाश सबसे सूक्ष्म है। वाक्-तत्त्व आकाश नाम का पहिला भूत है। वह मर्त्या वाक् है। उससे ऊपर जो ब्रह्मतत्त्व है वह अमृता वाक् कहा जाता है। मर्त्या वाक् इन्द्र की माया या इन्द्राणी या शची शक्ति है। अमृता वाक् स्वयं इन्द्र है। केवल शब्द को और पंचीकृत पंचभूतों के समुचय को भी वाक् कहा जाता है। पंचभूतों का मूल उपादान वाक् है। देवश्वा और देवशुनी प्रतीकों का यही अभिप्राय है। शब्दात्मक आकाश के रूप में इन्द्र की सत्ता का हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। अव्यक्त रूप में इन्द्र नभ्य आत्मा है। सृष्टि में उसीका वितान होता है। यही परिबृंहती या समृद्ध रूप उसका श्वा रूप है। 'यद्वै समृद्धं तच्छुनम्' (श० ७।२।२।९)। मूल आत्मतत्त्व का विस्तृत तूलभाव कितना अनन्त है, इसका पल्लवित वर्णन विज्ञान और दर्शन के शब्दों में मिलता है। वही शुन इन्द्र है। सर्वत्र उसमें शब्द का अधिष्ठान है।

इस प्रकार वेदों में इन्द्र का स्वरूप अनेक आख्यानात्मक वर्णनों और प्रतीकों के रूप में पल्लवित हुआ है। हमारे इस शरीरात्मक विश्व में प्रज्ञानरूपी इन्द्र की महिमा सबसे अधिक और रहस्यात्मक है॥

वामदेव का इतिहास

वामदेव का कुत्तों की आंतों को पकाना

[ले०—*श्री पं० जयदेवशर्मा जी, विद्यालंकार, मीमांसातीर्थ, विद्यामार्तण्ड, वनस्थली विद्यापीठ, जयपुर*]

आज से कुछ वर्ष पूर्व "क्या वेद में इतिहास है?" नामक अपनी पुस्तक में मैंने वसिष्ठ और उसके कुलोत्पन्न ऋषियों से दृष्ट ऋग्वेद के सातवें मण्डल में आये प्रायः सभी ऐतिहासिक कहे जाने वाले स्थलों की आलोचना की थी। विषय-प्रवेश-प्रसंग से हमने पर्याप्त विस्तार से वहाँ यह भी बतलाया है कि वेद में इतिहास मानने में क्या दोष हैं, क्या त्रुटियां हैं, किसी प्रकार इतिहास का मानना व्याकरणादि शास्त्रों के प्रतिकूल है, और केवल समान नाम आजाने मात्र से वेद में उन नाम के ऐतिहासिक व्यक्तियों का इतिहास क्यों नहीं माना जा सकता। इन सब बातों को हम इस अवसर पर नहीं दोहराना चाहते।

इस प्रक्रम में हमारा प्रयास ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डलान्तर्गत तथाकथित ऐतिहासिक स्थलों का विवेचन करना होगा। इसके लिये हम श्री पं०ब्रह्मदत्त जिज्ञासुजी के आभारी हैं कि उन्होंने वेदवाणी मासिक पत्रिका के स्तम्भों में लेख देने की अनवरत प्रेरणा से हमें इस विषय पर लिखने के के लिये बाध्य कर दिया है। अनेक परिस्थितियों, काल की संकीर्णता और दैहिक कार्याक्षमता ने हमें इस प्रयास के लिये बहुत अड़चनें भी उपस्थित की हैं, तो भी अब एक कदम बढ़ा दिया है, वह पीछे हटने वाला नहीं है। अब इस प्रयास-प्रक्रम को लेखनी पूर्ण करके ही रहेगी, ऐसी भावना है। हम आशा करते हैं कि धैर्य से पाठकगण हमारे विचारों का अनुशीलन करेंगे और उनको जो और भी तत्सम्बन्ध में शङ्का वा समाधान करना हो, वे हमें सूचित करेंगे जिससे उनके प्रस्तुत किये विषय पर विशेष विचार भी इस प्रक्रम में ग्रथित हो जायें। अब हम प्रकृत विषय पर आते हैं।

पाठक शीर्षक देख कर विस्मित हो सकते हैं। परन्तु

जब अज्ञात काल से वैदिक साहित्य के ग्रन्थों में इसी तरह की बातें लिखी आती रहीं और कोई भी विशेषज्ञ विद्वान् नहीं चौंका तो हमें भी चौंकने की आवश्यकता नहीं है।

जो ऐतिहासिक पक्ष को या शाश्वत इतिहास पक्ष को मानते हैं,वे भी इस प्रकार की कथा को इतिहास सामान्य या इतिहास का शाश्वत रूप देने में यत्नशील होते हैं। उनको कदाचित् मोह हो सकता है कि यह कथा या इस कथा वाला वेदमन्त्रार्थ लुप्त हो गया तो बड़ा भारी शाश्वत इतिहास नष्ट हो जायेगा।

ऐसा शाश्वत इतिहास पक्ष तपोमय वेदमूर्त्ति श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी को अभिमत है। हमारी दृष्टि में शाश्वत इतिहास या शाश्वत अतीत वृत्त कोई पदार्थ नहीं है। जो अतीत वृत्त शाश्वत है तो वर्तमान वृत्त भी शाश्वत संभव है। इस प्रकार कथायें, चाहे कल्पित हैं चाहे घटित हैं, वे शाश्वत नहीं होतीं क्योंकि वे होकर नष्ट हो जाती हैं। उन जैसी अन्य घटनाएँ भले ही होती रहती हैं, जिनको हम इतिहास में दोहराना कहते हैं। वे केवल उन घटनाओं का प्रतिरूपक इस तात्पर्य से हैं कि उनका मूल कारण और कार्य समान होता है। तो शाश्वत वह घटना या इतिहास नहीं प्रत्युत उसके मूल में विद्यामान वह सिद्धान्त तत्त्व है जिसके आधार पर वह नये से नये पात्रों के रूप में नये से नये देश काल में भी साकार हो कर दीखता है। वह श्वाश्वत इतिहास नहीं, वह श्वाश्वत सत्य है। उसे शाश्वत वर्त्तमान और शाश्वत भविष्यत् भी कह सकते हैं। वेद के बतलाये सब तत्त्व इसी प्रकार त्रिकालाबाधित हैं। उनके लिये कोई भी क्रियापद न भूतकालिक है, न भविष्यत् कालिक है। उसकी सब क्रियाएँ वर्त्तमानकालिक या सार्वकालिक अभिप्राय रखती हैं।

जो लोग संस्कृतसाहित्य का अध्ययन करते हैं, उनकी धारणा रहती है कि लङ्, लुङ्, लिट्, क्त, क्तवतु और क्सु आदि प्रत्ययों के प्रयोग भूतकालिक हैं। वैसे ही प्रयोग वेद में देख कर वे वेद में से भी इतिहास की कहानियाँ निकालने लगते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि जिस पाणिनि के बनाये नियम रूप सूत्रों के आधार पर वे यह जान लेते हैं कि उक्त लकार और लकारान्त प्रत्यय भूतकाल बतलाते हैं, उसी पाणिनि ने वेद के लिये उन लकारों व लकारार्थ प्रत्ययों का विधान सार्वकालिक, सर्वावस्थाद्योतक केवल धातु-सम्बन्ध में धात्वर्थ मात्र बतलाने के लिये किया है। यथा—

धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः। अ० ३।४।१॥
छन्दसि लुङ्लङ्लिट्ः। अ० ३।४।६॥

ऐसी बात जब उनकी समझ में आजायेगी तब वे वे[illegible] के वाक्य का अर्थ करते हुए एक भी लौकिक भूतका[illegible] का अर्थ करने की प्रवृत्ति नहीं दिखावेंगे।

जो विद्वान् स्वतः इतिहास, शाश्वत इतिहास आ[illegible] का उच्च आघोष करते हैं, वे भी सैकड़ों स्थानों पर लुङ्, लङ्, लिट् आदि के प्रयोगों का वर्त्तमानकालिक अर्थ कर[illegible] हैं। परन्तु जब वे इस तत्त्व को भूल जाते हैं या कथा [illegible] मोह में पड़ जाते हैं तो वे इस सिद्धान्त को भूलकर भू[illegible] कालिक अर्थ में बह जाते हैं। यदि वे समझते हैं कि जै[illegible] वेद के प्रयोग शाश्वत हैं वैसे उनके भाषा के प्रयोग भ[illegible] शाश्वत एवं धातुसम्बन्ध में ही समझे जाने चाहियें, त[illegible] यह समझना उनका अपने आप को धोखे में रखना है[illegible] कारण कि वेद के अतिरिक्त अभी किसी लोकभाषा ने अपने व्याकरण का ऐसा नियम नहीं बनाया है।

विद्यावयोवृद्ध श्री पं० दामोदर सातवलेकर जी ने १८,१९ 'ऋषियों के दर्शन' एक ग्रन्थमाला में प्रकाशि[illegible] किये हैं। उनमें आप ने अभी 'वामदेव-दर्शन' लिखने का यत्न नहीं किया। हमें स्वयं इस बात का खे[illegible] है कि इस लेख में हम उक्त विद्यावयोवृद्ध महानुभाव के विचारों की चर्चा नहीं कर सकेंगे।

ऋग्वेद का सम्पूर्ण चतुर्थ मण्डल ऋषि वामदेव से दृ[illegible] है। इसमें ५८ सूक्त हैं। वामदेव एक माने हुए प्रधान ऋषि हैं। इनके इन दृष्ट सूक्तों में व्याकरण के विद्वानों के अतिपरिचित ऋग्वेद का मन्त्र चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा० (ऋ० ४।५८।३) भी है। देवों ने गौ में घृत का दर्शन किया इस सत्य को वामदेव ने वेद-मन्त्र में साक्षात् कर लोक में प्रचारित किया—

गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्॥ ऋ० ४।५८।४॥

नदियों की तरह घी की नहरें बहाने वाली गौओं का साक्षात्करण भी वेद में वामदेव ने ही किया—

घृतस्य धारा अभि चाकशीमि ॥५॥
सम्यक् स्रवन्ति सरितो न धेना ॥६॥

सुख से मनुष्यों को अन्न उपजाने की वेदाज्ञा का दर्शन वामदेव ने ५७ वें सूक्त में किया। राजा को हल लेकर कृषकवत् जोतने का वेदोपदेश वामदेव गौतमने किया

है। अतः साम्यवादी दरांती (हंसिया) हथौड़े के राज्य की जो बातें बढ़-बढ़ कर किया करते हैं, उसका प्रतिपादन वेद ने राजा को ही कृषक बनाकर, उसको हल हंसिया-हथौड़े का उपासक होने की आज्ञा देकर किया है (ऋ० ४।५७।७)।

सभ्यता आज कहती है कि महिला वर्ग सुन्दर वर्ग (fair sex) है। मानो वह महिला वर्ग का बड़ा आदर करने का श्रेय ले रही है, परन्तु वामदेव ने वेदाज्ञा को प्रथम ही देखकर प्रचारित किया—

प्रतिष्या सूनरी जनी दिवो अदर्शि दुहिता।

सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ माता (महिला वर्ग) आदर योग्य 'सुनरी' उत्तम नरी, उत्तम शोभायुक्त मानव मूर्ति है।

आज मोटर गाड़ी बिना घोड़े के चलते देख विज्ञान की स्तुति के राग अलापे जा रहे हैं, परन्तु बिना घोड़े का, बिना लगाम के घोड़े को जोतने की बात तो वामदेव ने बहुत पहले वेदमन्त्र से प्रकट कर दी थी।

अश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो
रथस्त्रिचक्रः परिवर्त्तते रजः।

एक रथ है जिसमें तीन चक्र लगे हैं, उसमें अश्व नहीं है, न लगाम है। वह आकाश में चक्कर लगाता है। बहुत ही प्रशंसनीय है। उक्थ्य है, जिसके सम्बन्ध में विद्वान् लोगों को बहुत से शास्त्रों से प्रवचन करना उचित है।

महत्तद् वो देव्यस्य प्रवाचनम् ॥ ऋ० ४।३६।१॥

आज सरकार टेक्निकल शिक्षा अर्थात् शिल्पशिक्षा पर बल दे रही है। परन्तु वामदेव ने वेद में बड़े-बड़े शिल्पी ऋभुओं के सूक्तों का दर्शन किया है और कराया है। आज मेहनत और श्रम के गीत गाये जा रहे हैं, परन्तु वामदेव ने पूर्व ही वेदघोष किया था—

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः।

देवगण (विद्वान् लोग) बिना मेहनत के मित्रता नहीं करते। वे श्रमी के ही मित्र होते हैं।

ऐसे महान् ऋषि वामदेव गौतम के सम्बन्ध में विद्वानों ने ऐसी ऊटपटांग कथाएँ गढ़ रखी हैं कि जिनकी कोई मर्यादा नहीं है। इस लेख में उन पर ही विचार करने का प्रक्रम है।

ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के १८ वें सूक्त का १३ वां मन्त्र है—

अवर्त्या शुन आन्त्राणि पेचे
न देवेषु विविदे मर्डितारम्।
अपश्यं जायाममहीयमाना-
मधा मे श्येनो मध्वा जभार॥

इस मन्त्र के सम्बन्ध में सायण ने लिखा है कि इस मन्त्र में वामदेव ने अपनी दरिद्रता बतलाते हुए इन्द्र की महत्ता बतलाई है। अर्थ—मैंने [वामदेव ने] (अवर्त्या) जीविका का उपाय न रहने पर (शुनः आन्त्राणि पेचे) कुत्ते की आंतों को पकाया। और (देवेषु मर्डितारं न विविदे) देवों में से—किसी भी अग्नि आदि चमकते हुए पदार्थों में से—एक को भी मैंने अपने को सुख देने वाला नहीं पाया और (जायाम् अमहीयमानाम् अपश्यम्) मैंने अपनी स्त्री को भी बुरी, निन्दनीय दशा में देखा और इसके पश्चात् (श्येनः मे मधु आजभार) श्येन = बाज अर्थात् बाज के समान शीघ्रगामी इन्द्र ने मेरे लिये मधु अर्थात् मीठा पानी लाकर दिया।

मन्त्र के इस प्रकार सायणकृत अर्थ को देखकर अनेक बातें वेदमन्त्र और वेद सामान्य के सम्बन्ध में उत्पन्न होती हैं। जैसे—

क्या वेदमन्त्र और वेद जिनको हम अनादि काल से आर्ष दर्शन कहते आये हैं, जिनको हम दैवी वाक् कहते हैं, जिनको हम प्रभुवाणी या प्रभुशंसित वाक् कहते हैं, उनका यही अर्थमय स्वरूप है जिसमें वामदेव ऋषि को कुत्ते की आंते पकाते हुए अपनी भूख मिटाते पावें ? क्या वेद यही है जिसमें वामदेव आदि ऋषियों ने अपनी आत्मकथा के अंश भी लिख दिये हैं ? क्या ऋषि इतने हीन थे कि भूख से पीड़ित होकर कुत्ताखोरों या श्वपच का सा हीन कर्म कर सकते थे ? क्या गोतम ऋषि के सन्तान वामदेव की यही दुर्दशा हुई थी ? क्या उसकी धर्म-पत्नी ऐसी दशा में पहुँच गई थी कि वामदेव को लिखना पड़ा कि अपनी पत्नी को मैंने अमहीयमाना देखा अर्थात् वह अश्लाघ्य दशा को प्राप्त हो गई। वामदेव जैसे पुरुष ने, वामदेव जैसे ऋषि ने अनेक राजाओं से बड़े-बड़े दान प्राप्त किये। उन राजाओं के रहते हुए भी वह घर की दुर्दशा का कोई प्रबन्ध नहीं कर सका ? जब वेद का काल रहा होगा, ब्राह्मण, ऋषि सिर आँखों पर रहें होंगे, तब भी वेदज्ञ, वेदवक्ता ऋषियों की आर्थिक दशा हीन

और खाने पीने पकाने में निकृष्टतम स्तर के भंगी मेहतरों का सा व्यवहार रहा होगा ?

सच बात तो यह है कि ऐसी बातों पर विश्वास करने को हमारा चित्त तो नहीं चाहता। तब क्या किया जाय ? करना यह है कि इस प्रकार के वेद के स्थलों का आमूल-चूल विवेचन किया जाय।

इस लेख में इसी प्रकरण पर विवेचन करना ही अभीष्ट है।

एक अर्वाचीन लेखक श्री पं० रामगोविन्द त्रिवेदी ने हिन्दी भाषा में सायणभाष्य के अनुसार ऋग्वेद का अनुवाद किया है। आपने इस वर्ष के कल्याण के प्रथम ५ अंकों में एक बड़ा विस्तृत लेख "ऋग्वेदीयमन्त्रद्रष्टा" शीर्षक से प्रकाशित किया है। उसमें आपने वामदेव गौतम ऋषि के सम्बन्ध में निम्नलिखित जानकारी दी है।

(१) ऋ० ४।४।११ में ऋषि वामदेव ने गोतम को अपना पिता बतलाया है।

[महो रुजामि बन्धुता वचोभिः
तन्मा पितुर्गोतमादन्वियाय॥

सायणानुसार अर्थ—(वचोभिः) तुझे उद्देश्य करके किये स्तोत्रों से पैदा हुई यह (बन्धुता) बन्धुता है। उससे (महःरुजामि) मैं बड़े राक्षसों का नाश करता हूँ। (तत् मा पितुः गोतमात् अनु इयाय) वह स्तोत्रात्मक वचन वामदेव के पास पिता=उत्पादक से आया था।]

(२) ऋ० ४।२।१५ में वामदेव ने कहा है कि हम सात (अर्थात् ६ अंगिरा और वामदेव) मेधावी हैं। हमने ही अग्नि रश्मियों को उत्पन्न किया है। इनके यज्ञ-रक्षक इन्द्र थे।

ऋ० ४।१६।१८ में वामदेव कहते हैं कि—गर्भ में रह कर ही मैंने जाना था कि परमात्मा के समीप से सब देव उत्पन्न हुए हैं। इससे ज्ञात होता है कि वामदेव जातिस्मर और ब्रह्मज्ञानी थे।

सायण का मत

(१) अधा मातुरुषसः सप्त
विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अंगिरसो भवे-
माद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः॥
ऋ० ४।२।१५॥

सायणानुसार अर्थ—वामदेव अन्य अंगिरों के कहता है—और माता उषा से हम गिनती में सात (बुद्धिमान् पुरुष) हैं, (प्रथमाः वेधसः नॄन् जायेम) हम श्रेष्ठ व्यक्ति होकर, वेधा=अग्नि के सेवक (…) रश्मियों को उत्पन्न करें। (दिवः पुत्राः अंगिरसः भ…) हम दिव्=आदित्य के पुत्र अंगिरस ऐश्वर्यवान् (…) (शुचन्तः धनिनं अद्रिं रुजेम) हम प्रदीप्त=तेजस्वी … हुए, धनी अर्थात् जलवाले मेघ को वर्षा के लिये … फोड़ करें अथवा—पणिनामक असुरों से चुराये गोध… धनी, पर्वत को तोड़-फोड़ डालें।

अंगिरसों का आदित्य का पुत्र होना ऐतरेय ब्रा… में इस प्रकार लिखा है—"तस्य यद् रेतसः प्र… उददीप्यत तदसावादित्योऽभवत्.. ... . येऽ… आसँस्तेऽङ्गिरसोऽभवन्। (ऐ० ब्रा० ३।३४)

(२) भुवोऽविता वामदेवस्य धीनाम्।
ऋ० ४।१६…

सायणानुसार अर्थ—हे इन्द्र ! तू (वामदेवस्य) वा…देव नामक मन्त्रद्रष्टा मुझसे सम्बद्ध (धीनाम्) कर्मों… (अविता भुवः) रक्षक हो।

(३) गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनि… विश्वा॥ ऋ० ४।२७।१॥

सायणार्थः—अत्रैष श्लोकः पठ्यते—

श्येनभावं समास्थाय, गर्भाद् योगेन निःसृत…
ऋषिर्गर्भे शयानः सन् ब्रूते गर्भे नु सन्निति।

गर्भे नु गर्भे एव सन् विद्यमानः अहं वामदेवः ए… इन्द्रादीनां देवानां विश्वा विश्वानि सर्वाणि जनिमानि जन्… अनु अवेदम् आनुपूर्व्येण अज्ञासिषम्। परमात्मनः सका… सर्वे देवा जाता इत्यवेदिषमित्यर्थः।

अर्थात्—गर्भ में रहते हुए मैं (वामदेव) दे… इन्द्रादिदेवों के सब जन्मों को आनुपूर्वी से जान लिया… अर्थात् परमात्मा से सब देव पैदा हुए हैं।

आगे सायण तथा षड्गुरु शिष्य का सम्मिलित मत दिखाया जायेगा।

कात्यायन का मत

ऋक्सर्वानुक्रमणीकार कात्यायन ने वामदेव के सम… में जो विशेष लिखा है, वह इस प्रकार है—

वामदेवो गौतमश्चतुर्थं मण्डलमपश्यत्। अ… हौता० (सू० १५) दश गायत्रम्। ऋषिर्बोध… इत्याभ्यां सोमकं साहदेव्यमभ्यवदत्। पराभ्याम…

श्विनावायुरचायत। (सू० १८) अयं पन्थाः सप्तोना संवाद इन्द्रादितिवामदेवानाम्। (सू० २६) अहं मनुः सप्त, आद्याभिस्तिसृभिरिन्द्रमिवात्मानमृषिस्तुष्टा वेन्द्रो वा आत्मानम्। परा नवाष्टौ वा श्येनस्तुतिः।

अर्थात्—गौतम वामदेव ने चतुर्थ मण्डल का दर्शन किया। सूक्त १५ में आदि की १० ऋचाएँ गायत्री छन्द में हैं। ऋषि ने बोधद् इत्यादि दो मन्त्रों से साहदेव्य के सम्बन्ध में कहा है। अगले दो मन्त्रों से साहदेव्य की अश्वियों से आयु की याचना की है। (सू० १८) अयं पन्थाः० यह सूक्त ७ मन्त्र कम बीस अर्थात् १३ मन्त्रों का है। इसमें इन्द्र, अदिति और वामदेव का संवाद है। (सूक्त २६) अहं मनु० सात ऋचाओं का सूक्त है। आदि के तीन मन्त्रों में ऋषि ने अपनी इन्द्र के समान स्तुति की है। या इन्द्र ने अपने आप (आत्मा) की स्तुति की है।

इतना अंश कात्यायन ने ऐतिहासिक अंश से सम्बद्ध बतलाया है। अब इस सम्बन्ध में बृहद्देवता का मन्तव्य वामदेव के सम्बन्ध में दर्शाते हैं—

बृहद्देवता का मत

बृहद्देवता (अ० ४।१२६–१३३ तक) में वामदेव के सम्बन्ध में लिखा है—

देवर्षिपितृपूजार्थं पपाचान्त्राणि यच्छुनः।
यस्य वै श्येनरूपेण आहरद् वृत्रहा मधु ॥१२६॥
सोऽग्निं तु पञ्चदशभिरिन्द्रं षोडशभिः परैः।
ऋषिस्त्वामिति तुष्टाव सूक्तैरेति तु गौतमः ॥१२७॥
ऋषिर्बोधदिति द्वाभ्यां स्तौति सोमकमेव तु ॥१२९॥
तस्यैव चायुषोऽर्थाय पराभ्यामश्विनौ स्तुतौ।
अंजसा न जनिष्येऽहं ब्रुवाणं गर्भमेव तु ॥१३०॥
अन्वशाददितिः पुत्रमिन्द्रमात्महितैषिणी।
स जातमात्रो युद्धाय ऋषिमेवाजुहाव तु ॥१३१॥
दिनानि दश रात्रीश्च विजिग्ये चैनमोजसा ॥१३२॥
स तं क इममित्यस्यां विक्रीणन्नृषिसंसदि।
स्वयं तेनातितुष्टाव नकिरिन्द्रेति गौतमः ॥१३३॥

अर्थ—देव ऋषि और पितरों की पूजा के लिये जिसने (शुनः अन्त्राणि) कुत्ते की आंतों को पकाया, उस वामदेव के लिये वृत्र के नाशक इन्द्र ने श्येन (बाज पक्षी) होकर मधु प्राप्त कराया। उस वामदेव ऋषि ने प्रथम १५ सूक्तों से अग्नि और अगले १६ सूक्तों से इन्द्र की स्तुति की और 'बोधद्०' इत्यादि दो मन्त्रों से ऋषि ने सोमक (पांचाल) राजा की स्तुति की। उसी की आयु की वृद्धि के लिये अगले दो मन्त्रों से अश्वियों की स्तुति की। 'मैं जल्दी पैदा नहीं होऊंगा' इस वचन को बोलते हुए गर्भ को देख अपना हित चाहने वाली अदिति ने अपने पुत्र इन्द्र को आज्ञा दी। उसने उत्पन्न होते ही युद्ध के लिये ऋषि को ललकारा। दस दिन दस रातों में उस ऋषि ने अपने पराक्रम से उस इन्द्र को जीत लिया। ऋषि 'क इमम्' (४।२४।१०) इस मन्त्र से ऋषियों की सभा में इन्द्र को बेचता है। और 'नकिरिन्द्र०' (४।३० सू०) सूक्त से गौतम वामदेव ने स्वयं इन्द्र की स्तुति की।

षड्गुरुशिष्य का मत

सायण ने वामदेव के सम्बन्ध में १८ वें सूक्त के प्राग्वचन में कुछ श्लोक लिखे हैं, वे षड्गुरुशिष्य की टीका (वेदार्थदीपिका ४।१८) से उद्धृत किये हैं। यथा—

अस्मिन् सूक्ते इन्द्रादितिवामदेवसंवादरूपिणी काचिदाख्यायिका श्लोकरूपेण सूच्यते—

गर्भस्थो ज्ञानसम्पन्नो वामदेवो महामुनिः।
मतिं चक्रे न जायेय योनिदेशात्तु मातृतः ॥१॥
किन्तु पार्श्वोदितश्चेति ज्ञात्वा तु जननी त्विदम्।
दध्यौ शान्त्यै शचीं देवीमदितिन्त्विन्द्रमातरम् ॥२॥
अदितिस्त्विन्द्रसहिता गर्भिणीमभ्यगाद् वने।
अदितीन्द्रवामदेवाः संवादमथ चक्रिरे ॥३॥
संवाद इति सूत्रेण कथा सैषात्र सूच्यते।
नोक्तो वक्तृविशेषोऽत्र ह्युपदेशेष्वनुक्तितः ॥४॥
अर्थतस्त्ववगन्तव्यो वक्तृभेद इति स्थितिः।
इन्द्रोऽदिति ऋषिश्चास्मिन् मिथःसूक्ते समूचिरे ॥५॥
गर्भे शयानं सुचिरं मातुर्गर्भादनिर्गतम्।
वामदेवं प्रति ब्रूत आद्ययर्चा शतक्रतुः ॥६॥
द्वितीयादिभिरर्धर्चैऋषिरत्राह पञ्चभिः।
न ही न्वस्येति सप्त स्युरर्धर्चा अदितेर्वचः ॥७॥
ममच्चन त्वा युवतिरित्यृचः पञ्च वै मुनेः।
दौर्गत्यशान्तिमत्राह वामदेवस्तथान्त्यया ॥८॥
एवमर्थाद् वक्तृभेद इति बह्वृचशासनम्।
अर्थो विवेकस्पष्टत्वाद् उपदेशेषु नेरितः ॥९॥
ऋषिदैवतसिद्ध्यर्थं विवेकादर्थ ईरितः ॥

(सायण भा० ४।१८।१)

ये श्लोक षड्गुरुशिष्य ने सर्वानुक्रमणी की टीका करते हुए लिखे हैं। ये उसके अपने हैं या अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत किये हैं, इसका निश्चय नहीं है। कदाचित् ये किसी प्राचीन 'आर्षानुक्रमणी' के हों। इनका अर्थ इस प्रकार है—

इस सूक्त (ऋ० ४।१८) में इन्द्र, अदिति, और वामदेव इनके संवाद रूप से कोई आख्यायिका श्लोकरूप से बतलाई जाती है—

महामुनि वामदेव जब गर्भ में ही रहे तब वे ज्ञान से सम्पन्न थे। उनको यह बुद्धि उत्पन्न हुई कि माता के गर्भ से मैं योनिमार्ग से उत्पन्न न होऊँ, किन्तु इधर-उधर की कोख से उत्पन्न होऊँ। यह बात माता ने जान ली। तब उसने इस बात के समाधान के लिये देवी शची (इन्द्र की पत्नी) और इन्द्र की माता अदिति का ध्यान किया। अदिति इन्द्र सहित वन में वामदेव की गर्भिणी माता के पास आई। तब अदिति, इन्द्रमाता और शची और वामदेव का संवाद हुआ। अनुक्रमणिका में 'संवाद०' सूत्र से इस कथा को सूचित किया है। उपदेश (अनुक्रमणिका सूत्रों) में जो विशेष वक्ता का नाम कहा है, वह पृथक् २ नहीं बतलाया है। वक्ता का भेद अर्थात् कौनसा वचन किसका है यह विवेक अर्थभेद से जानना चाहिये।

इस सूक्त में इन्द्र अदिति और ऋषि इन तीनों ने वचन कहे हैं। प्रथम ऋचा (अयं पन्था०) से इन्द्र जब वामदेव बहुत देर तक माता के गर्भ से न निकले, गर्भ में पड़े रहे तब वामदेव को कहता है। आगे "नाहमतो०" द्वितीय ऋचा से आरम्भ कर पाँच अर्ध ऋचाओं से ऋषि वामदेव ने वचन कहे हैं। न ही न्वस्य० मन्त्र के अर्धर्च से सात अर्धर्च (किंस्विद्० मन्त्र तक) अदिति का वचन है। ममचन० मन्त्र ८ से १२ तक पाँच ऋचाएँ ऋषि ने कही हैं। ऋचा १३ से वामदेव ने दुर्गति या दरिद्रता की शान्ति की बात कही है। इस प्रकार अर्थभेद से वक्ता का भेद होता है, ऐसा बहुत विद्वानों का उपदेश है। यह बात विवेक से स्पष्ट हो जाने के कारण उपदेशों (सूत्रों) में नहीं कही है। ऋषि और देवता के ज्ञान के निमित्त यह बात यहाँ कह दी गई है।

इस प्रकार श्री षड्गुरुशिष्य एवं सायण की सम्मिलित सम्मति बतलाकर अब हम नीतिमंजरी के कर्त्ता द्या द्विवेद का मत इस सम्बन्ध में उद्धृत करते हैं।

द्या द्विवेद की नीतिमंजरी

श्री पण्डित द्या द्विवेद ने नीतिमंजरी पुस्तक बनाई है। इस पुस्तक में उक्त पण्डित ने ब्राह्मणग्रन्थ, बृहद्देवता और सायणभाष्यादि के अनुसार ऋषियों और देवताओं के सम्बन्ध में जो कथानक आख्यान आदि हैं, उनके आधार पर १६४ नीतिविषयक उपदेश श्लोकबद्ध किये हैं और ऋषियों और देवताओं को दृष्टान्तरूप में प्रस्तुत किया है। श्लोक में दृष्टान्त रूप में जिस कथा का निर्देश किया है, उसका आधारभूत वेदमन्त्र और उसपर सायणभाष्य भी लिखकर कथा को साधार प्रमाणित करने तथा [illegible] करने का यत्न किया है। प्रसंगतः यदि बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी और निरुक्तादि के भी वचन प्राप्त हुए, तो उनको भी संकलित कर दिया है।

ऋषि वामदेव के सम्बन्ध में उक्त विद्वान् श्री द्या द्विवेद ने अपना मन्तव्य इस प्रकार प्रकट किया है (पृ० १६०)—

आपद्यपि धर्मं न त्यजेद् इत्यर्थ आह—

न त्यजेद धर्ममर्यादामपि क्लेशदशां गतः।
वामदेवः शुनो धर्मं पक्त्वाऽऽन्त्राणि चचार यत् ॥७॥

विद्वान् क्लेशदशां गतोऽपि प्राप्तोऽपि धर्ममर्यादां स्वकीयस्य पञ्चमहायज्ञ षट्कर्मविहितस्य मर्यादां न त्यजेत्, वामदेववत्। यथा वामदेवः कष्टदशां प्राप्तः शुनः शुनकस्य आन्त्राणि पुरीतन्ति पक्त्वा [illegible] यस्माद् धर्मं विहितं कर्म चचार। तदर्थेयमाख्यान पूर्विका ऋक् अवर्त्त्या शुनः (ऋ० ४।१८।१३) इत्यादि।

सत्पुरुषान् लोभान्न त्यजेदित्यर्थ आह—

ये कुर्वन्ति दयां भाग्यात् सन्तो लोभात्त्यजेन्न तान्।
दशभिर्धेनुभिर्नेन्द्रं वामदेवोऽत्यजच्चिरम् ॥

ये सन्तः सत्पुरुषाः भाग्यात् पूर्वजन्मकृतसंचय[illegible] दयां वात्सल्यं कुर्वन्ति तान् विचक्षणः कश्चित् लो[illegible] प्रदर्श्य हापयति। वामदेववत् दयापरान् न त्यजेत्। यथा वामदेवः दशसङ्ख्याभिः धेनुभिः गोभिः [illegible] चिरं चिरकालं नात्यजत् न तत्याज। तद्दर्शनाय इ[illegible] ऋचौ भूयसा०, क इमं० (ऋ० ४।२४।९,१०)।

अर्थ—आपत्ति में भी धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये इस अर्थ को बतलाने के निमित्त कहता है—"न त्य[illegible]जेत्०"।

अर्थात्—विद्वान् क्लेश की दशा को प्राप्त हो कर भी अपनी धर्म मर्यादा पञ्च महायज्ञ करने और मनु आदि

शास्त्रों में कहे छः कर्म (अध्ययन अध्यापनादि) की मर्यादा को न छोड़े, जैसे वामदेव ने नहीं छोड़ी। अर्थात् जैसे वामदेव ने कष्टदशा को प्राप्त हो कर कुत्ते की आंतों को पकाकर भी अपने विहित धर्म का आचरण किया, उसी प्रकार अन्यों को भी अपना धर्म आपत्ति में भी नहीं छोड़ना चाहिये।

इसी बात को बतलाने वाली यह ऋचा अवर्त्या शुनं० (ऋ० ४।१८।१३) है।

इसके आगे द्या पण्डित ने गर्भस्थो०आदि पूर्व लिखित षड्गुरुशिष्य के उद्धृत श्लोकों को लिखकर सायणभाष्य उद्धृत किया है, जिसकी आलोचना हम आगे समीक्षा-प्रकरण में करेंगे। और इसके आगे बृहद्देवता की कारिकाएं भी लिखी हैं, जिनको हमने पूर्व उद्धृत कर दिया है।

वामदेव के सम्बन्ध में ही द्या पण्डित ने दूसरा उपदेश दिया है कि—जो सत्पुरुष भाग्य से अर्थात् पूर्व जन्मों के पुण्य-संचय से किसी पर दया व प्रेम भी करते हैं दूसरा पुरुष लोभ दिखलाकर उनको छुड़ा देता है। जैसे वामदेव को दश गौओं का लोभ दिखाकर उससे 'इन्द्र' ले लिया। परन्तु मनुष्य को चाहिये कि वह लोभ में पड़ कर अपने पर दया दिखाने वालों को लोभवश न छोड़े, जैसे वामदेव ने दश गौएं लेकर भी उसे चिर काल तक के लिये नहीं छोड़ा। इस बात को बतलाने के लिये दो ऋचाएं हैं। जैसे—(१) भूयसा० (ऋ० ४।२४।९)। (२) क इमं (ऋ० ४।२४।१०)।

इस इन्द्र-त्याग की कथा पर द्या पण्डित ने सायणभाष्य से ही छः अन्य श्लोकों को उद्धृत किया है। जिनको हम समीक्षा-प्रकरण में लिखेंगे।

इसी प्रसंग में हम मनु का भी वामदेव के सम्बन्ध में एक श्लोक उद्धृत करते हैं जैसे—

श्वमांसमिच्छन्नार्त्तोऽत्तुं धर्माधर्मविचक्षणः।
प्राणानां परिरक्षार्थं वामदेवो न लिप्तवान्॥

मनु० १०। १०६॥

अर्थ—ऋषि वामदेव पीड़ित होकर धर्माधर्म को जानने वाला होकर भी प्राणों की रक्षार्थ कुत्ते का मांस खाने को तैयार हो गया था, तो भी वह दोष से लिप्त नहीं हुआ।

यहाँ वेद का कोई संकेत नहीं है।

इन सब विद्वानों के लेखों को संकलन करने से हमारा अभिप्राय यही है कि हमारे सामने कुछ विचार-बिन्दु उपस्थित हो जाते हैं। जिन पर हम अपनी निर्णायक विचारधारा को आगे बढ़ा सकते हैं। वे विचार-बिन्दु क्या हैं। उनका समाधान क्या है। इस बात की चर्चा हम अपने अगले लेख में करेंगे। यह समस्याएं केवल आर्य विद्वानों के लिये ही नहीं हैं प्रत्युत प्राचीन ऋषियों पर पूज्य बुद्धि रखने वाले और वेदों को सर्वेसर्वा मानने वाले सभी भारतीय विद्वानों के लिये एक विचारणीय विषय है॥

वेदार्थ की प्रक्रिया और वेद में इतिहास

ऋषि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द के विचारों का तुलनात्मक अनुशीलन

[*ले० श्री पं० भवानीलाल जी भारतीय एम. ए., सिद्धान्त-वाचस्पति*]

जब वेद को हम परमात्मा का नित्य ज्ञान स्वीकार कर लेते हैं तो यह स्वतः ही स्पष्ट हो जाता है कि उसमें किसी प्रकार का लौकिक इतिहास नहीं हो सकता। पाश्चात्य विद्वानों ने जब से वैदिक अनुशीलन को अपने हाथों में लिया है तब से वेद के आधार पर भारत के पुरातन इतिहासविषयक अनेक कल्पनायुक्त स्थापनायें उनके ग्रन्थों में की गईं। यद्यपि सायण आदि मध्यकालीन वेदभाष्यकार वेदों में अनित्य इतिहास की असम्भावना को दृढ़ता से स्वीकार कर चुके थे, तथापि आर्ष दृष्टि और क्रान्तदर्शिता के अभाव के कारण उन्होंने अपने वेदभाष्यों में यत्र-तत्र अनेक कपोलकल्पित इतिहासाभासयुक्त कथाओं को वेद-मंत्रों पर मँढ़ा है। परन्तु वेदों से इतिहास निकालने का विशेष आग्रह यूरोपीय विद्वानों में ही दीख पड़ा।

ऋषि दयानन्द ही सम्भवतः प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने इसका तीव्र प्रतिवाद किया। उनके विचारानुसार वेद में प्रयुक्त संज्ञायें किसी व्यक्ति, स्थान अथवा घटना-विशेष की ओर संकेत नहीं करतीं। वेदों में प्रयुक्त शब्द यौगिक हैं—रूढ़ नहीं। अतः वेदवर्णित इतिहासाभासयुक्त कथाओं की संगति उन्हें आलंकारिक (Allegorical) मान कर ही लगाई जा सकती है। स्वामी दयानन्द ने अपनी ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में वेद में वर्णित ऐसी आलंकारिक कथाओं का स्पष्टीकरण भी किया है। इस ग्रन्थ के 'ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य प्रकरण' के अन्तर्गत उन्होंने इन्द्र और वृत्र के युद्ध को सूर्य और मेघ का रूपक माना है और निरुक्त के आधार पर यह सिद्ध किया है[१] कि इन्द्र और वृत्र की यह लड़ाई कोई अतीतकालीन वास्तविक युद्ध नहीं था, अपितु यह तो आकाश में नित्य होने वाला सूर्य और मेघ का युद्ध है।

ऋषि दयानन्द द्वारा निर्दिष्ट इस तथ्य की पुष्टि में आर्यसामाजिक विद्वानों ने विस्तृत अनुसंधान किये और अनेक ग्रन्थों[२] की रचना कर यह सिद्ध करने का यत्न किया कि वेद में लौकिक इतिहास ढूँढ़ना साहसमात्र है। स्वामी विवेकानन्द की रचनाओं में भी एक उदाहरण हमें ऐसा मिला है जिससे ज्ञात होता है कि वे भी वेद में लौकिक इतिहास नहीं मानते थे और ब्राह्मण आदि जिन ग्रन्थों में ऐसा इतिहास मिलता है, उसे वे वेद की संज्ञा देने के लिये भी तैयार नहीं थे। उन्होंने लिखा है—"उसका जो अंश लौकिक अर्थवाद अथवा इतिहास-सम्बन्धी बातों की विवेचना नहीं करता, वही अंश वेद है।[३]

वेद में इतिहास के निषेध का प्रश्न वेद-व्याख्या करने की प्रक्रिया पर निर्भर करता है। जिन शब्द को व्यक्ति या स्थानवाचक मानकर इतिहास के आग्रही विद्वान् वेदों में इतिहास ढूँढ़ निकालते हैं, नैरुक्त-प्रक्रिया से अर्थ करने वाले विद्वान् उन्हीं शब्दोंका यौगिक [...] कर वेद को शाश्वत सत्यों का प्रतिपादक सिद्ध करते हैं।

अतः वेदार्थ की प्रक्रिया के सिद्धान्त को समझना [...] आवश्यक है। वेद-भाष्यकारों का प्रारम्भ से ही यह [...] रहा है कि वेद के विविध अर्थ—आध्यात्मिक, आधिदै[...] और आधिभौतिक—किये जासकते हैं। सायण से पूर्व [...] स्कन्द स्वामी, भट्ट भास्कर आदि भाष्यकारों ने त्रिवि[...] की प्रक्रिया का अनुसरण करते समय वेदों के अर्थ [...] थे। ऋषि दयानन्द ने भी अपना वेदभाष्य करते [...] इसी पुरातन प्रणाली का अनुसरण किया। वेद का [...] केवल याज्ञिक प्रक्रिया के अनुसार ही हो सकता है, [...] सिद्धान्त से उनका घोर विरोध था। अपनी ऋग्वेदादिभा[...] भूमिका के शंका-समाधान विषय में उन्होंने सायण [...] याज्ञिक मत के पोषक भाष्यकारों की आलोचना [...] हुए लिखा—

"यत् सायणाचार्येण वेदानां परममर्थमविज्ञा[...] 'सर्वे वेदाः क्रियाकाण्डपराः सन्ती'त्युक्तम् तदन्यथा[...] कुतः, तेषां सर्वविद्यान्वितत्वात्।"[४]

अर्थात् जो सायणाचार्य ने वेदों के परमार्थ को न जा[...] कर 'सारे वेद क्रियाकाण्ड—प्रधान हैं,' ऐसा कहा है [...] मिथ्या ही है। क्योंकि वेद सर्व विद्याओं से अन्वित हैं।

इसी प्रकार 'वेदविषय विचार' प्रकरण के अन्त[...] ऋषि यह बतलाते हैं कि वेद में विज्ञान, कर्म, उपास[...] और ज्ञान, इन चार विषयों का वर्णन हुआ है। [...] इनमें भी विज्ञान विषय ही प्रमुख है। यह विज्ञान [...] के Science के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। परमे[...] से लेकर तृण पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान वेदों से होता है [...] इनमें भी ईश्वर का अनुभव मुख्य है। सब पदार्थों [...] प्रधान होने के कारण वेदों का तात्पर्य भी ईश्वर [...] विवेचन करने में ही है।[५] इसमें उन्होंने 'सर्वे वे[...]

१. तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। निरुक्त अ० २। खं. १६-१७।

२. वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय—पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ, वेदमें इतिहास नहीं—पं० प्रियरत्न आर्ष, यास्क[...] युग की वेदार्थशैलियाँ पं० चमूपति एम. ए., क्या वेद में इतिहास है ? —पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार।

३. चिन्तनीय बातें पृ० १३.

४. ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका पृ० ४३६।

५. अथ चत्वारो वेदविषयाः सन्ति। विज्ञानकर्मोपासनाज्ञानकाण्डभेदात्। तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो [...] मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थे साक्षाद्बोधान्वयत्वात्। अत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः [...] अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्तीश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्। पृ० ५५।

यत्पदमामनन्ति[1] आदि कठोपनिषद् के वचनों का प्रमाण भी दिया है।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि ऋषि दयानन्द जहाँ वेद में ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान की सत्ता स्वीकार करते थे, वहाँ वे वेदों का चरम तात्पर्य सर्वोपरि परमात्मा का वर्णन करने में ही मानते थे। साथ ही वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया को भी वे स्वीकार करते थे। उनका वेदार्थ के विषय में सर्वोपरि बल नैरुक्त प्रक्रिया का अनुसरण करने में लगा था क्योंकि वे जानते थे कि वेद के शब्द यौगिक हैं—रूढ़ नहीं। उदाहरणार्थ 'अग्नि' शब्द से केवल चूल्हे की आग या यज्ञाग्नि समझना ही भूल होगी। 'अग्नि' शब्द की निरुक्ति करते हुए आचार्य यास्क ने लिखा है—"अग्निः कस्माद् अग्रणीर्भवति'।[2] अर्थात् अग्रणी होने से अग्नि शब्द सिद्ध होता है। अब अग्नि का तात्पर्य उन सब अर्थों में घट सकता है जो आगे बढ़ने या नेतृत्व करने के बोधक हैं। इसी नियम के अनुसार ऋषि दयानन्द ने अग्नि का अर्थ प्रसंगानुसार परमेश्वर, राजा, विद्वान्, नेता, सेनापति और ऋत्विक् आदि किया है।

वेदभाष्य की यह प्रणाली ऋषि दयानन्द की कोई मनःप्रसूत नवीन कल्पना नहीं थी। ब्राह्मण ग्रन्थ, निरुक्त, तथा अन्यान्य प्राचीन ग्रंथों में वेदार्थ के लिये यही प्रणाली स्वीकृत की गई है। फिर भी जिस समय ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेद के कुछ प्रारम्भिक मन्त्रों की इस शैली के अनुसार व्याख्या प्रकाशित कराकर काशी संस्कृत कालेज के प्रिन्सिपल श्री ग्रिफिथ, कलकत्ता संस्कृत कालेज के वाइस प्रिन्सिपल पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न और पंजाब विश्वविद्यालय के पं० गुरुप्रसाद शास्त्री के पास सम्मति के लिये भेजी तो सब विद्वानों ने ऋषि की इस भाष्यशैली के विरोध में ही अपना मत व्यक्त किया। ऋषि ने भ्रान्तिनिवारण के नाम से इन प्रतिकूल विचारों का निराकरण किया और अपने पक्ष को अनेकानेक प्रमाणों से पुष्ट करते हुए यह सिद्ध किया कि 'अग्नि' शब्द का प्रयोग केवल लोकप्रसिद्ध 'अग्नि' के अर्थ में ही नहीं हुआ है—अतः 'अग्नि' का अर्थ परमात्मा कर उन्होंने कोई बहुत बड़ा गजब नहीं कर दिया है।

उपर्युक्त विवेचन की पृष्ठभूमि में हम स्वामी विवेकानन्द और आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और नेता महात्मा हंसराज के बीच हुए उस शास्त्रार्थ पर विचार करें जिसका विवरण 'विवेकानन्द-चरित' के लेखक श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार ने दिया है। जीवनचरित लेखक ने स्वामी विवेकानन्द को उत्तरपक्ष में रखते हुये आर्यसमाज अथवा महात्मा हंसराज का पूर्वपक्ष इस प्रकार रखा है—"वेद का केवल एक ही प्रकार का अर्थ हो सकता है।" इससे पूर्व कि हम स्वामी विवेकानन्द के उत्तरपक्ष पर विचार करें, हमें तो यह पूर्वपक्ष ही आर्यसमाज के सिद्धान्त के विरुद्ध प्रतीत होता है और यह कदापि सम्भव नहीं कि महात्मा हंसराज जैसा सिद्धान्त मर्मज्ञ पुरुष अपने पक्ष की स्थापना ही गलत ढंग से करे।

ऋषि दयानन्द का कभी यह मत नहीं रहा कि वेद का अर्थ केवल एक ही प्रकार का हो सकता है। वे तो नैरुक्त प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए तीन प्रकार के वेदार्थ में विश्वास करते हैं। अतः उन पर यह आक्षेप कभी नहीं आ सकता। हाँ, सम्भवतः इसका अर्थ यह हो सकता है कि ऋषि दयानन्द वेद का केवल याज्ञिक अर्थ करने के विरोधी हों अथवा ऐतिहासिक अर्थ करने के विरुद्ध हों। अब स्वामी विवेकानन्द द्वारा प्रस्तुत उत्तरपक्ष सुनिये—

"लाला जी, आप लोग जिस विषय के बारे में इतना आग्रह प्रकट करते हैं, उसे हम Fanaticism या कट्टरपन कहते हैं। हम यह जानते हैं कि इसके द्वारा सम्प्रदाय को शीघ्र विस्तृत बनाने में सहायता होती है और मैं यह भी जानता हूँ कि शास्त्र के कट्टरपन की अपेक्षा मनुष्य के कट्टरपन (इस प्रकार का प्रचार कि व्यक्तिविशेष को अवतार मान कर उसकी शरण लेने से मुक्ति होगी) के द्वारा और भी आश्चर्यजनक तथा शीघ्रता से सम्प्रदाय का विस्तार होता है। और मेरे हाथ में वह शक्ति भी है। मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण का ईश्वरावतार के रूप में प्रचार करने के लिये मेरे अन्य सभी गुरुभाई गण कटिबद्ध हैं। एकमात्र मैं ही इस प्रकार के प्रचार का विरोधी हूँ।"[3]

अब हम इस कथन पर विचार करें। विवेकानन्द जिसे कट्टरपन या Fanaticism कहते हैं, उसका रहस्य अब

१. कठोपनिषद् व० २। मं० १५ २. निरुक्त ७।१४ ३. विवेकानन्द-चरित पृ० ३२६

खुल जाता है। यह वेद का अर्थ करने की किसी शैली के प्रति आग्रह करना नहीं, अपितु वे वेदप्रमाण पर जोर देने को कट्टरपन कहते हैं। परन्तु जैसा कि हम विवेकानन्द के अन्यान्य-ग्रन्थों में देखते हैं वेद-प्रमाण के लिये उनका आग्रह भी दयानन्द से किसी प्रकार कम नहीं है। यह सम्भव है कि वेद के मर्मज्ञ विद्वान् न होने के कारण अथवा और किसी कारणवश वे वेद-प्रमाण के प्रति उतना अधिक आग्रह व्यावहारिक रूप में प्रदर्शित न कर सके हों, परन्तु जहाँ तक शास्त्रप्रमाण की सर्वोपरि स्थिति का सम्बन्ध है, उनमें और दयानन्द में कोई अधिक अन्तर नहीं है।

अब प्रश्न रह जाता है—सम्प्रदाय के प्रसार के लिये शास्त्र का कट्टरपन (क्योंकि विवेकानन्द ने इसी शब्द का प्रयोग किया है) अपनाया जाय या मनुष्य का कट्टरपन। यहाँ यह दिखलाने के लिये तो स्थान नहीं है कि विवेकानन्द और उनके साथियों ने रामकृष्ण परमहंस को ईश्वरावतार बनाकर सम्प्रदाय-निर्माण का प्रयास किया या नहीं, परन्तु इतना संकेत कर देना ही पर्याप्त है हमारे धर्म की परम्परा में शास्त्र के प्रति तो आग्रह [illegible] लाया गया है, चाहे उसे विवेकानन्द कट्टरपन या [illegible]aticisn ही कहें, परन्तु मनुष्य के प्रति आग्रह [illegible] सैमेटिक (Semetic) मजहबों की तरह "पैग[illegible] विश्वास रखने से ही मुक्ति होगी" इस प्रकार की धा[illegible] हमारे यहाँ कभी प्रश्रय नहीं पा सकीं। शंकर का [illegible] रामानुज का विशिष्टाद्वैत, मध्व का द्वैत और वल्ल[illegible] शुद्धाद्वैत शास्त्रों के अर्थों की खींचतान पर ही [illegible] निर्भर करते हैं। इन मतवादों की स्थिति में उनके संस[illegible] आचार्यों का व्यक्तित्व उतना कारण नहीं बना, [illegible] श्रुति के आधार पर तत्-तत् दार्शनिक मतवाद का [illegible]पादन। अतः इस विवेचन को आगे न बढ़ाकर [illegible] लिख देना ही पर्याप्त है कि ऋषि दयानन्द का [illegible] चिन्तन परम्परानुमोदित होने के साथ साथ युक्ति[illegible] और वैज्ञानिक भी था। उसके यथार्थ महत्व को सम[illegible] अभी संसार के लिये शेष है॥

वशासूक्त और गोवध

[*ले०—श्री पं० बिहारी जी लाल शास्त्री*]

"अघायतामिति सूक्तमाहुत्यर्थं गोवधे विनियुज्यते। सा च वन्ध्या गौः शतौदनेत्युच्यते। तस्या वधेन तस्या मांसाहुत्या च यद् यजनं तदग्निष्टोमादपि, अतिरात्रादपि च श्रेष्ठमित्यादिरूपा प्रशंसा।"

सायणभाष्य अ. कां. १० अनु. ५ सू. ९ के उपर्युक्त सन्दर्भ के बाद बड़ा लंबा कौशिक सूत्र (८।९) भी दिया है। सूक्त पर सायणाचार्यजी का भाष्य नहीं है। हिन्दी अर्थ हैं पं. रामचन्द्र शर्मा के किये हुए। पूरा सूक्त पढ़िये तो आश्चर्य होता है कि 'शतौदना' वन्ध्या गाय कैसे मान ली गयी। इन हिन्दी अर्थों से भी सूक्त में कहीं गोवध व्यक्त नहीं होता। हाँ, सूक्त की कविता गहरे रहस्य से भरी हुई सिद्ध होती है।

पर वामी सूत्रकार और मूढ़ याज्ञिकों को विवेक से क्या प्रयोजन था। विनियोगबद्ध मीमांसक तो विचार कर ही नहीं सकते थे। काव्यरस को भला जरन्मीमांसक [illegible] अनुभव कर सकता है।

स्वयं वेद बता रहे हैं कि वशा क्या है ? पर वि[illegible] की बेड़ियों से बद्धबुद्धि याज्ञिक वेद के गूढार्थ पर [illegible] क्यों देने लगा था।

ऐसे आध्यात्मिक सूक्त का नाशकर डाला विनियोग-भक्तों ने। गुबरीलों के पंजे में गुलाब पड़ [illegible] असुरों के करों में पड़कर वेद दुर्दशाग्रस्त हो गये।

वशा का स्वरूप वेद के शब्दों में सुनिये :—

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः।
वशाया दुग्धमपिबन् साध्या वसवश्च ये॥

ऋ० १०।१०।[illegible]

अर्थ—वशा द्यौ लोक है, वशा पृथिवी है, [illegible] प्रजापति विष्णु है। वशा के दूध को (उन्होंने) पिया [illegible] "साध्य" और "वसु" हैं।

कहिये सूत्रभक्त जी, वंध्या गौ का दूध कहाँ से आ गया ? और पीने वाले भी सर्वसाधारण नहीं, किन्तु साधना करने वाले ब्रह्मचारी अथवा आठ वसु (पृथिवी, चन्द्र लोकादि) हैं। क्या यह भौतिक गाय का वर्णन हो सकता है ?

वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव ।
वशाया जज्ञ आयुधम् ततश्च चित्तमजायत ॥१८॥

अर्थ—वशा क्षत्रिय की माता है। हे अन्न ! प्रकृति या जीवनशक्ति वशा तेरी माता है। शस्त्र वशा से उत्पन्न हुआ, फिर चेतना उत्पन्न हुई।

क्षात्रशक्ति और उसके लिये अन्न फिर शस्त्र और शस्त्र से रक्षित होने पर राष्ट्र में चेतना, ज्ञान, कार्यशक्ति, संस्कृति प्रकट होती है। विचारिये, यह वंध्या गाय का वर्णन है ?

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते ।
वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या असुराः
पितर ऋषयः ॥२६॥

अर्थ—वशा को अमृत कहते हैं। वशा को ही मृत्यु मान उपासना करते हैं। देव, मनुष्य, असुर, पितर, ऋषि यह सब वशा ही है।

कहिये यह सृष्टि की उपादान कारण प्रकृति का निरूपण है या वंध्या गाय का ?

थोड़ी सी भी समझ है तो इस भावमयी सुन्दर कविता का भावार्थ समझ में आ जायगा। यह संसार अमृत भी है और मृत्यु भी। ज्ञानियों के लिये सर्वत्र अमृत है, अज्ञानियों के लिये मृत्यु। देव, असुर, मनुष्य, पितर बने सब प्रकृति से ही हैं; पर मनोवृत्तियों के कारण स्वभावभेद हैं।

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद् वशा सूर्यमधारयत् ।
वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥२५॥
वशां देवा उपजीवन्ति वशां मनुष्या उत ।
वशेदं सर्वमभवद् यावत्सूर्यो विपश्यति ॥३५॥

अर्थ—वशा ने यज्ञ को ग्रहण किया। वशा ने सूर्य को धारण किया। वशा के भीतर ओदन (प्रजापति, भात, भोजन, जीवन) ब्रह्म (ज्ञान वा ईश्वर) के साथ प्रविष्ट हुआ। २५ ॥ वशा से देव पलते हैं और वशा से मनुष्य। जहाँ तक सूर्य की पहुँच है यह सब वशा है। ३५ ॥

क्या यह वर्णन बाँझ गाय में घट सकता है ? यज्ञ को ग्रहण करना, सूर्य को धारणा करना, यह सब ईश्वर की नियामक शक्ति है। उस शक्ति के भीतर ब्रह्म के साथ जीवन आनन्द समाया हुआ है। यह सब सौर जगत् वशा की रचना है। उसी नियामक शक्ति से सब देव-मनुष्य जीवन पा रहे हैं।

कितना सुन्दर वर्णन है ब्राह्मी विभूति का, पर विनियोगपंकप्रेमी पौराणिक इस सूक्त की सुषमा सौरभ से वंचित रह गया।

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि ।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥२८॥

अर्थः—वरुण के मुख में तीन चमकती हुई जीभें हैं। उनमें जो मध्य में विराजती है वह वशा है और उसको पाना कठिन है।

यह बाँझ गाय वरुण की मध्य जिह्वा कैसे बन गई ? वरुण—वरणीय प्रभु की तीन शक्तियाँ जगत् में काम कर रही हैं—१—प्रभुशक्ति—प्रभुता-ऐश्वर्य, समृद्धि चमक-दमक।

२. मंत्रशक्ति—ज्ञान, गति, नियामकता, नियंत्रण, अनुशासन।

३. उत्साहशक्ति—प्रेरणा, वर्द्धन, विकास, प्रफुल्लता।

मध्यशक्ति, नियामकता, अनुशासन, संयम यही बीचवाली जिह्वा है। जिस योगी ने अपने को संयत बना लिया उसे "वशा" शक्ति मिल गयी, उसके वश में सब हैं। यही वशा कठिनता से प्राप्त की जाती है। गीता में कहा हैः—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

यह वशा संयम की शक्ति है। इसे पाकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है। वशा को पाने वाला कैसा होना चाहिये। यह भी वेद में पढ़ियेः—

यो विद्यात् सप्त प्रवतः सप्त विद्यात् परावतः ।
शिरो यज्ञस्य यो विद्यात् स वशां प्रतिगृह्णीयात् ॥

अर्थः—जो सात ऊपर के लोक भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम् को जानता है और सात अधोलोकों तल, अतल, सुतल, वितल, तलातल, रसातल, पाताल को जानता है, वह वशा को ग्रहण कर सकता है। प्रकृति में ईश्वर की नियामक शक्ति काम कर रही है, उसका ज्ञान बिना पदार्थ-विज्ञान के हो नहीं सकता। जब चौदह भुवनों

का ज्ञान हो जाय। तब उस नियामक शक्ति का ज्ञान होगा। ज्ञान क्या अनुभव होगा। तब सब प्रकृति पर हो सकेगा मनुष्य का अधिकार। कुदरत वशवर्तिनी होकर सब काम पूरे करेगी। यह वशा क्या क्या देगी? सुनोः—

सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते।
य एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः॥

अर्थः—किन्हीं विद्वानों ने इस वशा से सोम रस दुहा, किन्हींने घृत की उपासना की। विद्वान् के लिये वशा देने वालों को स्वर्ग मिला।

सोम और घृत की प्राप्ति क्या बाँझ गाय से होगी? यह तो एक विद्या है जिसकी सिद्धि से सोम (सात्त्विक आनन्द) घृत (तृप्ति, जीवन, आप्यायित होना) मिलते हैं। और इस विद्या के देने वाले भी स्वर्ग पाते हैं।

आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे।
पाजस्याज्जज्ञे यज्ञः स्तनेभ्यो रश्मयस्तव॥

अर्थः—हे वशे! तेरे मुख से गाथायें उत्पन्न हुईं। उष्णिहाओं ग्रीवा के भागों से बल, उदर से यज्ञ और स्तनों से किरणें प्रकट हुईं।

यहाँ गौ का रूपक देखकर शायद वाममार्गियों को वशा का अर्थ वंध्या गाय करने का साहस हुआ है। भगवान् की यह सृष्टि वशा है। इसके मुख्य भाग उत्तमांश (सात्त्विक गुण) से गाथायें प्रकट हुईं या गाथा वाले ब्राह्मण शक्ति प्रकट हुए। ग्रीवा कंधे, इनसे बल अर्थात् क्षात्रशक्ति और उदर से यज्ञ अर्थात् दान और संगति करने वाले वैश्य तथा तेरे स्तन और प्रेममय और तृप्तिकर तत्त्वों से किरणें ज्ञान, प्रकाश, विद्यायें।

यहाँ भगवान् की इस विश्व-रचना को गौका रूपक कैसी सुन्दरता से दिया है।

पिछले सूक्त (कां. १० सू. ९) में भी चर्म, लोम, रशना (मंत्र २) बाल, जिह्वा (मन्त्र ३) रूपक ही है। "ग्रावा त्वेषोऽधि नृत्यतु" ने सिद्ध कर दिया कि वन्ध्या-गाय का वर्णन नहीं, किन्तु जिसमें गाय का आरोप किया गया है वह आरोप्य पदार्थ वशा है।

मन्त्र के उपर्युक्त पद का अर्थ है "यह ग्रावा" तुझ पर नाचे। ग्रावा का अर्थ है प्रजायें (विशो ग्रावाणः शतपथ० ३।९।३।३)। जब विद्या की सिद्धि हो जाती है तो उस विद्या पर प्रजायें नाचती हैं।

अथवा जिस पत्थर पर बैठकर वशा की साध[ना] की जाती है, सिद्धि हो जाने पर वह पत्थर गर्व करता है (लक्षणा)। आज गया का बोधिवृक्ष और सारनाथ की भूमि जहाँ भगवान् तथागत ने बोध प्राप्त किया [और] उपदेश दिया था, नाच नहीं रहे हैं क्या?

संसार की आँखों में उनका नृत्य हो रहा है। वशा के दाताः—

१—स स्वर्गमारोहति यत्रादास्त्रिदिवं दिवः।
अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम्॥
ऋ० १०।९।[...]

२—स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये [च] पार्थिवाः। हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदना[म्]
ऋ० १०।९।६

अर्थ—१—वह स्वर्ग को पाता है जहाँ द्यौ लोक [में] भी तिगुना प्रकाश है। जो शतौदना को पुष्ट करके [दान] करता है।

अपूपनाभि मुहावरा है। पुष्ट, मोटाताजा, हृष्ट-पु[ष्ट] इसका अर्थ होता है।

२—जो स्वर्ण सा चमका कर अर्थात् बहुमूल्य बना[कर] शतौदना को दान करता है वह पार्थिवलोक और [द्यु]संबंधी लोकों को जीत लेता है।

क्या यह माहात्म्य एक वन्ध्या गौ के दान का ही [वेद] ने गाया है। यदि ऐसा ही है तो वेद ईश्वरीय ज्ञान न[हीं] हो सकता, केवल चारण और भाटों की कविता ठहरेगी पर वेदवाक्य विशुद्धांतःकरण महर्षियों के हृदयों में प[श्यन्ती] वाग्रूप में आकर वैखरी वाणी में प्रकट होने वाले रहस्य[मय] शब्द हैं। यह शतौदना उच्च कोटि की आध्यात्मिक [और] वैज्ञानिक विद्यायें हैं जो मनुष्य को संसार में सर्वो[च्च] ख्याति दिलाती हैं।

पहले मंत्रों में आये हुए पूँछ, सींग आदि शब्दों [से] चौंकना न चाहिये। यह कविता रूपक में है। रूपक [से] का दिया है। गौ भी पवित्र और "अघ्न्या", विद्या [भी] पवित्र और अघ्न्या"। इस सूक्त की कविता इत[नी] व्यापक अर्थवाली है कि उर्वरा भूमि, ब्राह्मविद्या, योगवि[द्या] वैज्ञानिक विद्या प्रकृति और उसकी शक्ति, अनेक पदा[र्थों] पर वशा शब्द लागू होता है।

जब आत्मा अपनी अपार शक्तियों को जाग्रत कर[के] स्ववश में ले आता है तो यह वशा शक्ति उसे महान् ब[ना]

देती है। सूक्त को इस दृष्टिकोण से पढ़कर विचार कीजिये और रहस्यमय कबीर साहब के शब्दों से तुलना कीजिये तो पता चलेगा कि याज्ञिक कितने भ्रम में थे। वाणी का प्रयोग (विनियोग) आप कहीं भी करिये वह आपको रोक नहीं सकती, पर उसका रहस्य जानने के लिये तो उस वाणी को गम्भीर विचार से ही सोचना पड़ेगा।

भगवान् की यह विराट् रचना जिससे होती है, वह शक्ति वशा है। उसे प्राप्त करने योग्य बनना चाहिये। सूक्त ने यही शिक्षा दी है॥

वेद में गोरक्षा

[ले०—श्री पं० अवधबिहारी लाल जी, एम. ए. बी. एल., वेदपुराणतीर्थ, कलकत्ता]

कुछ तथाकथित संस्कृतज्ञ अंग्रेजों के प्रमादपूर्ण लेख के कारण यह चर्चा उनकी अंधाधुंध नकल करने वाले भारतीय मनचले विद्वानों में चल पड़ी है कि वैदिक काल में गोमांस-भक्षण की प्रथा भारतवर्ष में प्रचलित थी। आश्चर्य और खेद है कि स्वराज्य-प्राप्ति के बाद से यह आवाज और भी प्रबल हो रही है। ऐसी चर्चा करने वाले लोग फैशन के गुलाम बनकर ही ऐसी बातें करते हैं। यथार्थ में न तो उन्होंने वेद पढ़े हैं और न संस्कृत का ही ज्ञान रखते हैं। किसी से उन्होंने सुन लिया कि अंग्रेजों ने ऐसा कहा है, अतएव अंग्रेजों को विद्वान् और भारतीय वेदज्ञों को दकियानूसविचारयुक्त समझकर वे ऐसे उन्मत्त आलाप करने लग गये। ऐसी परिस्थिति में वैदिक दृष्टिकोण को निष्पक्ष भारतीय विद्वानों के समक्ष रखना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

वेदों ने मांस-भक्षण को सर्वथा निषिद्ध कहा है। वेदों में राक्षसों के कुछ नाम इस प्रकार आये हैं :—

क्रव्याद्—क्रव्य (मांस) + आद् (खाने वाला), असुतृप—असु (प्राण या जीवन) से तृप (तृप्त होने वाला), पिशाच—पिशित (मांस) + अश (खाने वाला), अण्डाद्—अण्डा खाने वाला, मांसाद्—मांस खाने वाला।

राक्षस कैसे घृणित जीव माने गये हैं, यह हिन्दू का बच्चा-बच्चा जानता है।

वेदों ने मांस-भक्षण का स्पष्ट शब्दों में निषेध किया है। अथर्ववेद के अष्टम काण्ड के षष्ठ सूक्त का तेइसवाँ मंत्र कहता है :—

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥

अर्थः—जो (आमं) कच्चा मांस खाते हैं, जो (पौरुषेयं क्रविः) मनुष्यों द्वारा पकाया मांस खाते हैं और जो (गर्भान्) अण्डे खाते हैं वे (केशवाः) शरीर को कब्रिस्तान बनाने वाले हैं और उनका नाश कर देना चाहिये। राज्य व्यवस्था द्वारा ऐसे मनुष्यों को राष्ट्र में न रहने देना चाहिये।

वेदों के अर्थ का अनर्थ करने वालों का यह भी मत है कि यज्ञ सम्पादनार्थ गौ, घोड़े आदि पशुओं का वध होता था। इस प्रकार के कथन भी उन्मत्त प्रलाप की कोटि में ही समझे जाने चाहिये। क्योंकि परोपकार की भावना से—सर्वभूतहित की दृष्टि से—जो कर्म किये जाते हैं उन्हीं को यज्ञ कहते हैं। वेदों ने 'यज्ञं अध्वरम्' कहा है। ध्वर का अर्थ है हिंसा, वह जिस में नहीं है वही 'अध्वर' है अर्थात् यज्ञ है। इस कारण यज्ञ में पशु-वध, मांस-भक्षण वन्ध्यापुत्र के सदृश अनहोनी बात है। कर्मकाण्ड (अर्थात् यज्ञकाण्ड) का विधायक यजुर्वेद है। उसका प्रथम मन्त्र ही स्पष्ट शब्दों में कहता है 'यजमानस्य पशून् पाहि'। यज्ञ करने वाले के पशुओं की रक्षा करो। फिर यज्ञ में पशु के मारने की बात कैसे सम्भव हो सकती है?

मांसाहारी यह भी कहते हैं कि पितृ-श्राद्ध में मांस का विधान है। परन्तु यह कथन भी प्रमाद से भरा है। श्राद्ध में मांस का प्रयोग वेदों ने कहीं भी नहीं बताया।

यजुर्वेद (२।३४) में घी, दूध, पके फल, उत्तम अन्न और जल से ही तृप्त करना लिखा है।

यूरोपीय विद्वान् और उनके भातीय शिष्यों ने यह भी बेसिर-पैर की हांकी है कि अतिथियों को खिलाने के लिए गौएँ मारी जाती थीं और इसका वेदों में विधान है। यह भ्रम इस कारण हुआ कि अतिथि का पर्यायवाची एक शब्द है "गोघ्न"। 'गोघ्न' का यौगिक अर्थ होगा 'गावः हन्यन्ते यस्मै' (गौवें हनन की जायँ जिसके लिए)। 'हन्' धातु का साधारण और प्रचलित अर्थ है 'वध करना'। इस कारण अतिथि के लिए गौवें मारी जाती थीं, ऐसा अर्थ वेदों के आशय और प्रकरण के विरुद्ध हन् धातु के दूसरे अर्थ की अज्ञानता के कारण भी 'गोघ्न' शब्द से किया गया। "हन हिंसागत्योः" हन् धातु के अर्थ हिंसा और गति दो हैं, ऐसा पाणिनि मुनि का कहना है। गत्यर्थक सभी धातुओं के 'ज्ञान, गमन और प्राप्ति' तीन अर्थ होते हैं। अतएव जब वेदों की स्पष्ट आज्ञा पचासों स्थलों पर है कि गौवों को न मारा जावे तो बुद्धिमानी इसी में तो है कि हन् धातु का गति या प्राप्ति अर्थ किया जाय। अतएव गौवों को प्राप्त किया जाय जिसके लिए (गावः हन्यन्ते प्राप्यन्ते यस्मै स गोघ्नः अतिथिः) वह अतिथि या 'गोघ्न' है।

अतिथि-सत्कार के लिए मधुपर्क का विधान है और मधुपर्क में गोमांस मिलाना चाहिये, यह निर्मूल धारणा कैसे चल पड़ी यह भी समझ में नहीं आता। चारों वेदों में केवल एक ही स्थल पर मधुपर्क शब्द अथर्ववेद में आया है। वहाँ पर केवल इतना ही लिखा है 'यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः' इसका अर्थ यह है कि सोमपान के जैसा मधुपर्क में भी यश है। अतएव "समांसो मधुपर्कः" यह किसी वेद-विरोधी वाममार्गी की कपोलकल्पना के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वेदों की गोवध निषेध आज्ञायें निम्नोक्त द्रष्टव्य हैं।

"आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नं" (ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ११४ मंत्र १०) अर्थात् गो-हत्यारे और मनुष्य का वध करने वाले राष्ट्र में न रहें। 'आरे गोहा नृहावधो वो अस्तु' ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ५६) अर्थात् गोहत्यारे को और मनुष्य के हत्यारे दोनों को ही प्राण-दण्ड मिलना चाहिये।

ऋग्वेद मण्डल ८ सूत्र १०१ मन्त्र १५ में कहा गया है—**मा गामनागामदितिं वधिष्ट।**

अर्थात्—गाय निष्पाप है अदिति अर्थात् अवध्य है इसका वध न करो।

अथर्ववेद काण्ड दस में कहा है '**अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मानो गामश्वं पुरुषं वधीः।**"

अर्थः—(अनागः हत्या) निष्पाप की हत्या (वै) सचमुच (भीमा) भीषण है, अतएव (गां) गौ को (अश्वं) घोड़े को और पुरुष को मत मारो।

यजुर्वेद अध्याय तीस का अड़तीसवाँ मन्त्र कहता है—

'अन्तकाय गोघातं' अर्थात् गोहत्यारे को प्राण दण्ड दो।

वैदिक कोष निघण्टु में गौ के नौ नामों में एक नाम है अघ्न्या (नहीं मारने योग्य), दूसरा अदिति (न मारने योग्य) और तीसरा अही (नहीं वध करने योग्य) जिसके नाम से स्पष्ट है कि वह वध करने योग्य नहीं उसका वध तो वेदों में होने की कल्पना ही उन्मत्त कल्पना है, क्योंकि वेद के सारे शब्दों का यौगिक अर्थ होता है रूढ़ नहीं। फिर अतिथि को गोमांस खिलाने की बात धींगामुश्ती की बात है। पर भारतवर्ष के नवीन इतिहास पुस्तकों में जो उस परिषद् के द्वारा लिखाई जा रही जिसके सदस्य डा० राधाकृष्णन, श्री के. एम. मुन्शी [illegible] भारत के कर्णधार हैं, ऐसी अनर्थकारिणी कपोल-कल्पना ऐतिहासिक तथ्य के रूप में लिपिबद्ध कराई जा रही धारासभाओं की सदस्यता के उत्तरदायित्वपूर्ण पद विराजमान लोग धारासभाओं में ऐसे अनुत्तर दायित्व एवं सर्वथा अनर्गल भाषण करने लग गये हैं। इससे [illegible] कर शोक का विषय और क्या हो सकता है?

भ्रम का एक कारण यह भी हो सकता है कि मन्त्रों का गलत अर्थ करते हुए यूरोपीय विद्वानों ने [illegible] रण की "लुप्त तद्धित" प्रक्रिया पर ध्यान नहीं रखा। [illegible] कभी सम्पूर्ण पदार्थ एक अंश के लिए प्रयुक्त होता है [illegible] उत्पादक उत्पन्न वस्तु के लिए भी व्यवहार में आता [illegible] वेदों में इस लुप्त तद्धित प्रक्रिया का स्थान-स्थान पर प्र[illegible] हुआ है। अतएव गौ से उत्पन्न दुग्ध, चर्म आदि के [illegible] गो शब्द का ही प्रयोग हुआ है। युरोपीय संस्कृत [illegible] के रचयिताओं ने भी इसको स्वीकार किया है और [illegible] कोषों में 'गौ' का अर्थ गोजात पदार्थ दुग्ध आदि किया है। यास्काचार्य ने निरुक्त में वेद के कई [illegible] देकर वहाँ 'गौ' के अर्थ गो से उत्पन्न दूध, चर्म, [illegible]

ताँत की डोरी आदि प्रकरणानुसार बताये हैं। 'गोभिः श्रीणीत मत्सरं' इस वेद के अर्थ वाक्य-खण्ड में गोभिः गौ के साथ सोमरस को पकाओ ऐसा अर्थ वैदिकशैली से अनभिज्ञ लोगों ने किया है, परन्तु निरुक्तकार ने यहाँ 'गौ' का अर्थ गाय का दूध किया है। कुछ लोगों का कहना है कि गौ का अर्थ इस रीति से मांस भी हो सकता है। उनसे मेरा निवेदन है कि गो-मांस के पकाने आदि की बात वेद में होने से वेद पर वदतो व्याघात (बोलने वाले का अपने कथन को स्वयं काटने) का दोष लगेगा, क्योंकि गौ को वेदों ने अघ्न्या (अहन्तव्या) कहा है।

डार्विन-वालेस के अद्भुत विचार की शती

[ले०—श्री बा० विष्णुदयाल जी, मारीशस]

सर एल्फ्रेड रसेल वालेस दक्षिण अमेरिका, मलाया द्वीप-समूह आदि भूखण्डों की यात्रा करते हुए इस मत के हो गये कि जीव-जीव, पौधे-पौधे में परिवर्तन होते रहते हैं, क्रमिक उन्नति होती रहती है।

वालेस अभी मलाया में ही थे जब उन्होंने अपने अभिन्न मित्र डार्विन को एक पत्र लिखा और उनसे इस मत पर अपना विचार प्रकट करने की प्रार्थना की। डार्विन आश्चर्य-चकित हुए, क्योंकि मित्र का मत उनका अपना प्रकट न किया गया मत भी साथ-साथ था।

डार्विन ने भी अनेक देशों की यात्रा की थी। वे मारीशस में सन् १८३६ में पधारे थे। १८३७ में उन्हें भी लगा कि परिवर्तन होते रहते हैं। उनके आनन्द की सीमा न रही। वे अन्वेषण करते रहे और अपने विचार को उन्होंने १८४२ में लेखबद्ध किया। पेंसिल से उन्होंने कुल ३५ पृष्ठ लिखे। अधिक विस्तार में जाकर दो साल बाद उन्होंने अपने मत को २३० पृष्ठ के ग्रन्थ में व्यक्त किया।

यदि वे वालेस के मत से परिचित हो जाने पर संसार को न बताते कि मेरे मित्र का विचार मेरे अपने विचार से मिलता-जुलता है तो वे पक्षपातहीन अन्वेषक न होते। सरलहृदय डार्विन ने तत्काल लीन्थन सोसाइटी के वैज्ञानिकों को सारी बात सुना दी जिन्होंने यह सत्यपरामर्श दिया कि थोड़े शब्दों में दोनों एक ही सोसाइटी के तत्त्वावधान में अपना-अपना मत प्रकट करें।

दिनांक १ जुलाई १८५८ को दो लघु भाषण पढ़े गये जिनकी विगत साल कहीं धूम-धाम से और कहीं साधारण तौर पर शती मनाई गई।

मारीशस ने इस शताब्दी को बुधवार ता० २० अगस्त को मनाया। यह उचित ही था क्योंकि डार्विन को उत्तेजना देने वाले देशों में यह लघु द्वीप भी आता है।

डार्विन-वालेस के अद्भुत विचार को विकासवाद के नाम से याद किया जाता है। यह गुरुत्वाकर्षण-सिद्धान्त से कम महत्त्व का नहीं है। इसने वैज्ञानिकों का दृष्टिकोण एकदम बदल दिया।

हम विश्व में होते रहने वाले संघर्ष पर एक दृष्टि डालें तो इस परिणाम पर पहुँचे बिना न रहेंगे कि कोई शक्ति अवश्य है जो अत्युत्पादन के कुपरिणामों से हमारी रक्षा करती रहती है। ज्यों ही डार्विन ने मेल्थस को पढ़ा त्यों ही उन्हें सूझा कि ऐसी शक्ति जरूर है।

आज एक पुरुष के दस बच्चे हैं। कालान्तर में प्रत्येक बच्चे के दस बच्चे हो जाते हैं। थोड़े ही दिनों में एक परिवार की ऐसी वृद्धि हो जाती है कि उसका एक व्यक्ति दूसरे को मुश्किल से पहचान पाता है

महामारियाँ, कुछ ऋतुओं की क्रूरता, समुद्र में डूब मरना अदि दुर्घटनायें, खाद्यान्न का अभाव इत्यादि बड़ी रफ्तार से बढ़ने वाले जीव-जन्तुओं के संहार के कारणों में से हैं।

डार्विन-वालेस का कथन है कि प्राकृतिक चुनाव हुआ करता है। प्रकृति उसी को अपनी गोद में सुरक्षित रखती है जो योग्यतम सिद्ध होता है। जीवनार्थ संग्राम

करके पशु, पक्षी, पेड़, पौधे जीवित रहते हैं। सब प्राणियों के लिए जगत् में स्थान नहीं है। वैज्ञानिकद्वय समझते हैं कि जिन विशेषताओं के कारण कुछ लोग संग्राम में विजयी होते हैं, वे उनकी संतति में संक्रमित होती हैं। विगत शताब्दी के अन्तिम चरण में नीत्शे ने डार्विनवाद की व्याख्या की थी और लिखा था कि यह बल की विजय है।

परिवर्तनशील संसार में परिस्थितियों के कारण प्राणियों में बार-बार परिवर्तन आता है, पर वह अदृश्य होता है क्योंकि एक दिन में बहुत थोड़ी मात्रा में यह होता है। पृथिवी में परिवर्तन होता रहता है, यह सर चार्ल्स लयेल ने जता दिया था। उनकी चर्चा विकासवाद के आद्य प्रतिपादक डार्विन ने अपनी "उपजातियों की उत्पत्ति" नाम के प्रसिद्ध ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में की है। विकासवादियों के मतानुसार जिस वातावरण में कोई प्राणी पड़ा रहता है उसके अनुकूल उसमें परिवर्तन आता है।

उस महान् वैज्ञानिक के देशवासी इस सिद्धान्त से रुष्ट हुए। डार्विन को लिखना पड़ा कि मैं धर्मद्रोही नहीं हूँ। उन के सिद्धान्त का प्रसार करने वाले थामस हक्सले को लाट पादरी विल्वफोस से शास्त्रार्थ करना पड़ा।

हक्सले वे ही विज्ञानवेत्ता हैं जिन्होंने साफ़-साफ़ लिखा था कि डार्विनवाद पूरी तरह से माना जाय तो इस परिणाम पर पहुँचने के अलावा कोई चारा ही नहीं कि यदि विकासवाद की उपकल्पना सही है, चेतन की उत्पत्ति अचेतन से हुई है।*

आगे चलकर विकासवाद और ईसाइयत में विरोध स्पष्टरूपेण आ खड़ा हुआ। ईसाइयों की धारणा थी कि कुल छः हजार वर्ष से मानव विद्यमान था। विकासवादि... ने सिद्ध किया कि करोड़ों, अरबों वर्ष से मानव है, क... वह प्रारंभ में उस रूपमें न था जिस में आज दृष्गत है... विकासवादी जोड़ते हैं कि शृंखला में कुछ कड़ियाँ है... विलुप्त हो गई हैं। मानव के पूर्वजों में से कोई कोई ... जाते हैं, शेष नहीं।

खुदाई होती रही और पिल्ट डौन मैन, जावा ... मानव अस्थिपंजर पृथिवी के गर्भ से बाहर आये। ... कंकाल पिछले दिनों में शिवालिक पहाड़ों से भी प्राप्त हु... डार्विन का आगमन हुआ कि कंकालों की खोज हो... लगी। एक एक कंकाल का अध्ययन करके डार्वि... संसार को जताया कि चैतन्य शरीर का आदिम-रूप ... ही है। जलजन्तु हुए, बाद में इतर प्राणियों का प्र... करण हुआ।

पाठक हमसे सहमत होंगे कि निष्पक्षभाव से विका... वाद क्या है, इसे समझा दिया गया है।

अब हमें देखना है कि इस सिद्धान्त के क्या ... किये गये। जब अँगरेज़ी तत्त्वज्ञानी स्पेंसर पर इसका ... हुआ उन्होंने यह स्पष्ट करने की कोशिश की कि ... रूप से अलग अलग देश में विकास होता रहा, एक ... का प्रभाव दूसरे पर पड़ता ही नहीं।

यद्यपि विकासवाद के प्रशंसकों की संख्या दिन ... रात चौगुनी बढ़ती रही। कोई कोई सत्य बोलने से ... को रोकते नहीं हैं। डा॰ येल्यट स्मिथ ने लिखा है ... प्राचीन संसार से अमेरिका का संबंध न रहा होता तो ... अज़तेक तथा इंका सभ्यताएँ बढ़ चढ़ कर न होतीं

---

* At some time or other abiogenesis must have taken place. If the hypothesis of evoluti... is true, living matter must have arisen from non-living matter.—T. Huxley.

† The amazing coincidences in the arbitrary details of hundreds of strange customs a... beliefs revealed in the earliest civilizations of Central Africa, Mexico and Peru when compar... with contemporary or earlier evidence from Asia, call for something more satisfying in t... way of explanation than the claims that the resemblances "may arise from no more tha... common psychology", and that "the evidence which we possess points rather to the undist... bed evolution of Mexico and Mayan Civilization on American soil, and that civilization m... therefore be regarded as in every sense American." It is not surprising that "the man in t... street" who is not to be deceived by such trivial evasions of a great issue, attempted to inte... pret in his own way the obvious fact that there must have been some sort of intimate conta... between the old world and the New ten centries and more ago to explain the derivation... the strangely exotic elements of the Mayan, Aztec, pre-Inca Civilizations.

— Dr. Elliot Smith, M. A., M. D., F. R. S.

श्री चमनलाल की "हिन्दू अमेरिका" नाम की पुस्तक के छप जाने के बाद यह पूरी तरह से सिद्ध हो गया कि अमेरिका भारत का ऋणी है। उन्होंने अभी हाल ही में यह भी सिद्ध किया है कि जापान भी कम ऋणी नहीं है। वे लिखते हैं "जापान के धर्म, सभ्यता और रीति-रिवाज के प्रत्येक पृष्ठ पर भारत की छाप है। सच तो यह है कि जापान पूरा पूरा हिन्दू देश है। जापान के लोग भारत की तरह मानते हैं कि आत्मा अमर है और जैसे व्यक्ति चोला बदलता है, इसी प्रकार आत्मा एक शरीर को छोड़कर दूसरा धारण करता है। जापान और चीन में कितनी ही ऐसी सच्ची कहानियाँ प्रचलित हैं जिन से सिद्ध होता है कि आत्मा जन्म-जन्म में चोला बदलता रहता है।

प्राचीन जापान और चीन में भारत को स्वर्ग माना जाता था। जैसे मुगल लोग मक्का की ओर पीठ नहीं करते उसी प्रकार आज से कुछ सौ वर्ष पहले जापान में भारत का इतना सम्मान था क्योंकि वह बुद्ध की जन्म-भूमि है) कि बुद्ध भगवान् के अगाध शिष्य भारत की तरफ कभी पीठ करके नहीं चलते थे।

जापान में यों ऐसे मत भी हैं जो ओ३म् की पूजा करते हैं। तांबे की एक बड़ी प्लेट पर ओ३म् शब्द लिखा होता है। उपासक लोग ओ३म् पर ध्यान लगाने के बाद आँखें बन्द कर लेते हैं और फिर समाधि में मग्न हो जाते हैं। ओ३म् की यह प्लेट चाँद के आकार की होती है।

जापान के कई मन्दिरों में हवन-यज्ञ की प्रथा अभी भी प्रचलित है। हवन को संस्कृत में होमा† कहते हैं, जापानी में इसे गोमा कहते हैं। मैंने बहुत बड़े हवन कुण्ड देखे, जहाँ हर समय हवन होता रहता है। एक हवनकुण्ड नारा नगर में बुद्ध भगवान् के बड़े मन्दिर के अन्दर रखा गया है। दूसरा टोकियो में आर्य अव लौकितेश्वरा के मन्दिर में है। जब हवनकुण्ड में बहुत ऊँचा धुँआ उठता है, तो दर्शक लोग उस धुएँ से हाथ मलकर अपनी आँखों, मस्तक, नाक और शरीर के दूसरे हिस्से पर रगड़ते हैं।

"जापान के इतिहास में कितने ही महापुरुष हुए हैं जिनके नाम के आगे ऋषि लगता है।"

स्पेंसर, टेयलर आदि विकासवाद के प्रसिद्ध व्याख्याता प्रेस्कट, वॉन हम्बौल्ट आदि के ग्रन्थों का पाठ करते तो अपने जमाने में जान जाते कि एशिया की सभ्यता शेष संसार में फैली हुई थी। मादागास्कर द्वीप में जो भाषा बोली जाती है उसमें अनेक संस्कृत-शब्द हैं।‡

एशियाई सभ्यता का प्रसार

यदि ये लोग मान जाते कि एशियाई सभ्यता का प्रचार संसार के कोने-कोने में होता रहा उन्हें साथ-साथ मानना पड़ता कि भारतीय और अन्य एशियावासी जहाज बनाना जानते थे, वे यात्री थे, इत्यादि। ऐसी दशा में बाध्य होकर उन्हें कहना पड़ता कि धीरे-धीरे प्रत्येक देश आगे नहीं बढ़ता था अपितु एशिया वालों के सम्पर्क ने उन्हें आगे बढ़ाया। यह बात भी उन्हें माननी पड़ती कि मानव का उत्पत्ति-स्थान एक ही रहा है, मानव छोटे से बड़े नहीं बने। सर्वप्रथम जब मानव प्रकट हुए वे न छोटे थे और न अधिक बड़े। ज्ञान आरंभ में ही मिला क्योंकि वेदों में जो ज्ञान है उससे बढ़-चढ़ कर ज्ञान हमें अभी तक कहीं भी न मिला। क्या डार्विन अपने साथी वालेस का ग्रन्थ पढ़कर इस सच्चाई से परिचित न हो पाते यदि ईसाइयों से भय-त्रस्त न होते?

इस लेख में हम केवल दो मंत्र देते हैं जिन्हें भारतीय वेदज्ञों ने ऐसा समझाया कि एक बच्चा जान सकता है कि बात क्या है।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भि-
दोऽमध्यमासो महसा वि वावृधुः।

† पाठकों ने सुधार कर "होमः" पढ़ा होगा। अंगरेजीशिक्षित संस्कृत-शब्दों में "अ" जोड़ दिया करते हैं। पंचशील की जब जोर-शोर से चर्चा होने लगी थी उसे "शिला" कहा गया और कोई-कोई कहने लगे कि पाँच पत्थरों की उपमा देकर लोगों को एक सिद्धान्त समझाया गया।

‡ The illustrious linguist, Baron Humboldt, in a letter to the Rev. J. J. Freeman, said, "Ther is no doubt that the Madagasy belongs to the family of the Malayan languages, and bears the greatest affinity to those spoken in Java, Sumatra, and the whole Indian Archipelago........of Sanscrit words there is a certain number in the Madagasy language.

—James Silbree Jr., Madagascar and Its People.

सुजातासो जनुषा पृश्निमातरो दिवो मर्या
आ नो अच्छा जिगातन ॥

ऋ० ५।५९।६॥

वे सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने वाले मनुष्य मानो वनस्पति आदि की भांति उत्पन्न हुए, और उनमें कोई ज्येष्ठ, कनिष्ठ और मंझला न था, यानी उम्र में सब समान थे, वे तेज से बढ़े। उत्कृष्टजन्मा वे लोग जन्म से प्रकृति माता वाले तथा मानो प्रकाशमय प्रभु के पुत्र हम सब की अपेक्षा अत्यन्त उत्कृष्ट हैं।

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास
एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय ।
युवा पिता स्वपा रुद्र एषां
सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥

ऋ० ५।६०।५

सर्गारम्भ में उत्पन्न मानव ज्येष्ठरहित कनिष्ठरहित होते हैं, यह भाई कल्याण के लिए एक से बढ़ते हैं। सदा जवान, सदा श्रेष्ठकर्म्मा, पापियों को रुलाने वाला, शक्तिशाली प्रभु इनका पिता है। और 'उद्यमी मनुष्यों के लिए सुकाल स्थित करने वाली प्रकृति अथवा पृथिवी इनके लिए सब मनोरथों को पूर्ण करने वाली होती है।

याद रहे कि यहाँ संसार के प्रकटीकरण की बात नहीं अपितु सब प्राणियों में से एक अर्थात् मानव की उत्पत्ति का यहाँ वर्णन है। उस युग की इन मंत्रों में चर्चा है जब कि मनुष्य उस रूप में देखने में आया जिस रूप में इस समय दिखाई देता है।

हमारी बुरी आदतों में से एक यह है कि जब तक कोई विदेशी हमारे मत का समर्थन न करे, हम ... मानने के लिए तैयार नहीं होते। पाठकों को यह ... कर आनन्द होगा कि निष्पक्ष विदेशी मानते हैं कि मान... त्पत्ति सचमुच उसी तरह हुई है जिस तरह कि वेदों... उसका उल्लेख है।

डा० क्लार्क ऐसे विद्वानों में से हैं। उन्होंने लिखा ...

"Man appeared in the Pliocene ag... just preceding the Ice age. He appea... red suddenly and in substantially th... same form as he is today. There is no... the slightest evidence of his existenc... before that time. He appeared able t... walk, able to think and able to defen... himself."†

तब तो यह भी सत्य है कि एक स्थान से मा... निकलकर सर्वत्र गये थे। वे जहाजों के आरोही बनते थे... सन् १६७० में अँगरेजों ने देखा था कि भारत में ... शिल्पी थे जो उत्तम जहाज बनाना जानते थे।*

वालेस और वेद

खुद डार्विन के साथी वालेस को जब अँगरेज़ी... अनूदित वेद-मन्त्रों को पढ़ने का अवसर मिला, उन्हों... कहा कि जिन कवियों ने ये मन्त्र लिखे हैं वे शेक्सपि... मिल्टन, टेनिसन आदि से निष्कृष्ट न थे। यही नहीं... उन्होंने इस बात को स्पष्ट किया कि इंजील में जो ... श्रेष्ठ भाग मिलता है केवल उसकी तुलना वेद से की ... सकती है, शेषांश की नहीं। वेदों की शिक्षाओं का मान... आचरण पर पूरा प्रभाव था।‡

† The Quarterly Review of Biology.

* Many English merchants, and others have their ships and vessels yearly built. Here is th... best and well grown timber, in sufficient plenty, the best iron upon the coast; any sort of iro... work is here ingeniously performed by the natives, as spikes, bolts, anchors and the like. Ver... expert master builders there are several here; they build very well and launch with as much discretion as I have seen in any part of the world. They have an excellent way of makin... spuds, stays and any other rigging for their ships.

—The East India Company's Factor at Bolasore to the Court of Directors, London.

‡ (a) These Vedic hymns could not have been inferior to those of our religious teache... and poets, to our Milton, Shakespeare and Tennyson.

(b) In the earliest records that have come down to us from the past, we find ample indic...

संस्कृतज्ञ मेक्समूलर "धर्म का स्रोत और विकास", "ईश्वर-विचार का विकास" नामक ग्रन्थों में स्पेंसर का मत अपनाते हैं। वे भी मानते हैं कि शनैःशनैः विकास होता है। "सामाजिक विकास" में लोग विश्वास करके लेख, ग्रन्थ, कविता लिखने लगे। स्पेंसरादि विकासवादियों का "सामाजिक विकास" में पूरा विश्वास था।

जिन में कम पक्षपात था वे अपने धर्म और दूसरों के धर्म को एक ही माप-दण्ड से नापने लगे। ऐसों में श्री फिलिप नाम के एक अँगरेज़ थे जिन्हों ने वेदों की शिक्षाएँ नाम की पुस्तक लिखी। उन्हों ने लिखा कि भारत में सर्वप्रथम उच्च धार्मिक विचार थे, बाद में विचार निकृष्ट हुए। †

आज डार्विन की तूती बोल रही है। वालेस का नाम कम सुनने में आता है। ठीक जब यह विशेषांक छपने लगेगा डार्विन द्वारा विरचित "उपजातियों की उत्पत्ति" नामक ग्रन्थ की शती मनायी जायेगी। यह दि० २४ नवम्बर १८५९ को प्रकाशित हुआ था। उन दिनों पुस्तकों की कम ही प्रतियाँ मुद्रित होती थीं। पहले ही दिन उसकी कुल प्रकाशित १,२५० प्रतियाँ खप गईं।

हमें दो ही तीन प्रश्न करके लोगों को जताना है कि कैसे विचारों में जो त्रुटियाँ होती हैं उन्हें हम शीघ्र देख नहीं पाते।

यदि जनसंख्या में जब वृद्धि होती है तब संघर्ष होने लगता है, क्या जब जोरशोर से वृद्धि न होती थी उस समय संघर्ष न होता था?*

दूसरा सवाल यह है कि यदि कमजोरों का नाश करके बलवान् जीते हैं तो अभी तक किसी भी कमजोर जीव को हमें देखने का मौका ही न मिलता। ×

वालेस डार्विन के एकमात्र साथी नहीं हैं जिन्होंने डार्विनवाद में पूरा विश्वास नहीं किया था। हक्सले भी उनके ऐसे साथियों में आते हैं जो स्पष्ट वक्ता होने से अपनी शंकाओं को छिपाते न थे। स्पेंसर के भी नेत्र अन्त में खुल गये थे। प्राध्यापक हक्सले ने तो लिख दिया था कि न तो विकासवाद का सत्य होना सिद्ध किया गया और न सिद्ध किया जा सकता है। †

इसमें सन्देह नहीं कि किसी अंश में विकास होता तो है, पर डार्विन ने जो बतलाया वह अधूरा है, अतः उसके मानने में दिक्कत होती है।

आत्मा के लिये गुंजाइश ही नहीं रहती। वर्तमान युग में हमें मनोविज्ञान के प्रसार से रोज के रोज प्रमाण मिलते हैं कि आत्मा का अस्तित्व है। वसन्ती देवी ने अपने समय में देख लिया था कि विकासवाद का प्रचार होना इस बात को प्रमाणित करता है कि पुनर्जन्म वास्तव में

---

tions that the general ethical conceptions, the accepted standard of morality and the conduct resulting from these were in no degree inferior to those which prevail today.

(c) The whole collection of hymns known as the Vadas is a vast system of religious teachings as pure and lofty as those of the finest portion of the Hebrew Scriptures.

—Alfred Russell Wallace, **Social Environment and Moral Progress.**

† The development of religious thoughts in India has been downward and not onward.

—M. Philip, **Teachings of the Vedas.**

* "There is a growing scepticism on the part of the biologists as to the extreme fierceness of the struggle for existence and of the consequent rigor of selection." Overproduction and shortage of space and food might sometimes be a factor of importance, but has it been so in the past? Has it affected the Human race? —William A. Williams.

× "If only the fittest, that is, the most advanced, survived, we should expect the whole organic realm to progress along the evolutionary path, which would be equivalent to the extinction of all the lowly organisms that actually form the basis for the existence of the more highly developed species."

† The foremost evolutionists, Spencer, Huxley and Romanes, before their death, repudiated Darwinism.

Prof. Huxley said that evolution is "not proved and not provable"

—William A. Williams.

होता है। ‡

मतलबी यूरोपीनों ने इस दृष्टि से विकासवाद को देखना ही न चाहा।

डार्विन ने अपने सिद्धान्त को लोकप्रिय बनाकर मानव परिवार को बढ़ा दिया। पशु-पक्षी और पेड़-पौधे का मूल्य यूरोप में नये ढंग से आँका जाने लगा। हम तो कहते आ रहे हैं कि सब जीवों में आत्मा है। हमने पशुओं की पूजा तक की। यदि डार्विन केवल कट्टर-पन्थियों के रोष से बचने के लिए धार्मिक न रहे होते, उन्हें सूझ जाता कि वस्तुतः अन्य प्राणियों में आत्मा विद्यमान है। मनुष्य में आत्मा है, यह तो मान ही लेते।

वे धर्म के विषय में पादरियों का कथन दोहराते थे। जब वे मारीशस पधारे हुए थे उन्होंने देखा था कि कुछ हिन्दू भारत से निर्वासित किये गये; क्योंकि वे अपने धर्म को त्यागना पसंद नहीं करते थे। पादरियों और ईसाई शासकों की ही भान्ति उन्हों ने अपने यात्रा-विवरण में लिखा कि ये हिन्दू अपने अन्धविश्वास को छोड़ने के लिए राज़ी न हुए। वे आचरण की दृष्टि से उच्च कोटि के मानव थे।

इस मत को वालेस के मत से मिलाया जाय तो देखने में आयेगा कि दोनों वैज्ञानिकों ने मान लिया था कि भारतीय धर्म को मानकर आचरण करने वाले श्रेष्ठ जन होते हैं। भेद यह है कि वालेस ने भारतीय धर्म कहने की जगह में वैदिक धर्म कहा और डार्विन ने धर्म न कहकर अन्धविश्वास कहा।

हमने वालेस के सब शब्दों को पेश नहीं किया। उन्हों ने यह भी लिखा था कि वेद के लेखक संसार और ईश्वर के विचारों को अत्यन्त सुन्दर कविता में प्रकट करते हैं और वे पूर्णतया हमारे समान थे। वेद में हम बहुत अधिक समुन्नत धार्मिक शिक्षाओं के अनेक तत्त्व पाते हैं।*

डार्विन की भाँति वालेस पादरियों से भय नहीं खाते थे। वे अन्ततः अध्यात्मवादी हो गये थे।

डार्विन तो "डिसेंट आफ़ मेन" प्रकाशित करने से पहले देखना चाहते थे कि "उपजातियों की उत्पत्ति" के प्रकाशन के समय से ईसाई जगत् कम विरोध करने लगा या नहीं। जब उन्हें विश्वास हुआ कि विरोध कम होने लगा तब नये ग्रन्थ को दुनिया को दिया।

पादरी जनता द्वारा फेंके जाने लगे थे, तब सुलह कर विकासवाद को ईसाइयत के अनुकूल बनाने लगे। × डार्विन से चिढ़ते थे। अब डार्विन से उनका कै... रहा। द्वेष करने लगे तो अध्यात्मवादी वालेस से; क्योंकि ये ईसाई न रहकर अध्यात्मवादी बन गये थे। फिर भी कोई-कोई १८६१ से ही सोचने लगे कि वालेस और डार्विन के मध्य मतभेद था तो इसका कारण यही हो सकता था कि वालेस पादरियों के मत की पुष्टि करते थे।

वालेस ने अपने "चमत्कार और आधुनिक अध्यात्मवाद" नामक ग्रन्थ में लिखा कि बचपन से मैं जैसे वातावरण में रहा जो मुझे धर्म की ओर झुकने से रोक सकता था। मैं वोल्तेर को पढ़ा करता था। जब प्रमाण मिला कि सचमुच आत्मा है तब मैं अध्यात्मवादी हुआ। मैं जानता हूँ कि क्योंकि आत्मा की चर्चा में रहता हूँ, वैज्ञानिक कहने लगे हैं कि पहले की तरह मेरा विज्ञान विषयक मत अधिकृत नहीं है।

वालेस पर आन्तवेन दोहर्न ने १८६१ में आ... करते हुए लिखा था कि विलायत में जहाँ डार्विन के मित्र हैं वहाँ उनके शत्रु भी पाये जाते हैं। दोहर्न वालेस को शत्रुओं में गिनते थे।

‡ The great value of reincarnation is this, that it rationalises evolution. It is the intellectual pendant of evolution. Science admits that every child born into the world is born with a character, but it is not able to tell us whence that character is derived.—A. Besant.

* The authors of the collection of hymns were fully our equals in their conception of the Universe and the Deity expressed in the finest poetic language. In the Veda we find many of the essential teachings of the most advanced religious thinkers. – A. R. Wallace.

× By 1870 even some prominent churchmen began to talk of "reconciling" evolution with religion......

When in 1871 the Descent of Man came from the press, the public was not nearly so shocked as it had been in 1859 when the Origin of Species was put on the market.

—Anne Terry White, "Men before Adam"

विकासवाद डार्विन को भारतीय विचार-धारा के अति निकट लाने में सहायक होता यदि वे पादरियों से भय न खाते। हम ही ने तो लोगों को बार-बार सुनाया कि लाखों, करोड़ों वर्षों से दुनिया है।

भारतीय बुद्धिजीवी विदेशी शासकों के सामने नत-मस्तक होना स्वीकार न करते तो विकासवाद का सहारा लेकर सिद्ध कर लेते कि रामायण, महाभारत, वेद आदि ग्रंथ ईसा के जन्म से हजारों साल पहले के हैं।

फ्राँस की पत्रिका "पेरी मैच" के ज़ार्ज रेयर नामक संवाददाता आजकल भारत में हैं। उन्होंने दलाई लामा के विषय में अपनी पत्रिका को समाचार देते हुए कहा कि उनके भारत आगमन की घर-घर में उसी तरह चर्चा होने लगी जिस तरह हजार साल से❀ महाभारत के पात्रों की यात्रा की चर्चा होती रही है।

तब ऐसों की गिनती के अनुसार ईसा के आगमन के ९ सौ साल बाद महाभारत रचा गया। फ्रांस के सबसे लोकप्रिय कोश जिस का नाम "छोटा लारुस" है, उसी को संवाददाता उठाकर देखते तो उन्हें ज्ञात होता कि कालिदास का काल प्रथम शताब्दी बतायी गई है। कालि-दास ने तो एक ओर "अभिज्ञान शकुन्तल" रचा जिसका आधार महाभारत की एक कथा है और दूसरी ओर "रघुवंश" जिसमें रामचंद्र की कथा आती है। यदि फ्रेंच कोशकार मानते हैं कि कालिदास आज से १९ सौ साल पहले भारत में निवास करते थे, कम से कम महाभारत दो हजार साल का पुराना ग्रन्थ ठहरता है और रामायण उस से भी पुरानी।

जो कहते रहे हैं कि लाख साल पुराना मानव कंकाल उपलब्ध हुआ वह उन पादरियों का यह विचार क्यों मानते हैं कि अधिक से अधिक एक ग्रन्थ ५–६ हजार साल पुराना हो सकता है ?

डार्विन सच्चे यूरोपीय ठहरे। यूरोप के लोग केवल शरीर देखने के लिए नेत्र रखते हैं। उन्होंने अथक परिश्रम करके अद्भुत ग्रन्थ रचे जिस की संसार में खूब धाक जमी। वे और उनके बाद आने वाले चिन्तक इस बात पर बल देते रहे कि मनुष्य अनेक पायी जाने वाली वस्तुओं में से एक हैं। भौतिकवाद का राज्य होने लगा। मार्क्स ने कहा कि वातावरण मनुष्य को बनाता है। डार्विन ने कह दिया था मनुष्य ने अपने शरीर को पशुओं से पाया था। फ्रोयड ने कहा कि पूर्वज पशुओं का अंश अभी मनुष्य में है।† डार्विन ही इस बात के लिए दोषी हैं कि मनुष्य पशुता को अपनाने लगा और संस्कृति से मुख मोड़ता रहा। उनके सिद्धान्त के अनुसार मानव बिना किसी कारण विशेष प्रकृति का रूपान्तर हुआ। वे अन्य वैज्ञानिकों से सहमत हैं कि तीन मूल्यों में से विज्ञान ने केवल सत्य को लिया। उनके लिए शिवम् और सुन्दरम् की आवश्यकता नहीं है।‡

❀ इस फ्रेञ्च पत्रिका ने कदाचित् बिडाप लाइटफुट का समर्थन करना चाहा जिन्हों ने कहा था कि पृथिवी पर आदमी ईसा के जन्म से ४००४ साल पहले आये। वे ठीक ९ बजे प्रकट हुए।

† The West sought to apply the concepts and methods of science in all fields of human experience and treat man also as an object among other objects. In course of time, a materialistic and scientific temper became the pervasive outlook of the West. We find a culmination of this development in the nineteenth and the twentieth century. Darwin sought to establish that man is descended from animals while Marx argued that his mentality is largely the resultant of his material environment. Freud, in the twentieth century, went a step further and taught that not only is man descended from animals but his mentality retains even today traces of his animal origin.

—The Late Maulana A. K. Azad, Inaugural Speech at the Symposium on the Concept of Man and the Philosophy of Education in the East and the West,
New Delhi, Dec. 13, 1951.

‡ Darwin's is the old scientific philosophy that made man a purely accidental outcome of matter and motion, which presented the universe as purposeless. Science has been chiefly concerned with truth, not the two other values (Goodness and Beauty).

—J. W. N. Sullivan, "The Limitations of Science" (Chatto and Windus).

हम पक्के मूढ़ होंगे यदि हम सोचेंगे कि भौतिकवाद के प्रसार से मानव का नैतिक पतन न होगा। विकासवाद से जो सब से बड़ी हानि हुई वह यह है कि उसने समाज में नैतिक पतन लाकर हमारे नाश का मार्ग प्रशस्त किया। श्री सत्यानन्द ने एक बार ठीक लिखा था :—

तर्क प्रस्तुत किया जाता है।

'विकासवाद के जगद्विख्यात सिद्धान्तानुसार यह सिद्ध हो चुका है कि मनुष्य का जीवन अन्य पशुओं से अभिन्न है। उसमें और एक स्वचालित मशीन में कोई अन्तर नहीं है। ऐसी दशा में ऐसे प्रश्न कि जीवन आदर्शवादी बने, सिर्फ सांस्कृतिक मोह के चक्कर हैं। वास्तव में जीवोत्पत्ति एक आकस्मिक घटना है। उसके पीछे कोई रहस्य नहीं है।'

ऐसे लोग एक विद्वान् तार्किक के सदृश उन सभी चीज़ों का खण्डन करने का दावा करते हैं, जिन्हें समाज गलत बताता है। वह कहते हैं कि दूसरे की स्त्री और स्वस्त्री में कुछ प्राकृतिक भेद नहीं है। यह भेद तो मनुष्य द्वारा निर्मित है और कभी भी बदल सकता है। हो सकता है कलका समाज इस भेद को भूल जावे।"†

बम्बई विश्वविद्यालय के प्राध्यापक श्री एस० घुर्ये ने अपने "संस्कृति और समाज" नामी ग्रन्थ में लिखा है कि डार्विन का सिद्धान्त वस्तुतः नैतिक पतन लाने में सहायक होता है।

क्या हम पतन लाकर ऐसे सिद्धान्त को मानें जिस के संबंध में अब संदेह होने लगे हैं? विकासवादी का यह मत है कि किसी जीव के शरीर में कोई व्यर्थ... रहे तो कालान्तर में वह लुप्त हो जाता है। कुछ... को लेकर उनकी पूँछ काटी गई। इसी तरह उनके... की असंख्य पीढ़ियों तक पूँछ के साथ जन्मते पाकर... भी पूँछ काटी गई। वह समय कभी आया ही नहीं... पूँछविहीन मूषिक जन्मा!

लोग कहेंगे कि परिवर्तन देखने में नहीं आता कि... काफी समय के बाद किसी शरीर का रूप बदलता... विलायत से अभी कुछ शती पूर्व अमेरिका में पधारे... के वंशजों की आकृति में तो परिवर्तन आने लगा... विकासवादी सुनाते हैं कि आस्ट्रेलिया के शशकों ने... पर चढ़ने का सहारा देने वाले नाखून निकल रहे... हमारा कहना है कि मूषिक पूछविहीन क्यों न हु... एक दूसरा प्रमाण भी पेश किया जा सकता है। लोगों... यह ख्याल कि इस्लाम के आगमन के पूर्व लोग ख... नहीं कराते होंगे, गलत है। उस धर्म के जन्म से ह... साल पूर्व भी खास लोग खतना कराते थे। ऐसों के... में से एक भी बालक अभी तक न जन्मा जिसकी ख... हो गई हो।

अगस्त, १९४८ की "कोंटेंपोरेरी रिव्यू" के एक... में कहा गया है कि छोटे कद वाले एस्किमो के शरीर... अभी तक उतना ही बाल दिखाई देता जितना कि... रिकी वृषभ की देह पर होता है। ऐसा न होना प्रमा... करता है कि विकासवाद अमान्य है।‡

---

† "संजय", जून, १९५८ ई०

श्री सत्यानन्द के शब्दों से कोई-कोई क्रुद्ध हो सकते हैं। परन्तु जब हम देखते हैं कि परिवार नियोजन... पक्ष ग्रहण करने वाले क्या-क्या कहते और करते हैं, हमें कहना पड़ता है कि सचाई को कभी-कभी कठोर शब्दों... प्रयोग करके प्रकट करना चाहिये।

—लेखक

‡ If the evolution theory were true, the Eskimos should either have acquired a thick lay... of subcutaneous blubber or have been as hairy as a musk-ox.

—The Contemporary Review for August, 19...

Ruskin's mind was clouded over by the effect of the Indian mutiny and prejudic... as he then was, he could hardly be expected to judge either Indian art or philosophy dispa... ionately. The dark terrifying spectre of ferocity haunted all his interpretations of the Hin... genius :

"'Out of ivory palaces comes cruelty and treachery, cowardice, idolatry and bestiality, c... mes all that is fruitful in the work of Hell'"

Tennyson's "Defence of Lucknow" speaks the same language under the guise of po... convention.—Alex Aronson, Europe Looks at Europe.

१८५९ और १९५९

सन् १८५९ में भारत ने स्वतन्त्र होने का प्रयास किया था। उसके साथ कोई न्याय करने के लिए तैयार न था। विलायत के नामी साहित्यकार भारतीयों को कोसने लग गये थे। "गदर" नाम सुनकर सब कोई आगबबूला होते थे। भारतीय दर्शन और कला का भी मूल्यांकन न हो सका, क्योंकि स्वातन्त्र्य युद्ध ने रस्किन जैसे पारखी तक को विचलित कर लिया था। कवियों में महाकवि टेनिसन ने रस्किन की ही तरह भारतीयों को नीचा दिखाया।

आज परिस्थिति दूसरी है। टेनिसन के पौत्र श्री हेलम टेनिसन ने भारत की यात्रा की, संत विनोबा के आश्रय को ग्रहण किया और उनका सुन्दर जीवन-चरित लिखा जिसके दो संस्करण मुद्रित हुए हैं।

भारत स्वयं भारत से न्याय करे तो डार्विन के ग्रन्थ की शती का अवसर भारतीय समस्याओं के सुलझाने में सहायता कर सकेगा।

एक शती बीत गई जब से साम्राज्यवादियों ने विकासवाद को लेकर साम्राज्य विस्तार किया। वे समय असमय यही कहते रहे कि जो योग्यतम है वही जीवित रहता है। अँगरेज़ योग्यतम कहलाते थे और वे भारतीयों पर राज्य करते थे, जो अयोग्य बताये जाते थे।

यदि वे सच्चे होते, ज्योंही विकासवाद से ईसाइयत को धक्का लगा वे किसी अन्य धर्म को ढूँढ़ते। अन्य धर्म न ढूँढकर वे नास्तिक बने।

साम्राज्यवाद का पोषण ईसायत द्वारा होता था। जब कभी पादरी लोग "जंगल" में बसने वाले लोगों का ईसाईकरण करने का महत्त्व दर्शाते थे, कट्टरपन्थी ईसाई उनकी झोली तत्काल भर देते थे। पादरियों की धाक सब पर जम जाती थी।

विकासवाद ने ईसाइयत का खोखला होना सिद्ध कर दिया। अब प्राथमिक स्कूल के छात्र भी इस बात को नहीं मानते कि कुल छः हजार साल से दुनिया है, परमात्मा ने इसे छः दिन में बनाया और थककर सातवें दिन आराम किया।

गिरजाघर खाली होने लगे, ईसाइयत के प्रचारार्थ विश्वविद्यालयों को दिये गये दान का व्यय विज्ञान, तत्त्वज्ञान, गणित आदि विषयों की पढ़ाई पर होने लगा।

विकासवाद के युग से पूर्व पादरी यूरोप को टस से मस होने ही नहीं देते थे। वे अवरोधक सिद्ध होते थे। वैज्ञानिकों को विशेष न्यायालय स्थापित करके मृत्यु का दण्ड दिया जाता था।

पादरियों ने धर्म की असेवा करते हुए यह न बताया होता कि गैर ईसाई धर्म, धर्म ही नहीं हैं तो ईसाइयत का स्थान कोई और धर्म ले लेता, नास्तिकता को पनपने का मौका न मिलता।

यूरोपीयनों ने सोचा कि जब अन्य धर्म निकृष्ट हैं और ईसाइयत सर्वोत्कृष्ट, हम इसे त्यागकर किसी और धर्म को अपना नहीं सकते; सब धर्म त्याज्य हैं!

यूरोपीयनों का पदानुसरण करना ही है तो इस समय भारत के स्वदेशी शासकों को हिन्दुओं का ईसाईकरण बंद करवाना चाहिए। डार्विन के ग्रन्थ की शती के हो जाने पर वे उनके विचारों को देश भर में समझाने में लग जायें और बताने लग जायें कि सबसे प्राचीन ग्रन्थ वेद ४ ही ५ हजार साल पुराने नहीं हैं, संसार में मनुष्य जाति का अस्तित्व लाखों वर्ष से है। नेवादा में एक आदमी का पदचिन्ह पाया गया है और एक जूते का तला पाया गया है जो पचास लाख वर्ष पुराना बताया जाता है। इससे सिद्ध होता है कि उस युग में मानव का विकास हो चुका था क्योंकि वह जूता पहनता था।

जब शासकों को विश्वविद्यालयों के स्नातकों को दीक्षान्त अभिभाषण देना हो तो वे इस नवीन बात की चर्चा करें कि विकासवाद १०० साल पुराना हो गया तो सूक्ष्म ढ़ंग से भारतीयों को वे जता देंगे कि ईसाइयत में कुछ रखा नहीं है। विलायत से भारत में पधारने वाले शासक ईसाइयत का पगपग पर समर्थन करते थे। वे जानते थे कि यह लोगों को भूल-भुलैया में डालने के लिए एक आदर्श संघटन है। क्या श्रेष्ठ धर्म वाले अपने धर्म की पुष्टि नहीं कर पायेंगे?

पृथिवी की कुल जनसंख्या का १४ प्रतिशत यूरोप में है। यूरोप सब पर अपनी धाक जमाता जा रहा है, क्योंकि वह समझता है कि योग्यतम लोग यूरोपीय ही हैं। १४ आदमी १०० को आसानी से चला सकते हैं, यह मान यूरोपीयनों ने असंख्य गुलामों को जन्म दिया। जब तक यूरपीय विचार का राज्य रहेगा तब तक गली में लोग सोते रहेंगे, उनके शरीर पर वस्त्र कम ही पाये जायेंगे, उन्हें बेकारी सताती रहेगी, उनकी आमदनी घटती ही रहेगी, अपव्यय

होता रहेगा, मुट्ठी भर लोगों का नेतृत्व होगा जो यूरोपीयनों की तरह अपने को योग्यतम बताकर जन-जन को सताते रहेंगे। प्रभुत्व जमाने की इच्छा करने वाले डार्विनवाद की सराहना ही कर सकते हैं।

स्वदेशी शासक अपनी विद्वत्ता का परिचय देंगे जब, हो रही शती से जानकार हो पायेंगे। उन्हें ज्ञात होगा कि जब लाट पादरी और हक्सले में शास्त्रार्थ हुआ था पादरियों का ढंग अपनाकर ही लाट पादरी ने हक्सले की खिल्ली उड़ाने की चेष्टा की थी। उन्हों ने कहा था कि ये महाशय कहते हैं कि इनके पूर्वज बन्दर थे। बिना हिचके हक्सले ने पादरी को निरुत्तर करते हुए कहा: "मैं बल देकर कहूँगा कि पाखण्ड का आतंक फैलाने वाले और पांडित्य का दुरुपयोग करने वाले मनुष्यों की अपेक्षा बन्दर को अपना पितामह स्वीकार करने में शर्म की कोई बात नहीं है।" †

हक्सले की ही तरह एक बार डार्विन ने एक बन्दर की कथा सुनाई थी जिसने किसी की सेवा की थी। उन्हों ने कहा कि कपि का वंशज होना मुझे मंजूर है न कि किसी ऐसे आदमी का जो असभ्य हो, अपनी स्त्री को दासी बनाता हो, अपने शत्रुओं को पीड़ा देते हुए आ अनुभव करता हो, पशु की बलि करता हो, नव शिशुओं को मारता हो और अन्धविश्वासी हो।‡

शासकों में से कोई कोई विज्ञानवेत्ता भी हैं। वे करें कि न डार्विन और न हक्सले अपने को बन्दर वंशज बताने में शर्म खाया करते थे।

जिस प्रकार पादरी ने हक्सले को गिराना चाहा प्रकार वे हिन्दू को हनुमानजी की कथा याद करके कहकर गिराने की चेष्टा करते हैं।

आज के भारतीय हक्सले का अनुकरण करते भारत को अभूतपूर्व लाभ होता। वे पादरियों को समझाते कि हनुमान् किष्किन्धावासी थे। किष्किन्धा अध्यात्मवाद का राज्य था इसीलिये आत्मिक बल हनुमान्जी का चित्र खींचते हुए वाल्मीकि मुनि ने क कि बाहर से वे जितने कुरूप थे उतने ही वे भीतर बलवान् थे। वाल्मीकि मुनि का मतलब है कि शरीर उपेक्षा करके जो किसी का आत्मा देखना जानता वही ज्ञानी है।

† "I should like", said Bishop Wilberforce, "to ask Professor Huxley who is sitting by and is about to tear me to pieces when I have sat down, as to his belief in being descend from an ape—Is it on his grand father's or his grand-mother's side that the ape ances comes in ?"

At this unexpected sally there was a burst of laughter from the audience......

"A man", said Huxley quietly and with great dignity, "has no reason to be ashamed having an ape for his grand father. If there were an ancestor whom I should feel shame recalling, it would be a man......" "......a man", he continued, warming to his attack, restless and versatile intellect, who, not content with success in his own sphere of activ plunges into scientific questions......about which he knows nothing". The Bishop had everyone felt, no more than he fairly deserved, and no one could regret that he had his scalp in Huxley's hands.

—Anne Terry White, Men before Adam.

‡ "He who has seen a savage in his native land will not feel shame," Darwin wrote, forced to acknowledge that the blood of some more humble creature flows in his veins. For part I would as soon be descended from that heroic little monkey, who braved his dread enemy in order to save the life of his keeper, or from that old baboon, who, descending fr the mountains, carried away in triumph his young comrade from a crowd of astonished do as from a savage who delights to torture his enemies, offers up bloody sacrifices, practis infanticide without remorse, treats his wives like slave, knows no decency and is haunted the grossest superstition."

—Men before Adam.

रामायण के मुख्य पात्र

आजकल "वेदवाणी" में रामायण प्रकाशित की जा रही है। पाठकों को रामायण के पात्रों के विषय में सोचने का मौका मिल रहा है। राजकुमार रामचंद्र के नाम के साथ कभी कभी सीताजी का नाम नहीं लिया जाता। उनके सेवक इतने उच्च थे कि उनका नाम उनके स्वामी के साथ बार बार आता है। हनुमान्‌जी को अपने गालों पर मुखराज लगाने की आवश्यकता न थी। वे थे ब्रह्मचारी। उनमें वह बल था जो ब्रह्मचारियों में होना चाहिए। उनके शरीर पर वस्त्र की जगह में घना बाल था। पूँछ भी लगी हुई थी। युग युग में दुमसहित शरीर को भुला दिया गया और आत्मा का स्मरण होता रहा।

महाभारत का प्रसार

हमारे प्रसिद्ध महाकाव्यों में से प्रथम रामायण है और द्वितीय महाभारत। संयुक्त-राष्ट्र-संघीय शैक्षणिक, सामाजिक, सांस्कृतिक संघटन तक ने देख लिया कि इन काव्यों का प्रसार करना चाहिये। "यूनेस्को फीचर्ज़" में राबर्ट फाहर्टी ने लिखा है कि अमेरिका में नल और दमयन्ती की कथा के आधार पर तैयार किया गया फिल्म दिखाया गया है।* क्या हम इतने सभ्य हो गये हैं कि जिन भारतीय ग्रन्थों का स्वागत विदेश तक में होता है; उनकी उपेक्षा करके भारत की भलाई करने पर तुले हैं?

यदि हम इस बात पर गर्व करते हैं कि हमने विज्ञान का अध्ययन किया, हम अँगरेज़ीदां हैं, समय पाकर हमें

INDIAN EPIC...IN THE HEART OF TEXAS

by Robert Faherty

* It happened in Texas. "The handsome young king Nala entered the forest in the hunt, and there he encountered the Swan. The wily bird asked to be spared, and in exchange for his life told the king where to find the beautiful princess Damayanti."

Visitors from Bombay, Poona and Shillong applauded as Nala pranced on to the stage and, with gestures of face and hands, showed that he would spare the swan and would seek the princess. This Nala, in blue and silver robes, with face blued to match, looking like Krishna in the Kangra paintings, was 12 years old.

It happened at a crossroads in the United States Southwest which, 100 years ago, was a trading post for buffalo hides and buffalo bones.

The people of Fort Worth now know all about Nala and Damayanti, in the Hindu epic Mahabharat. They were characters in a play presented there last year in a series of eight public performances by 70 children who had been specially trained for the parts throughout the school year.

The children's work on this drama derived from the Sanskrit writings was intended not merely as entertainment for relatives and friends, but as education in world literature--one of the aims of the Reeder School for Theatre and design, of Fort Worth, which trained them.

Bringing Oriental Theatre to Texas by training children for the stage has not been an easy achievement, Dickson Reeder, principal of the school, is a painter and designer who developed a deep interest in stage and films. Flora Blanc Reeder, his wife, has first-hand knowledge for writing scripts for children and drilling and directing them—she was a child actress in New York when she was six.

The first Oriental drama the school decided to stage some twelve years ago was "Kai Khoshru", based on the great Iranian epic "Shahnama".

A few years later another group of children was trained by the Reeders to present "Lady Precious Stream". It was played in the chinese manner without scenery, with ordinary instruments adapted to sound like Chinese instruments.

Success with the Persian and Chinese works persuaded the Reeders to plan a production

बताना चाहिए कि डार्विन ने अनेक मत प्रकट किये हैं। उनका यह भी मत था कि हर एक अवयव के हर एक कोष्ठ से उस उस कोष्ठ के गुण धारण करने वाले अति सूक्ष्म भाग † उत्पन्न होते हैं। यह मत "पांजेनेज़िस" या "कणजनीवाद" के नाम से प्रसिद्ध है। आज खुद वैज्ञानिक इसे ठुकराते हैं।

भारत ने किस युग में बाह्य जगत् को ज्ञान नहीं दिया है? भारत ने ही बारंबार कहा कि चेतन शक्ति प्रमुख है, विज्ञान आज कहने लगा है कि यह शक्ति विद्यमान है। लामार्क के मतानुकूल मन का होना स्वीकार करना चाहिए।‡

डार्विन के साथी ने विगत शती में ही "चमत्कार और आधुनिक अध्यात्मवाद" नाम से एक ग्रन्थ रचा था जिस का अनुवाद अनेक भाषाओं में हुआ भी था। वे … शती के अध्यात्मवादियों के मत की पुष्टि करते थे। … इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि डार्विन … धर्मगुरुओं से भय खाकर नहीं मानते कि वे धर्म-प्रेमी … तो इतना जान लेते कि आत्मा अदृश्य होने पर भी सच … विद्यमान है। डार्विन को इतना भय था कि जिन दिनों हक्सले लाट पादरी से जूझने वाले थे, वे अपने मित्रों … कहते थे, "देखना मानवसृष्टि, मानवोत्पत्ति की चर्चा … न करना"।× यदि इन विषयों को उठाया जाता, यह … होता कि इंजील स्वीकार किये जाने लायक पुस्तक न… है। वे नकली ईसाई बनकर पादरी को तुष्ट करने लगे थे।

आज अच्छे-अच्छे मानस-शास्त्री लिखते हैं कि … छोटी से छोटी हरकत आदमी करता है उस पर भी कि…

---

of "Nala and Damayanti" for 1958. First, there was a long study of the tale from the Maha-bharata in an English translation. Flora Blanc Reeder worked on a dramatization of the story by Dorothy Coit and made many additions from the Hindu epic.

Rajput miniatures in the Boston Museum served as models for the costumes, while re-cordings of Indian ragas were used as musical accompaniment.

The principal problem, however, was to teach the children expression in the manner of Indian drama, by dance, facial gesture and movements of the hands and fingers. For this, the book, "The Mirror of Gesture", a compilation of essays translated into English by Ananda Coomaraswamy, became a standard reference work for the pupils.

(UNESCO Features, 27 July, 1959)

† Gemmules :—

Darwin worked out the elaborate theory (pangenesis) according to which all parts of the body continually gave off ultra-microscopic 'gemmules' which accumulated in all other parts of the body including the germ cells, so that each cell included a sort of representation of the whole organism. He could thus explain the fertilized egg combined traits from both parents, how lost parts could be regenerated, how a whole plant could grow from a cutting of the stem, leaf or root and the like. The whole concept has been rendered obsolete by the gene theory of modern genetics.

—The Darwin Reader.

‡ Lamarck (1744-1829) suggested that changes of climate, soil,e tc. would necessarily modify the habits of living creatures. The change in environment would produce a new need; this could lead to a new effort, which resulted in individual modification. Note that this theory presupposed the existence of mind in the creature; the modification was due to conscious effort, not to blind chance.

—J. J. Saunders, M. A., The Age of Revolution (Hutchinson).

× Don't discuss the special creation of man. Don't discuss the origin of man at all.

(Darwin)

कुछ प्रकाश नहीं डाल सकता।* तात्पर्य यह कि चेतन शक्ति का होना नामंजूर नहीं किया जा सकता।

कोई राममोहन और दयानन्द का नाम लेवा न रहेगा ?

भारत को स्वतन्त्र हुए बारह वर्ष हुए और लगता है कि अध्यात्मवाद भारत से एकदम कूच कर गया है। कहाँ हैं वे दिन जब यूनान, चीन आदि प्राचीन देशों से यात्री भारत की यात्रा करते थे और भारतीय गुरुओं से शिक्षा पाकर तृप्त होते थे ? क्या स्वतंत्रता एक अभिशाप सिद्ध होगी ? क्या अब महात्मा गांधी जैसे भक्त के प्रधान शिष्यों की देखादेख सब कोई आचरण करेंगे और भारत में राम, कृष्ण, राममोहन राय, दयानन्द का कोई नाम लेवा न रहेगा ? वेद को पाकर भी भारत के पुत्र और पुत्रियाँ धर्म को ठुकराकर यूरपीयनों के रंग में रंगी जायेंगी ?

इस में संदेह नहीं कि सच्चे विद्वान् बेचैन हो उठे हैं। सन् १९५८ में डा० केवल मोटवानी का एक मनु-विषयक ग्रन्थ मुद्रित हुआ है जिसका प्रत्येक भारतीय को स्वागत करना चाहिए था।

डा० मोटवानी जी लिखते हैं ‡ कि भारतीय को वेद और उपनिषदों ने धार्मिक जीव बनाया है। मानव धर्म-शास्त्र वेदों पर आधारित है। उसमें जब विकास का उल्लेख हुआ, यही बताया गया कि परमात्मा सबमें बसते हैं। इस विकास को ईश्वर से वैर नहीं है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय का मुख्य अंश इस विषय पर है कि किस तरह संसार का आरंभ हुआ। जीवन पर अपना विचार देते हुए मनु महाराज ने लिखा है कि श्रेष्ठ जीवन ही सुख और प्रगति का सर्वोत्तम कारण है।

जिस जाकोल्यो नामक फ्रांसीसी लेखक के मशहूर ग्रंथ "भारत में इंजील" से महर्षि दयानन्द ने "सत्यार्थप्रकाश" के एकादश समुल्लास के आरंभ में उद्धरण दिया है, उसके इस नवीन ग्रन्थ में असंख्य उद्धरण दिये गये हैं। डा० मोटवानी लिखते हैं कि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कई सौ मनुस्मृति के श्लोक देकर अपने मत की पुष्टि की। उन्होंने अन्य स्मृतियों से उद्धरण नहीं दिये क्योंकि वे मनुस्मृति के समान वेदानुकूल नहीं हैं। खास कर जब-जब वर्णाश्रम पर उन्हें लिखना पड़ा, उस महान् स्वामी ने मनु पर निर्भर रहकर इन मर्यादाओं का वर्णन किया। उन्होंने चाहा कि नये सिरे से वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, नये ढंग के विद्यालय हों और विदेशी मिशनरियों का सामना किया जाय। जो शक्ति वेद और स्मृति में है, वह अपने आर्यसमाज में लाने में प्रयत्नशील थे।†

---

* No single organic function has yet been found explicable in purely mechanical terms; even such relatively simple processes as the secretion of a tear or the exudation of a drop of sweat continue to elude all attemps at complete explanation in terms of physical and chemical science. —W. Mc Dougall, "Psychology"

‡ The Veda and the Upanishads are the visible foundation of India's spiritual and religious being.

Evolution is not a blind, mechanical impulse of Natura, but is guided by the light and intelligence of the Supreme Spirit that abides iu all.

A major portion of the first chapter of the Manu Dharm Shastra is devoted to a description of the cosmic and evolutionary processes, the origin of the universe, of matter, life and mind. But from this cosmic setting we descend to earth.

Good life is the surest way to happiness and progress.

Manu, II. 106—110

† Swami Dayanand was a vigorous champion and uncompromising exponent of the Divine Wisdom enshrined in the Vedas and of the superiority of the teachings of Manu over those of any other social thinker in the world. In his mangnum opus, 'the Satyarth-Prakash', the Swamiji quoted hundreds of shlokas from the Manu Dharma Shastra, chiefly because they had sanction of the Vedas. He quoted no other Dharma Shastras, since they lacked this sanction and reflected the needs of the changing times during the subsequent periods of India's history. When

मनुस्मृति और इंजील

यूरोप में महर्षि के समकालीनों ने स्वतन्त्र रूप से देखा कि मनुस्मृति एक विशेष ग्रन्थ है। वे डार्विन की प्रशंसा करने की जगह में यूरोप को बताने लगे कि यह भारतीय ग्रन्थ एक नवीन वातावरण लाता है। नीत्शे ने लिखा, "इंजील के वातावरण से मुक्त होकर लोग अधिक स्वतन्त्रता से साँस लेने लगते हैं। न्यू टेस्टेमेंट मनु के सामने तुच्छ है। सूर्य समस्त ग्रन्थ पर अपनी रश्मियाँ फेंकता है। यह एक अतुल बौद्धिक और उच्च कोटि का ग्रन्थ है। इंजील को बन्द करके मनु धर्मशास्त्र को खोलो।" †

इस नवीन ग्रन्थ में एक अद्भुत वस्तु की कथा है गई है जो बगदाद के समीप पायी गई है। वह है विद्युत्समूहा है।

आज तक हम कहते रहे कि भारत में वायुयान बनता था, एक बार वहाँ एक बाईसिकल पायी गई थी इत्यादि।

विद्युत् से तो कल से काम लिया जा रहा है। एशिया में विद्युत्समूहा पाना एक ऐतिहासिक घटना है। डार्विन बीसवीं सदी में जीवित होते तो उन्हें समझना पड़ता कि जब मनुष्य १९ वीं सदी से उन्नति करने लगा है एशिया में हजारों साल पहले कैसे विद्युत्समूहा बनती थी?

---

dealing with the varna-ashramas, rajadharma and general conduct, the great Swami drew on Manu Dharma Shastra alone. The Arya Samaj has played a major role in Indian renaissance. A new understanding of the Vedas, and Manu Dharma Shastra, a reverence for the rituals prescribed by the Vedas, a set of educational institutions where attempts are made to bring up students in conformity with the teachings of the Vedas and Manu, a vigorous resistance to the proselytising work of foreign mission and reclamation of converts: these have been some of the contributions made by the organisation founded by him, thus bearing witness to the vigour and vibrancy of the teachings of the Vedas, the Manu Dharma Shastra and of the Founder of the movement himself.

† Nietzsche praises Manu in these words : "One breathes more freely, after stepping out of the Christian atmosphere of hospitals and poisons into this salubrious, loftier and more spacious world. What a wretched thing the New Testament is besides Manu, what an evil odour hangs around it !"

He acknowledged Manu's superiority in the fact that "he has organised the highest possible means of making life flourish. The fact that in Christianity 'holy' ends are entirely absent constitutes my objection to the means it employs.......My feelings are quite the reverse when I read the Law Book of Manu... an incomparably intellectual and superior work. It is replete with noble values, it is filled with a feeling of perfection, with saying of yea to life, and a triumphant sense of well being in regard to life; the sun shines upon the whole book. All these things that Christianity smothers with its bottomless vulgarity—procreation, marriage, woman —are treated here with reverence, with love and confidence." And he continues in the same strain : " I know of no book in which so many delicated things are said of woman as in the Law book of Manu."

Nietzsche, like all philosophers interested in reconstructing the basis of human society believed that there was "need of a thoroughgoing transvaluation of values," and in his search for guidance in the "humanising of humanity," he turnd to Manu. He found no inspiration in the Bible. "Close the Bible and open the Code of Manu", was his exhortation. He was fascinated by Manu's "affirmative religion......"

कथा इस प्रकार है। कोनिग नामक जर्मन पुरातत्त्ववेत्ता ने मेज़ोपोतामिया में बगदाद के समीप एक विद्युत्समूहा पायी जिसका उल्लेख उन्होंने अपने "विलुप्त स्वर्ग" नाम के ग्रन्थ में किया।†

यूरोपीयन ऐसे समाचार को कब प्रसारित होने देते? इस बात को दबा दिया गया, तब जिसने अमेरिका और विलायती पत्रिकाओं में इस वस्तु के विषय में लेख लिखे थे, उसने एक तरुण वैज्ञानिक को मेज़ोपोतामिया में भेजा जिन्होंने ठीक उस समूहा के समान एक नई समूहा बनाई जो आज की समूहाओं की भाँति ही चलने लगी।

भारत में पक्की साइकिल, नेवादा में ऐसा जूता जो आधुनिक जूतों के बिल्कुल समान है, बगदाद के निकट विद्युत्समूहा डार्विन के देहावसान के उपरांत पायी गईं। उनके जीवित काल में कंकाल भी तो न पाये गये थे।‡ यदि उन्होंने इन वस्तुओं को देखा होता क्या वे और अन्य विकासवादी हमें कहते कि विकासवाद के सिद्धांत के प्रसार से पूर्व लोग मानते थे कि पहले ज़माने के लोग जंगली थे; क्या हुआ यदि हम कहते हैं कि पशुओं से हम जन्मे हैं जो जंगलियों से कुछ ही अधिक असभ्य हैं?

यह निश्चित है कि विकासवाद हमें यह मानने को कहता है कि सभ्यता बाद में आयी।

डार्विन का पक्षपात

न डार्विन ने भारत-यात्रा की थी और न वालेस ने ही। वालेस को भारतीय धर्म-ग्रन्थ प्राप्त हुए। संभव है कि डार्विन ने भी ऐसे ग्रन्थ देखे हों। उनकी प्रशंसा में लिखे गये उनके वाक्य हमें न मिले। वे हर वक्त यही ख्याल किया करते थे कि पादरी हम से नाराज तो न होंगे। इसी भाँति जब वे देखते थे कि उनका सिद्धान्त युद्ध करने की प्रेरणा देगा वे चुप रहते थे; उन्हें सफलता से काम था, और किसी बात से नहीं। कीथ गलती पर हैं जब कहते हैं कि डार्विन की आलोचना निराधार है।*

जब उन्होंने बन्दर की मानव से तुलना की उनके ध्यान में भारतवासी ही लोग थे।

पादरियों ने देश-देश में सुनाया था कि राजपूताना में नवजात शिशु को मार दिया जाता है यदि वह लड़की हो। उन्होंने यह भी सुनाया कि भारत में पशु की बलि चढ़ाने का रिवाज था, स्त्रियाँ दासियाँ थीं, भारत अन्ध-विश्वास का गढ़ था।

यद्यपि भारत में डार्विन पहुँच न पाये थे, उन्होंने मारीशस में भारतवासियों को देखा था। भारतीयों को वालेस ने कहीं देखा न था। फिर भी उनके ग्रन्थ को देखकर उन्होंने मौन धारण न किया था। इसके एकदम विपरीत, डार्विन ने देखा था कि भारतीय श्रेष्ठ आचरण

† About twenty years ago, a German archaeologist, Mr. Wilhelm Konig, reported discovery of a remarkable find during the course of his digging operations on the remains of a Parthian town, near Bagdad, in Mesopotamia. The Parthians dominated this region during 250 B. C. to 225 A. D. The find resembled an electric battery. Konig described this find in his book, "The Lost Paradise", but no notice was taken of this discovery. It is only recently that his theory was put to test. Mr. Willy Ley, who reported Konig's find in English and Amarican journals, gave diagrams and analysis of materials to Mr. Willard F. M Gray, a young scientist, working in General Electric's High Voltage Laboratory, in Pittsfield, Mass Mr. Gray made a duplicate of the find and the model worked exactly like an electric battery; "What electrolyte the Parthian jewellers used is a mystery, but Gray's model works well with copper sulphate. Acetic or citric acid, which the ancient chemists had in plenty, should even be better.'

—Dr. Motwani

‡ In 1882 Charles Darwin died mourned by the entire scientific world. Westminster Abbey received his body. It was to lie there ten years before the bones of man's earliest ancestor rose from the earth.

* It was often said in 1914 that Darwin's doctrine had bred war in Europe. An exeression of this belief is still to be met with.......He did not invent the law.

—Sir Arthur Keith, Essays on Humon Evolution (The Scientific Book Club).

वाले थे। जब पादरियों ने भारतीयों का चित्र खींचा, डार्विन को सोचना चाहिए था कि जब निर्वासित कैदी का व्यवहार स्तुत्य था अन्य भारतीय उनसे भी श्रेष्ठ होंगे। जो अन्धविश्वासी, हिंसक थे वे समाज के श्रेष्ठ व्यक्ति न थे। आँख से लोगों को देखकर भी उन्हें सुनाई जाने वाली बातें पसंद आईं। वे तो निरीक्षण करने के लिए ही निकले थे। क्या भारतीय लोग पक्षी, कछुए, मेंढक से भी गये-गुजरे थे कि वे उनके विषय में सोच-विचार करने के लिए समय न निकाल सके? छोटे-बड़े पशु और पेड़-पौधे के प्रति उनमें दया उमड़े और भारतीयों के साथ ऐसा दुर्व्यवहार करना, यह कहाँ का न्याय था?

भारत के शासन-सूत्र जिनके हाथों में आते हैं वे न समझें कि विज्ञान ने पूर्व युग में कभी उन्नति न की थी। वे भारत में सर्वत्र गगनचुंबी महल निर्मित करके उसे उठा नहीं सकते। अमेरिकामें हजारों वर्षोंतक भारत की अपेक्षा अधिक उत्तुंग महल रहेंगे। भारत सब विषयों पर पूर्णतया ध्यान दिया करता था। यूरोपीयों का अन्धाधुंध अनुकरण करके स्वदेशी शासक इस प्राचीन देश को गिरने से रोक न पायेंगे।

पिछले दो दशकों में बार-बार वेद, शास्त्र, उपनिषद्, गीता, रामायण पर दिये जाने वाले प्रवचनों को सुनकर कई मारीशसीय भारत की यात्रा करते रहे हैं। वहाँ से लौट कर वे निराश हो जाते हैं। उनका कहना है कि नेहरू के भारत ने ऋषियों का भारत बंजर भूमि बन दी है।

जब मैं टि० एस० एल्यट का "बंजर भूमि" नामक काव्य पढ़ता था, मैं मन ही मन कहता था कि समस्त बंजर भूमि बने तो बने मुनियों का भारत बंजर भूमि बन ही नहीं सकता।

एक बलवान् आत्मा असंख्य बलवान् शरीरों को पछाड़ सकता है।

क्या असंख्य ऋषियों, मुनियों, वैज्ञानिकों, तत्वज्ञानियों की तपस्या निष्फल होगी? क्या बापूजी के प्रधान शिष्य इस बात से अनभिज्ञ हैं कि बृहदारण्यकोपनिषद् में वाक्य आया है।

"अबलीयान् बलीयांसमाशंसते"

एक निर्बल मनुष्य भी धर्म से एक बलवान् मनुष्य पराजित कर सकता है।

इस वाक्य में बापूजी की संक्षिप्त जीवनी है। वे निर्बल थे कि उनकी तुलना किसी बालक से ही की सकती थी, परन्तु ज्यों-ज्यों वे वृद्ध होते रहे और शरीर क्षीण होता रहा त्यों-त्यों उनका आत्मा बलवान् रहा। फ्रेंच कवि विक्टर ह्यूगो कहा करते थे कि शरीर के कमजोर होने से मैं हताश नहीं होता, कुछ है जो शरीर से भिन्न है और जो अधिक शक्ति होता जा रहा है।

बापूजी के शिष्यों ने निर्बल शरीर वाले गुरु को ब्रि साम्राज्य जैसे बलवान् को पछाड़ते देखा। उन्हें तो में विश्वास करके आत्मा की उपेक्षा करना शोभा देता। भारत इसलिए स्वतंत्र नहीं हुआ कि वह यूरोप की नकल करे। यूरोप के सत्यवादी चिंतक कह चुके हैं कि यूरोपीयनों की नैसर्गिक प्रवृत्ति पाशविक अतः वे पृथिवी पर स्वर्ग की स्थापना नहीं कर सकते।

खुशी की बात है कि कुछ अंश में प्रतिक्रिया लगी है। डा० केवल मोटवानी का "मनु धर्मशास्त्र" वाले ग्रन्थ का प्रकाशन प्रतिक्रिया ही है। प्रतिक्रिया रही तो आशा बँध जायेगी कि संकट को कुछ टाला जा सकेगा। शिष्य गण अपने गुरु गांधी के प्रति हों जो ऋषियों के प्रति सच्चे रहे। उन्हों ने वेद, उपनिषद् तथा गीता से द्रोह नहीं किया था। लोकप्रियता बढ़ती रही। उनकी अकाल मृत्यु ने विश्व को रुला छोड़ा था। शिष्यों को कैसे यह ख्याल गया कि लाखों हिन्दुओं का जो हर वर्ष ईसाईकरण रहा है उसके विषय में मौन धारण करना चाहिए ईसाई क्रोध में भरकर उनका अहित न कर डालें? आचरण करने वालों की भी लोकप्रियता बनी रहती क्या बापूजी से उनका मिलाने वाला कोई सूत्र नहीं है

† We Europeans will never create a paradise in spite of all the charity which we wear on oursleeves, because our animal instincts are too strong.

—Count Hermann Keyserling, "The Travel Diary of a Philosopher."

(पृष्ठ २४ का शेषांश)

विष्णु की व्यापकता में क्या शक्ति है, इसका एक सुन्दर दृष्टान्त शतपथ ब्राह्मण तथा पुराण में उस विष्णु के **वामन** रूप में वर्णन किया है। ग्रन्थ में लिखा है—प्रजापति की दो सन्तान देवता तथा असुर थे। असुर अधिक थे देव कम। असुरों ने पृथिवी आपस में बाँटनी प्रारम्भ की, देवताओं को उन्होंने देने से नकार कर दिया। निर्बल तथा न्यून देव क्या करते। उन्होंने यही निश्चय किया कि विष्णु की उपासना की जाय, वह सहायता करेंगे। उन की उपासना सफल हुई। विष्णु प्रकट हुए, पर हुए एक छोटे से बौने के रूप में। उस बौने वा वामन विष्णु को वह आगे करके असुरों के राजा बली के पास पहुँचे। विष्णु ने केवल तीन क्रम (कदम) भूमि माँगी जो उस बली ने वामन की हँसी उड़ाते हुए स्वीकार की। वामन विष्णु व्यापक हुए और फैले, एक क्रम से भूमि, दूसरे से द्युलोक और तीसरे से असुरों का ध्वंस किया। इस अलङ्कार में भी देवासुरों में परस्पर जब विषमता आई तो विष्णु ने समता उत्पन्न कर समता बना दी, उस समता (balance) से शांति और रक्षण हुआ।

पुराण इस वामन की गुत्थी को न समझा सके। शतपथ में इस पुरुषाकार वामन विष्णु की कुञ्जी मिली। वहाँ पाठ आया "वामनो वै विष्णुः" विष्णुर्वै यज्ञः" अर्थात् वामन विष्णु था और विष्णु यज्ञ था। सो "विष्णु यज्ञ है" यह कुञ्जी है इस अलङ्कार की। अब देखना है यज्ञ क्या है। यज्ञ को साधारणतया हवन कुंड में घृत सामग्री की, मंत्रों सहित आहुतियाँ डालने में सीमित किया जाता है, परन्तु यज्ञ का वास्तविक अर्थ है—मिलकर परस्पर के व्यापक भाव के साथ कल्याणमय (अध्वर) कार्य करना (Collective Functioning)। साधारण यज्ञ में भी एक अकेला यज्ञ नहीं कर सकता। कम से कम ६ व्यक्ति मिलकर कर सकते हैं। ६ में यजमान, यजमानी, ब्रह्मा, होता, अध्वर्यु तथा उद्गाता होते हैं। व्याकरण की दृष्टि से भी यज्ञ, "यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु" धातु से बनता है। इस यज धातु में यह बताया है कि यज्ञ में तीन बातों का समन्वय है। प्रथम, यजमान (करने वाला) तथा विश्वेदेवाः (करने वाले लोगों) में परस्पर कोई लोभ वा प्रेम नहीं, परस्पर में पूजा का भाव हो, दूसरा है संगतिकरण अर्थात् एक-दूसरे में इतने व्याप्त हों कि अनेक होते हुए एकीभाव हो जायें। जब यह हो जाता है तो तीसरे दान की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। एक हो जाने में एक दूसरे के लिये पदार्थ वा धन क्या, प्राण भी अर्पण कर दिये जाते हैं। सो यज्ञ के तीन पहलू हैं, परस्पर के लिये पूजा (highest regard) का भाव, संगतिकरण (fusion) और दान (dedication)। यह तीनों, हर क्षेत्र की विषमता को दूर करते हैं। विषमता की महौषध यज्ञ है। यही परस्पर खिंचावट (gravitation और समता (balance) तथा स्थिति बनाये रखती है। इसलिये शतपथ का कहना ठीक है कि यज्ञ विष्णु है और वही वामन है।

जब कभी कोई कार्य पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्र वा विश्व के हित का मिलकर समष्टि रूप में किया जाता है तो वह कार्य यज्ञ है, आवश्यक नहीं कि इन कामों में अग्नि प्रज्वलित की जाय। जैसे अकालादि समय में सामूहिक रूप में कृषि आदि कर्म (Collective agrarian projects) को **गोमेध** यज्ञ का नाम दिया जाता है वा राजनीतिक वा राष्ट्र संकट-काल में सारे देश की प्रजा के सहयोग के लिये वा प्रजा में उत्तेजना तथा शक्ति भरने के लिये अश्वमेध (अश्वशक्ति का प्रतीक) यज्ञ राजा किया करते थे। अतः यज्ञ, मिलकर अधिक से अधिक लोकहित के निमित्त किया कर्म है। इसलिये समाज वा राष्ट्र ही यज्ञ है और यज्ञ विष्णु है, इसलिये **समाज ही विष्णु है**। समाज के विभिन्न अंगों में परस्पर की व्यापकता ही विष्णु है। इसका प्रमाण है विष्णु के स्वरूप की हमारे पूर्वजों की कल्पना। उन्होंने समाज को मूर्त्तिमान किया है विष्णु की मूर्त्ति में।

ब्रह्मा के चार मुखों की कल्पना की तो विष्णु की चार बाहुओं की कल्पना की। इन चारों भुजाओं के हाथों में पकड़ाया शंख, गदा, पद्म और चक्र। शंख ध्वनि तथा वाणी का प्रतीक है। इसलिये समाज का वह अंग जो अपनी वाणी द्वारा काम करता वा सेवा करता है वह अंग है ब्राह्मणों का। समाज का ब्राह्मणवर्ण अपनी वाणी द्वारा, शिक्षा, उपदेश, अध्यापनादि समाज की सेवा करता है। अतः समाज के ब्राह्मणवर्ण को विष्णु के शंख के रूप में मूर्त्तिमान् किया। गदा क्षत्रिओं का ही प्रतीक है। पद्म वा कमल, जो कोमलता, सुख, सुगंध शीतलता का प्रतीक है, वह समाज के सुखमय कोमल कौशेय वस्त्र धारण करने वाला,

सुगन्धित और सुखप्रद भोगों को शीत-उष्ण बचाकर को भोगने वाला समाज का वैश्यवर्ग है। समाज का चोथा वर्ग है शूद्र। "पद्भ्यां शूद्रोऽजायत" (यजु० ३१।११) अर्थात् पद (पद गतौ), वा गति देने वाला वर्ग चक्र के रूप से शूद्र वर्ग है। शरीर में पैर ही गति (locomotion) देते हैं चलाते घूमाते हैं। पैरों के बिना सुडौल सुन्दर शरीर धराशायी होता है। इसलिये समाज को प्रगति देने वाला, बढ़ाने वाला वर्ग शूद्र-वर्ग, विष्णु के चक्र से प्रदर्शित किया। इस प्रकार विष्णु के शंख, गदा, पद्म तथा चक्रधारी चार भुजायें, वास्तव में, ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र रूपी, चतुर्भुज समाज ही है।

पुरुषविधा उपमा इसलिये दी कि जिस प्रकार शरीर के घट-घट में व्यापकता होने से शरीर की रक्षा, पालन, पोषण हो रहा है एवं समाज के इन अंगों में भी जब तक परस्पर व्यापकता रहेगी, समाज वा राष्ट्र बना रहेगा, सुखी और समृद्ध होगा। यही विष्णु का कर्म है, वही इस विश्व का पालन-पोषण और स्थिति-धृति बनाये रखता है।

अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, मित्र, वरुण इत्यादि सब देवता भी विश्व का पालन-पोषण करने के लिये मिलकर यज्ञ कर रहे हैं। वेद वा उपनिषद् इस भाव का स्पष्ट वर्णन करते हैं। शरीर में भी जब तक इसके सब अवयव मिल कर (समाधि) रूप में काम करते हैं तो शरीर स्वस्थ रहता है और जब इसके अंगों में व्यापकता टूट जाती और विषमता बन जाती है तो समाधि के स्थान में व्याधि उत्पन्न हो जाती है। शरीर में आघात (paralysis) वा पक्षाघात (hemiplegia) में एक भाग शेष शरीर से अपना स्नायवी (nervous) नाता तोड़ लेता है, फलतः वह स्थिर नहीं रहता वह गल जाता है। दूसरे आलङ्कारिक शब्दों में यूँ कहा जा सकता है कि शरीर के जिस अंग में विष्णु (व्यापकता) नहीं विराजते उसका पालन-पोषण नहीं हो सकता। इसी कारण विष्णु की इतनी महिमा वा प्रतिष्ठा है। विष्णु के पालन-पोषण की क्रिया के भिन्न-भिन्न क्षेत्र होने के कारण विष्णु के स्वरूप की भिन्न-भिन्न कल्पना भिन्न-भिन्न अवतारों में अपनी बुद्धि वा बल से की गई।

उपसंहाररूप, विष्णु की व्यापकता ही उसकी विशेषता है; और उसकी इस व्यापकता में ही सृष्टि के विभिन्न क्षेत्रों में परमाणुओं से लेकर जीव-जन्तु, मनुष्य, समा[ज] राष्ट्र, नभमण्डलादि में, विश्व का पालन-पोषण, इस[की] स्थिरता ध्रुवता बँधी है। यही विष्णु की महिमा [और] गरिमा है, जिस कारण भोली जनता, मूर्त्तिमान् विष्णु [पर] भी इतनी मरती है॥

शिव-शम्भू-शंकर-महादेव

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।

यजु० १६।[४१]

परमात्मा की रचना-शक्ति तथा बढ़ने के विधान [की] कल्पना जहाँ ब्रह्मा के रूप में की, और उस परिवृद्ध [विश्व] के पालन-पोषण तथा स्थिति-विधान की विष्णु में कल्प[ना] की, वहाँ उस प्रभु के रचे विश्व से कल्याण-प्राप्ति तथा [साथ-] साथ इस बनी सृष्टि का उचित समय पर संहार कर[ने के] विधान को शिव में चित्रित किया। जहाँ व्याप्त विष्णु [को] उसके विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में किरीट कौ[स्तुभ] वसनधारी, अनेकों शृंगारों से सुसज्जित, कल्पना [की,] उसके विपरीत कल्याण (शिव) शिव को संसार [की] चहल-पहल से कहीं दूर हिमाद्रि की पवित्र सुन्दर [हिम] शृंखलाओं के उस पार कैलाश की चोटी पर नग्न, कौ[पीन-] धारी, जटाजूट, भस्म रमाये, शांत, पद्मासन लगाये, [प्रसन्न-] वदन योगी वा यति के रूप में मृगचर्मासन पर विरा[जमान] है। शृंगार के रूप में रूद्राक्ष तथा फणधरों की मा[ला] पहिनाई। उसके चूड़ा में चूड़ामणि के स्थान पर चन्द्र[मा] की कल्पना की। उसकी मूर्धा से पावनी गंगा की [धारा] का प्रसार किया। उसकी सदा साथ देने वाली [सती] पार्वती और उसका वाहन करने वाला नन्दी बैल [जो] इन सब प्रतीकों में अन्तर्हित, परमात्मा की कल्या[णकारी] व्यवस्था की कल्पना इस देश के महापुरुष ही कर [सकते थे।]

विश्व में सुख-शांति तथा कल्याण किस रूप में [हो] सकता है, इस भाव को हमारे पूर्वजों ने 'शिव' के रू[प में] मूर्त्तिमान् बना, व्यक्त किया है। 'शिव' का देश, [वेश,] रूप, आकार, व्यवहार—आदर्श सुख और कल्याण [का] प्रतीक है। मनुष्य के जीवन-काल का वह भाग [जिसमें] उसकी उत्पत्ति, वृद्धि, बुद्धि तथा विद्या का विकास [हो,] अर्थात् उसका ब्रह्मचर्य काल उसके जीवन का 'ब्रह्मा' स्वरूप है। अपने परिपुष्ट शरीर, परिपक्व ज्ञान द्वारा [अपने] कुल की परम्परा की रक्षा पालन, तथा अपने समाज

धनोपार्जन न करने वाले अङ्गों— ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ तथा संन्यासी वर्गों—का स्वयं भार वहन करने के निमित्त, विवाह कर, गृहस्थ बन, उन सबके पालन-पोषण, सब प्राणी-अप्राणी की स्थिति-धृति के व्यापक भाव का गृहस्थाश्रम काल उसके जीवन का विष्णु रूप है और गृहस्थ के उपरान्त इन ज्ञानी, कर्मकाण्डी लोगों का अपने में जनकभाव उत्पन्न कर, हार-शृंगारत्याग, जटा-जूट, नग्न, कौपीन-धारी, सर्वत्यागी, वीतरागी यतिओं के रूप में वन पर्वत-शिखरों वा कन्दरों में ऋषि-मुनिओं के रूप में शिव ही विराजमान हैं। इन यतिओं की मूर्धा से ही पावनी वेद माता की पवित्र गायत्री गंगा की धारा का इस भूखण्ड में अवतरण हुआ तथा होता रहेगा। इस गंगा-गायत्री का इन सुन्दर शब्दों में भगवान् वेद ने स्वयं स्तवन किया :—

स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्त्तिं
द्रविणं ब्रह्मवर्चसं मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥
अथर्व० १९।७१।१॥

यही पुण्य-परोपकारी ब्रह्मलोक को जाते हैं और दूसरों का मार्ग-दर्शन कर उनका कल्याण करते हैं।

प्रत्येक प्राणी जीवन में सुख और शांति चाहता है। हमारे दार्शनिकों ने सुख और कल्याण के वास्तविक स्वरूप को, सर्व साधारण को साक्षात् समझाने के लिये कल्याण का दिव्य स्वरूप 'शिव' के रूप में उपस्थित किया। अर्थात् सांसारिक ऐन्द्रिय भोग, उपभोग का शिव के समान परित्याग कर दूसरों के लिये समर्पण करना, स्वयं कन्द-मूलादि खाकर, संसार की हानिप्रद विषैली वस्तुओं तथा प्राणिओं को अपने तप-साधनों से वशकर, संसार से विष तथा विषयों को निर्मूल कर उन्हें सुखी बनाना है। ऐसे निर्वैर यतिओं के वैरहीन वातावरण में बुरे से बुरे, विषैले से विषैले प्राणी जैसे फणधर भी अपनी क्रूरवृत्ति छोड़ देते हैं क्योंकि "अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरपरित्यागः", योगिओं का अनुभव है। ऐसे त्यागी, योगी जनों के शरीर में ही फणधर माला रूप लिपटे रहते हैं।

जीवन-सोपान में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ, ब्रह्मा और विष्णु के रूप में हैं तथा संन्यास द्वारा यति-सिद्ध जीवन की अन्तिम पौड़ी शिव का रूप है। शिव जीवन का ध्येय है वा लक्ष्य है। ऐसे ही त्यागी सिद्ध व्यक्ति, सांसारिक कोलाहल से दूर, पर्वतों के शिखरों पर समाधिस्थ हो आनन्द-कानन-सच्चिदानन्द प्रभु का साक्षात् कर स्वयं सुखी हो दूसरों का हित चिन्तन कर उनके प्रति शान्ति और कल्याण की धारा को अपनी मूर्धा से प्रसारित करते हैं। ये ही कल्याणकारी लोग शिव का असली रूप हैं।

हमारे पूर्वजों ने 'शिव' के स्वरूप की कल्पना करते समय, एक ही व्यवस्था में दो विरोधी तत्त्वों का समन्वय कर डाला। एक ओर शिव को कल्याणकर्त्ता दूसरी ओर संहर्त्ता कहा। कल्याण और संहार दोनों अत्यन्त विरोधी पहलुओं को एक ही बात में चिन्तन करना उनकी बुद्धि की अपार पराकाष्ठा है। देखना यह है कि उन्होंने इन दोनों भावों को इकट्ठा कर, कैसे ठीक बैठा दिया। इसलिये जब तक शिव के इस स्वरूप पर विचार न हो, शिव का स्वरूप अधूरा है। **"संहार में कल्याण"**—कैसी विचित्र समस्या है। पर विचार करने पर बहुत ही मार्मिक बात बनती है। संसार में ऐसी बहुत-सी अवस्थायें हैं जहाँ संहार में ही कल्याण हो रहा है। माता के गर्भ को विचारिये। रजकण उत्पन्न करने वाली एक ग्रंथि (Pituitary gland) ब्रह्मा के रूप में माता की मूर्धा में होती है। गर्भ प्रारम्भ होने पर उसका १० मास पालन पोषण करने वाली रजग्रंथि (overy gland) में कोर्पस ल्यूटियम (Corpus lutium) नामक विष्णु-रूप रस उस गर्भ का पालन करता है। अब १० मास के उपरान्त उस बच्चे तथा उसकी माता का कल्याण तब ही है यदि कोई व्यवस्था माता के शरीर में शिव के रूप में उस गर्भ का अन्त वा संहार करे तो दोनों का कल्याण हो। इस काम के लिये प्रभु गर्भ के जरायु में एक रस उत्पन्न करता है जो गर्भ को माता से छुड़ाता है और उसका और उसकी माता का कल्याण करता है। यह संहार में कल्याण की व्यवस्था है।

शरीर के जीवन-कोष्ठों (cells) का जीवन छोटा होता है। वह मर जाते हैं और उनका स्थान नये उत्पन्न कोष्ठ ले लेते हैं। इस प्रकार यह शरीर हरा भरा रहता है। परन्तु यदि किसी अवस्था में शरीर के किसी भाग के कोष्ठों का संहार न हो और नये कोष्ठ उत्पन्न होते जायें तो उस स्थान में कोष्ठों का जमाव आरम्भ हो जाता

है और धीरे-धीरे वहाँ उस इकत्रित कोष्ठों की गाँठ वा गुल्म (tumour) वा रसौली बन जाती है। और कभी कभी यह गाँठ बहुत तीव्रता से बढ़ती तथा पड़ोसी अंगों को दबाव से गलाती जाती है तो उसे कैंसर (cancer) कहते हैं। सो पाठक देखें कि कैंसर का मूल कारण शरीर में एक परिवर्त्तन है जिसके कारण शरीर के किसी भाग में कोष्ठों (cells) का संहार होना ही बन्द हो जाता है तो वहाँ कल्याण के स्थान में मृत्यु होती है। यह दूसरा दृष्टान्त है जहाँ 'संहार में कल्याण' है।

जीव-जंतुओं, कीट-पतंगों, जलचरों, वनस्पति-वीरुधों की तीव्रता से बढ़ने वाली सृष्टि में प्रभु अपनी संहारक व्यवस्था से संसार में कल्याण की स्थापना कर रहा है।

इसलिये हमारे पूर्वजों ने उत्पन्न करने वाली तथा सं करने वाली दोनों शक्तियों की समता और समन्वय में कल्याण को देखा। इसीलिये उन्होंने शिव के संहार ही कल्याण का सामञ्जस्य किया और इन विरोधी तत्वों संमिलन में शिव की कल्पना की। इसलिये प्रभु तीसरा विधान शिव भी है, हर्त्ता भी है। सृष्टिक्रम इतनी जटिल तथा गहन समस्याओं तथा व्यवस्थाओं अपनी विशाल बुद्धि द्वारा दिग्दर्शन कर हमारे महा ने किस अलङ्कारिक तथा सुन्दर रूप में मूर्त्तिमान् कि और हमारे देश को संसार में कितना देदीप्यमान कि उनकी इस विशाल बुद्धि की ओर अपनी कृतज्ञता श्रद्धा को व्यक्त करते हुये किसी कवि ने ठीक कहा है

"भारतं तैलपूर्णो प्रज्वालतोऽयं प्रदीपः ।।"

पुस्तक-परिचय

१—**संस्कृतसाहित्य-विमर्श**—ले० श्री पण्डित द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, सिद्धान्तशिरोमणि–पूर्वकुलपति गुरुकुल वृन्दावन, प्रकाशक भारती–प्रतिष्ठान, ३१ आनन्दपुरी, मेरठ (उ० प्र०)—साइज रायल अठपेजी–पृष्ठ संख्या ७११, काग़ज़ साधारण, छपाई अच्छी (**भारत सरकार से पुरस्कृत**) मूल्य १६)

यह ग्रन्थ देववाणी संस्कृत-साहित्य के व्यापक अर्थात् वैदिक और लौकिक विषय में परिचयार्थ लिखा गया है। इसमें वेद विषय में स्वतःप्रामाण्य, आनुपूर्वी की नित्यता, वेद में इतिहास है वा नहीं, वेद में ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वर्णव्यवस्था-त्रित्ववाद-पुनर्जन्म–विद्युद्विज्ञान-द्यूतनिषेध, वेदभाष्यकारों का परिचय आदि आवश्यक विषयों का गम्भीर और उपयुक्त विवेचन किया गया है। आगे उपवेद–वेदाङ्ग–वेदशाखा—वेदानुक्रमणी–बृहद्देवता–ब्राह्मण–आरण्यक आदि के विषय का भी निरूपण किया गया है (शाखा विषय में अधिक विवेचन की हमें आशा थी, अस्तु)। वैदिक दर्शनों में षड्दर्शन समन्वय तथा साम्प्रदायिक दर्शन–नास्तिक दर्शन का परिचय पाठक को मिलता है। उत्तरार्द्ध में आदिकवि वाल्मिकि–महाकवि व्यास का विशद निरूपण किया गया है। भास–कालि अश्वघोष–भारवि–भट्टि–कुमारदास–क्षेमेन्द्र – श्रीहर्ष भट्ट आदि मध्यकालीन कवियों का वर्णन किया है। कालिदास में लेखक की विशेष भक्ति और प्रतीत होती है। प्रायः सभी कवियों का वर्णन किया है। गद्य काव्य के सम्बन्ध में भी पर्याप्त परिचय देने प्रयास किया गया है। नाट्य शास्त्र और सङ्गीत शास्त्र उनके कर्त्ताओं का वृत्त भी पर्याप्त देने का यत्न किया है। कालिदास–बाणभट्ट आदि की संस्कृत में प्रेम वालों को यह ग्रन्थ विशेष रुचिकर होगा।

संस्कृत-साहित्य के विमर्शार्थ आज तक विदे स्कालरों तथा उनके अनुगामी भारतीओं द्वारा अंगरेजी ही प्रायः लिखा गया है। हिन्दी में भी कुछ लिखा है। विद्वान् लेखक के विचारों के साथ उपर्युक्त वि तथा अन्य विद्वानों को प्रतिपादित अनेक विषयों में हमति होना कोई अप्रत्याशित वा अनुचित बात न हो पर हम सुयोग्य विद्वान् लेखक को संस्कृत देववाणी लिखने पर उनके साहस के लिए अति धन्यवाद दे और अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

हम चाहते हैं कि यह ग्रन्थ भारत के विश्वविद्यालयों में एम० ए० में एतद्विषयक यूरोपीय विद्वानों के अंगरेज़ी ग्रन्थों के स्थान में पाठ्यक्रम में रखा जावे। साथ ही संस्कृत के विद्वानों को समस्त संस्कृत विद्यालयों—गुरुकुलों आदि को यह ग्रन्थ अवश्य मँगाना चाहिये। प्रत्येक संस्कृत-प्रेमी के लिए यह ग्रन्थ उपादेय है। यह ग्रन्थ सरकार द्वारा एक सहस्र रुपये से पुरस्कृत किया गया है। यह बड़ी प्रसन्नता की बात है। विद्वान् लेखक भारतीय जनता के धन्यवाद के पात्र हैं। श्रेष्ठी महोदय को भी धन्यवाद है जिन्होंने इतना बड़ा ग्रन्थ संस्कृत में छपवाकर देववाणी की भारी सेवा की है॥

२—सत्याग्रहनीतिकाव्य—लेखक तथा प्रकाशक श्री० पं० सत्यदेव वासिष्ठ, अनेक शास्त्राचार्य, गुरुकुल झज्झर—जि० रोलक (पंजाब)। साइज़ $\frac{१८ \times २२}{८}$ कागज़ साधारण पृ० सं० २६४ मूल्य २।)

यह ग्रन्थ लेखक की स्वोपज्ञ कृति है। संस्कृत श्लोक हैं, नीचे उनका स्वयं किया हिन्दी अनुवाद है। यह हैदराबाद सत्याग्रह (सन् १९३९) का हृदयग्राही अपने ढंग का इतिहास है। इसका हम कुछ विशेष परिचय देते हैं।

सन् १९३९ के अप्रैल मास की बात है। रावीतट लाहौर विरजानन्द आश्रम में विरामदे में हम सब बैठे थे। निज़ाम के अत्याचार के विरुद्ध आर्यसमाज ने सत्याग्रह आरम्भ किया था। जो भारत में हुए आज तक के सभी सत्याग्रहों को, चाहे वे कांग्रेस की ओर से थे या किसी अन्य की ओर से—हैदराबाद का यह सत्याग्रह सबको मात कर गया था, क्योंकि इसमें समस्त भारत में हज़ारों और सैकड़ों मीलों की यात्रा कर बूढ़े-बच्चे तक पहुँचे थे। इतना रुपया आर्य जनता तथा आर्यसंस्कृति में प्रेम रखने वालों ने दिया, जिसकी सीमा न रही थी। वह सत्याग्रह सफल भी हुआ, निज़ाम की हार हुई। आर्यसमाज जीता, अर्थात् उस सत्याग्रह का फल था कि वहाँ की जनता में तीव्र भाव उत्पन्न हुआ और स्वतन्त्रता मिलने पर हैदराबाद भारत में विलीन हुआ।

हाँ, तो सर्वप्रथम पं० सत्यदेवजी (विरजानन्द आश्रम के पुराने छात्र) ने यह बात उठाई कि आश्रमवासियों को अब सत्याग्रह में भाग लेना चाहिये (इन पङ्क्तियों के लेखक को तो आर्यसमाज के नेताओं ने आग्रहपूर्वक सत्याग्रह में जाने से मना कर दिया था)। आध घण्टे में ही सब छात्र सत्याग्रह के लिए तय्यार हो गये। पाँच छात्रों का जत्था सत्यदेव जी के नेतृत्व में दो घण्टे में हैदराबाद के लिए चल दिया। जेल में पहुँचकर इन सबका व्यवहार बहुत ही अच्छा रहा। सत्यदेव को न जाने पैन्सिल कहाँ से मिल गई। यह अखबारों के रद्दी कागज़ों पर ही सत्याग्रह का निरूपण संस्कृत श्लोकों में करने लगे। बढ़ते-बढ़ते यह एक ग्रन्थ बन गया। ये श्लोक हैदराबाद जेल में ही लिखे गये। अन्त में जब सत्याग्रह समाप्त हुआ तो ये लोग बाहर आये तभी से इस सत्याग्रहनीतिकाव्य के छपने का यत्न होता रहा। अनेक बाधाओं के कारण यह अब छप कर तैयार हुआ।

लेखक के आर्यसमाज पर आये सङ्कट के समय में आत्मत्याग का यह एक उज्ज्वल दृष्टान्त हमारे सामने है। प्रत्येक आर्य पुरुष को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। हर एक आर्य समाज इसकी प्रतियाँ मंगा कर बाँटे। जिससे आर्य समाज के लिये आवश्यकता पड़ने पर सत्याग्रह में आर्यों को और प्रेरणा मिले।

हम लेखक को ऐसी विषम स्थिति में ऐसा उत्तम काव्य संस्कृत में लिखने पर बधाई देते हैं। आर्य जनता से निवेदन करते हैं कि वह लेखक को अवश्य प्रोत्साहन देकर अपना कर्त्तव्य पालन करे। इसका अगला संस्करण आर्यसमाज की ओर से छपना चाहिये। पहिला संस्करण भी आर्यसमाज की ओर से छपता तो हमें अधिक प्रसन्नता होती॥

(३) वेदशास्त्र तालिका—(Vedic Cyclopedia, with creative thaughts) ले० श्री जियालाल वर्मा—प्रकाशक वेद प्रचार मण्डल—कोटा (राजस्थान) साइज़ $\frac{२२ \times ३६}{१६}$ कागज साधारण पृ० सं० २०५। मूल्य २)

यह पुस्तक आर्यसमाज के सिद्धान्तों की दृष्टि से बहुत उपयोगी—परिश्रम से लिखी गई और उपादेय है। इसमें आर्यसमाज के सिद्धान्तों के मन्तव्यों के विषय में वेदादिशास्त्रों के प्रमाणों सहित संग्रह किया गया है। वैदिक धर्मेतर विचारवालों के सम्बन्ध में भी प्रमाण एकत्रित किये गये हैं। ओम् ईश्वर का नाम है, ईश्वर निराकार सृष्टि कर्ता है। मुक्ति के स्वरूप आदि मुख्य मुख्य विषयों पर

सैंकड़ों पुस्तकों के प्रमाण इस पुस्तक में संगृहीत हैं। इससे आर्य जनता को निश्चय ही बहुत लाभ होगा।

विदित रहे कि लेखक आर्यसमाज के सुयोग्य-वाग्मी-वक्ता श्री पं० रामचन्द्रजी देहलवी के भाई है। पुस्तक लिखकर इन्होंने अपने भ्राताजी तथा आर्यसमाज का ऋण पूरा कर दिया।

हर आर्य पुरुष को यह पुस्तक पढ़ना चाहिये और मँगाना चाहिये।

(४) **वेदलावण्यम्**—ले० श्री डा० सुधीरकुमार जी शास्त्री—एम० ए०, पी० एच० डी०, आचार्य संस्कृत विभाग, विश्वविद्यालय-गोरखपुर। प्रकाशक—भारती मन्दिर—अनुसन्धान शाला—४ हीरापुर गोरखपुर। साइज़ २०×३०/१६ कागज छपाई बढ़िया। मूल्य ८)

यह ग्रन्थ हिन्दी में है। इसमें पारस्कर गृह्यसूत्र अन्तर्गत उपनयन सूत्रों का अनुवाद विशद विवेचन टिप्पणियों सहित—ऋग्वेद का परिचय—शाखा-संहितायें—ब्राह्मण ग्रन्थ—आरण्यक—उपनिषद्—ऋग्वेद की भाषा देवता—ऋषि दयानन्द का मत—ऋग्वेद में लौकिक सामग्री—ऋग्वेद का साहित्यिक मूल्याङ्कन—ऋग्वेद की आख्यान पद्धति—विष्णु, इन्द्रादि देवताओं का स्वरूप—विष्णु-इन्द्र-पुरुष सूक्तों की व्याख्या—वैदिक लावण्य आदि विषयों का सुन्दर योग्यतापूर्ण विवेचन किया गया है।

विश्वविद्यालयों में पाठ्यरूप से यह पुस्तक बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। वर्त्तमान में प्रचलित ग्रन्थों की अपेक्षा यह बहुत लाभकर है, क्योंकि यह हिन्दी में लिखी गई है।

विदित रहे कि लेखक ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य के एक मर्मज्ञ विद्वान् हैं। इसी भाष्य पर थीसिस लिखने पर इन्होंने डाक्टरेट की उपाधि प्राप्त की है।

(५) **The Bases of Astrology in the Vedas**—ले० श्री पं० धर्मदेव मेहता एम० ए०, एल० एल० बी —पी० एच० डी०। प्रकाशक—Academy of Vedic Research १४।३ ईस्ट पटेल नगर—नई देहली १२। अंगरेजी में। साइज़ २०×३०/१६ कागज छपाई अच्छी—पृ० संख्या ७०। मूल्य ३)

वेद में ज्योतिष विषय पर यह एक मौलिक योग्यतापूर्ण और उपादेय लघुग्रन्थ अंग्रेजी भाषा में लिखा गया है। लेखक ज्योतिष विषय के एक सुयोग्य-गम्भीर-विचारक—प्राचीन संस्कृति के भक्त विद्वान् हैं॥ ज्योतिष विषय इनका अध्ययन तथा विवेचन बहुत अच्छा और उपयो[illegible] है। इस विषय के विद्वानों तथा वेदप्रेमी जनता [illegible] अपनी जानकारी के लिये यह ग्रन्थ अवश्य पढ़ना चाहिये।

अंगरेज़ी पढ़े भारतीयों को यह ग्रन्थ बहुत उपयो[illegible] सिद्ध होगा। ऐसा ग्रन्थ विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रम [illegible] रखने योग्य है। लेखक भारतीय जनता की बधाई [illegible] पात्र हैं॥

(६) **छान्दोग्योपनिषद् कथामाला**—ले[illegible] तथा प्रकाशक श्री स्वामी ब्रह्ममुनि जी परिव्राजक। गुरुकु[illegible] कांगड़ी (हरिद्वार)। साइज २०×३०/१६ से बड़ा, का[illegible] छपाई बहुत सुन्दर। पृ० सं० १८४। मूल्य [illegible]

यह पुस्तक छान्दोग्योपनिषद् में से कथा प्रकरण [illegible] व्याख्या तथा सुन्दर विवेचनपूर्ण है। लेखक इस [illegible] में अन्य अनेक ग्रन्थ भी लिख चुके हैं। पाठकों [illegible] इसके पढ़ने से सरलतया इस उपनिषद् का ज्ञान प्र[illegible] होगा। विद्वान् लेखक आर्यसमाज के धन्यवाद के प[illegible] हैं जो इस प्रकार आर्य-साहित्य की वृद्धि में इतनी तत्प[illegible] से कार्य कर रहे हैं। ऐसे कार्य में आर्य जनता को [illegible] पूरा सहयोग देना चाहिये।

हम जनता से निवेदन करते हैं कि ऐसे ग्रन्थों [illegible] घर-घर में प्रचार होना चाहिये। बहुत सरल शैली है।

(७) **दर्शनानन्ददर्शन**—ले० श्री पं० श्री[illegible] शर्मा। प्रकाशक—विनोदशील बन्धु, प्राचीप्रभा म[illegible] आगरा। साइज २०×३०/१६ कागज और छपाई बढ़िया। पृ० सं० २०८। मूल्य [illegible]

यह पुस्तक लिखकर लेखक ने आर्यसमाज की [illegible] भारी कमी को पूरा किया है जिसके लिये समस्त [illegible] जनता के अति धन्यवाद के पात्र हैं।

इस ग्रन्थ का भारी गौरव है। यह आर्यस[illegible] वैदिक धर्म और ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त—वा[illegible] शास्त्रार्थमहारथी—ऋषि पाठविधि में परम निष्ठावा[illegible] त्यागमूर्त्ति—अपना सर्वस्व आर्यसमाज पर न्योछावर [illegible] वैदिक धर्म की सेवार्थ संन्यास ग्रहण करने वाले स्व[illegible] श्री० स्वामी दर्शनानन्द जी की जीवनी है। जि[illegible] प्रस्तावना स्वर्गीय वीतराग तपस्वी, श्री० स्वामी सर्वदा[illegible] जी महाराज ने लिखी है।

हम समझते हैं इस पुस्तक के अनेक संस्करण [illegible]

लने चाहियें। यह संस्करण हाथोंहाथ समाप्त होना चाहिये। प्रत्येक आर्य को यह पुस्तक अवश्य पढ़नी चाहिये। लेखक बधाई के पात्र हैं।

(८) महर्षि दयानन्द से पूर्व का भारत—ले० स्वर्गीय राज्यरत्न राजपण्डित श्री० पं० आत्माराम जी अमृतसरी बड़ौदा। प्रकाशक—श्री० गोविन्द राम हासानन्द, नई सड़क देहली। साइज़ $\frac{२०\times३६}{१६}$। कागज़ साधारण। छपाई अच्छी। पृ० सं० १६०। मूल्य १॥)

आर्यसमाज के नेता, वैदिक फिलासफर, व्याख्यान-वाचस्पति, शास्त्रार्थमहारथी, मनस्वी, यशस्वी राज्यरत्न श्री० पं० आत्माराम जी अमृतसरीकृत 'आर्य धर्मेन्द्रजीवन (जो परम ऋषिभक्त श्री० बा० रामविलास जी शारदा अजमेर द्वारा प्रकाशित है) की भूमिकारूप मासिकपत्र वेदप्रकाश में अलग छापकर श्री० गोविन्दराम हासानन्द जी ने बहुत प्रशंसनीय कार्य किया है।

यह ग्रन्थ वैदिकधर्म की दृष्टि में प्रत्येक आर्य के लिये पठनीय एवं मननीय है। प्रत्येक आर्यसमाज में यह पुस्तक अवश्य रहनी चाहिये। प्रत्येक आर्य बन्धु को इसका स्वाध्याय अवश्य करना चाहिये॥

(९) वाल्मीकिरामायण तीन भाग—धारावाही हिन्दी अनुवाद सहित। सम्पादक तथा अनुवादक श्री० पं० चूड़ामणि, विद्यालंकार, पालीरत्न, देहरादून। प्रकाशक—प्रतिभा प्रकाशन—१३ कचहरी रोड—देहरादून। साइज़ $\frac{२०\times३०}{१६}$ कागज़ छपाई अच्छी। पृष्ठ संख्या प्रथम भाग ६१०—द्वितीय भाग ४१०—तृतीय भाग ६०० पृ०। मूल्य १ भाग ७)—दूसरा भाग ५॥)—तीसरा भाग ७)

विद्वान् लेखक ने वाल्मीकीय रामायण के प्रक्षिप्त श्लोकों को निकाल कर शेष श्लोकों का अनुवाद धारावाही हिन्दी में किया है। आर्यसमाज की दृष्टि से यह बड़े महत्त्व का काम हुआ है। लेखक ने स्वयं ग्रन्थ का प्रकाशन करने में बड़े साहस का कार्य किया है। लेखक आर्य जनता वा आर्यसमाज के अति धन्यवाद के पात्र हैं। इन्होंने जिस श्लोक को भी प्रक्षिप्त समझा उसे निकाल दिया। जैसा कि तृतीय खण्ड की भूमिका में लेखक महोदय ने स्वयं लिखा है—

"प्रस्तुत रामायण पुस्तकों में पाठभेद बहुत पाये जाते हैं, और प्रक्षिप्तांश भी बहुतायत से हैं। उस प्रक्षिप्तांश को इस पुस्तक में निकाल दिया गया है। प्रक्षिप्तांश किस आधार पर निकाले गये हैं, यह विषय बहुत विस्तार की अपेक्षा रखता है। अतः उसे समालोचनात्मक चौथे खण्ड में पीछे दर्शाया जावेगा॥" (पूर्ववचन पृ० ५)।

हम चाहते हैं लेखक महोदय इस ग्रन्थ का चतुर्थ भाग अवश्य निकालें ताकि प्रक्षिप्तांश पर अधिक विवेचन हो सके। यदि यह काम आर्यसमाज की शिरोमणि आर्य सार्वदेशिक सभा द्वारा वा किसी आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा कराया जाता या परोपकारिणी सभा अजमेर ही ऐसे अत्यावश्यक कार्य को करवाती तो आर्यसमाज का महान् लाभ होता और उसका गौरव बढ़ता। ऋषि दयानन्द के स्वीकार-पत्र में ये सब काम करने के लिए ऋषि ने स्वयं लिखा है। आर्यसमाज का दुर्भाग्य है कि इसका कोई ढंग बनता नहीं। इसी कारण व्यक्तिगत रूप में जितना भी कार्य होता है वही प्रशंसनीय है और होना ही चाहिये। "जो गर्जते हैं वे बरसते नहीं।" ऋषि का कार्य जो भी करे वह समादरणीय है।

अतः हम कहते हैं कि यह ग्रन्थ प्रत्येक आर्यसमाज में, नहीं २, प्रत्येक आर्य परिवार में रहे और इसे आबाल-वृद्ध सब अवश्य पढ़ें।

(१०) वैदिक एज (Vedic Age) पर समीक्षात्मक दृष्टि—ले० श्री पं० शिवपूजन सिंह वैदिक गवेषक, कानपुर। प्रकाशक—पं० शान्तिप्रिय—आत्माराम रोड, बड़ौदा॥ साइज़ $\frac{२०\times३०}{१६}$ कागज और छपाई साधारण। पृ० सं ८०। मूल्य ॥)

यह पुस्तक विद्वान् लेखक ने वेदों वा वैदिक सभ्यता पर लांछन लगाने वाली बदनाम पुस्तक वैदिक एज (Vedic Age) के सम्बन्ध में लिखी है जो श्री. के. एम० मुंशी द्वारा संचालित भारतीय विद्याभवन, बम्बई की ओर से श्री० आर० सी मजूमदार एम० ए० पी० एच० डी 'भूतपूर्व उपकुलपति और इतिहास के अध्यापक ढाका' ने लिखी है जिसमें वेद को १००० एक सहस्त्र वर्ष पूर्व का बताया है। वेदों के सम्बन्ध में अनाप शनाप बहुत कुछ प्रलाप किया गया। देश के अनेक विद्वानों ने इसकी घोर निन्दा की है। इस पुस्तक से उद्धरण देकर इनका उत्तर दिया गया है। लेखक को हम मुहुर्मुहुः धन्यवाद देते हैं कि उन्होंने इनके विषय में भारतीय जनता को चेतावनी दी है तथा जानकारी देकर महान् उपकार किया है।

हम फिर कहेंगे इनका उत्तर उपर्युक्त सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा आदि की ओर से तय्यार कराया जाता तो अति सुन्दर होता। अनहोने की आशा करना भी मूर्खता ही समझी जायगी। अतः व्यक्तिगत ऐसे अच्छे कार्यों को प्रोत्साहन तो मिलना चाहिए। सभी समाजें इस पुस्तक की बहुत सी प्रतियाँ मंगा मंगा कर संस्कृत के विद्वानों कालेजों के संस्कृत छात्रों-छात्राओं तक इस पुस्तक को पहुँचावें। आशा है आर्य पुरुष इस पर ध्यान देंगे।

(११) **स्वप्नगुरु तथा देवों का शाप**—ले० महात्मा प्रभु आश्रित जी महाराज। प्रकाशक—वैदिक भक्ति-साधन आश्रम, रोहतक। साइज़ $\frac{२०\times३०}{१६}$ कागज अच्छा, छपाई ठीक नहीं। पृ० सं० १००। मूल्य ।=)

यह पुस्तक श्री महात्मा जी ने भक्त लोगों के कल्याण के लिये लिखी है। इसके पढ़ने से पाठक को अनेक आध्यात्मिक प्रेरणायें मिलती हैं। एक कल्पित आख्यान के आधार पर पवित्र भावनायें देने का प्रयास है। आध्यात्मिक पिपासुओं को अवश्य पढ़नी चाहिये। इनसे आगे दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका में वर्णित उपासना विषय समझने का सामर्थ्य होगा। ऐसी हम आशा करते हैं। साधारण बुद्धि वालों के लिये साधारण ढंग से लिखी जानेवाली पुस्तकें कभी कभी अधिक लाभकर सिद्ध हो जाती हैं। शैली बहुत सरल है।

वैदिक धर्मशिक्षा—ले० श्री पं० जे० पी० चौधरी। प्रकाशक जय प्रकाशन, कबीर चौरा, वाराणसी। साइज़ $\frac{२०\times३०}{१६}$ कागज़ छपाई अच्छी। पृ० सं० ९२॥ मूल्य १)

यह पुस्तक आर्य स्कूलों और कन्या पाठशालाओं में पाठ्यक्रम में रखने योग्य है। इसमें वैदिक सिद्धान्तों का अति सरल ढंग से प्रतिपादन किया गया है। इससे बच्चे और बच्चियों को उत्तम संस्कार और पवित्र भावनायें मिलने में बड़ी सहायता होगी।

प्राप्ति सूचना

जिन महानुभावों ने केवल एक प्रति भेजने का कष्ट किया है, नियमानुसार उनकी प्राप्ति-सूचना निम्न प्रकार है—

(१) गीता की कथा—कर्मयोग। ले० श्री० मुन्शीलाल गुप्त। प्रकाशक श्री सोहनलाल मदनलाल गर्ग-वैश्य अग्रवाल लोहिया-बुलन्दशहर। साइज $\frac{२०\times३०}{१६}$ कागज़ छपाई साधारण—पृ० सं० ६०। मूल्य ।)

(२) **छन्दोबद्ध-ईश-केन-माण्डूक्य और कठ**[उप]निषद्—ले० पूर्ववत्। प्रकाशिका—कलावती देवी-[...] का चौक—मेरट। साइज़ $\frac{२०\times३०}{१६}$ पृष्ठ में ७०। मूल[्य]

(३) गायत्री गौरव—ले० श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम, [एम०] ए०, सं०। प्रकाशक—सं० तपोभूमि मथुरा, [सा०] $\frac{२०\times३०}{१६}$ पृ०सं० २८। मूल[्य]

(४) **महर्षिदयानन्द और राजा राममोहन**[राय]— ले० श्री भवानीलाल जी भारती, एम० ए०, सिद्धान्त[वाच]स्पति। प्रकाशक—आर्यप्रकाश पुस्तकालय आगरा। [सा०] $\frac{२०\times३०}{१६}$ पृ० १४। मूल[्य]

(५) श्रीकृष्णचरित—ले०—पूर्ववत्। प्रकाशक—[...] महिला-मण्डल—अजमेर। साइज़ $\frac{२०\times३०}{१६}$ पृ०सं० [...] मूल[्य]

(६) **दिव्यानन्दलहरी**—ले०—श्री पं० मेधा[व्रत] आचार्य। अनुवादक पं० सत्यव्रत व्याकरणाचार्य। प्र[काशक] गुरुकुल, चित्तौड़। साइज़ $\frac{२०\times३०}{१६}$ पृ० सं० ६४। मूल्य।

पत्र-पत्रिकायें

(१) **तपोभूमि, मथुरा—मासिक पत्रिका**—[सम्पा]दक श्री० ईश्वरी प्रसाद जी, एम० ए०।

दर्शनानन्दसंग्रहाङ्क । साइज़ $\frac{२०\times३०}{१६}$ कागज़ [छपाई] अच्छी। पृ० सं० ९३६। मूल्य २॥) [...]

वीतराग-ऋषिदयानन्द और वैदिक धर्म में नि[ष्ठ] महावाग्मी—शास्त्रार्थ महारथी श्री स्वामीदर्शनानन्द[जी के] ट्रैक्टों का बहुत ही सुन्दर और विषयक्रमानुसार [...] छपा है। यह ग्रन्थ इतना सुन्दर कभी नहीं [...] सम्पादक और प्रकाशक इसके लिये समाज आर्य[...] के अति धन्यवाद के पात्र हैं। हमें तो आश्च[र्य] अति प्रसन्नता होती है कि ऐसा सुन्दर और आर्य सि[द्धान्तों] का इतना उत्तम ग्रन्थों का अत्यन्त सस्ता प्रकाश[न होने] लगा है। आर्यबन्धु ऐसे पवित्र कार्य में पूरा सह[योग दें] यही हमारी हार्दिक कामना है। इतने विशा[ल]

ग्रन्थों को पाठकों तक पहुँचाने का श्रेय इसके कार्यकर्त्ताओं को है। जनता को चाहिये ऐसे उत्तम प्रकाशनों को अधिक से अधिक स्वयं मँगावें और लोगों को मँगाने की प्रेरणा करे, प्रत्येक आर्य स्कूल—आर्य कन्याविद्यालयों, गुरुकुलों में यह ग्रन्थ पाठ्यक्रम रूप से पढ़ाया जाना चाहिये।

(२) आर्यवीर—जालन्धर। मासिक पत्रिका सम्पादक श्री पं० मेहरचन्द शर्मा। पता—अड्डा होशियारपुर, जालन्धर नगर। वार्षिक मूल्य ६)।

यह देखकर अत्यन्त हर्ष होता है कि आर्य जनता का सच्चा सेवक "आर्यवीर" उर्दू में न निकल कर अब हिन्दी में प्रकाशित हो रहा है। इसमें आर्य समाज की दृष्टि से बहुत अच्छे लेख रहते हैं। वैदिक धर्म और ऋषिदयानन्द में परम भक्ति इस पत्र की विशेषता है। इसमें चरित्र-निर्माण आदि कई विशेषाङ्क भी बहुत उपयोगी और सुन्दर प्रकाशित हुए हैं।

आर्यसमाज में सामान्य पाठकों की दृष्टि से यह पत्र बहुत अच्छा कार्य कर रहा है। आर्यसमाज में ऐसे मासिक पत्र की महती आवश्यकता है, जो पार्टीबन्दी से अलग रह कर विशुद्ध रूपसे आर्य धर्म का प्रचार करे॥

इसके सम्पादक आर्यसमाज के सच्चे सेवक (दीवाने) अपना सर्वस्व आर्यसमाज की वेदी पर बलिदान करने के लिये सदैव तत्पर-त्यागी-तपस्वी पं मेहरचन्द जी हैं, जो यदि सरकारी नौकरी न छोड़ते, तो इस समय भारत सरकार के पन्द्रह सौ रुपये मासिक पानेवाले गजेटड् आफीसर होते। पर इस आर्य सेवक ने वैदिक धर्म के लिये 'घर फूँक तमाशा देखो' वाली बात को अपने जीवन में चरितार्थ किया है। ऐसे सद्व्यक्ति ही आर्यसमाज को आगे ले जाने में परम सहायक हैं जिन पर आर्यसमाज गर्व कर सकता है। मेरा हृदय तो ऐसे सच्चे आर्यसेवक को देख कर गद्गद हो उठता है।

मेरी हार्दिक कामना है कि प्रत्येक आर्य वा आर्यसमाज का कर्तव्य है कि वह 'आर्यवीर' का ग्राहक बने और बनावे। लेखन द्वारा आर्यसमाज की अच्छी सेवा होती है। अब तो 'आर्यवीर' का स्वरूप भी ऐसा बन गया है कि वह जिल्द बन्धवा कर स्थिर रखा जा सकता है।

हम इसकी सफलता की सदैव कामना करते हैं।

सम्पादकीय

आर्यों का प्रेरणा-स्तम्भ मथुरा नगरी
तथा
"आर्यमित्र"

उत्तरप्रदेश आर्यप्रतिनिधि-सभा मथुरा में दयानन्द शताब्दी और आर्य-मित्र-जयन्ती मना रही है। समारोह अब २५ से २८ दिसम्बर १९५९ तक हो रहा है। हमारी दृष्टि में ऐसे समारोह जहाँ व्यक्त रूप में लाभदायक प्रतीत होते हैं, आर्य-जनता में उत्साह की भावना परिपूर्ण हो उठती है; वहाँ अव्यक्त रूप से भी ऐसे पर्वों से महान् लाभ होता है। साथ में विद्वानों के अभिनन्दन का जो क्रम रखा गया है, वह भी बड़े महत्त्व का है और आर्यसमाजों, आर्यप्रतिनिधिसभाओं, आर्यसार्वदेशिक सभा के लिये अनुकरणीय आदर्श है।

'आर्यमित्र' का आर्यसमाज में ऊँचा स्थान रहा है और आगे भी रहना चाहिये। इसके द्वारा आर्यसमाज और वैदिक धर्म की भारी सेवा हुई है और हो रही है। मेरे समान सभी आर्यबन्धुओं का इसमें गहरा प्रेम रहा है। मैं सदा प्रतिवर्ष "आर्यमित्र" की फाइल की जिल्द बन्धवा कर रखता रहा हूँ। हर एक साप्ताहिक को पढ़ने का मेरा मन रहता है। लगभग २० वर्ष की फाइल पाकिस्तान (लाहौर) में जिल्द बँधी रह गई। यहाँ आकर फिर बनानी आरम्भ हो गई है। "आर्यमित्र" के इतने ग्राहक बनने चाहिये कि इसमें घाटा पड़ने की सम्भावना भी नहीं रहनी चाहिये। भारत भर में प्रत्येक आर्यसमाज को "आर्यमित्र" अवश्य मँगाना चाहिये।

मथुरा नगरी आर्यों का तीर्थ है, टंकारा और अजमेर भी। हमें इन स्थानों से प्रेरणा लेनी चाहिये। बिना किसी को बताये या घोषणा के बिना ही हमें ऋषि दयानन्द प्रदर्शित मार्ग में अपने तन-मन और धन से यथाशक्ति पूरा सहयोग देना चाहिये। अपने जीवनों में तथा परिवारों में वैदिक धर्म और ऋषि दयानन्द में पूरी निष्ठा उत्पन्न करनी चाहिये।

मथुरा पहुँचकर प्रत्येक आर्य नर-नारी को सोचना चाहिये कि हमने ऋषि दयानन्द और गुरु विरजानन्द के प्रति कहाँ तक अपने कर्तव्य का पालन किया है। आर्ष-ग्रन्थों में सच्ची श्रद्धा वा कर्तव्य का, मनसा-वाचा-क[र्मणा] हमने कहाँ तक पालन किया है, हमने अपनी संस[्थाओं] में इसको कहां तक स्थान दिया है। कितनी कमी [कहाँ] तक है, यह सब पर्यालोचन करना होगा। आगे उस [कमी] को हम पूरा करने की प्रतिज्ञा वा दृढ निश्चय [करके] मथुरा से लौटें। तभी हमारा समारोह मनाना सार्थक [हो] सकता है।

प्रभु कृपा करें। परम-पिता परमात्मा हम आर्यों [को] ऐसी सत्प्रेरणा दें जिससे हम स्वयं, हमारी सन्तान, [हमारे] आर्य बन्धु, सभी आर्य-संस्थाओं में पढ़ने-पढ़ाने वाले [पुत्र] और पुत्रियाँ तथा अध्यापक आर्षज्योति से जगमगा [उठें,] अनार्षता का नाश हो यही हार्दिक मंगल कामना है।

"परोपकारी" का स्वागत
एक शुभ विचार

"श्रीमती परोपकारिणी सभा, अजमेर" ऋषि [द्वारा] स्थापित है। इसी से इसका महत्त्व बहुत बड़ा है। [इस] की स्थापना ऋषि प्रदर्शित सिद्धान्तों-विचारों और [भाव]नाओं के प्रचार-विस्तार-अन्वेषण पोषण-गम्भीर विवेचन [के] लिये हुई है कि अनेकविध कार्य करने का प्रयास [कि]या जावे। जितना किया जा रहा है, उसमें प्रौढ़ता हो, [जो] नहीं हो रहा है उसके लिये यत्नशील होना, बड़े सौभाग्य की बात है।

मेरे विचार में जो मासिक पत्रिका "परोपकारी" आरम्भ हो रहा है, सभी आर्यबन्धुओं को ऐसे प[त्र का] हृदय से स्वागत करना चाहिये। न केवल राज[स्थान] अपितु भारत में आर्यसमाजों वा आर्यपुरुषों को इसमें सहयोग देना चाहिये। इसको आरम्भ करके सभा [ने] अपने एक आवश्यक कर्तव्य का पालन किया है।

मैं समझता हूं इसके सम्पादक का उत्तरदायित्व ऋ[षि] भक्त-आर्यसमाज के उच्चकोटि के विचारक धर्मनिष्ठ [आर्य] जनता के सुपरिचित डा॰ मानकरण जी शारदा हों, यह जानकर अति सन्तोष होता है, पर उनके स्वास्थ्य

ध्यान में रखकर व्यवस्था बनाई जावेगी तभी ठीक होगा।

मेरा विचार है आर्यसमाज में अनेक मासिक-साप्ताहिक पत्र होने चाहियें। दैनिक एक भी नहीं है, यह बड़े खेद की बात है। आर्य-जनता को चाहिये अपने आर्य-पत्रों की रक्षा में सदा तत्पर रहे। सभा भी कम से कम दो वर्ष का घाटा (यदि रहे तो) पूरा करने का निश्चय रखे तभी ठीक होगा। आर्यबन्धु इनको घाटा न पड़ने दें। यह तभी हो सकता है कि अधिक से अधिक ग्राहक बनें।

हम "परोपकारी" की सफलता के लिये मंगल कामना करते हैं और हृदय से इसका स्वागत करते हैं।

सम्पादक का अन्तिम निवेदन

इस बार अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित थीं। पुनरपि यह 'वेदाङ्क' आशा से अधिक सफल रहा है। इसका अन्तिम निर्णय तो पाठक महानुभाव ही करेंगे। हमने इसे उत्कृष्ट बनाने में पूरा यत्न किया है। लेखक महानुभावों के हम अति कृतज्ञ हैं, जिन्होंने सुन्दर-योग्यतापूर्ण लेख भेजने की कृपा की। वेदवाणी के प्रति इनका प्रेम है, यह बड़े ही सौभाग्य की बात है।

विदित रहे कि कई उपयोगी और उत्तम लेख हमें प्रेस में भेजकर लौटाने पड़े, जितने पृष्ठ हमें छापने थे, न चाहते हुए भी पृष्ठ संख्या बढ़ानी पड़ी, फिर भी कई उपयोगी लेखों को छापने में हम असमर्थ रहे। कागज का प्रबन्ध जैसे-तैसे ही कर पाये। जहाँ अन्य लेख रह गये, वहाँ सम्पादक का लेख भी छोड़ना ही पड़ा। उपर्युक्त लेखों को हम आगे अवश्य छापेंगे, हमारी विवशता के लिये हमें क्षमा किया जायगा। यही निवेदन है।

वेदवाणी के ग्राहक आगे से बढ़े हैं, पर थोड़ा और सहयोग मिल जावे तो ठीक व्यवस्था बन जावे। आशा है उस कमी को भी वेदवाणी के प्रेमी पूरा करने का कष्ट करेंगे।

विविधि समाचार

गान्धी-जयन्ती

२ अक्तूबर को राष्ट्र-पिता महात्मा गान्धी की ९० वीं जयन्ती देश-विदेश में मनाई गई। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद तथा प्रधान मन्त्री पं० जवाहर लाल नेहरू ने राष्ट्रपिता की समाधि पर पुष्प मालाएँ अर्पित कीं और प्रार्थना में भाग लिया।

आर्ष-साहित्य का अध्ययन आवश्यक—

डा० राधाकृष्णन्

अम्बाला ४, अक्तूबर। शिक्षावित्-समिति द्वारा आयोजित ग्रन्थोत्सव का उद्घाटन करते हुए उप-राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने अपने भाषण में कहा—आर्ष-साहित्य के अध्ययन द्वारा मानवीय दृष्टि को परिष्कृत करने की महती आवश्यकता है। नैतिकता सभी ओर गिरती जा रही है और नेताजन अपने वास्तविक कर्त्तव्यों की ओर ध्यान नहीं दे रहे हैं। महान् आर्ष-साहित्य का अध्ययन और इस प्रकार महापुरुषों का सम्पर्क-लाभ ये दो ही ज्ञान के सुफल हैं जिनसे दृष्टिकोण प्रशस्त हो सकता है। राष्ट्रिय, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं पर आर्ष साहित्य में गम्भीर प्रकाश डाला गया है।

अन्तर्ग्रहीय स्टेशन अन्तरिक्ष में

मास्को, ४ अक्तूबर आज प्रातः रूस ने 'स्वयं चालित अन्तर्ग्रहीय स्टेशन' अन्तरिक्ष में छोड़ दिया जो चन्द्रलोक चतुर्दिक चक्कर लगायेगा। ६१३ पौंड भारी यह स्टेशन ब्राह्म-किरण अग्निबाण द्वारा ऊपर ले जाया गया है। इस स्टेशन में अन्तरिक्ष की व्यापक अनुसन्धान-व्यवस्था के लिये वैज्ञानिक एवं प्राविधिक यन्त्र रखे गये हैं।

प्रेमचन्द-स्मारक का शिलान्यास

वाराणसी, ८ अक्तूबर। आज शाम ५ बजे वाराणसी से ५ मील दूर लमही ग्राम में साहित्य सम्राट् मुंशी प्रेमचन्द के स्मारक का शिलान्यास राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र-प्रसाद के करकमलों द्वारा हुआ। इस अवसर पर भाषण करते हुए राष्ट्रपति ने कहा—प्रेमचन्द महान् कलाकार, समाज-सुधारक तथा सच्चे देशभक्त थे।

अनुदार दल पुनः विजयी

लन्दन, ९ अक्तूबर। ब्रिटेन के लोक-निर्वाचन अनुदार दल पुनः विजयी हुआ है। ६३० सदस्यों सभा में ३६५ स्थान प्राप्त कर अनुदार दल ने स्थिति पूर्वापेक्षा अधिक दृढ़ कर ली है।

प्रधान मन्त्रियों पर घातक आक्रमण

गत २६ सितम्बर को लङ्का के प्रधान मन्त्री पर बौद्ध भिक्षु ने रिवाल्वर से गोली चलाकर प्रहार कि फलस्वरूप प्रधान मन्त्री का अस्पताल में देहान्त गया। ७ अक्तूबर को इराक के प्रधानमन्त्री पर भी प्रकार प्रहार किया गया, जिससे वह घायल हो गये।

दयानन्द दीक्षाशताब्दी समारोह-स्थगित

ज्ञात हुआ है कि २९ अक्तूबर से २ नवम्बर मथुरा में होने वाले दीक्षाशताब्दी-समारोह की तिथि परिवर्त्तन कर दिया गया है। अब यह उत्सव २- दिसम्बर तक मथुरा में होगा।

[हमारा विचार है मथुरा में दीपावली की तिथि परिवर्त्तन आर्यसमाज के गौरव की दृष्टि से अच्छा नहीं नेताओं के पीछे भटकने की प्रवृत्ति आर्यसमाज के कहीं घातक न सिद्ध हो, हमें तो ऐसा लगता है। समाज को यह बात गम्भीरता से विचारनी होगी सं

टङ्कारा समाचार

४ अक्तूबर। नई देहली में सुप्रीमकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री मेहरचन्द महाजन के सभापतित्व में दयानन्द ट्रस्ट के ट्रस्टियों तथा आर्यसमाज के प्रदेशों से आमन्त्रित आर्य पुरुषों और विद्वानों की हुई। जिसमें टङ्कारा में होने वाले विभिन्न कार्य निश्चय किया गया। श्री महाजन जी के प्रस्ताव प्रेरणा से इस पवित्र कार्य के लिये १० लाख रुपया करने का निश्चय हुआ जिस पर वहीं उपस्थित सज्जनों द्वारा लगभग ४० हजार रुपया एकत्रा हुआ आगे एकत्र करने की योजना चल रही है॥

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ही ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १२] [अङ्क ३

इस अङ्क के लेख

१—जगत् का स्रष्टा प्रभु	ऋषिभाष्य से	पृ० १
२—कर्मफल का भोग आत्मा भो... है	श्री स्वा० गङ्गागिरि जी	२
३—यजुर्वेद में वामनावतार	श्री पं० गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय	४
४—दयानन्दभाष्य के कतिपय नि...	श्री डा० सुधीरकुमार जी गुप्त	५
५—वेदों का बन्धन	श्री पं० बिहारीलाल जी शास्त्री	९
६—Military Ballads in the Rigveda	श्री डा० परमानन्द जी	१३
७—विविध समाचार	सम्पादक	१६
८—'वाल्मीकि रामायण' का आलोचनात्मक भाषानुवाद (वर्ष ११ अङ्क ११ से आगे)	अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी.	१७ (पृ० १८५-२००)
९—यजुर्वेद-भाष्य-सम्बन्धी विज्ञप्ति		(टा० पृ० ४)

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

पौष २०१६ वि०, जनवरी १९६० ई०
दयानन्दाब्द १३५
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६०

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य-भारत में ५)
वी० पी० से ५।=)
" " विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ।॥) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे [illegible]शित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। [illegible] छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनको [illegible]शित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतग[illegible]स, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ५**

ऋग्वेद | ओ३म् | यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद | अथर्ववेद

ओ३म्

सं श्रुतेन॑ गमेमहि॒ मा श्रुतेन॒ वि रा॑धिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से सं[illegible] रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १२ } काशी, पौष, सं० २०[illegible] वि०, जनवरी १९६० ई० { अङ्क ३

ऋषिभाष्य से—

जगत् का [illegible] प्रभु

उपे॑दुहं धन॒दामप्र॑तीतं जुष्टां॑ ने॑ [illegible] पतामि।
इन्द्रं॑ नम॒स्यन्नु॑प॒मेभि॑र॒र्कैर्यः स्तोत॒ [illegible] अस्ति॒ याम॑न्॥

ऋ० १।३३।१॥

पदार्थः—(यः) जो (हव्यः) ग्रहण करने योग्य ईश्वर (स्तोतृभ्यः) अपनी स्तुति करने वालों के लिये धन का देने वाला (अस्ति) है, उस (अप्रतीतम्) चक्षु आदि इन्द्रियों से अगोचर (धनदाम्) धन देने वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर को (नमस्यन्) नमस्कार करता हुआ (अहम्) मैं (न) जैसे (जुष्टाम्) पूर्वकाल में सेवन किये हुए (वसतिम्) घौंसले को (श्येनः) बाज पक्षी प्राप्त होता है, वैसे (यामन्) गमनशील अर्थात् चलायमान इस संसार में (उपमेभिः) उपमा देने के योग्य (अर्कैः) अनेक सूर्य आदि के दृष्टान्तों से उस परमेश्वर को (इत्) ही (उपपतामि) प्राप्त होता हूँ।

१—... र्थः—जैसे श्येन अर्थात् बाज पक्षी अपने ... सेवन किये हुए, सुख देने वाले स्थान को ...नान्तर से वेग से चलकर प्राप्त होता है, वैसे ही परमेश्वर को नमस्कार करते हुए मनुष्य इस संसार में उसी के बनाये हुए सूर्यादि लोकों के दृष्टान्तों से लोकों का निश्चय करके उसी की उपासना करें, क्योंकि इस संसार में जितने रचे हुए पदार्थ हैं, वे सब रचने वाले ईश्वर का निश्चय कराते हैं। रचने वाले के बिना किसी जड़ पदार्थ की रचना कभी नहीं हो सकती। जैसे मनुष्यों से रचनीय व्यवहार में रचने वाले के बिना कुछ भी पदार्थ अपने आप नहीं बन सकता, वैसे ही ईश्वर की सृष्टि में भी जानना चाहिये। बड़ा आश्चर्य है कि ऐसे निश्चय हो जाने पर भी जो ईश्वर का अनादर करके नास्तिक हो जाते हैं, उनको यह बड़ा अज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ॥

ाँ दी गई

ाद्ध, स

कर्मफल का भोग आत्मा भोगता है

[*ले० श्री पूज्य स्वा० गंगागिरि जी महाराज, गुरुकुल महाविद्यालय, रायकोट*]

जो मनुष्य भले कर्म करता है उसे सुख मिलता है। सुख के साधन कर्म का क्षेत्र शरीर है। इस शरीर द्वारा ही मनुष्य भले-बुरे कर्म करता है। "शरीर-माद्यं खलु धर्मसाधनम्"—शरीर ही सबसे प्रथम धर्म का साधन है, जिसके लिए वेद का स्वाध्याय करना आवश्यक है।

स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व, स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व।
महिमा ते अन्येन न सन्नश॥ यजु० २३।१५॥

मनुष्य-जीवन ज्ञानक्रिया-संपन्न है। (स्वयं तन्वं) अपने आप शरीर को (कल्पयस्व) समर्थ कर सफल कर (स्वयं यजस्व) स्वयं यज्ञ कर (स्वयं जुषस्व) स्वयं प्रीति से सेवन कर (ते महिमा) तेरा महत्त्व (अन्येन न) दूसरे से नहीं (सन्नशे) नहीं प्राप्त किया जा सकता है। वेद स्वावलंबन का पक्ष-पाती है। अपने ऊपर भरोसा करने की शिक्षा वेद की मुख्य शिक्षाओं में से एक है। पराश्रित, पर-मुखापेक्षी, दूसरों के सहारे जीने वाले में न उत्साह होता है, न साहस। उसे विश्वास ही नहीं होता कि वह भी कोई काम कर सकता है। वेद ऐसे हतोत्साह दुबल मनवालों को कहता है कि—(स्वयं वाजिं-स्तन्वं कल्पयस्व) हे वाजिन्! तू स्वयं शरीर को समर्थ कर, सफल कर। जीव को यहाँ "वाजिन्" कहा है। इसका विशेष अभिप्राय है। जीव में चेतना के कारण ज्ञान तो है, किन्तु वह ज्ञान उसका क्रियायुक्त होना चाहिए। कोरा ज्ञान तो बन्धन का, दुःख का कारण ...ता है। जैसा कि यजुर्वेद के अ० ४० मं० १२ में कहा है—

"...ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः।"

अर्थात् कर्ममात्र का अनुष्ठान करने वालों की अपेक्षा ज्ञान के गपोड़े हाँकने वाले अधिक अंधकार में रहते हैं। इस वास्ते जीव को ज्ञानार्जन के साथ-साथ कर्म के अनुष्ठान में भी तत्पर रहना चाहिए। इसीमें मनुष्य-जीवन की सफलता है। क्रिया का प्रथम प्रयोग शरीर-साधना में है। इसलिए मनुष्य को शरीर की उन्नति करने में लगना चाहिए। इसीलिए वेद का उपदेश है—"स्वयं वाजिंस्तन्वं कल्पयस्व"। शरीर को हेय समझकर इसकी सार संभाल न करना वेद के सर्वथा विपरीत है। वेद में एक स्थान पर आया है कि—"अश्मा भवतु ते तनुः"—तेरा शरीर पत्थर के समान हो। वेद में एक दूसरे स्थान पर भी शरीर के सम्बन्ध में उपदेश दिया है—"अन-मीवाः स्वे क्षेत्रे विराज"—अपने शरीर में नीरोग

होकर विराज। वेद के इस तत्त्व को सामने रखकर ही वैद्यक विद्या-विशारद आचार्यों ने कहा है—"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"—धर्म का सबसे पहला साधन शरीर है। अतः शरीर को स्वस्थ और सबल बनाना प्रत्येक धार्मिक मनुष्य का प्रथम कर्त्तव्य है। जो शरीर अर्थात् शारीरिक स्वास्थ्य की अवहेलना करता है वह पापी है। शरीर को समर्थ बनाने के साथ-साथ इसे सफल बनाने का भी आदेश है। मानव-देह की सफलता ज्ञान, तप आदि साधनों द्वारा "परमपद की प्राप्ति करना" है। शरीर की सफलता प्राप्त कर लेने के बाद ... को लक्ष्य में रखकर वेद कहता है—"स्वयं य... स्वयं यज्ञ का आरम्भ कर। कई मनुष्य तो किराय पर यज्ञ आदि का अनुष्ठान कराया करते हैं। वे इस "स्वयं यजस्व" का मनन करें। बात बहुत सीधी है। कर्म की छाप अन्तःकरण में पड़ती है, जिसको "संस्कार" कहते हैं। जो कर्म करेगा संस्कार भी उसी के अन्तःकरण में पड़ेगा। यह हो नहीं सकता कि भोजन करे देवदत्त और शरीर पुष्ट हो यज्ञदत्त। शरीर तो उसीका पुष्ट होगा जो भोजन करे। अतः संस्कार-जन्य फल भी उसे ही मिलेगा जि... संस्कार के उत्पादक "कर्म" को किया है। अत: वेद ने कहा है—"स्वयं यजस्व"—स्वयं प्रेमपूर्वक यज्ञ कर। जीवन का रस स्वयं परिश्रम करके खाने में है। वह पराई कमाई पर मौज उड़ाने में नहीं है। पराई कमाई पर रहने वाले को सदा खटका बना रहता है। उससे बचने का उपाय वेद कहता है—"स्वयं यजस्व"—स्वयं प्रीतिपूर्वक पुरुषार्थ कर। किसी महात्मा का वचन है—

पुरुषार्थ नहीं जिस पुरुष में वह पुरुषाकार है।
ऐसे निकम्मे पुरुषपर धिक्कार सौ-सौ बार है॥

मनुष्य-जन्म को पाकर जो सपरिश्रम, धर्मपूर्वक, सत् की कमाई नहीं करता है, उसका जीना ही निरर्थक है और वह पापी है। यज्ञ अर्थात् कर्त्तव्य कर्म को करते हुए मन में प्रीति, श्रद्धा तथा आस्था के भाव रहने चाहिएं। क्योंकि श्रद्धाशून्य क्रिया सफल नहीं होती है। कहा भी है—"यदेव श्रद्धया क्रियते तद् बलवत्तरं भवति"—... श्रद्धा से किया जाता है वह अधिक बलशाली होता है। हमारा कार्य भी बलशाली हो, हम भी श्रद्धा से कार्य करें। यह वेद की आज्ञा है। संसार में जिन्होंने उन्नति की है उन सबने अपने पुरुषार्थ और तपसे की है। ऋग्वेद ९।८३।१। में कहा है— "अतप्ततनुर्न तदामोऽश्नुते"—जिस मनुष्य ने शरीर को तप से नहीं तपाया वह उस सुख को नहीं प्राप्त कर सकता है। अर्थात् आमस्वर का एक साधन तप भी है। वेद में दूसरे स्थान पर कहा है:—

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥

ऋ० १०।१५४।२॥

जो तप के द्वारा (अधृष्य) किसी से न दबने वाले हुए हैं, जिन्होंने तप के द्वारा (स्वः) सुख प्राप्त किया है, जिन्होंने निष्काम भाव से तप किया है उन्हें ही (महः) तेज = महत्ता = पूजा प्राप्त होती है। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि "तपः" "स्वः" = सुख का साधन है। मनुजी ने भी अ० १२ में कहा है—"तपसा किल्विषं हन्ति"—तप के द्वारा दोषों का नाश होता है। दोषों के रहते सुख मिलना असम्भव है। इसी कारण पतञ्जलि मुनि ने कहा है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात् तपसा॥

यो० २।४३॥

तप द्वारा अशुद्धि का नाश होता है और उससे शरीर तथा इन्द्रियों में बल और सिद्धि आती है।

दूसरे के साधनों से कोई सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है। सिद्धि की प्राप्ति के लिए मनुष्य को स्वयं प्रयत्न करना चाहिए। अपनी बड़ाई अपने ही हाथों से प्राप्त की जाती है। तभी तो वेद कहता है "महिमा ते अन्येन न सन्नशे"—तेरी उन्नति दूसरे से नहीं हो सकती है। महाभारत और भगवद्गीता भी इसी बात को कहते हैं—

उद्धरेदात्मनात्मानं, नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैवा रिपुरात्मनः॥

...ुष्य अपना उद्धार अपने पुरुषार्थ से करे। ... इसी में जीवन की शोभा है। अपने को मनुष्य पर... गिराये नहीं; क्योंकि मनुष्य अपना शत्रु भी आप है और मित्र भी। इस तत्त्व को समझकर मनुष्य ... को पुरुषार्थ में लग जाना चाहिए। यह सदा स्मरण ... रखना चाहिए कि अपनी कमाई में मिठास होती है। अतः स्वावलम्बी बने। जो उद्योगी होते हैं, भगवान् भी उनके सहायक होते हैं। जैसा किसी कवि ... ने कहा है—

उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिःपराक्रमः।
षडेते यत्र वर्त्तन्ते तत्र देवः सहायकृत् ॥

उद्यम, साहस, धीरज, बुद्धि, शक्ति और पराक्रम ये छः गुण जहाँ रहते हैं वहाँ भगवान् सहायक होता है। साधक यदि भगवान् की सहायता चाहे तो उसे स्वावलम्बी होना चाहिए।

यजुर्वेद में वामनावतार

[ले० श्री पं० गंगाप्रसाद जी उपाध्याय, एम० ए०]

पौराणिक कथा है कि विष्णु ने बलि को छलने के लिये वामनावतार धारण किया और तीन पगों में तीन लोक नाप लिये। इस कथा का मूल मंत्र यह समझा जाता है—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे स्वाहा ॥
यजु० ५।१५॥

वेदमन्त्र में न तो वामन का संकेत है, न बलि का, न छलने का। केवल तीन पगों का उल्लेख अवश्य है। इतने से अवतार की कल्पना करना तो अन्याय है ही, परन्तु देखना यह है कि उव्वट और महीधर आदि भाष्यकार क्या कहते हैं। उव्वट ने तो अवतार का नाम भी नहीं लिया। देखिये उव्वटभाष्य—

(१) इदं जगत् विष्णुर्विचक्रमे विक्रान्तवान्। सर्वप्राणिनो हि भूतेन्द्रियमनोजीवभावेनाविशतीति विष्णुः।

अर्थात्—इदं का अर्थ है जगत्। विष्णु इसमें व्यापक है; क्योंकि परमेश्वर सब प्राणियों में भूत, इन्द्रिय, मन, जीवभाव से 'आविशति' अर्थात् व्यापक होता है।

(२) किं च त्रेधा निदधे पदम्। पद्यते ज्ञायतेऽनेनेति पदम्। भूम्यन्तरिक्षद्युलोकेषु अग्निवायुसूर्यरूपेण त्रिधा निहितवान् पदम्।

अर्थात्—जिससे ज्ञान हो उसको पद कहते हैं। भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक में अग्नि, वायु और सूर्य के रूप में तीन प्रकार से पद रखता अर्थात् ज्ञान कराता है।

(३) किंच समूढमस्य पांसुरे। अस्यैव विष्णोरन्यत्पदान्तरं विज्ञानघनानन्दमजमद्वैतमक्षरम् इत्येवंलक्षणम्, समूढमन्तर्हितमविज्ञातमकृतात्मभिः। पांसुरे। लुप्तोपममेतत्। पांसुल इव प्रदेशे निहितं न दृश्यते तत् समूढमिति द्रष्टव्यमिति वाक्यशेषः।

अर्थात्—इसी विष्णु का जो अन्यपद है और विज्ञानघन, आनन्द, अक्षर इत्यादि उसको आत्मज्ञान शून्य नहीं जान सकते; क्योंकि जैसे वालुप्रदेश में पैरों का चिह्न गुप्त रहता है इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।

इससे स्पष्ट है कि उव्वट आचार्य के मत में इस मन्त्र का अवतार से कोई सम्बन्ध नहीं है। पृथ्वी में अग्नि, अन्तरिक्ष में वायु और द्युलोक में सूर्य यही ईश्वर के पद अर्थात् ज्ञान कराने वाले पदार्थ हैं। इसके अतिरिक्त ईश्वर का आनन्दस्वरूप तो छिपा हुआ है और आत्मज्ञानी ही जानते हैं।

अब महीधरभाष्य को भी देखिये। महीधर ने अवतार का संकेत किया है—

विष्णुः त्रिविक्रमावतारं कृत्वा इदं विश्वं विचक्रमे विभज्य क्रमते स्म । तदेवाह ।

अर्थात्—विष्णु ने त्रिविक्रमावतार लेकर इस विश्व के तीन भाग किये । परन्तु मन्त्रार्थ में उन्होंने उव्वट के ही शब्द दुहराये हैं, जिनमें उनकी पहले से मन में बैठी हुई सुनी सुनाई कल्पना के लिये कोई आधर नहीं है । अ...

(१) त्रेधापदं निदधे भूमावेकं पदमन्तरिक्षे द्वितीयं दिवि तृतीयमिति क्रमादग्निवायुसूर्यरूपेणेत्यर्थः ।

अर्थात्—क्रम से अग्नि, वायु और सूर्य रूप से भूमि, अन्तरिक्ष और द्युलोक में तीन पैर रक्खे ।

(२) पांसवो भूम्यादिलोकरूपा विद्यन्ते अस्य तत् पांसुरं तस्मिन् पांसुरे, अस्य विष्णोः पदे ... सम्यगन्तरभूतं विश्वमिति शेषः । यद्वाऽस्य ... विष्णोः पदं पद्यते ज्ञायत इति पदमद्वैताख्यं समान समूढमन्तर्हितमज्ञातमकृतात्मभिः । कस्मिन्निव । पांसुरे इव । लुप्तोपमानम् । पांसुले रजस्वले प्रदेशे निहितं यथा न ज्ञायते तद्वत् ।

इसका अर्थ लगभग वही है जो उव्वट भाष्य का है । स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने भी अपने भाष्य में जो अर्थ दिया है वह मूलतः वही बात सिद्ध करता है और उसमें अवतारवाद का कोई संकेत नहीं है । सनातन-धर्मी पुरानी चाल के पण्डित यदि अपने ही माननीय ग्रन्थों को अवलोकन करें तो उनको अपनी मान्यताओं की निस्सारता विदित हो सकती है ।

दयानन्द भाष्य के कतिपय निर्वचन

[ले०—डा० सुधीर कुमार जी गुप्त, एम, ए०, पी. एच० डी० शास्त्री,]

अश्वमेधः

१—अश्व (√ अशूङ् व्याप्तौ संघाते च से) + मेध (√ मेधृ मेधाहिंसनयोः । संगमे च से) से, जैसा नीचे के लेखों से प्रतीत होता है—

(१) चक्रवर्त्तिराज्यपालनस्य विद्यायाः[1]

(२) आशुपवित्राय[2] ।

(३) राज्यपालनाख्ये व्यवहारे[3] ।

२—दयानन्दभाष्य के अर्थ

इस निर्वचन के आधार पर दयानन्द भाष्य में ये अर्थ उपलब्ध होते हैं—

(१) चक्रवर्त्ती राज्य के पालन का विज्ञान[4] ।

(२) राज्य की रक्षा का व्यवहार (– कर्म)[5] ।

(३) राष्ट्र[6] ।

(४) आशुपवित्र (जन ?)[7] ।

३—ऐतिहासिक पक्ष में इस का अर्थ ऋग्वेद में ग्रिफिथ आदि ने 'एक राजाविशेष' माना है[8] ।

४—यह पद इस मन्त्र का ऋषि भी है । इस का पूरा नाम 'अश्वमेधः भारत, राजा' दिया गया है ।

५—यजुर्वेद में इसे शेष सब भाष्यकारों ने—'जिसमें घोड़े का वध होता है वह अश्वमेध यज्ञ'—समझा ।[10]

६—ब्राह्मणों ने अश्वमेध के आर्थों में आदित्य,[11] चन्द्रमा,[12] राष्ट्र,[13] श्री,[14] यजमान,[15] देवों का

१. ऋ० ५।२७।५
२. ऋ० ५।२७।४
३. ऋ० ५।२७।६
४. ऋ० ५।२७।५
५. ऋ० ५।२७।६
६. य० १८।२२
७. ऋ० ५।२७।४
८. देखो ग्रि०ऋ० में ५।२७।४ का अनुवाद ।
९. य० १८।२२
१०. देखो महीधर और ग्रि०य० में इस मन्त्र का अर्थ ।
११. श० १३।२।१।८
१२. श० ११।२।५।१
१३. श० १३।२।२।१६
१४. तै० ३।९।७।१
१५. श० १३।२।२।१

१—[illegible] [illegible]र बल,[17] ब्रह्म और वर्चस्[18], प्रभू नामक [illegible] आदि दिए हैं और अश्वमेधयाजी को पापों [illegible] ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाने वाला बताया है।[20] इन अर्थों के आधार पर ही दयानन्द-भाष्य के अर्थों की सृष्टि हुई प्रतीत होती है।

७—यजुर्वेद से इस पद वाले मन्त्र[21] में यह भावना व्यक्त की गई है कि मानव के या स्तोता के अग्नि, घर्म, अर्क, प्राण, सूर्य, पृथिवी, अदिति, दिति, अंगुलि, शक्करी और दिशाएँ यज्ञ से युक्त हों अर्थात् यज्ञमय-परोपकार-परायण हों।[21] 'अश्वमेध' पद प्राण और पृथिवी के बीच में आया है। अतः साहचर्य से यह राष्ट्र का द्योतक हो सकता है। वैसे भी इस समस्त प्रकरण में 'राष्ट्र' के लिए अन्य कोई पद नहीं आया है।

८—ऋग्वेद के सूक्त[22] में छै ऋचाओं में से प्रथम[23] के ऋषि त्र्यरुण त्रैवृष्ण त्रसदस्यु हैं। त्र्यरुणपद इन तीनों मन्त्रों में आया है और त्रैवृष्ण प्रथम मन्त्र में।[24]

९—इसी प्रकार पिछले तीन मन्त्रों[25] का ऋषि 'अश्वमेध' है और उन तीनों में यह पद आया है।

१०—इनमें से प्रथम मन्त्र[26] में 'ददत् मेधामृतायते' पद विशेष महत्त्व के हैं। मेधा बुद्धि आदि का द्योतक है। ऋत सत्य, न्याय और ज्ञान आदि का।[27] इस मन्त्र का छन्द अनुष्टुप् है जिसके अर्थ अश्व,[28] सोम,[29] जल,[30] ज्यैष्ठ्य[31] और वाणी[32] आदि हैं और स्वर गान्धार—गां वाणीं (= ज्ञानं) धारयतीति—है और देवता अग्नि। अतः इन पदों से देवता और छन्द आदि के द्वारा 'अश्वमेध' के दयानन्दीय अर्थ का निर्देश प्राप्त होता है।

११—इसी प्रकार अगले दो मन्त्रों में 'पशुपा उक्षण[33] तथा 'क्षत्रं धारयतम्' 'अजरम्'[34] पद मन्त्रों के देवता अग्नि और इन्द्राग्नी, छन्द—उष्णिक और स्वर—ऋषभ के द्वारा दयानन्दीय अर्थों की ओर निर्देश करते प्रतीत होते हैं। अश्वमेध का भारत नाम भी √भृ से [illegible]त्पन्न होने से[35] इस निष्कर्ष को पुष्ट कर रहा है।

१२—इस समस्त सूक्त का वैकल्पिक ऋषि 'अत्रि' है। अत्रि का अर्थ अविद्या, पाप, दुःख, शत्रु, अव्यवस्था आदि का नाशक है।[36] ये ही भाव दयानन्द-भाष्य ने इन मन्त्रों में रक्खे हैं।

ऋज्राश्वः

१—ऋज्र (√ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु से) + अश्व (√अशूङ् व्याप्तौ से) से—

(१) ऋज्रा ऋजवोऽश्वा महत्यो नीतयो यस्य सः।[1]

(२) ऋज्रा ऋजुगामिनोऽश्वा वेगवन्तो यस्य।[2]

२—दयानन्द भाष्य के अर्थ—

(१) सीधी और महान् नीतियों वाला।[3]

(२) सीधी चालवाले तेज़ घोड़ों वाला।[4]

(३) सुशिक्षित घोड़े आदि से युक्त सेना।[5]

३—इस पद के समझने के लिए 'ऋज्र' का अध्ययन भी आवश्यक है। ऋज्र के दयानन्द-भाष्य के अर्थ ये हैं—

(१) सीधी गति वाले।[6]

(२) सरल गमन।[7]

(३) सरल स्वभाव।[8]

---

१६. तै० ३।९।२१।३
१७. वही
१८. तै० ३।९।१९।३
१९. तै० ३।९।१९।१
२०. श० १३।३।१।१
२१. देखो यज्ञपद।
२२. ऋ० ५।२७
२३. ऋ० ५।२७।१–३
२४. ऋ० ५।२७।१
२५. ऋ० ५।२७।४–६
२६. ऋ. ५।२७।४
२७. देखो 'ऋत' पद।
२८. श० १३।२।२।१९.
२९. कौ० १५।२.
३०. कौ० २४।४
३१. तां० ८।७।३
३२. कौ० ५।६
३३. ऋ० ५।२७।५
३४. ऋ. ५।२७।६
३५. देखो भरत पद।
३६. देखो अत्रि पद।
१. ऋ० १।१००।१७
२. ऋ० १।१००।१६
३. ऋ० १।१००।१७
४. ऋ० १।१००।१६; ११६।१६; ११७।१८
५. ऋ० १।११७।१७
६. ऋ० १।१७४।५
७. ऋ० ४।१६।११
८. ऋ० ७।१८।२३

(४) सरलता-प्रिय।[९]

(५) सरलता सिखाने वाला (—गमक)[१०]

४—वेंकटमाधव और सायण ने भी इस पद को ऋजुगमन और शीघ्रगमन का द्योतक माना है। अतः इसे √ ऋज गत्यादि से लेना समीचीन जान पड़ता है।

५—आधुनिक सम्प्रदाय ने ऋज्राश्व को व्यक्तिवि॰ अ॰ माना है।

६—एक मन्त्र में [११] इसे उसी मन्त्र का ऋषि माना गया है। देखो अम्बरीष पद।

७—एक मन्त्र में ऋज्राश्व के लाल और अलंकृत आदि गुण-विशिष्ट घोड़ों द्वारा ऋज्राश्व को धनदान का भाव दयानन्द-भाष्य की दृष्टि में 'सीधी चाल वाले वेग-युक्त घोड़ों वाले सभा आदि के अध्यक्ष के शिल्पियों के बनाए अग्नि से सुन्दर, प्रशंसित रूप, प्रकाशमान, लाल और काली अग्नि की लपटों वाली लोहे के विमान आदि धार के यन्त्रकलाओं के प्रयोग से धनप्राप्ति' है।[१२]

८—ऋज्राश्व के सौ मेषों का वध, पिता द्वारा अन्धा किया जाने और अश्वियों द्वारा चक्षुर्दान का अर्थ दयानन्द-भाष्य में 'सभा और सेना के अधीशों का प्रजापालन में नियुक्त प्रजा के उत्पीड़क न्यायाधीश को सैंकड़ों भेड़ों को भेडिये की भेंट कर देने वाले मेषपालक के समान पृथक् करना और अच्छे सीखे हुए घोड़े आदि पदार्थों से युक्त सेना के कार्य आदि का यथोचित विचार करना और अज्ञानियों को विज्ञानपूर्वक देखने के लिए विद्या का प्रकाश देना' है।[१३]

९—वृकी द्वारा ऋज्राश्व को आँख दिलाने के लिए उसके अमितव्ययता से एक सौ एक भेड़ों के वध का वर्णन दयानन्द-भाष्य में 'सीधी चाल चलने वाले घोड़ों ॰॰श, विद्याप्रकाशक, वृद्ध, प्रकाशमान मनुष्य ॰ समान ॰मा और सेनाधीश का अविद्या से अन्धों के लिए ज्ञान-रूप पोषण और सुख का धारण उसी प्रकार करना है जिस प्रकार भेड़ियों से भेड़-बकरियों और सती साध्वी स्त्रियों को जारों से बचाया जाता है'[१४] है।

पज्रिय

१—पज्र (√पद गतौ + रक् से) + घ—अत्र पद-धातोरौणादिको रक्। वर्णव्यत्ययेन दस्य जः। ततो भावार्थे घः।[१]

२—दयानन्द भाष्य के अर्थ

(१) पदों में प्रसिद्ध होने वाले (अर्थात् शब्दों को जानने वाले विद्यार्थी)[२]।

(२) प्राप्त होने योग्यों में प्रसिद्ध हुए (सभा और सेनाधीश)[३]।

(३) पाने योग्य बोधों को प्राप्त[४]।

३—ग्रिफिथ ने इसके अर्थ 'पज्र का वंश'[५] और 'पज्र का पुत्र'[६] किया है। माधव भट्ट ने 'वज्ञायाः कुले जातः' लिखा है। डा॰सी॰के॰ राजा इसे 'पज्रायाः' पढ़ने का सुझाव देते हैं।[७] वेंकटमाधव का ऋगर्थदीपिका का पाठ यहाँ संदिग्ध है। उसके 'डी' हस्तलेख में 'प्रज्ञकुलाय' पाठ है। माधव भट्ट के भाष्य में शेष दो स्थलों पर 'पाज्ञायाः'[८] और 'वज्रियः'[९] अर्थ मिलते हैं। 'पाज्ञायाः' 'प्राज्ञायाः' का रूप प्रतीत होता है, और 'वज्रियः' √वज गतौ का। ऋगर्थदीपिका के पज्र के व्याख्यान वाले सभी स्थलों पर कुछ हस्तलेखों में 'पज्र' के स्थान पर 'वज्र' पाठ मिलता है। स्कन्द स्वामी[१०] ने 'हवि नामक अन्न से अन्नवान्' अर्थ किया है।

---

९. ऋ० ६।६३।९
१०. ऋ० १।११७।१४
११. ऋ० १।१००।१७
१२. ऋ० १।१००।१६। पदार्थ का भाव भावार्थ में स्पष्ट किया गया है।
१३. ऋ० १।११७।१७।
१४. ऋ० १।११७।१८। भावार्थ में भाव को अच्छी प्रकार स्पष्ट किया गया है। इस मन्त्र में ऋज्राश्व का व्याख्यान कुछ असंगत सा मालूम होता है। 'अश्व' का अर्थ ज्ञान, बल आदि लेना संभवतः उपयुक्त रहे।

१. ऋ. १।११६।७
२. वही।
३. ऋ. १।११७।६
४. ऋ. १।१२०।५
५. ऋ. १।११६।७
६. ऋ. १।११७।६; १२०।५
७. ऋ. १।११६।७
८. ऋ. १।११७।६
९. ऋ. १।१२०।५
१०. ऋ. १।११६।७;११७।६; १२०।५।

४—'पज्र' का अर्थ करते हुए माधव भट्ट ने लि[illegible] है—'वज्रा अंगिरसःपत्रकुलत्वात् ।' इन्होंने शाट्यायन ब्रा० [illegible] के जिस लेख को उद्धृत किया है, उसके ऋगर्थदीपिका के पाठ में हस्तलेखों में 'वज्र' पाठभेद मिलता है ।[११]

५—पज्र के अर्थों में वेंकटमाधव ने 'गमनशील',[१२] [illegible] युक्त'[१३] भी दिए हैं। इसी प्रकार के गुणबोधक अर्थ सायण ने 'घासादि अन्न से युक्त,'[१४] 'बल से तीर्ण',[१५] 'बलयुक्त'[१६] और हविर्लक्षण अन्न से युक्त या पाप से जीर्ण पुरुष',[१७] तथा स्कन्द ने 'प्राजित धन वाले ईश्वर'[१८] और 'ऋत्विज्'[१९] दिए हैं ।

६—भाष्यकारों के इन अर्थों और पाठभेदों से दो बातें ज्ञात होती हैं—

(१) पज्र शब्द किसी गत्यर्थक धातु से व्युत्पन्न है ।

(२) ऋग्वेद के अधिकांश स्थलों में यह विशेषण है, संज्ञा या व्यक्तिवाचक नाम नहीं ।

७—ऋगर्थदीपिका के पाठभेद इसे √वज गतौ से व्युत्पन्न करने का संकेत दे रहे हैं । दयानन्त भाष्य ने इसे √पद्[२०] और √पन्[२१] से व्युत्पन्न माना है । √पन् से व्युत्पत्ति करके उन्होंने 'शिल्पव्यवहार' अर्थ किया है । यद्यपि यहाँ भी यह अर्थ √पद् की व्युत्पत्ति से प्राप्त हो सकता था, तो भी उसमें अर्थ के विस्तार में कुछ अधिक कल्पना और लक्षणा लगानी पड़ती है । अतः अर्थविशेष की दृष्टि से ही दयानन्द भाष्य ने यह निर्वचन किया हो सकता है ।

८—दयानन्द भाष्य में 'पज्रहोषिणा' के अर्थ में 'संगत'[२२] और यजुर्वेदभाष्य में[२३] 'पज्र' के अर्थ में 'प्राजित' पदों का प्रयोग ऐसा संकेत देता प्रतीत होता है मानो दयानन्द भाष्य इसे क्रमशः √यज् और 'प्र+√अर्ज' से ले रहे हों । परन्तु उन्होंने इन धातुओं का उल्लेख नहीं किया है ।

९—'संगति' में दो कर्म प्रधान हैं—'गति' और 'प्राप्ति' । ये दोनों अर्थ √पद् से प्राप्त हो जाते हैं । अतः यहाँ √यज् की कल्पना की कोई आवश्यकता प्रतीत [न]हीं होती ।

१०—'पज्रहोषिणा' के व्याख्यान में यास्क ने भी 'पज्र' का अर्थ 'प्राजित' किया है ।[२४] प्र+√अर्ज्-प्राज्-पाज्र-पज्र । डा० सिद्धेश्वरवर्मा ने इस निर्वचन को 'व्यञ्जनों में द्विगुणित शिथिल' माना है ।[२५] वस्तुतः 'प्रार्जन' में प्राप्ति प्रधान है और गति, क्रिया, व्यवहार उसके साधक हैं । अतः यदि यास्कीय निर्वचन में 'प्राजित' को 'पज्र' का अर्थ मानकर इसे √पद् से व्युत्पन्न मान लें तो समस्या सुलझ जाती है ।

११—अवैस्ता में √वज् का अनुरूप धातु √उग् है ।[२६] इसका अर्थ 'शक्तिशाली होना' दिया गया है ।[२७] इससे ज्ञात होता है कि √वज् की गति-बल-प्रधान अथवा औद्धत्य लिए हुए रही होगी ।

१२—'पद' अवैस्ता में मन्त्र और पद्य का द्योतक है ।[२८] अतः √पद् की गति में कोमलता की भावना रही होगी ।

१३—इन दृष्टियों से विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि पज्र की व्युत्पत्ति उसके अर्थ के अनुसार √पद् से भी हो सकती है और √वज् से भी । दयानन्द भाष्य में एक अर्थ को छोड़कर शेष सब अर्थ √पद् की ओर निर्देश करते हैं । दयानन्द भाष्य √वज् की और √पद् की गतियों में कोई भेद नहीं करता है । अपि च—दयानन्द भाष्य ने उत्तरपद में विकार माना है,

११. ऋ. १।५१।१४
१२. ऋ. १।१५८।३
१३. ऋ. १।१९०।५
१४. ऋ. १।१२६।४
१५. ऋ. १।१५८।३
१६. ऋ. १।११६७।६
१७. ऋ. १।१९०।५
१८. वही
१९. ऋ० १।११७।१०
२०. ऋ० १।११६।७
२१. ऋ. १।५१।१४ देखो पज्र शब्द ।
२२. ऋ० ६।५९।४
२३. य० ३३।५०
२४. नि० ५।२२
२५. एया० पृ० ११०
२६. देखो ता० डिसज० पृ० ९६२, ३√उग् पद ।
२७. वही
२८. वही, पृ० १००३, 'पद्' और 'पद' ।

पूर्व पद में नहीं। अतः वहाँ पज्र को पद धातु से ही व्युत्पन्न माना गया है।

१४—स्कन्दस्वामी ने 'पज्र' पद का एक और वैकल्पिक अर्थ दिया है जो 'पज्र' को ग्रिफिथ के समान व्यक्ति-विशेष बताता है।[२९] यह वैकल्पिक अर्थ इस तथ्य की ओर इङ्गित करता प्रतीत होता है कि इस पद का व्यक्तिविशेष का द्योतक अर्थ क्रमशः विकसित हुआ और आरम्भ में यह केवल विशेषण पद रहा हो। अन्य भाष्यकारों के उपर्युक्त अर्थ भी इसी ओर निर्देश करते हैं।

१५—स्कन्दभाष्य में इस प्रकार ... और भी हैं। एक मन्त्र में[३०] 'कण्वाः' ... अर्थ उन्होंने कण्वपुत्र अथवा मेधावी ऋत्विज् किया है। भाष्यकारों के इस प्रकार के अर्थों पर विचार करने से सम्भवतः बहुत से ऐतिहासिक तथ्यों के द्योतक माने जाने वाले पदों के ऐतिहासिक अर्थों के विकास का क्रम पता चल सके।

१६—पज्र के दयानन्द भाष्य के अर्थ 'पज्र' के अन्तर्गत देखें।

[टिप्पणी—प्रस्तुत निर्वचन लेखक के 'दयानन्द सरस्वती के निर्वचन और अर्थकोष' से दिए गए हैं। इस प्रकार के लगभग २०० पदों का विवेचन किया जा चुका है। इस अध्ययन को सर्वाङ्गीण और सर्वोपयोगी तथा प्रामाणिक बनाने की दिशा में विद्वानों के सुझाव आमन्त्रित हैं, जो लेखक के पास ४, हीरापुरी-गोरखपुर के पते पर भेजे जा सकते हैं।]

---

२९. ऋ० १।११६।७ स्कन्द ने इस अर्थ को पौराणिकों का बताया है—अथवा पज्रा अङ्गिरसा उच्यन्ते। तेषामपत्यभूतः पज्रियः। पौराणिका हि कक्षीवन्तमाङ्गिरसं स्मरन्ति। एवमाङ्गिरसामपत्यं त्रयस्त्रिंशत्तमः कक्षीवान्।

३०. ऋ० १।१४।२

वेदों का बन्धन

[*ले० श्री पं० बिहारीलाल जी शास्त्री*]

वेद रहस्यमयी कवितायें हैं। जब आदि सृष्टि के पवित्रात्मा ऋषि समाधि की अन्तिम सीमा पर पहुँचे, तब उनके अन्तरात्मा में जो आनन्द की अनुभूति हुई उसी परा अनुभूति को उन्होंने वैखरी वाणी में व्यक्त किया। कविता के मर्म तक जैसे कवि ही पहुँच पाता है वैसे ही इस वेदवाणी के गूढ़ मर्म तक योगनिष्ठ ही पहुँच पाते हैं। कहा भी है—

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापीयूषपाकोद्भवम्
तल्लभ्यं कविनैव नैव हठतः पाठप्रतिष्ठाजुषाम्।
कासारे दिवसं वसन्नपि पयःपूरं परं पङ्किलम्
कुर्वाणो कमलाकरस्य लभते किं सौरभं सैरिभः॥

भैंसा कमलों के तालाब में रहता हुआ भी कमलों की सुगंध का अनुभव नहीं कर सकता। इसी प्रकार मांसलप्रज्ञ नव्य मीमांसक और सुबुद्धिशून्य श्रौतसूत्रकारों ने वेद के सुन्दर भावों पर ध्यान नहीं दिया।

वचन तो वक्ता के वशवर्त्ती हैं, उनका प्रयोग चाहे जिस प्रसंग में कर दें। विवाह में विरहगीत गाने और मृत्यु पर उल्लासपूर्ण कविता बोलने से गान और कविता के शब्द तो गायक और वक्ता को रोक नहीं सकते।

याज्ञिक सुर भी थे और असुर भी। मनुष्य भी और राक्षस भी। वेदों का प्रचार त्रेता में तो भूमण्डल भर में था। जब हनुमान् जी लंका में गये और सीता को खोजते फिर रहे थे तो उन्होंने ब्रह्मराक्षसों से किये हुए वेदपाठ को सुना—

षडङ्गवेदविदुषां क्रतुप्रवरयाजिनाम्।
शुश्राव ब्रह्मघोषान् स विराजे ब्रह्मरक्षसाम्॥

राक्षसों के यज्ञों में पशुवध, मांसाहुति आदि सब क्रूर कर्म होते थे। यजमान अपनी प्रिय वस्तु ही अपने यज्ञों में प्रयोग करते हैं। ये लोग भी अपने कर्मकाण्ड में वेदमन्त्रों का प्रयोग करते थे।

आज 'पञ्च' कुल और शैव अपने मूर्तिपूजादि ... जो वैदिक सिद्ध चक्र के लिये अप्रासङ्गिक ... पर ...नूः..."। "अश्मा भवतु ते तनूः...।" आदि मन्त्रों का ...योग कर रहे हैं। मुसलमान लोग पशु को मारते समय ...स्मिल्लाह अल्लाहो अकबर" बोलते हैं। क्रूरकर्म में शुभ ...यों का प्रयोग !!

इसी प्रकार जब कुकृत्यों में भी वेदमन्त्र पढ़े जाने लगे तो रूढ़ि बन गई और इन्हीं अच्छी और बुरी रूढ़ियों का संग्रह करनेवाले थे श्रौतसूत्रकार।

इन लोगों ने उस समय के अंधविश्वासपूर्ण क्रूरकर्मों में वेदमन्त्रों का विनियोग स्थायी कर दिया और यह रूढ़ि इतनी प्रबल हो गयी कि वेदमन्त्रों का प्रयोजन केवल इन कर्मों में विनियुक्त होता ही है, लोग ऐसा मानने लगे। वेद विनियोग की बेड़ियों में निगड़ित कर दिये गये।

बड़े-बड़े विद्वान् भाष्यकार भी इन विनियोगों की कैद से वेदों को न निकाल सके !!

इन विनियोगों के कारण वेद में सुन्दर उपदेश तो दब गये, केवल रुढ़िवाद सिर पर सवार हो गया। कैसी-कैसी अंधरीतियाँ थीं सूत्रकारों के समय! और वेदभगवान् के पवित्र वचनों को इन कुरीतियों में सम्मिलित होना पड़ा।

अथर्ववेद के सायणभाष्य को पढ़िये।

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे
प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं
प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥

अ० ३।१६।१॥

इत्यादि ७ मन्त्रों का यह सूक्त प्रातःस्मरणीय है। इसमें मनुष्य को यह शिक्षा दी गयी है कि प्रातःकाल (उषाकाल) में उठकर मनुष्य सूक्त में वर्णित देवताओं (शुभगुणों) का आह्वान करे। अपने अन्दर शुभगुणों की प्राप्ति की इच्छा बनावे। शुभेच्छा वालों के ही सौभाग्य की बढ़ती होती है। प्रातःकाल उठकर शुभगुणों को धारण करके दिनभर व्यवहार करने वालों पर ही भगदेवता (सौभाग्य) प्रसन्न होते हैं। प्रातः उठने वालों के यहाँ घी दूध की बढ़ती होती है।

पर इस शुभोपदेशप्रद सूक्त का कौशिकसूत्र ने क्या विनियोग किया है! शोक!

तथा वर्चस्यकर्मणि स्नातकसिंहव्याघ्रादीनां सप्तानामन्यतमस्य नाभिलोममणिं लाक्षाहिरण्येन वेष्टयित्वा अनन्तसूक्तेन संपात्य अभिमन्त्र्य ... ईरव...ीयात्।

तथा वर्चस्कामानां क्षत्रियादीनां स्नातकादिसप्तमर्माणि प्रच्छिद्य स्थालीपाके प्रक्षिप्य अनेन सूक्तेन संपात्य अभिमन्त्र्य स्थालीपाकेन सह प्राशनम्, संपातिताभिमन्त्रितजलेन प्लावनम्, अवसेचनं च वर्चस्कामस्य कार्यम्। सूत्रितं हि—

"स्नातकसिंहव्याघ्रबस्तवृष्णिवृषभराज्ञाम् नाभिलोमानि" इति प्रक्रम्य प्रातरग्नि (३।१६) गिरावरगराटेषु (६।६९) दिवस्पृथिव्याः (९।१) इति सप्तमर्माणि स्थालीपाके पृक्तान्यश्नात्यकुशलं यो ब्राह्मणो लोहितमश्नीयाद् इति गार्ग्य उक्तो लोममणिः सर्वैराप्लावत्यवसिञ्चति इति कौशिकः (२।४)

सायणभाष्य

अर्थात्—वर्चस् चाहने वाला इस (प्रातरग्निम्) सूक्त से अभिमन्त्रित करके स्नातक सिंहादि सात जीवों में से किसी एक के नाभि-लोमों (बालों) को लाख और सुवर्ण में मढ़कर बाँधे। और वर्चस् चाहने वाला क्षत्रियादि इन उपर्युक्त ७ प्राणियों के मर्मस्थानों को काटकर स्थालीपाक कर अभिमन्त्रित करके खा ले। विचारिये भाष्यलिखित तीनों सूक्तों के मन्त्रों में है कहीं ऐसी गंदी बात? पर वाममार्गी सूत्रकार ने गुलाब के फूलों को घोट दिया गोबर में !!

स्नातक, सिंह एवं राजा को विना मारे उनके मर्म कैसे मिल सकते हैं?

यह है विनियोग-पद्धति जिस पर पौराणिक पंडित दौड़े चले जा रहे हैं। इन विनियोगों ने वेदों के सुन्दर उपदेशों को दबा दिया। कूड़े के ढेर में स्वर्ण छिपाया !! और देखिये—

तथा तत्रैव कर्मसु आभ्यां सूक्ताभ्याम् ऋतुमत्याः स्त्रिया लोहितं रसमिश्रितं कृत्वा संपात्याभिमन्त्र्य प्रादेशिकीमध्यमाङ्गुलिभ्यां प्राश्नीयात् तदुक्तं कौशिकेन—"ऋधङ् मन्त्रस्तदिदासतेति मिश्रधान्यं

भृष्टपिष्टं लोहितालंकृतम् रसमिश्रितमश्नाति अभ्... पुक्षोदुम्बरस्योत्तरतोऽग्नेस्त्रिषु चमसेषु पूर्वाह्णस्य तेजसाग्रम् अन्नस्य प्राशिषम् इति पूर्वाह्णे, मध्यन्दिनस्य तेजसामध्यम् अन्नस्य प्राशिषम् इति मध्यन्दिने, अपराह्णस्य तेजसा सर्वम् अन्नस्य प्राशिषम् इत्यपराह्णे ऋतुमत्याः स्त्रियाः अङ्गुलिभ्याम् लोहितम्" (कौ०३।

अथर्व सायणभाष्य ५।१।

व्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियङ्गुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि (कौ. १।८) ॥

अर्थात्—"ऋधङ् मन्त्र !" इत्यादि मन्त्रों वाले सूक्त से रजस्वला स्त्री के रज (रक्त) को मिश्रधान्य (चावल, जौ, गेहूँ, उपवाक, तिल, प्रियंगु, श्यामाक) के रस के साथ प्रातः, दुपहर, तीसरे पहर विलखन गूलर के चमसों से "पूर्वाह्णस्य तेजसा" आदि मन्त्रों से खाये। शोक! पराकाष्ठा है अघोरपन की !!!

रजस्वला का रक्त भी खिला दिया कौशिक ने !
क्या वेदमन्त्रों में कहीं इस गन्दगी की गन्ध भी है ?
गुलाब का इत्र गन्दी नालियों में मिला दिया !!

और देखिये—

सप्तग्रामलाभकर्मणि अस्य सूक्तस्य विनियोगः। तदुक्तं कौशिकेन—

संवत्सरं स्त्रियमनुपेत्य शुक्त्यां रेत आनीय तण्डुलमिश्रमिति (कौ० ३।५) संवत्सरं ब्रह्मचर्यं कृत्वा रेतस्तण्डुलमिश्रं कृत्वा संपात्याभिमन्त्र्य अश्नातीति तस्यार्थः । सायणभा०, कां० ५ अनु० १ सू. १

अर्थात्—सात गाँव पाने के कर्म में एक वर्ष ब्रह्मचारी रहकर फिर मैथुन कर वीर्य को सीप में रख चावलों के साथ मिलाकर खाये ।

लो देखो वाममार्गी का षड्यन्त्र स्त्री का रज खिलाया, अब पुरुष का वीर्य भी खिला दिया ! ऐसे सूत्र आर्य-विद्वान् तो बना नहीं सकते थे । निश्चय ही यह राक्षस विद्वानों की लीला है । ऐसे घृणित जादू-टोने और टोटके किये जाते थे अथर्ववेद के नाम पर । मन्त्रों के अर्थ श्री सायणाचार्य जी के भी देखें तो ऐसे बेहूदे टोटकों की गंध तक अर्थों में नहीं मिलेगी । यह सूत्रकार का ही षड्यत्र है । ऐसे-ऐसे अश्लील काम भी वेदमन्त्र पढ़कर किये जाने लगे और मन्दमति मीमांसक इन कुकृत्यों में इन मन्त्रों का पढ़

... यागों के कारागार में !

अभी और देखिये घृणित कर्म—

य आत्मदा इति सूक्तं वशाशमनकर्मणि शान्त्युदके अनुयोजयेत् । सूत्रितं हि—"य आ... इति वशाशमनम्" इति प्रक्रम्य शान्त्युदकं कर... तत्रैतत्सूत्रमनुयोजयतीति" (कौ. ५।८)

सायणभाष्य कां. ४ अनु । १ सू० २ ।

अर्थात्—य आत्मदा इस सूक्त को वशाशमन कर्म में विनियुक्त करे ।

तथा संज्ञप्ताया वशाया यदि गर्भो दृश्येत तं गर्भमञ्जलौ गृहीत्वा सूत्रोक्तप्रकारेण अनेन सूक्तेन जुहुयात् । सूत्रितं हि—यद्यष्टापदी स्याद्गर्भमञ्जलौ सहिरण्यं सयवं वा य आत्मदा इति खट्वायां त्र्यरत्न्याग्नौ सकृज्जुहोतीति (कौ० ५।९) !

अर्थात्—मारी हुई वंध्या गाय का यदि गर्भ दीखे तो उसे य आत्मदा इस सूक्त से सुवर्ण वा जौ के साथ अंजलि में लेकर एक बार ही आहुति देवे ।

कहिये है न पूरा राक्षसीकृत्य ?

मुरादाबाद के सनातनधर्म मन्त्रालय ने जो अथर्ववेद सायणभाष्य सहित हिन्दी में प्रकाशित किया है, यह हिन्दी अर्थ उसी के अनुसार है ।

संस्कृत में तो मामला दबा पड़ा था । हिन्दी हो जाने पर अन्य गोहिंसक सम्प्रदायों को गोहत्या वैदिक बताने का प्रोत्साहन मिल गया । यह है वेदप्रचार श्री करपात्री जी के चेलों के द्वारा !!

ऊपर के तीनों सूक्त "प्रातरग्निम्" आदि, "ऋधङ्मन्त्रः" आदि "य आत्मदा" के मूलमन्त्र एवं सायणभाष्य तथा सनातनधर्म यन्त्रालय की हिन्दी टीका सब पूरी पढ़ लीजिये, कहीं इन बीभत्स कार्यों की छाया तक न मिलेगी। पर विनियोग और सूत्रों के जाल में फँसकर सायण जैसे बहुश्रुत आचार्य पर भी मतिकदा घूम गया और वेदों के साथ ये राक्षसी कर्म जोड़ दिये गये !!

करपात्री जी और माधवाचार्य जी, महामहोपाध्याय श्री पं० गिरिधर शर्माजी आदि पौराणिक पण्डित रखते हैं कुछ साहस इन सूत्रों के समाधान का ? करपात्रीजी कहते हैं कि कलियुग में ऐसे यज्ञ बन्द कर दिये गये हैं

आज 'पत्र' [illegible] और [illegible]ण (ने मूर्ति [illegible] [illegible] [illegible] वैदिक [illegible] [illegible]शुओं को कष्ट नहीं होती [illegible] पर [illegible]च्छा, "दुर्जनतोष न्याय से यह सृष्टिक्रम-विरुद्ध आपकी [illegible]त मान ली जाय तब भी क्या गर्भ में भी प्राण [illegible] होते थे ? यदि होते थे तो गर्भ को अग्नि में झोंक [illegible], क्या वह भी पुनः जीवित हो सकेगा ? और [illegible] मांस में प्राण नहीं थे तो पशु मर कैसे जाता था ? क्या बाल और नख काटने से कोई मनुष्य या पशु मर सकता है ?

पौराणिक पण्डित जब तक इन वाममार्गी सूत्रों को साथ लिये रहेंगे तब तक उनकी दशा "पङ्के गौरिव सीदति" सम बनी रहेगी। क्या सत् युग आदि में रजस्वला रजःप्राशन और वीर्यभक्षण में भी दोष नहीं था ?

क्या किसी स्मृति में "अब इनका प्रयोग निषिद्ध है" यह दिखाया जा सकता है ?

एक पशु-वध ही नहीं, सैकड़ों बेहूदा बातें हैं जो इन सूत्रों में भरी पड़ी हैं। इसलिये राक्षसी सूत्र और आर्य-सूत्रों की छाँट करनी होगी।

ऋषि दयानन्द ने भी संस्कार-विधि में सूत्रों का प्रयोग किया है, पर छाँटकर। वेदवचन के अनुसार "तित-उना पुनन्तः" चलनी से छानकर। इन पौराणिकों ने गंदे पानी को ही पिलाना प्रारंभ कर दिया और आज भी पिलाते हैं। इस पानी को शुद्ध करना होगा, नहीं तो अनाचार की बीमारी बढ़ेगी ही। वेद कहते हैं "ऊहब्रह्माणो विचरन्त्यु त्वे" तर्कब्रह्म से विचार करो। मनुजी कहते हैं—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः ॥

जो तर्क से अनुसंधान करता है, वह धर्म को जान सकता है।

निरुक्तकार यास्क कहते हैं—

"मनुष्य वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को न ऋषिर्भविष्यतीति तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छत्। मन्त्रार्थचिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद् यदेव किंचानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति"

अर्थात् ऋषियों के जाने पर देवों से मनुष्यों ने कहा—कि हमारे लिये कौन ऋषि होगा ? तब देवों ने उन्हें कहा, तर्क ही तुम्हारा ऋषि होगा। मंत्रों के अर्थ ऊहा के साथ विचारो, यही ऊहा ऋषि का कार्य करती है। बुद्धि का उपयोग, सदसद्विवेक न होने से अंधेर मच जायेगा। शास्त्र बुद्धि से ऊपर तो बात कह सकता है, पर प्रत्यक्ष बुद्धि का विरोध जहाँ हो वह शास्त्र कैसा ?

ईश्वरीय शास्त्र के अर्थ भी बुद्धियुक्त, तर्कसंगत, और उपादेय [illegible] होने चाहियें।

पौराणिकों ने तर्क को ताक में रख दिया। अंधश्रद्धा से संस्कृत के सब कूड़े-कचरे को सिर पर रख लिया। सदेहतर्क ऋषि दयानन्द ने यह दुर्दशा देख काँट-छाँट कर वैदिक साहित्य को शुद्ध करने की विधि बतायी। वे अपने जीवन में आर्यसाहित्य की छाँट न कर सके, पर विधि बता गये। तथाकथित सनातनधर्मी हों वा आर्य विद्वान्, सबका ही काम है कि वैदिक साहित्य को इस कीचड़ से निकालें।

स्वामीजी ने वेदमाता के बन्धन काट दिये। वेदों की बेड़ी काट उन्हें कैद से छुड़ाया। वाममार्गी सूत्रकार-रूपी शंखासुर के चुराये वेदों को पुनः मुक्त किया। यह है उपकार ऋषि का वैदिक धर्मियों पर। शोक है कि सनातनधर्म के नाम पर श्री करपात्रीजी और उनके साथी वेदों को फिर कैद में रखने पर तुले हुए हैं !!

इन सूत्रों के आधार पर गन्दगी को शामिल कर सनातन-धर्म को विकृत बनाये रखना चाहते हैं।

सनातनधर्म तो मानवमात्र का धर्म है। भूमण्डल के मनुष्यों के लिये अमृत है। उसमें समय-समय पर जो विकृत सामग्री डाली गयी है, उसे निकालकर इस शुद्ध अमृत को संसार के सामने रखो, तो भूमण्डल में फिर सनातनधर्म की पताका फहरा सकती है और यदि किसी में यह क्षमता नहीं है, तो चुप तो रहना चाहिये। आर्यसमाज स्वयं कार्य करेगा।

आर्यभाइयो ! काम बहुत है। जुट पड़ो। पवित्र वेदामृत को इस पौराणिक कीच से निकालकर संसारभर को पिलाओ।

पढ़ो वेद को, हो पढ़ाने के क़ाबिल।
यह अमृत है सबको पिलाने के क़ाबिल ॥

MILITARY BALLA... ...RIG...

[*By Dr. Parmanand, M. A., P. ... D., Mahendra College, Patiala*]

There are various schools of Vedic interpretation; the merits and demer... of which, cannot be discussed here. T... Nairuktas (i. e. the Etymologists) do not accept existence of historical record in the Vedas; while others, including Sayana and the modern European Indologists, clearly proclaim that the vedas contain numerous historical events of the remote ages. This article aims at convincing the modern critic that the vedic age was far superior (as regards the political awakening) to the later period. It is, therefore, better if a few conclusions are drawn from the non-orthodox interpretations.

The martial and other ballads of the Rigveda possess all literary qualities which according to the vedic poets are essential for the ballads. The European Vedic scholars have erroneously styled some verses as "the Ballads Mythology". Even in those verses we find that the facts aimed at making poetry "purely secular" and thus they brought it, out of rigid religion, where past historical events are hinted upon. There is no doubt about it that the so-called mythology of today was in the beginning a factual statement. If all the epithets attributed to various gods are critically examined, they will evidently show the definite and concrete events, depicted by poet's imagination. In reality ... are statements containing empiri... facts. For instance, the close examination of the epithets attributed to AGNI e. g. शुचिकेश, हिरण्यकेश, घृतचक्षु, तिग्मशृङ्ग would reveal, how the poetic imagination has succeeded in transforming the empirical fact. I would not refer to all types of ballads, throwing light on culture and civilization of the people of the Vedic age, in this short article.

Let us proceed with martial ballads. The political status of the society and the spirit of age are precisely revealed here. The Occidental scholars and their followers in India possess an ill-conceived wrong nation that the Rigveda depicts only the beginning of cultural life and thus they could find no consistent political theory in the Vedic age. According to them, the possibility of progressive political conception and institution are denied during that remote period.

But contrary to this, the serious study of the Rigvedic hymns, including martial ballads doubtlessly establishes that the Rigveda records the existence of a great civilisation and culture. It cannot be reasonably called the commencement of a culture. One instance here would suffice to establish

आज 'पत्र' ... और ... ने मूर्ति ... ले ... जो वैदिक ... ...ble ma... ...पर ...rit works and even the study of the epics and the Puranas clearly indicate that the various independent "countries" in India did not have their representative flags. All kings and even the soldiers had their individual flags. In Mahabharata the five sons of Pandu fighting on the same side displayed their individual flags on their cars. In one army, a number of banners, beloning to individual soldiers, is found separately. Flags during those days represented individual and they were never regarded emblems of nation as a whole. This clearly indicates that in India during those days we forget to have one flag for the nation as a whole.

But strangely enough the Rigveda expressly describes that the flag is the emblem of a nation as a whole. The following military ballad expressly states that "all the heroes advanced forward with (one) flag raised—

यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो
यस्मिन् राजा भवति किं चन प्रियम् ।
(RV. VII. 83. 2.)

Similarly elsewhere we are told—
"एता उ त्या उषसः केतुमक्रत (RV. I. 92. 1)

That is, "Dawns raise their one flag and spread abroad their brilliant light." Economy of space does not permit us to multiply instances here. We are frequently told in the Rigveda about Kings and their banners. These pieces of evidence strangely establish that a very advanced state of civilisation is depicted in the Rigveda.

The Rigvedic Aryans valued freedom utmost. The well known phrase "अदीनाः स्याम शरदः शतम्" occuring repeatedly in the Vedas, clearly indicates the Aryan mind. They loved disciplined life and respected law and order. They defeated enemies who were "अयज्वा" (i. e. non-charitable and selfish) but did not uproot them as they invariably granted freedom to all defeated.

This method of Victory was styled as "धर्मविजय". Nationalism and spirit of tolerance were very dear to them. The Aryans did not hate Non-Aryans but they assimilated them. The nationalism of the Rigvedic Aryans was highly broad based where racial projudice could play no part. The strength of the nation did not pertain only to the physical equipment. Spiritual harmony was supreme for them. The under mentioned verse stand as a strong tetsimony to this fact—

विश्वामित्रस्य रक्षति
ब्रह्मेदं भारतं जनम् ॥ (RV. III. 53. 12.)

The freedom of the nation (जनम्) is maintained and protected by the spiritual values (ब्रह्म).

The spiritual strength of the militant nationalism is highly supported again in the Rigveda (VII. 18. 33-83) refering to SUDASA. Value of freedom, sanctity of patriotism and the

broad minded tolerance are again ... described in the Rigveda (X. 103) ... as the national character of the great Aryans. The last four verses of the Rigveda (X. 103) are in reality an exhortation to the soldiers fighting f... freedom of their nation. No compa... son can easily be traced out in any literature of the world.

Verses referring to war again appear in the VI Mandala of the Rigvada. They are very charming and of poetic embelishments. War is often censured and the horrors of war are generally depicted by ancient Indian poets. Readers are well advised to read the first chapters of the Bhagvad-Gita where Arjuna emphatically condemns war and denounces warmongers. But in this chapter of the Rigveda (VI. 57) war is not depicted as a horrible and inhuman hard reality. We are simply astonished to find in the war a charming romance. The following verse deserves mention here—

वक्ष्यन्तीवेदागनीगन्ति कर्णं
प्रियं सखायं परिषस्वजाना ।
योषेव शिङ्क्ते वितताधिधन्वन्
ज्या इयं समने पारयन्ती ॥

(R. VI. 75. 3).

In this verse we find a romantic ... for h... ...s the arrow. The love-message is ...anged by them when the string i... ...rawn to the ear. The ends of the ... in the next verse) are described ... lover and beloved who have their son in the arrow (VI. 75. 4).

Thus a citizen and warrior of the Rigvedic age were not afraid of war but it appeared to them as aesthetic reality and fascinating. A critic has, thus, rightly remarked, "A nation that knows no war, has scarce depth in it."

The part played in the war by cavalry and its importance have been described in the verses of DABHIKRA (RV. VI. 38).

Instances can be multiplied but economy of space resists it. We have illustrated by furnishing a few citations that the theme of the Military ballads is very close to life. The political condition of the country was well-advanced. During Vedic age, the power of a king lay in his army and in the spiritual integrity of his dominion. Therefore, war is poetically analogised. Thus the tender feelings and sentiments began to appear in the field of war.

आज 'पत्र' का... और शैद... ने मूर्ति...हीं दलि...

को वैदिक लिद... त्रक...

...क-समाचार

(१) श्री पं० केदार... जी सारस्वत प्रधान मन्त्री काशी ... मण्डल -- सम्पादक संस्कृत पत्रिका "सुप्रभातम्"—...न मन्त्री भारतीय संस्कृति सम्मेलन—भूतपूर्व प्रधा... मन्त्री अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन—प्रधान सम्पादक संस्कृत मासिक पत्रिका "संस्कृत रत्नाकर"–काशी के उच्चकोटि के विद्वान्—कई पीढ़ियों से प्राचीन संस्कृत साहित्य के उद्धारक—केन्द्रीय भारत सरकार के संस्कृत बोर्ड के सम्माननीय सदस्य का ५ दिसम्बर, शनिवार १९५९ को देहली इरविन हस्पताल में रात्रि के ९ बजे रक्तचाप के भयङ्कर आक्रमण से देहावसान हो गया। उक्त पण्डित जी बड़े ही योग्य–उदार–निर्भीक–सहृदय–त्यागी तपस्वी विद्वान् थे। काशी की एक विभूति उठ गई। काशी के भावि इतिहास में इनका नाम बड़े आदर और गौरव से लिया जायगा।

(२) आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता—विद्वान्–ऋषि-भक्त स्वर्गीय श्री पं० आत्माराम जी अमृतसरी की धर्मपत्नी श्रीमती माता यशोदा देवी जी का ८२ वर्ष की अवस्था में देहान्त २४–११–५९ को बड़ौदा में हो गया जिसे सुनकर आर्यजनता में दुःख हो रहा है। माता जी का जीवन सफल हुआ क्योंकि उन्हें श्री० मा० आत्माराम जी जैसे कर्मठ विद्वान् पति रूप में तथा श्री पं० आनन्दप्रिय जी, पं० शान्तिप्रिय जी, श्री प्रतापचन्द्र जी तथा सुशीला देवी जी जैसी ऋषि-भक्त और कर्मशील सन्तान पुत्र पुत्री रूप में प्राप्त हुए। साढ़े पाँच सौ पौत्रियाँ विदुषी बन रही प्राप्त हुईं।

महर्षि दयानन्द दीक्षा शताब्दी महोत्सव

आगामी २४ दिसम्बर से २८ दिसम्बर तक 'महर्षि दयानन्द दीक्षा शताब्दी महोत्सव' मथुरा में मनाया जा रहा है। सब तैयारियाँ पूर्ण हो चुकी हैं। इस अवसर पर आकर्षक एवं शिक्षाप्रद सम्मेलनों, प्रदर्शनियों, यज्ञ तथा शिविरों के आयोजन किये गये हैं। कार्यक्रम प्रकाशित हो चुका है। तदनुसार सुन्दर सुसज्जनविनिर्मित विरजानन्द नगर में २४ दिसम्बर को प्रातः दीक्षा महायज्ञ का अनुष्ठान होगा। प्रतिदिन प्रातःकाल दीक्षा महायज्ञ, तदनन्तर संगीत, प्रवचन और वेदोपदेश हुआ करेंगे। २४ ता० मध्याह्नोत्तर श्री मेहरचन्द महाजन, भूतपूर्व प्रधान न्यायाधीश, समारोह उद्घाटन करेंगे। सायंकाल भारत सरकार के संचार-प्रसारण मन्त्री श्री बी० वी० केसकर प्रदर्शनी का उद्घाटन करेंगे। रात्रि में आर्य महासम्मेलन होगा। २५ दिसम्बर को गुरुकुल, वृन्दावन का दीक्षान्त समारोह होगा तथा महामहिम राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद जी 'विरजानन्द वैदिक अनुसन्धान भवन' का शिलान्यास करेंगे। सायंकाल विद्वदभिनन्दन समारोह होगा। रात्रि को उत्तरप्रदेश के मुख्य मन्त्री 'आर्यमित्र हीरक जयन्ती समारोह' का उद्घाटन करेंगे। २६ दिसम्बर को वेद-सम्मेलन तथा शिक्षा-सम्मेलन होंगे। २७ दिसम्बर रविवार को दीक्षा-यज्ञ की पूर्णाहुति, महिला-सम्मेलन तथा राष्ट्र रक्षा सम्मेलन का आयोजन किया जायेगा।

विशेष— वेदवाणी के इस अङ्क के पाठकों के हाथ में पहुँचने से पूर्व यह अभूतपूर्व समारोह सम्पन्न हो चुका होगा।

राष्ट्रपति आइसनहावर का भारत-आगमन

अभूतपूर्व स्वागत से राष्ट्रपति प्रभावित

अमेरिकी राष्ट्रपति श्री आइसनहावर भारत-यात्रा के सिलसिले में ९ दिसम्बर को चार दिन के लिये भारत आये। राष्ट्रपति पहली बार ही भारत आये थे। भारतीय जनता द्वारा किये गये अभूतपूर्व स्वागत से वे अत्यन्त प्रभावित हुए। भारतीय प्रधान मन्त्री से राजनीति में वार्तालाप के अतिरिक्त राष्ट्रपति श्री आइसनहावर ने विभिन्न आयोजनों में भाग लिया तथा संसद में भाषण किया। भारतीय जनता की ओर से राष्ट्रपति को हजारों की संख्या में उपहार भेंट किये गये। आशा है इस आगमन से संसार की राजनीति पर विशेषतया भारत की राजनीति पर अच्छा प्रभाव पड़ेगा॥

वाल्मीकिरामायण का भाषानुवाद

[अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, देहली तथा परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी, झरिया]

(वर्ष ११ के अङ्क ११ से आगे)

अयोध्[illegible]

प्रथमः [illegible]

रामाभिषेक[illegible]ध्यायः

गच्छता मातुलकुलं भरतेन महात्मना । [illegible]घ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः ॥ १ ॥
स तत्र न्यवसद् भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः । [illegible]नाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः ॥ २ ॥
तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः । भ्रातरौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ ३ ॥
राजापि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ सुतौ । उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ ॥ ४ ॥
सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभाः । स्वशरीराद्विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः ॥ ५ ॥
तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः । स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ॥ ६ ॥
स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः । अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः ॥ ७ ॥
कौशल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा । यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना ॥ ८ ॥
स हि वीर्योपपन्नश्च रूपवाननसूयकः । भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः ॥ ९ ॥
स तु नित्यं प्रशान्तात्मा मृदु पूर्वं च भाषते । उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते ॥ १० ॥
कथंचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति । न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया ॥ ११ ॥

अयोध्या-काण्ड

पहला सर्ग

राम के राज्याभिषेक का निश्चय

मामा के घर जाते हुए महात्मा भरत, नित्य शत्रुओं को नष्ट करनेहारे शत्रुघ्न को प्रीतिपूर्वक [अपने साथ] ले गए ॥ १ ॥ वे [भरत] वहाँ [मामा के घर में] सत्कारों से सत्कृत और अश्वपति (युधाजित्) मामा से पुत्रसदृश प्रेम से लालित भाई [शत्रुघ्न] के साथ रहने लगे ॥ २ ॥ वहां निवास करते हुए और सब प्रकार की कामनाओं से तृप्त किए गए दोनों भाई वृद्ध राजा दशरथ को स्मरण करते थे ॥ ३ ॥ वे महातेजस्वी राजा [दशरथ] भी बाहर गए हुए महेन्द्र और वरुण के समान भरत और शत्रुघ्न पुत्रों को स्मरण करते थे ॥ ४ ॥ उस [राजा दशरथ] को चारों ही श्रेष्ठ [पुत्र] अपने शरीर से निकले हुए चार बाहुओं के समान इष्ट (प्रिय) थे ॥ ५ ॥ उन चारों में भी महातेजस्वी राम पिता को अधिक आनन्द देनेवाले थे । [वह] प्राणियों में स्वयम्भू (= ब्रह्मा) के सदृश अत्यन्त गुणवान् थे ॥ ६ ॥ वह [राम] अभिमानी रावण के वध की चाहना करनेवाले देवों से प्रार्थित सनातन विष्णु के सदृश मानुष लोक में उत्पन्न हुए थे ॥ ७ ॥ उस अपरिमित तेजवाले पुत्र से कौशल्या [उसी प्रकार] सुशोभित थी जैसे देवों में श्रेष्ठ वज्रपाणि (= इन्द्र) से अदिति शोभित थी ॥ ८ ॥ वे [कौशल्या के] पुत्र [राम] वीर्य से युक्त, रूपवान्, असूया-रहित, पृथिवी पर अनुपम और दशरथ के समान ही थे ॥ ९ ॥ वे [राम] नित्य ही शान्त स्वभाववाले और सदा नम्रतापूर्वक भाषण करनेहारे थे । [किसी के द्वारा] कठोर भाषण करने पर भी कठोर उत्तर नहीं देते थे ॥ १० ॥ [वे] श्रेष्ठात्मा [राम] किसी प्रकार किए गए एक भी उपकार से प्रसन्न होते थे और सैकड़ों अपकारों को भी याद नहीं करते थे ॥ ११ ॥ [वे राम] अस्त्रों के अभ्यासयोग्य काल में शीलवृद्ध,

आज 'पत्र' [illegible] और [illegible] ने मूति[illegible]

को वैदिक [illegible] पर

[illegible] भास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥१२॥
[illegible] यान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥१३॥
[illegible] तकथ [illegible] वृद्धानां प्रतिपूजकः । [illegible] नुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ॥१४॥
[illegible] नुक्रोशो [illegible] ब्राह्मणप्रतिपूजकः । [illegible] नानुकम्पो धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्शुचिः ॥१५॥
[illegible] लोचितमतिः क्षात्त्रं धर्मं स्वं बहु मन्यते । [illegible] पते परया कीर्त्या महत्स्वर्गफलं ततः ॥१६॥
नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः । [illegible] तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥१७॥
अरोगस्तरुणो वाग्ग्मी वपुष्मान् देशकालवित् । लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः ॥१८॥
स तु श्रेष्ठगुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः । बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥१९॥
सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् । इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥२०॥
कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः । वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥२१॥
धर्मार्थकामतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् । लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥२२॥
निभृतः संवृताकारो गुप्तमन्त्रः सहायवान् । अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंग्रहकालवित् ॥२३॥

ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध सज्जनों के साथ ही वार्तालाप करते थे [अन्य समय के विषय में तो कहना ही क्या] ॥ १२ ॥ [वे राम] बुद्धिमान्, मधुर भाषण करनेहारे, प्रथम बोलनेवाले (अर्थात् अहंकार-रहित) प्रियवादी और वीर्यवान् होते हुए भी अपने महान वीर्य से विस्मित नहीं थे ॥ १३ ॥ [वे राम] झूठ बोलनेवाले नहीं थे। विद्वान, वृद्धों की पूजा करनेहारे, प्रजा से अनुरक्त थे। प्रजा भी उनसे प्रसन्न थी (अथवा वे प्रजा के अनुरञ्जन करनेहारे थे) ॥ १४ ॥ [वे] दया से युक्त, क्रोध को वश में रखनेहारे, ब्राह्मणों के पूजक, दीनों पर दया करनेहारे, धर्म को जाननेवाले, [इन्द्रियों के] निग्रह करनेहारे और [सब प्रकार से] पवित्र थे ॥१५॥ [राम] अपने कुल के अनुरूप मतिवाले [और प्रजापालन आदि] क्षात्रधर्म को श्रेष्ठ मानने वाले थे। [क्षात्र धर्म की] उत्तम कीर्ति से ही स्वर्गप्राप्ति रूप फल को [साध्य] मानते थे ॥१६॥ बुरे कर्मों में रत नहीं थे और [धर्म] विरुद्ध कथाओं में रुचि नहीं रखते थे। [वाद-विवाद में] उत्तरोत्तर युक्तियों के कहने में बृहस्पति के समान थे ॥१७॥ [वह राम] रोगरहित, युवा, वाग्ग्मी, श्रेष्ठ शरीर वाले, देश-काल को जाननेहारे, लोक में श्रेष्ठ पुरुषों के जाननेहारे और एकमात्र श्रेष्ठ [पुरुष थे] ॥१८॥ श्रेष्ठ गुणों से युक्त राजपुत्र [राम] प्रजाओं के बाहर रहनेवाले प्राण के समान ही गुणों से अत्यन्त प्रिय थे ॥ १९॥ [वे] भरत से ज्येष्ठ [राम] सब विद्याओं और ब्रह्मचर्य-व्रत में स्नान किये हुए (अर्थात् विद्यास्नातक और व्रतस्नातक), यथार्थ रूप में अङ्गों सहित वेदों के जाननेहारे और इषु आदि अस्त्रों में पिता से भी श्रेष्ठ थे ॥ २० ॥ श्रेष्ठ वंश में उत्पन्न,[1] साधु स्वभाव वाले, दीनता से रहित, सत्य बोलने वाले, कुटिलता-रहित तथा धर्म और अर्थ के जाननेहारे वृद्धों से अच्छे प्रकार शिक्षित, ॥ २१ ॥ धर्म, अर्थ और काम के तत्त्व को जाननेहारे, उत्तम स्मृतिवाले, प्रतिभा से युक्त, लौकिक तथा सामयिक आचारों (=व्यवहारों) में समर्थ, और चतुर, ॥ २२ ॥ वश्यात्मा (=जितेन्द्रिय), संवृत (=ढँके हुए) आकारवाले अर्थात् गम्भीर, सुरक्षित मन्त्र वाले मित्रों से युक्त, जिनका क्रोध और हर्ष व्यर्थ नहीं जाता, त्याग के लिए ही

---

१. मूल में 'कल्याणाभिजन' पद है। महाभाष्यकार ने (४।३।९०) अभिजन और निवास का भेद बताते हुए लिखा है—'जहाँ पूर्वज रहते थे वह अभिजन कहाता है और जहाँ वर्तमान में रहते हैं वह निवास।' प्रकृत श्लोक में अभिजन का यह अर्थ उपपन्न नहीं होता। तिलकटीकाकार ने 'कल्याणों का उत्पत्ति-स्थान', रामायणशिरोमणि-कार ने 'आश्रितों का कल्याण करनेहारा' और गोविन्दराज ने 'उत्तम मातृ-पितृ-वंशवाला' अर्थ किया है।

दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचा[illegible]
शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः । [illegible]
सत्संग्रहप्रग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च । आ[illegible]गुपायज्ञः
श्रैष्ठ्यं शास्त्रसमूहेषु प्राप्तौ व्यामिश्रकेषु च । अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो[illegible]लसः ॥२७॥
वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित् । आ[illegible]हे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम् ॥२८॥
धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसंमतः । अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः ॥२९॥
अप्रधृष्यश्च संग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः । अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी ॥३०॥
न चावमन्ता भूतानां न च कालवशानुगः । एवं श्रेष्ठगुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ॥३१॥
संमतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः । बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्येणापि शचीपतेः ॥३२॥
तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः । गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तैः सूर्य इवांशुभिः ॥३३॥
तमेवं वृत्तसंपन्नमप्रधृष्यपराक्रमम् । लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥३४॥

संग्रह करनेहारे, काल को जाननेवाले ॥ २३ ॥ दृढ़ भक्ति और स्थिर बुद्धिवाले, असद् को ग्रहण न करनेहारे, दुर्वचन न बोलनेवाले, तन्द्रा और प्रमादरहित, अपने और पराए दोषों को जाननेहारे, ॥ २४ ॥ शास्त्रों को जाननेहारे, दूसरे के द्वारा किए गए उपकार को जाननेवाले, पुरुषों के अन्तर (= उच्च-नीच आदि भेद) को जाननेहारे, न्यायानुकूल प्रग्रह[1] (=दुष्टों को दण्ड देना) और अनुग्रह (= कृपा) में चतुर ॥ २५ ॥ सत्पुरुषों के संग्रह और निग्रह (= दुष्ट पुरुषों को दण्ड देने) में देश-काल को जाननेहारे, आय के उपायों को और व्यय के कार्यों को जाननेवाले[2] थे ॥ २६ ॥ शास्त्रों के समूह और व्यामिश्र (संस्कृत, प्राकृत आदि भाषायुक्त नाटकादि)[3] में श्रेष्ठता को प्राप्त, अर्थ और काम को संगृहीत करके सुखी [होते हुए] आलस्य-रहित, ॥ २८ ॥ धनुर्वेद के जाननेहारों में श्रेष्ठ, लोक में अतिरथों से पूजित, शत्रुओं पर चढ़ाई तथा प्रहार करनेहारे, सेना के नयन में चतुर, ॥ २९ ॥ क्रुद्ध हुए देवों और असुरों से भी संग्राम में पराजित न होनेवाले, असूया से रहित, क्रोध पर विजय-प्राप्त, गर्व (= अहंकार) और मत्सर (= लोभ) से रहित, ॥ ३० ॥ प्राणियों का अपमान न करनेहारे और काल के वश में न होनेवाले [थे]। इस प्रकार पार्थिवात्मज (= दशरथ-पुत्र) राम प्रजाओं में श्रेष्ठगुणों से युक्त, ॥ ३१ ॥ वसुधा (= पृथिवी) के क्षमारूप गुण से तीनों लोकों में पूजित, बुद्धि में बृहस्पति के तुल्य और पराक्रम में इन्द्र के समान [थे] ॥ ३२ ॥ प्रजा के प्रिय तथा पिता की प्रीति को उत्पन्न करनेहारे गुणों से राम उसी प्रकार प्रकाशित थे जैसे सूर्य अपनी किरणों से प्रकाशित होता है ॥ ३३ ॥ उपरिलिखित वृत्त (= व्यवहार) से युक्त, अप्रधृष्य (= नष्ट न किए जा सकनेवाले) पराक्रम वाले तथा लोकपालों की उपमावाले रामरूपी स्वामी की पृथिवी कामना करती थी ॥ ३४ ॥ इन उपमारहित बहुत से गुणों से युक्त पुत्र को देखकर शत्रुनाशक

१. गोविन्दराज ने प्रग्रह का अर्थ 'मित्रादि का स्वीकार करना' किया है ।

२. टीकाकारों ने यहाँ नीतिशास्त्र का एक वचन उद्धृत किया है । जिसका अभिप्राय है—'राजाओं को चाहिए कि वे आय के चतुर्थ भाग, अर्धभाग अथवा पौन भाग को व्यय करें ।'

३. यह अर्थ टीकाकारों के मतानुसार है । प्राकृत से यहाँ वर्तमान में प्राकृतपदवाच्य भाषा अभिप्रेत नहीं है, अपितु संस्कृत से भिन्न भाषाओं का ग्रहण करना चाहिए । हनुमान् आदि वानरों की संस्कृत से भिन्न वानरी भाषा थी, यह सुन्दरकाण्ड (३०।१७) के उस प्रसङ्ग से ज्ञात होता है जहाँ अशोक-वाटिका में पहुँचकर हनुमान् विचारता है—यदि मानुषवाक्संस्कृत में बोलूँगा तो सीता मुझे रावण समझकर भयभीत हो जाएगी और यदि वानरी भाषा में बोलूँगा तो सीता समझेगी नहीं ।

आज 'पत्र' ... और ... मूर्ति ... को वैदिक ...

...रथो राजा चक्रे चिन्तां परंतपः ॥३५॥
...रेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति ॥३६॥
...स्य ... वृ...दि संपरिवर्तते । कदा नाम सुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम् ॥३७॥
...द्धिकामो ... सर्वभूतानुकम्पनः । मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान् ॥३८॥
...मशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ । महीधरसमो धृत्यां मत्तश्च गुणवत्तरः ॥३९॥
महीमहमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम् । अनेन वयसा दृष्ट्वा यथा स्वर्गमवाप्नुयाम् ॥४०॥
इत्येवं विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः । शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तरैर्गुणैः ॥४१॥
तं समीक्ष्य महाराजो युक्तं समुदितैः शुभैः । निश्चित्य सचिवैः सार्धं यौवराज्यममन्यत ॥४२॥
दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम् । संचचक्षे च मेधावी शरीरे चात्मनो जराम् ॥४३॥
पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः । लोके रामस्य बुबुधे संप्रियत्वं महात्मनः ॥४४॥
आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च । प्राप्तकाले स धर्मात्मा भक्त्या त्वरितवान् नृपः ॥४५॥
नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि । समानिनाय मेदिन्याः प्रधानान् पृथिवीपतिः ॥४६॥
तान् वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान् । ददर्शालंकृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः ॥४७॥
न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः । त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम् ॥४८॥

राजा दशरथ ने विचार किया, [और] ॥ ३५ ॥ वृद्ध चिरंजीवी राजा [दशरथ] की इच्छा हुई कि राम मेरे जीते जी कैसे राजा बने ॥ ३६ ॥ इन [राजा दशरथ] के हृदय में यह अभिलाषा निरन्तर रहती थी कि कब मैं प्रिय पुत्र [राम] को अभिषिक्त (=राजा हुआ) देखूँगा ॥ ३७ ॥ लोकों (=प्रजाओं) की वृद्धि की इच्छा वाले, सब प्राणियों पर दया करनेहारे, वर्षा करनेहारे मेघ के समान लोक में मेरे से भी अधिक प्रिय, ॥ ३८ ॥ पराक्रम में यम और इन्द्र के समान, बुद्धि में बृहस्पति के समान, धैर्य में पर्वत के समान और मेरे से भी अधिक गुणवान् ॥ ३९ ॥ पुत्र को इस आयु में सारी पृथिवी के अधिष्ठाता रूप में देखकर जिस प्रकार स्वर्ग को प्राप्त होऊँ ॥ ४० ॥ इस प्रकार लोक में अन्य राजाओं में दुर्लभ उन-उन उत्तम विविध गुणों तथा अवशिष्ट (=न कहे गए) अपरिमेय लोकोत्तर गुणों से ॥ ४१ ॥ युक्त उस राम को जानकर महाराज [दशरथ] ने समुदित शुभ गुणों से युक्त मन्त्रियों के साथ निश्चय करके [राम के लिए] युवराजपना स्वीकार किया अर्थात् युवराज बनाने का निश्चय किया ॥ ४२ ॥ मेधावी [राजा दशरथ ने] द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक तथा पृथिवी पर उत्पात-निमित्तक घोर भय और अपनी वृद्धावस्था को देखा, [तथा] ॥ ४३ ॥ पूर्णचन्द्र के समान मुखवाले और स्वीय दुःख को दूर करनेवाले महात्मा राम का लोक में प्रियपन जाना ॥ ४४ ॥ धर्मात्मा राजा [दशरथ] ने अभिषेक समय प्राप्त होने पर अपने और प्रजा के कल्याण के लिए [प्रजाओं की प्रियता तथा भक्ति से प्रेरित होकर [अभिषेकार्थ] शीघ्रता की ॥ ४५ ॥ पृथिवीपति [दशरथ ने] नाना नगरों में रहनेवाले तथा अन्य देश के पृथिवी के प्रधानों (=राजाओं) को [मन्त्रियों के द्वारा] बुलवाया ॥ ४६ ॥ उन [आए हुए जनों] का गृहों तथा विभिन्न अलंकारों से यथायोग्य सत्कार किया और प्रजापति (ब्रह्मा) के समान अलंकृत राजा ने प्रजाओं का अवलोकन किया ॥ ४७ ॥ राजा ने शीघ्रता के कारण केकयराज तथा जनक को नहीं बुलाया, वे दोनों प्रिय [राम के अभिषेक] सुन लेंगे [ऐसा विचार किया] ॥ ४८ ॥ शत्रु के बल के नाश करनेहारे राजा [दशरथ] के आसन पर बैठने के अनन्तर लोक में प्रतिष्ठित अन्य राजाओं ने [अभिषेक-स्थान में]

अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन् परबलाद ...
अथ राज्ञा वितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च । ...
स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्नृपैः ...
उपोपविष्टैर्नृपतिर्वृतो बभौ सहस्रचक्षुर्भगवानिवामरैः ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे रामाभिषेकव्यवसायो नाम प्रथमः सर्गः ॥१॥

द्वितीयः सर्गः

परिषदनुमोदनम्

ततः परिषदं सर्वामामन्त्र्य वसुधाधिपः । हितमुद्धर्षणं चैवमुवाच प्रथितं वचः ॥ १ ॥
दुन्दुभिस्वनकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना । स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥ २ ॥
राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च । उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥ ३ ॥
विदितं भवतामेतद्यथा मे राज्यमुत्तमम् । पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत्परिपालितम् ॥ ४ ॥
सोऽहमिक्ष्वाकुभिः सर्वैर्नरेन्द्रैः परिपालितम् । श्रेयसा योक्तुकामोऽस्मि सुखार्हमखिलं जगत् ॥ ५ ॥

प्रवेश किया ॥ ४९ ॥ तदनन्तर राजा [दशरथ] के द्वारा विविध आसनों के देने पर नीति को जानने-हारे [बाहर से आए हुए राजा लोग] राजा [दशरथ] के अभिमुख बैठे ॥ ५० ॥ वे [राजा दशरथ] सत्कार को प्राप्त हुए और विनययुक्त बैठे हुए राजाओं तथा [अपने] देश के अयोध्या में निवास करने-हारे मनुष्यों से घिरे हुए उसी प्रकार शोभा को प्राप्त हुए जैसे देवों से घिरे हुये भगवान् सहस्राक्ष (=इन्द्र) शोभा को प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्या-काण्ड का 'राम के राज्याभिषेक का निश्चय' विषयक यह प्रथम सर्ग समाप्त हुआ ॥ १ ॥

दूसरा सर्ग

परिषद् का अनुमोदन

तत्पश्चात् राजा [दशरथ] ने सारी परिषद् को बुलाकर हितकारी, हर्षजनक और प्रथित (=सब लोगों के सुनने योग्य) वचन कहा ॥ १ ॥ राजा ने भेरी के शब्द के तुल्य गम्भीर और प्रतिध्वनियुक्त महान् स्वर से मेघ के समान [दिशाओं को] पूरित करते हुए [कहा] ॥ २ ॥ राजा [दशरथ] ने [सभा में एकत्रित] राजाओं से राज-लक्षण से युक्त, मृदु, मधुर और अनुपम (=उपमारहित) स्वर से कहा ॥ ३ ॥ आप लोगों को विदित है कि जिस प्रकार मेरे उत्तम राज्य की मेरे पूर्वज [इक्ष्वाकु प्रभृति] राजेन्द्रों ने पुत्र के समान पालना की है ॥ ४ ॥ सो मैं सम्पूर्ण इक्ष्वाकु कुल के राजाओं से परिपालित सुख-योग्य सम्पूर्ण जगत् को कल्याण से युक्त करना चाहता हूँ ॥ ५ ॥ मैं ने भी पूर्वजों [इक्ष्वाकु प्रभृति] द्वारा

...यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः ॥६॥
आज 'पत्र' ... ...डरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया ॥७॥
...गस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये ॥८॥
... दुर्वहामजितेन्द्रियैः । परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन् ॥९॥
...हं विश्राम... रामं कृत्वा प्रजाहिते । संनिकृष्टानिमान् सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥१०॥
अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैर्ज्येष्ठो ममात्मजः । पुरंदरसमो वीर्ये रामः परपुरंजयः ॥११॥
तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतां वरम् । यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रातः पुरुषपुंगवम् ॥१२॥
अनुरूपः स वै नाथो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः । त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ॥१३॥
अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्येऽहमिमां महीम् । गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन्निवेश्य वै ॥१४॥
यदीदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम् । भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥१५॥
यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद्विचिन्त्यताम् । अन्या मध्यस्थचिन्ता हि विमर्दाभ्यधिकोदया ॥१६॥
इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन् नृपा नृपम् । वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः ॥१७॥
स्निग्धोऽनुनादो संजज्ञे तत्र हर्षसमीरितः । जनौघोद्घुष्टसन्नादो मेदिनीं कम्पयन्निव ॥१८॥

आचरित मार्ग का अनुसरण करते हुए प्रमादरहित होकर यथाशक्ति प्रजा की परिपालना की है ॥ ६॥ मैंने इस शरीर को सम्पूर्ण लोकहित करते हुए श्वेत [राज] छत्र की छाया में बुढ़ापे से युक्त किया है ॥ ७ ॥ अनेक वर्ष सहस्र[1] की आयु को प्राप्त कर जीते हुए बूढ़े शरीर के लिए विश्राम की कामना करता हूं ॥ ८॥ राजाओं के प्रभाव (= शौर्य आदि) से सेवन करने योग्य और अजितेन्द्रिय पुरुषों से धारण न करने योग्य संसार की धर्मरूपी धुरा को ढोता हुआ मैं थक गया हूँ ॥ ९ ॥ इसलिए मैं समीप में विराजमान इन सब द्विजश्रेष्ठों की अनुमति लेकर प्रजा के हित-कार्य में राम को लगाकर विश्राम लेना चाहता हूँ ॥ १०॥ मेरा ज्येष्ठ पुत्र गुणों से मेरे जैसा ही है। शत्रुओं के नगरों को जीतनेवाला राम पराक्रम में इन्द्र के समान है । ॥११ ॥ पुष्य नक्षत्र से युक्त चन्द्र के समान[2] सब कार्यसाधक, धार्मिकों में उत्तम, पुरुषश्रेष्ठ उस राम को कल प्रातः यौवराज्य में नियुक्त करूँगा अर्थात् युवराज बनाऊँगा ॥ १२ ॥ जिस स्वामी को प्राप्त कर तीनों लोक भी स्वामीयुक्त हों ऐसा लक्ष्मण का अग्रज (= ज्येष्ठ भ्राता) श्री, कान्ति आदि से नित्ययुक्त [राम] आपका राजा होने योग्य है ॥ १३ ॥ मैं इस पृथिवी को इस कल्याण [राम] से युक्त शीघ्र ही करूँगा । उस पुत्र [राम] के आधीन [प्रजा-पालन-कर्म] करके [राज्य-रक्षण] क्लेश से मुक्त होऊँगा ॥ १४ ॥ यदि यह विचार मेरे अनुरूप और उचित हो तो आप मुझे अनुमति देवें, अथवा मैं कैसे कार्य करूँ, यह बतावें ॥ १५ ॥ यद्यपि यह मेरी प्रीति का विषय है फिर भी जो अन्य हितकारी [कार्य] हो उसका [आप लोग] विचार करें। पूर्वापर पक्ष के संघर्ष से मध्यस्थरूप से स्थापित विचार श्रेष्ठ तथा कल्याणकारी होता है ॥ १६ ॥ इस प्रकार कहते हुए राजा दशरथ की प्रसन्न हुए राजाओं ने उसी प्रकार प्रशंसा की जैसे बरसते हुए महामेघ के शब्द को सुनकर मोर प्रसन्न होते हुए ध्वनि करते हैं ॥ १७॥ वहाँ [राजभवन में प्रजाओं के] हर्ष से उत्पन्न स्नेहयुक्त प्रतिध्वनि हुई और वह प्रतिध्वनि पृथ्वी को कम्पायमान करती हुई सी प्रतीत हुई ॥ १८ ॥ उस धर्म और अर्थ के विद्वान् [राजा दशरथ] के भाव को

---

१. टीकाकारों ने साठ हजार वर्ष की आयु लिखी है । सम्भवतः दशरथ ने ६० वर्ष राज्य किया होगा ?

२. टीकाकारों ने इस श्लोक का यह भी अर्थ किया है—'चन्द्र के समान प्रिय...... राम को कल पुष्य नक्षत्र से युक्त प्रातःकाल युवराज बनाऊँगा ।

तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः । [illegible]
समेत्य मन्त्रयित्वा तु समतां गतबुद्धयः । उचुश्च [illegible]
अनेकवर्षसाहस्रो* वृद्धस्त्वमसि पार्थिव । स रामं युवराजानमभिषि[illegible]
इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम् । गजेन महता यान्तं रामं [illegible]वृतानदम् ॥२२॥
इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम् । अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत् ॥२३॥
श्रुत्वैव वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ । राजानः संशयोऽयं मे किमिदं ब्रूत तत्त्वतः ॥२४॥
कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति । भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं ममात्मजम् ॥२५॥
ते तमूचुर्महात्मानं पौरजानपदैः सह । बहवो नृप कल्याणा गुणाः पुत्रस्य सन्ति ते ॥२६॥
गुणान् गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः । प्रियानानन्दनान् कृत्स्नान् प्रवक्ष्यामोऽद्य तान्शृणु।२७।
दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः । इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशांपते ॥२८॥
रामः सत्पुरुषो लोके सत्यधर्मपरायणः । साक्षाद्रामा[illegible]निर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह ॥२९॥
प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः । बुद्ध्या बृह[illegible]तेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः॥३०॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च शीलवाननसूयकः । क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः।३१।
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः । प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ॥३२॥

भली प्रकार जानकर [वसिष्ठ आदि] ब्राह्मणों और राजाओं ने नगर और राज्य के लोगों के साथ मिलकर विचार करके समान बुद्धि (= विचार) को प्राप्त हो मन से निश्चय करके वृद्ध राजा दशरथ से कहा— ॥ १९-२० ॥ हे राजन् ! आप अनेक सहस्र वर्षों के वृद्ध हैं [इसलिए] राम को यौवराज्य पद पर अभिषिक्त कर देवें ॥ २१ ॥ हम लोग हाथी पर चढ़कर जाते हुए छत्र से ढँके मुँहवाले अर्थात् युवराज बने हुए महा बलवान् रघुवीर राम को देखना चाहते हैं ॥ २२ ॥ मन को प्रिय लगनेवाला वचन सुनकर राजा [दशरथ] ने जानने की इच्छा से अनजान की तरह यह वचन कहा—॥ २३ ॥ हे राजाओ ! मेरे उक्त वचन को सुनकर राघव (= राम) को राजा बनाना चाहते हो [इससे] मुझे यह संशय हो गया है, उसका ठीकठीक उत्तर दो ॥ २४ ॥ धर्मपूर्वक पृथिवी की पालना करते हुए मेरे वर्तमान होने पर भी आप लोग महाबली [राम] को युवराज रूप में क्यों चाहते हो ॥ २५ ॥ नगर और देश के प्रमुखजनों के साथ वे राजा लोग बोले—राजन् ! तुम्हारे पुत्र में [प्रजा के] कल्याणकारक बहुत से गुण हैं ॥ २६ ॥ हे देव ! [राजन्] देवों के समान गुणवाले बुद्धिमान् [राम] के प्रिय और आनन्द के देने वाले सब गुणों को आज [हम] कहेंगे, आप उन्हें सुनें ॥ २७ ॥ हे प्रजाओं के स्वामिन् ! दिव्य गुणों से युक्त, इन्द्रतुल्य, सत्यपराक्रमी राम इक्ष्वाकु कुल के सब राजाओं में श्रेष्ठ हैं ॥ २८ ॥ लोक में सत्य-परायण राम वस्तुतः श्रेष्ठ पुरुष हैं । लक्ष्मी के साथ धर्म भी साक्षात् राम से ही प्रकट हुआ है ॥ २९ ॥ प्रजा को सुख देने में चन्द्र के तुल्य, क्षमारूपी गुणों में पृथिवी के समान, बुद्धि में बृहस्पति और पराक्रम में साक्षात् इन्द्र के समान हैं ॥ ३० ॥ [राम] धर्म को जाननेहारे, सत्य प्रतिज्ञावाले, शीलयुक्त, असूया से रहित, शान्त, दुःखियों को सांत्वना देनेवाले, प्रिय वचन बोलनेवाले कृतज्ञ और जितेन्द्रिय [हैं] ॥ ३१ ॥ राम सदा सरल, स्थिरचित्त, कुशल, असूयारहित, प्रजा से प्रिय बोलनेवाले और सत्यवादी हैं ॥ ३२ ॥ विविध शास्त्रों के पारङ्गत, वृद्ध ब्राह्मणों के उपासक (= सेवक) हैं । इसलिए इनकी लोक में अतुल कीर्ति और

---

* '—वयस' इति सम्यक्तरं स्यात् ।

[illegible] [illegible]स्येहातुला कीर्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते ॥३३॥
[illegible] । सम्यग्विद्याव्रतस्नातो यथावत्साङ्गवेदवित् ॥३४॥
[illegible] बभूव भरताग्रजः । कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ॥३५॥
[illegible]रभिविनीतः [illegible]श्रेष्ठैर्धर्मार्थनैपुणैः । यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ॥३६॥
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते । संग्रामात्पुनरागम्य कुञ्जरेण रथेन वा ॥३७॥
पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति । पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ॥३८॥
निखिलेनानुपूर्व्या च पिता पुत्रानिवौरसान् । शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चित्कर्मसु दंशिताः ॥३९॥
इति नः पुरुषव्याघ्रः सदा रामोऽभिभाषते । व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ॥४०॥
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति । सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ॥४१॥
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मना श्रितः । सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विगृह्य कथारुचिः ॥४२॥
उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा । सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद्विष्णुरिव स्वयम् ॥४३॥
रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः । प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ॥४४॥
शक्तस्त्रैलोक्यमप्येको भोक्तुं किं नु महीमिमाम् । नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन ॥४५॥
हन्त्येव नियमाद्वध्यानवध्येषु न कुप्यति । युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ॥४६॥

तेज (= प्रभाव) बढ़ रहा है ॥ ३३ ॥ ये देव, असुर और मनुष्यों के प्रसिद्ध सब शस्त्रास्त्रों में प्रवीण हैं। अच्छे प्रकार विद्या और व्रत में स्नातक (अर्थात् विद्यास्नातक-व्रतस्नातक) तथा यथार्थ रूप से साङ्गवेद के जाननेवाले हैं ॥ ३४ ॥ भरत के अग्रज राम गान्धर्व-विद्या (= संगीत) में कुशल हैं, श्रेष्ठ पुरुषों के वासस्थान (= आश्रय) हैं। स्वयं साधु और क्षोभरहित हैं ॥ ३५ ॥ धर्म और अर्थ के प्रतिपादन में निपुण, श्रेष्ठ द्विजों से सुरक्षित राम लक्ष्मणसहित जब ग्राम या नगर के हित के लिए संग्राम में जाते हैं तब उसमें विजय प्राप्त किये बिना नहीं लौटते। संग्राम से रथ अथवा हाथी द्वारा लौटकर ॥ ३६-३७ ॥ आत्मीय जनों के समान नगरनिवासियों से उनके स्त्री, पुत्र, भृत्य, शिष्य और अग्नि-संबन्धी कुशल पूछते हैं ॥ ३८ ॥ पिता औरस पुत्रों से जिस प्रकार [कुशल] पूछता है उसी प्रकार राम क्रम से सबसे पूछते हैं—क्या तुम्हारे शिष्य धर्म में दत्तचित्त होकर सेवा करते हैं ॥ ३९ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ (दशरथ) इस प्रकार राम सदा हमारे साथ संभाषण करते हैं और प्रजा के दुःखों से स्वयं अतिदुःखित होते हैं तथा ॥ ४० ॥ उत्सव के समय पिता के समान प्रसन्न होते हैं। [राम] सदा सत्य बोलनेवाले, महाधनुर्धारी, वृद्धों की सेवा करनेहारे, जितेन्द्रिय ॥ ४१ ॥ हँसकर बोलनेवाले, सब प्रकार के धर्म का आश्रय करनेहारे, कल्याण के कार्य करनेवाले, विरोधपूर्वक कथन में रुचि न रखनेवाले ॥ ४२ ॥ उक्ति-प्रत्युक्तियों में वाचस्पति के समान वक्ता, अच्छी भ्रूवाले, विशाल और ताम्रवर्ण के नेत्रोंवाले, साक्षात् विष्णु के समान ॥ ४३ ॥ प्रजाओं को प्रसन्न करनेवाले, शौर्य, वीर्य और पराक्रम से प्रजा के पालन में दत्तचित्त, राग (= अज्ञान) से अनुपहत (= अनाकृष्ट) इन्द्रियवाले ये राम ॥ ४४ ॥ तीनों लोकों की पालना में समर्थ हैं, इस पृथिवी की पालना के विषय में तो क्या कहना। इस [राम] का क्रोध और प्रसन्नता कभी निरर्थक नहीं होती ॥ ४५ ॥ नियमपूर्वक हिंसनीय को मारते ही हैं (चाहे वह आत्मीय जन भी क्यों न हो) और अवध्यों पर क्रोध नहीं करते। जिस पर प्रसन्न होते हैं उसको धन-धान्य से युक्त करते हैं ॥ ४६ ॥ सम्पूर्ण प्रजा के प्रिय और मनुष्यों की प्रीति बढ़ानेहारे, शान्त गुणों से राम रश्मियों से युक्त सूर्य

शान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम् [illegible] ॥
तमेवंगुणसंपन्नं रामं सत्यपराक्रमम् । लोकपा[illegible]
वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघव । दिष्ट्या पुत्रगुणैर्युक्तो मा[illegible]
बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः । देवासुरमनुष्येषु गन्धर्वेषूरगे[illegible]
आशंसन्ते जनाः सर्वे राष्ट्रे पुरवरे तथा । आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदा जनः ॥५१॥
स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः । सर्वान् देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः ॥५२॥
तेषां तद्याचितं देव त्वत्प्रसादात्समृद्ध्यताम् । राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ॥५३॥
पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥

तं देवदेवोपममात्मजं ते सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥ ॥५४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे परिषदनुमोदनं नाम द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

पुत्रानुशासनम्

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः । प्रतिगृह्याब्रवीद्राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥
अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम । यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥ २ ॥

के समान शोभा को प्राप्त हैं ॥ ४७ ॥ इस प्रकार के गुणों से युक्त लोकपालों की उपमावाले सत्यपराक्रमी राम को पृथिवी राजा के रूप में चाहती है ॥ ४८ ॥ हे राघव [दशरथ] तुम्हारे भाग्य से ही [प्रजा-रक्षणरूपी] श्रेय में समर्थ यह राम पुत्र रूप से उत्पन्न हुए हैं और भाग्य से ही मरीचिपुत्र कश्यप के समान पुत्रगुणों से युक्त हैं ॥ ४९ ॥ अति प्रसिद्ध राम के बल, आरोग्य और आयु की देव, असुर, मनुष्य, गन्धर्व, उरग (= नाग) आदि में ॥ ५० ॥ विद्यमान प्रत्येक जन कामना करता है और राष्ट्र तथा पुर में जितने भी आन्तरिक (= सेवक आदि) तथा बाह्य नगर और जनपद के मनुष्य तथा ॥ ५१ ॥ वृद्ध, युवा, सभी स्त्रियाँ सायं-प्रातः एकाग्रचित्त होकर मनस्वी राम के लिए देवों को नमस्कार करती हैं तथा राम के कल्याण की कामना करती हैं ॥ ५२ ॥ सब शत्रुओं के नाश करनेहारे, इन्दीवर-श्याम आपके पुत्र राम को युवराज देखना चाहते हैं ॥ ५३ ॥ हे वरद (= वर के देनेहारे) आपके देवदेवोपम पुत्र जो सबके हित में रत हैं, उन उदार और प्रिय पुत्र को हमारे हित के लिए प्रसन्नतापूर्वक अभिषिक्त करें ॥ ५४ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड का 'परिषद् का अनुमोदन' विषयक यह द्वितीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ २ ॥

तीसरा सर्ग

पुत्र को उपदेश

उन राजाओं की सब ओर से बद्ध अञ्जलियों को स्वीकार कर राजा [दशरथ] ने उनसे प्रिय और हितकारी वचन कहा ॥ १ ॥ अहो ! मैं परम प्रसन्न हूँ, मेरा प्रभाव अतुल है जो [आप लोग] मेरे ज्येष्ठ और प्रिय पुत्र [राम] को युवराज बना देखना चाहते हो ॥ २ ॥ इस प्रकार [नगर और जनपद के

व[illegible] वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम् ॥ ३ ॥
[illegible] । यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥ ४ ॥
[illegible] जनघोषो महानभूत् । शनैस्तस्मिन् प्रशान्ते च जनघोषे नराधिपः ॥ ५ ॥
[illegible] राजा वचनमब्रवीत् । अभिषेकाय रामस्य यत्कर्म सपरिच्छदम् ॥ ६ ॥
तदद्य भगवान् सर्वमाज्ञापयितुमर्हति । तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो द्विजसत्तमः ॥ ७ ॥
आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान् युक्तान् कृताञ्जलीन् । सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन् सर्वौषधीरपि ॥ ८ ॥
शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक्च मधुसर्पिषी । अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥ ९ ॥
चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम् । चामरव्यजने श्वेते ध्वजं छत्रं च पाण्डरम् ॥ १० ॥
शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम् । हिरण्यशृङ्गमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च ॥ ११ ॥
उपस्थापयत प्रातरग्न्यगारं महीपतेः । यच्चान्यत्किंचिदेष्टव्यं तत्सर्वमुपकल्प्यताम् ॥ १२ ॥
अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च । चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राणहारिभिः ॥ १३ ॥
प्रशस्तमन्नं गुणवद्दधिक्षीरोप[illegible]म् । द्विजानां शतसाहस्रं यत्प्रकाममलं भवेत् ॥ १४ ॥
सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम् । घृतं दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः ॥ १५ ॥
सूर्येऽभ्युदितमात्रे श्वो भविता स्वस्तिवाचनम् । ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्तां कल्प्यन्तामासनानि च ॥ १६ ॥
आबध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम् । सर्वे च तालावचराः* गणिकाश्च स्वलंकृताः ॥ १७ ॥

प्रमुख लोगों को] प्रत्यर्चित (=प्रसन्न) करके उनके सुनते हुए वसिष्ठ और वामदेव आदि ब्राह्मणों से कहा ॥ ३ ॥ पुष्पित हो गए हैं वन जिसमें ऐसी शोभा-कान्ति से युक्त यह पवित्र चैत्र मास है [इसलिए] राम के यौवराज्य के लिए सब सामग्री तैयार करो ॥ ४ ॥ राजा के वचन समाप्त होने पर महान् जन-घोष हुआ । उस जनघोष के धीरे-धीरे शान्त होने पर राजा ने ॥ ५ ॥ मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठ से कहा—राम के अभिषेक के लिए जो कार्य और उपकरण (=सामग्री) [होनी चाहिए] उस सबकी आप आज्ञा करें। राजा का यह वचन सुनकर द्विजश्रेष्ठ वसिष्ठ ने ॥ ७ ॥ राजा के सम्मुख हाथ जोड़े सावधान बैठे हुए मन्त्रियों को आदेश दिया—सुवर्ण आदि रत्न, बलि की सामग्री और सब ओषधियाँ ॥ ८ ॥ सफेद पुष्प की मालाएँ, खीलें, शहद और घृत पृथक्-पृथक्, नए वस्त्र, रथ और सब शस्त्र ॥ ९ ॥ चारों अङ्गों से युक्त सेना, शुभ लक्षणवाला गज, श्वेत चामर और पंखा, श्वेत छत्र और ध्वजा ॥ १० ॥ अग्नि के समान चमकवाले सुवर्ण से निर्मित सौ घड़े, हिरन का सींग, वृषभ का चर्म और सम्पूर्ण (=नखादि सहित) व्याघ्र चर्म ॥ ११ ॥ [इन सब वस्तुओं को] प्रातः महाराज की अग्निशाला में उपस्थित करो और भी जो कुछ चाहिए सब तैयार करो ॥ १२ ॥ अन्तःपुर और नगर के सब द्वार चन्दन, माला और नासिका को हरनेवाले धूपों से शोभित करो ॥ १३ ॥ अत्यन्त श्रेष्ठ, उत्तम संस्कारयुक्त, दही और दूध जिसमें ऊपर से सींचा गया है ऐसा अन्न [तैयार करो] जो एक लाख द्विजों के लिए पर्याप्त हो ॥ १४ ॥ प्रातःकाल श्रेष्ठ ब्राह्मणों का सत्कार करके उन्हें घृत, दही, खीलें और पर्याप्त दक्षिणा भी दो ॥ १५ ॥ कल प्रातःकाल सूर्योदय के साथ ही स्वस्तिवाचन होगा । ब्राह्मणों को निमन्त्रण दो, उनके बैठने के लिए आसन तैयार करो ॥ १६ ॥ [सब ओर] पताकाएँ (=झण्डियाँ) बाँधो, सड़कें पानी से तर करो । सब नर्तक और अलंकृत गणिकाएँ ॥ १७ ॥ राजप्रासाद की दूसरी कक्षा में ठहरें । सब देवायतन

---

* 'गायकाश्च' इति सम्यक्तरं स्यात् ।

कक्ष्यां द्वितीयामाश्रित्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनः ... ॥
उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्ययोग्याः पृथक् पृथक् । दीर्घा... ॥
महाराजाङ्गणं सर्वे प्रविशन्तु महोदयम् । एवं व्यादिश्य विप्रा ता... ॥
चक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय निवेद्य च । कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य...
यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विजर्षभौ । ततः सुमन्त्रं द्युतिमान् राजा ... नमब्रवीत् ॥२२॥
रामः कृतात्मा भवता शीघ्रमानीयतामिति । स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात् ॥२३॥
रामं तत्रानयांचक्रे रथेन रथिनां वरम् । अथ तत्र ...नासीनास्तदा दशरथं नृपम् ॥२४॥
उपविष्टाश्च सचिवा राजानश्च सनैगमाः । प्राच्योदीच्याः प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः २५
म्लेच्छाश्चार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः । उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा इव वासवम् ॥२६॥
तेषां मध्ये स राजर्षिर्मरुतामिव वासवः । प्रासादस्थो दशरथो ददर्शायान्तमात्मजम् ॥२७॥
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् । दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम् ॥२८॥
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् । रूपौदार्यगु...पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम् ॥२९॥
धर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः । न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः ॥३०॥
अवतार्य सुमन्त्रस्तं राघवं स्यन्दनोत्तमात् । पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात् ॥३१॥
स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं नरपुंगवः । आरुरोह नृपं द्रष्टुं सह सूतेन राघवः ॥३२॥

और चैत्य (= चतुष्पथ) स्थानों में अन्न (= चावल) भक्ष्य (= मालपूवे आदि) और दक्षिणा के सहित ॥ १८ ॥ माला से सत्कारयोग्य [ब्राह्मण] पृथक्-पृथक् उपस्थित किए जाएँ। लम्बी तलवार बांधे और कवच पहने हुए प्रसन्नचित्त योद्धा लोग ॥ १९ ॥ सब महाराज के उत्सव-विशिष्ट आँगन में प्रवेश करें। इस प्रकार उन दोनों [क्रिया में] कुशल विप्रों (= वसिष्ठ, वामदेव) ने आदेश देकर ॥ २० ॥ जो शेष [स्वयं करने योग्य] कार्य था उसे राजा से निवेदन करके किया और प्रसन्न तथा हर्षित द्विजोत्तमों (= वसिष्ठ, वामदेव) ने राजा के समीप जाकर 'वचनानुसार सब कार्य कर दिया' ऐसा कहा। उसके पश्चात् तेजस्वी राजा [दशरथ] ने सुमन्त्र से कहा ॥ २१, २२ ॥ आप कल्याण बुद्धिवाले (= अथवा धर्मात्मा) राम को शीघ्र लाएँ। सुमन्त्र राजा की आज्ञा से वैसा करना स्वीकार करके ॥ २३ ॥ रथियों में श्रेष्ठ राम को वहाँ [राजा के समीप] रथ में बैठाकर लाये। उस समय उस स्थान में राजा दशरथ के ॥ २४ ॥ समीप बैठे हुए सचिव और पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण के प्रधान नागरिकों के सहित राजा लोग तथा वन और पर्वतों में रहनेवाले म्लेच्छ और आर्य राजा उसी प्रकार सेवा कर रहे थे जैसे देव लोग इन्द्र की करते हैं ॥ २५, २६ ॥ उनके बीच में वह राजर्षि [दशरथ] ऐसे लगते थे जैसे मरुतों के मध्य वासव (= इन्द्र) विराजमान हों। महल में स्थित दशरथ ने आते हुए पुत्र [राम] को देखा ॥ २७ ॥ गन्धर्वराज के समान, लोक में प्रसिद्ध पराक्रमी, दीर्घबाहु, महात्मा, मत्त हाथी की चालवाले ॥ २८ ॥ चन्द्रकान्त-मणि के समान मुखवाले, अतीव प्रिय दर्शन वाले रूप और उदारता आदि गुणों से पुरुषों की दृष्टि आकर्षित करनेवाले ॥ २९ ॥ गरमी से सन्तप्त प्रजा को जैसे मेघ आह्लादित करता है वैसे ही प्रजा को प्रसन्न करनेहारे राम को आते हुए देखकर राजा दशरथ तृप्त नहीं हुए ॥ ३० ॥ सुमन्त्र उत्तम रथ से राम को उतारकर पिता के समीप जाते हुए राम के पीछे हाथ जोड़कर चले ॥ ३१ ॥ कैलाश के शृङ्ग के समान कान्तिवाले राजप्रासाद पर राजा दशरथ को देखने के लिए सूत के सहित नरश्रेष्ठ [राम] चढ़े

न[illegible] श्रावयन् रामो ववन्दे चरणौ पितुः ॥३३॥
[illegible] गृह्याञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम् ॥३४॥
[illegible]णिकाञ्चनभूषितम् । दिदेश राजा रुचिरं रामाय वरमासनम् ॥३५॥
[illegible] व्यदीपयत राघवः । स्वयेव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः ॥३६॥
तेन विभ्राजता [illegible] सा सभाभिव्यरोचत । विमलग्रहनक्षत्रा शारदी द्यौरिवेन्दुना ॥३७॥
तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम् । अलंकृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम् ॥३८॥
स तं सस्मितमाभाष्य पुत्रं पुत्र[illegible]ः । उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव काश्यपः ॥३९॥
ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः । उत्पन्नस्त्वं गुणश्रेष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ॥४०॥
यतस्त्वया प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः । तस्मात्त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ॥४१॥
कामतस्त्वं प्रकृत्यैव विनीतो गुणवानसि । गुणवत्यपि तु स्नेहात्पुत्र वक्ष्यामि ते हितम् ॥४२॥
भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जिते[illegible]ः । कामक्रोधसमुत्थानि त्यजेथा व्यसनानि च ॥४३॥

[और राम ने] ॥ ३२ ॥ पिता के स[illegible]हुँच, हाथ जोड़कर झुककर अपना नाम सुनाते[1] हुए पिता के चरण छुए ॥ ३३ ॥ राजा ने [अपने] स[illegible]प में राम को हाथ जोड़कर प्रणाम करते हुए देखकर, हाथ से पकड़ और अपने समीप खींचकर प्रियपुत्र का आलिङ्गन किया ॥ ३४ ॥ राजा ने उस राम को [भृत्यद्वारा] प्राप्त कराए गए दर्शनीय, मणि और सुवर्ण से सुभूषित रुचिर श्रेष्ठ आसन पर बैठने के लिए कहा ॥ ३५ ॥ उस श्रेष्ठ आसन पर बैठकर राम ने उस [आसन] को इस प्रकार शोभायमान किया जैसे विमल रवि उदयकाल में अपनी ही प्रभा से मेरु को प्रकाशित करता है ॥ ३६ ॥ उस राम के प्रकाश से वह सभा उसी प्रकार शोभायमान हुई जैसे शरद् ऋतु का ग्रह-नक्षत्रयुक्त विमल आकाश चन्द्र से शोभायमान होता है ॥ ३७ ॥ राजा उस प्रिय आत्मज राम को देखते हुये उसी प्रकार अत्यन्त प्रसन्न हुए जैसे दर्पण के तल पर दिखाई पड़ने वाले अपने अलंकृत स्वरूप को देखकर कोई प्रसन्न होता है ॥ ३८ ॥ वह पुत्रवान् पुरुषों में श्रेष्ठ राजा दशरथ पुत्र से मुस्कराते हुए उसी प्रकार बोले, जैसे देवेन्द्र से [उसके पिता] कश्यप बोले थे ॥ ३९ ॥ तुम मेरी योग्य ज्येष्ठ पत्नी में मेरे योग्य गुणों में श्रेष्ठ प्रिय पुत्र उत्पन्न हुए हो ॥ ४० ॥ जिस कारण तुमने अपने गुणों से इस प्रजा को अनुरञ्जित (= प्रसन्न) किया है, इसलिए तुम पुष्यनक्षत्र के योग में युवराजपन को प्राप्त होओ ॥ ४१ ॥ यद्यपि तुम स्वभाव से ही विनीत और गुणवाले हो, तथापि स्नेहवश गुणवान् होने पर भी तुम्हारे हित के लिए कहता हूँ ॥ ४२ ॥ तुम अधिक विनय को धारण करके नित्य जितेन्द्रिय बनो और काम-क्रोध से उत्पन्न व्यसनों को छोड़ दो ॥ ४३ ॥ प्रत्यक्ष और परोक्ष वृत्ति को धारण

१. प्राचीन परिपाटी के अनुसार अभिवादन करते समय 'अभिवादये रामोऽहम्भोः' इस प्रकार बोलना होता था । 'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्य च । श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठपुत्रकलत्रयोः ॥' अर्थात् कल्याण की कामनावाला अपना, गुरु का, कृपण पुरुष का, ज्येष्ठ पुत्र का और पत्नी का नाम उच्चारण न करे । यह नियम बहुत आधुनिक है । रामायण-महाभारत आदि पढ़ने से पता चलता है कि उस समय गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, स्त्री-पुरुष सभी परस्पर एक दूसरे का नाम बिना किसी संकोच के लेते थे ।

२. मनुस्मृति अ० ७।४७,४८ में राजा को छोड़ने योग्य काम और क्रोध से उत्पन्न दोष इस प्रकार गिनाए हैं—

कामजः—१—शिकार खेलना, २—जुआ खेलना, ३—दिन में सोना, ४—दूसरे की झूठी निन्दा करना, ५—स्त्रियों में आसक्ति, ६—मदकारी वस्तु का सेवन, ७—निकम्मे गाने, ८—बजाने, ९—नाचने आदि का अवलोकन, १०—निरुद्देश घूमना, ये दस व्यसन हैं ।

परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया [illegible] अमा[illegible]
गोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा सन्निचयान् बहून्। तुष्टा[illegible]
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः। तस्मात्पुत्र त्वमात्मान[illegible]
तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः। त्वरिताः शीघ्रमभ्येत्य कौस[illegible]
सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च। व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौ[illegible] प्रमदोत्तमा ॥४८॥
अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघव[illegible] ययौ स्वं द्युतिमद्वेश्म जनौघैः परिपूजितः ॥४९॥
ते चापि पौरा नृपतेर्व[illegible]स्तच्छ्रुत्वा[illegible]भमिवेष्टमाशु।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा देवान् समानर्चुरतिप्रहृष्टाः ॥५०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे पुत्रानुशासनं नाम तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

चतुर्थः स[र्गः]

मात्राशीःपरिग्रह[ः]

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः। मन्त्रयि[त्वा त]तश्चक्रे निश्चयज्ञः सुनिश्चयम् ॥ १ ॥
श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः। रामो राजीवपत्राक्षो युवराज इति प्रभुः ॥ २ ॥

करके अमात्य आदि सब प्रकृतियों को[1] प्रसन्न करो ॥ ४४ ॥ गौ [आदि पशु] और आयुधों के संग्रहालयों द्वारा इन वस्तुओं का पर्याप्त संग्रह करके प्रसन्न और अनुकूल प्रकृति (=प्रजा-अमात्य आदि) वाला जो [राजा] पृथिवी की पालना करता है ॥ ४५ ॥ उसके मित्र उसी प्रकार प्रसन्न होते हैं जैसे अमृत को पाकर देवगण तृप्त होते हैं। इसलिए हे पुत्र तुम अपने आपको नियम में रखकर इसी प्रकार का बर्ताव करो ॥ ४६ ॥ यह सुनकर उस राम के प्रियकारी मित्रों ने शीघ्र जाकर कौशल्या को उक्त समाचार सुनाया ॥ ४७ ॥ उस स्त्री-श्रेष्ठ [कौशल्या] ने प्रिय समाचार कहनेवालों को हिरण्य, गाएँ, और विविध रत्न दिए ॥ ४८ ॥ जन-समुदाय से पूजित राम [दशरथ] का अभिवादन करके और रथ पर चढ़कर अपने शोभायमान प्रासाद में गये ॥ ४९ ॥ वे नगर के लोग भी राजा के इष्ट-प्राप्ति के समान उक्त वचन को सुनकर राजा की अनुज्ञा लेकर शीघ्र [अपने-अपने] घरों को गए और प्रसन्न होकर उन्होंने देवों की पूजा की ॥ ५० ॥

इस प्रकार वाल्मीकि-रामायण के अयोध्याकाण्ड का 'पुत्र को उपदेश' विषयक यह तृतीय सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३ ॥

चौथा सर्ग

माता से आशीर्वाद-ग्रहण

[सभा से] पुरवासियों के चले जाने पर [कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के] निश्चय को जानने वाले राजा [दशरथ] ने मन्त्रियों के साथ विचार करके सम्यक् निश्चय किया कि—॥ १ ॥ कल ही [चन्द्र का] पुष्य [के साथ योग] होगा, अतः कल ही कमलपत्र के सदृश नयन वाले मेरे पुत्र राम का युवराज अभिषेक

क्रोधजः—१—चुगली करना, २—विना विचारे कार्य करना, ३—द्रोह करना, ४—ईर्ष्या रखनी, ५—असूया (=गुणों में दोष-दर्शन), ६—वाणी और ७—शस्त्र आदि से मारना तथा ८—कठोर भाषण करना, ये आठ व्यसन हैं।

१—कौटिल्य अर्थशास्त्र (अधिकरण ६ अध्याय १) में राज्य की निम्न प्रकृतियाँ गिनाई हैं—
१—स्वामी (राजा), २—अमात्य (मन्त्री आदि), ३—जनपद (देशवासी), ४—दुर्ग, ५—कोश, ६—दण्ड (सेना), ७—मित्र और ८—अमित्र।

[illegible] सूतम[illegible]यामास रामं पुनरिहानय ॥३॥
[illegible] रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः ॥४॥
[illegible]आगमनं पुनः । श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत् ॥५॥
[illegible]रामो वचनमब्रवीत् । यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूह्यशेषतः ॥६॥
[illegible]ज्ञा त्वां द्रष्टुमिच्छति । श्रुत्वा प्रमाणमत्र त्वं गमनायेतराय वा ॥७॥
इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽथ त्वरयान्वितः । प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम् ॥८॥
तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं द[illegible] । प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम् ॥९॥
प्रविशन्नेव च श्रीमान् राघवो भवनं [illegible]तुः । ददर्श पितरं दूरात्प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥१०॥
प्रणमन्तं समुत्थाप्य तं परिष्वज्य भूमिपः । प्रदिश्य चास्मै रुचिरमासनं पुनरब्रवीत् ॥११॥
राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा मयेप्सिताः । अन्नवद्भिः क्रतुशतैस्तथेष्टं भूरिदक्षिणैः ॥१२॥
जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं [illegible] । दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम ॥१३॥
अनुभूतानि चेष्टानि मया वीर सुख[illegible] । देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथात्मनः ॥१४॥
न किंचिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभि[illegible]त् । अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥१५॥
अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम् । अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥१६॥
अपि चाद्याशुभान् राम स्वप्नान् पश्यामि दारुणान् । सनिर्घाता महोल्का च पततीह महास्वना ॥१७॥

किया जाय ॥ २ ॥ इसके, पश्चात् राजा दशरथ ने अन्तःपुर में प्रवेश करके सूत को आदेश दिया—'राम को पुनः यहाँ ले आओ' ॥ ३ ॥ वह [सूत] उन [राजा] के वाक्य को सुनकर राम को पुनः शीघ्र लाने के लिये राम के भवन में गया ॥ ४ ॥ द्वारपालों ने राम को उस [सारथि] के पुनः आगमन की सूचना दी । उस [सारथि] के आगमन को सुनते ही राम शङ्कित हुए ॥ ५ ॥ उस [सूत] को शीघ्र ही [अन्दर] प्रवेश कराकर (=बुलाकर) राम बोले—'तुम्हारे पुनः आने का जो प्रयोजन हो, उसको पूर्णतः कहो' ॥ ६ ॥ तत्पश्चात् सूत ने कहा—राजा [दशरथ] आप को देखना (=मिलना) चाहते हैं, [अब राजाज्ञा को] सुनकर जाने या न जाने के लिये आप प्रमाण (=स्वतन्त्र) हैं । ॥ ७ ॥ सारथि के इन वचनों को सुनकर राम शीघ्रतापूर्वक राजा को देखने (=मिलने) के लिये राजभवन में गये ॥ ८ ॥ राम को आया हुआ सुनकर उत्तम एवं प्रिय वार्त्ता करने की इच्छा वाले राजा दशरथ ने उस [राम] को महल के अन्दर प्रवेश कराया (=बुलाया) ॥ ९ ॥ श्रीमान् राघव [राम] ने पिता के भवन में प्रवेश करते हुए ही दूर से पिता को देखा [और] हाथ जोड़कर प्रणाम किया ॥ १० ॥ प्रणाम करते हुए उस [राम] को उठाकर, आलिङ्गन करके तथा सुन्दर आसन की ओर [बैठने के लिये] संकेत करके राजा [दशरथ] बोले—॥ ११ ॥ हे राम ! मैं दीर्घ आयु [प्राप्त कर के] वृद्ध हो गया हूँ, यथेष्ट भोगों को भोग चुका हूँ तथा प्रचुर अन्न और दक्षिणा से साध्य सैकड़ों यज्ञों को कर चुका हूँ ॥ १२ ॥ इस समय पृथ्वी पर अनुपम, मेरे मनोवाञ्छित सन्तान तुम उत्पन्न हुए हो । हे पुरुषोत्तम ! [राम !] मैंने दान, यज्ञ तथा अध्ययन किया है ॥ १३ ॥ हे वीर इष्ट सुखों का अनुभव भी मैं कर चुका हूँ ॥ १४ ॥ तुम्हारे अभिषेक के अतिरिक्त अब मेरे लिये कोई कर्त्तव्य [शेष] नहीं है, अतः [अभिषेक के विषय में] तुम से जो मैं कहूँ, उसे तुम करो ॥ १५ ॥ [इस समय] सारी प्रजायें तुम्हें राजा [बनाना] चाहती हैं, अतः हे प्रिय पुत्र ! आज मैं तुम्हें युवराज [पद के लिये] अभिषिक्त करूँगा ॥ १६ ॥ परन्तु हे राम ! आज मैंने अशुभ तथा भयङ्कर स्वप्नों को देखा है । [स्वप्न में मैंने] घोर शब्द करती हुई, बिजलीसहित भारी उल्का को [आकाश से] गिरते देखा है ॥ १७ ॥

अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणैर्ग्रहैः । आवेद ... ॥
प्रायेण हि निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे । राजा मृत्यु... ॥
तद्यावदेव मे चेतो न विमुह्यति राघव । तावदेवाभिषिञ्चस्व चला ... ॥
अद्य चन्द्रोऽभ्युपगतः पुष्यात् पूर्वं पुनर्वसू । श्वः ...प्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते ... ॥
तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम् । श्वस्त्वाहमभिषेक्ष्यामि यौव...प परंतप ॥२२॥
तस्मात्त्वयाद्य प्रभृति निशेयं नियतात्मना । सह ...ोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥२३॥
सुहृदश्चाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः । भवन्ति ...ानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥२४॥
विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः । तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥२५॥
कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः । ज्येष्ठानुवर्ती धर्मा... सानुक्रोशः ...जितेन्द्रियः ॥२६॥
किं तु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतिः । सतां च ...र्मनित्यानां कृतशोभि च राघव ॥२७॥
इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वोभाविन्यभिषेचने । व्रजति ... पितरमभिवाद्याभ्ययाद् गृहम् ॥२८॥
प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञोद्दिष्टेऽभिषेचने । तत्क्षणेन ...म्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥२९॥
तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम् । वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥३०॥
प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा । सीता चानायिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥३१॥

[तथा] हे राम ! ज्योतिषी बताते हैं—'मेरा [जन्म-] नक्षत्र सूर्य, मङ्गल और राहु [नामक] दारुण ग्रहों से आक्रान्त है' ॥ १८ ॥ इस प्रकार के [अशुभ] कारणों के उत्पन्न होने पर प्रायः राजा मृत्यु को प्राप्त होता है अथवा किसी घोर आपत्ति में पड़ता है ॥ १९ ॥ तो हे राघव ! जब तक कि मेरा चित्त विमूढ़ (= कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकशून्य) नहीं होता, तब तक अभिषेक करा लो क्योंकि मनुष्यों की बुद्धि चञ्चल होती है [कहीं तुम्हें अभिषिक्त करने का मेरा निश्चय बदल न जाये] ॥ २० ॥ ज्योतिषियों का कथन है कि आज चन्द्र पुष्य से पूर्व [वर्त्तमान] पुनर्वसु से युक्त हैं, [अतः] कल को निश्चय ही पुष्य के साथ युक्त होगा ॥ २१ ॥ उस पुष्य [योग] में अभिषिक्त करो [इस प्रकार] मेरा मन मुझे शीघ्रता करने के लिये प्रेरित कर रहा है, [अतः] हे परम तपस्वी ! कल मैं तुम्हें युवराज पद पर अभिषिक्त कर दूँगा ॥ २२ ॥ इसलिये तुम इस समय से लेकर इस सम्पूर्ण रात्रि भर नियमपूर्वक [स्व-] पत्नी सहित उपवास करो [और] कुशा की शय्या पर शयन करो ॥ २३ ॥ और [तुम्हारे] मित्र सावधान [होकर] चारों ओर से तुम्हारी रक्षा करें, [क्योंकि] इस प्रकार के कार्य बहुत विघ्नयुक्त होते हैं ॥ २४ ॥ जब तक भरत इस नगर से [बाहर] विप्रवास (= विदेश) में है, तभी तक तुम्हारे अभिषेक का उपयुक्त समय है, ऐसा मेरा मत है ॥ २५ ॥ यह ठीक है कि तुम्हारा भाई भरत सत्पुरुषों के मार्ग पर स्थित, ज्येष्ठ का अनुसरण करने वाला, धर्मात्मा, दयालु तथा जितेन्द्रिय है–॥ २६ ॥ किन्तु मनुष्यों का चित्त अस्थिर होता है और हे राघव ! सत्पुरुषों तथा धर्मपरायण लोगों का मन सुकर्म से शोभा पाता है, ऐसा मेरा मत है ॥ २७ ॥ [पिता के] 'जाओ' ऐसा [कहने के पश्चात्] अगले दिन होने वाले अभिषेक में [पिता द्वारा] अनुज्ञात राम पिता का अभिवादन करके [अपने] घर चले गये ॥ २८ ॥ राजा [दशरथ] द्वारा अभिषेक की आज्ञा के अनन्तर अपने भवन में प्रवेश करके उसी क्षण निकलकर [राम] माता के अन्तःपुर में गये ॥ २९ ॥ वहाँ [महल के] देवमन्दिर में रेशमी वस्त्र धारण किये, भक्ति में मग्न, मौन, [प्राणियों के लिये] कल्याण की कामना करती हुई माता को देखा ॥ ३० ॥ सुमित्रा तथा लक्ष्मण वहाँ पहले से ही आ गये थे और राम के अभिषेक के प्रिय संवाद को सुनकर सीता को भी लाया गया था ॥ ३१ ॥ उस समय सुमित्रा, सीता और लक्ष्मण के द्वारा सेवा की जाती हुई कौशल्या ध्यान में

[illegible] सुमित्र[illegible]ास्यमाना सीतया लक्ष्मणेन च ॥३२॥
[illegible]ज्यां मूर्ति[illegible]भेम् । [illegible]ाणाया[illegible]ेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥३३॥
[illegible] वन्द्याभिवाद्य च । उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामनिन्दिताम् ॥३४॥
[illegible] प्रजापालनकर्मणि । भविता [illegible]ोऽभिषेकोऽयं यथा मे शासनं पितुः ॥३५॥
सीतयाप्युपवस्तव्या [illegible]नीयं मया सह । एवमुक्त[illegible]पाध्यायैः स ह मामुक्तवान् पिता ॥३६॥
यानि यान्यत्र योग्यानि श्वोभावि[illegible]भिषेचने । तानि [illegible] मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय ॥३७॥
एतच्छ्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभि[illegible] हर्षबाष्पाकुलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥३८॥
[illegible]त्स राम चिरं[illegible] हतास्ते परिपन्थिनः । ज्ञातीन् मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ॥३९॥
कल्याणे बत नक्षत्रे [illegible]यि जातो[illegible] पुत्रक । येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥४०॥
अमोघं बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे । येयमिक्ष्वाकुराज्यश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥४१॥
इत्येवमुक्तो मात्रेदं रामो भ्रातरम[illegible] । प्राञ्जलिं प्रह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥४२॥
लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं व[illegible] । द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता ॥४३॥
सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च । जीवितं च हि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥४४॥
इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च । अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च जगाम स्वं निवेशनम् ॥४५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे मात्राशीःपरिग्रहो नाम चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

नेत्र बन्द किए हुए ॥ ३२ ॥ पुष्य [के योग] में पुत्र [राम] के राज्याभिषेक को सुनकर प्राणायाम से जीवों के परमप्राप्तव्य पुरुष (परमेश्वर) का ध्यान करती हुई बैठी थी ॥ ३३ ॥ इस प्रकार नियम में स्थित [माता] के पास जाकर और अभिवादन करके उस अनिन्दित [माता] को प्रसन्न करते हुए राम ने यह वचन कहा—॥ ३४ ॥ हे माता ! मैं पिता द्वारा प्रजापालन कर्म में नियुक्त हुआ हूँ । पिता की आज्ञानुसार मेरा यह अभिषेक कल होने वाला है ॥ ३५ ॥ सीता को भी मेरे साथ आज रात को उपवास करना होगा, ऐसा उपाध्यायों ने पिता से कहा और उस [पिता] ने मुझ से कहा है ॥ ३६ ॥ कल होने वाले अभिषेक में जो-जो मङ्गल मेरे और वैदेही (सीता) के लिये [करने] योग्य हों [उनको] कराइये ॥ ३७ ॥ चिरकाल से आकांक्षित इस [समाचार] को सुनकर कौसल्या ने हर्षाश्रु पूर्वक राम से यह वचन कहा- ॥ ३८ ॥ पुत्र राम ! चिरञ्जीवी हो, तेरे शत्रुओं का नाश हो । ऐश्वर्य से युक्त तुम मेरे तथा सुमित्रा के स्वजनों को आनन्दित करो ॥ ३९ ॥ प्रिय पुत्र ! शुभ नक्षत्र में मुझसे उत्पन्न हुए हो, इसीलिये तुमने [अपने] गुणों से [अपने] पिता दशरथ को प्रसन्न कर दिया है ॥ ४० ॥ हे पुत्र ! यह जो इक्ष्वाकु राज्य का वैभव तुम्हें प्राप्त होगा, [इससे] सृष्टि का ईक्षण (= रचनार्थ संकल्प करने वाले प्रभु में मेरी भक्ति सफल हुई ॥ ४१ ॥ माता के द्वारा इस प्रकार कहे हुए राम हाथ जोड़े विनीत [भाव से] बैठे हुए [अपने] भाई [लक्ष्मण] की ओर देखकर मुस्कराते हुए बोले—॥ ४२ ॥ लक्ष्मण ! मेरे साथ तुम इस पृथिवी का प्रशासन करो । मेरे द्वितीय अन्तरात्मा [सदृश] तुम को यह ऐश्वर्य प्राप्त हुआ है ॥ ४३ ॥ लक्ष्मण ! अभीष्ट भोगों तथा राज्य के सुखों का [समुचित] उपभोग करो । [अपने] जीवन तथा राज्य की तुम्हारे लिये कामना करता हूँ ॥ ४४ ॥ लक्ष्मण से ऐसा कहकर और दोनों माताओं का अभिवादन करके तथा सीता को अनुज्ञा देकर राम अपने निवास-स्थान को चले गये ॥ ४५ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का 'माता से आशीर्वाद-ग्रहण' नामक चौथा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

[illegible] कपूर ट्र[illegible]ट के महत्त्वपूर्ण नये प्रकाशन

[illegible]यानन्द[illegible]-य[illegible]जुर्वेदभाष्य-विवरण

प्रथम भा[illegible] संशो[illegible]त व प[illegible]वर्धित द्वितीय संस्करण

[illegible] को यह जानकर [illegible]गा कि म[illegible]हर्षि दयानन्द सरस्वतीकृत यजुर्वेद भाष्य के प्रथम [illegible] संशो[illegible] परिवर्धित द्वितीय संस्करण छपकर तैयार हो गया है, यह संस्करण [illegible] हस्तलेख[illegible] से मिलान करके तैयार किया गया है। साथ में ऋषि के अनन्य भक्त, वेदों के [illegible], तपोमूर्त्ति श्री पं[illegible]दत्त जी जिज्ञासु कृत विवरण भी है, जिसमें ऋषि, देवता, छन्द, पदपाठ, [illegible]न्वय, भा[illegible] मूलहस्तलेखों इत्यादि विषयों पर बड़ी ही मार्मिक तथा विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियां [illegible] और व्या[illegible]सार स्वरप्रक्रिया तथा त्रिविधि प्रक्रिया भी है। आर्षग्रन्थों के प्रमाणों सहित ऋषिभाष्य को पुष्टि [illegible] है। स्थान-स्थान पर महीधर सायणादिकृत भाष्यों की भूलों पर भी प्रकाश डाला गया है। ग्रन्थ के आरम्भ में १५० पृष्ठों की भूमिका में पूर्वोक्त विषयों पर गम्भीर और गवेषणात्मक विवेचन है। ग्रन्थ ३२ पौण्ड के २२×३१ = ८ आठपेजी स्पैशल रैग पेपर के लगभग ११०० पृष्ठों में तैयार हुआ है। ७ प्रकार के विभिन्न टाइपों में सुन्दर व मनोरम मुद्रण तथा पूरे कपड़े की पक्की जिल्द ११०० पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य केवल लागतमात्र १६) रुपये।

वैदिक-छन्दोमीमांसा

[ले०—पं० युधिष्ठिर मीमांसक]

इस पुस्तक में वैदिक छन्दोविषयक जितने भी ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं और विशाल वैदिक वाङ्मय में जहाँ कहीं भी वैदिकछन्दोविषयक कोई सामग्री उपलब्ध हुई उन सब के आधार पर प्रथम बार महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। इतनी सामग्री एक स्थान पर किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध न होगी। वैदिकछन्दों के जितने भेद-प्रभेद हैं उन सब की विशद व्याख्या के साथ-साथ उनके वैदिक उदाहरण भी दिए हैं। इससे ग्रन्थ की महत्ता और बढ़ गई है। मूल्य ४ रुपये ५० नये पैसे।

१—उरुज्योति ३), २—ऋषिदयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास ४), ३—ऋग्वेदभाषाभाष्य, १ भाग २॥), ४—अष्टाध्यायीमूल ॥=), ५—संस्कृतपठनपाठन की अनुभूत सरलतमविधि १।), ६—वैदिकवाङ्मय का इतिहास १ भाग, वेदों की शाखायें १०), ७—ऋषिदयानन्द के पत्र और विज्ञापन ७), परिशिष्ट ॥), ८—क्षीरतरङ्गिणी १२), ९—वैदिकस्वरमीमांसा ३), १०—ध्यानयोगप्रकाश १॥)।

रामलाल कपूर एण्ड संस लिमिटेड पेपर मर्चेंट

गुरुबाजार, अमृतसर। नई सड़क, देहली। बिरहाना रोड, कानपुर। ५१ सुतार चॉल, बंबई
वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी ६ (बनारस ६)

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १२] [अङ्क ४

इस अङ्क के लेख

१—हमें निर्भय करो	आर्याभिविनय	पृ० १
२—हविष्मान	श्री डा० मुंशीराम जी एम. ए.	२
३—यजुर्वेद में ऋत और सत्य शब्द	श्री पं० भीमसेन जी विद्यालङ्कार	४
४—वेदार्थरहस्य तथा अनुसन्धान	श्री पं० द्विजेन्द्रनाथ जी शास्त्री	८
५—महर्षि दयानन्द दीक्षा-शताब्दी मथुरा का विशाल नगरकीर्त्तन (जलूस)	विशेष संवाददाता वेदवाणी	१०
६—हा केदारनाथ सारस्वत !	श्री पं० गोपाल शास्त्रीजी दर्शनकेशरी	१५
७—स्वर्गीय पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत [संक्षिप्त जीवन परिचय]	श्री देवीनारायण जी एडवोकेट	१६
८—स्वर्गीय श्री पं० केदारनाथ जी सारस्वत	श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु	१८
९—वेदों पर नये दृष्टिकोण की आवश्यकता	श्री माधव पण्डित	१९
१०—ऋ० १०.८५.३० में वासस् शब्द का अर्थ	श्री चिन्तामणि गणेश काशीकर	२०
११—मथुरा दीक्षा-शताब्दी समारोह	सम्पादक	२३
१२—विविध समाचार	"	२४
१३—'वाल्मीकिरामायण' का आलोचनात्मक भाषानुवाद (गताङ्क से आगे)	अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी	२४ (पृ० २०१–२०८)
१४—यजुर्वेद-भाष्य-सम्बन्धी विज्ञप्ति		(टा० पृ० ४)

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

माघ २०१६ वि०, फरवरी १९६० ई०
दयानन्दाब्द १३५
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६०

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
" " विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक |||) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है।

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जा

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पा अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस)** नं०

ओ३म्

ऋग्वेद यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेनं गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १२ } काशी, माघ, सं० २०१६ वि०, फरवरी १९६० ई० { अङ्क ४

आर्याभिविनय से— टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अनुगामी

स्तुतिविषयः

हमें निर्भय करो

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥ यजु० ३६। २२॥

आर्याभिविनय-व्याख्या

हे परमेश्वर, दयालो! "यतः यतः" जिस २ देश से[1] आप "समीहसे" सम्यक्[2] चेष्टा करते हो "ततः नः अभयम् कुरु" उस २ देश से[3] हमें अभय करो अर्थात् जहां जहां से हमको भय प्राप्त होने लगे वहां २ से सर्वथा हमलोगों को अभय (भयरहित) करो "शम् नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः" तथा प्रजा से हमको सुख करो। हमारी प्रजा सब दिन सुखी रहे, भय देनेवाली कभी न हो, तथा पशुओं से भी हमको

अर्थबोधक टिप्पणी

१ जिस २ देश से = जहां २ से अर्थात् सर्वत्र

२ सम्यक् = अच्छी तरह

३ उस २ देश से = वहां २ अर्थात् सभी जगह

अभय करो। किञ्च[४] किसी से किसी प्रकार का भय हमलोगों को आपकी कृपा से कभी न हो। जिससे हम लोग निर्भय होके सदैव परमानन्द[५] को भोगें और निरन्तर आपका राज्य[६] [हो] तथा आपकी भक्ति करें[७]।

दण्डान्वय-टीका

(हे ईश्वर) = हे ईश्वर आप
यतः यतः[८] = सब स्थानों में
समीहसे[९] = सचेष्ट रहते हो
ततः[१०] = इसलिये
नः (= अस्मान्) = हमलोगों को
अभयम्[११] = कष्टरहित
कुरु = करते रहो
प्रजाभ्यः[१२] = उत्कृष्ट लोगों से
नः (= अस्मान्) = हमें
शम् = सुख
कुरु = प्राप्त कराओ
पशुभ्यः[१३] = ईश्वर-प्रेरणा-रहितों से
नः (= अस्मान्) = हमें
अभयम् = सुरक्षित
कुरु = करो

४ किञ्च = Moreover : again
५ परमानन्द = ईश्वरानन्द
६ राज्य = Sovereignty : rule—आप्टे
७ भक्ति करें = प्रेमपूर्वक अनुकूल चलें
८ on all sides—आप्टे
९ to desire : to strive. व्यु० ईह = चेष्टायाम्—भ्वा०
१० ततः = therefore
११ अभयम् = free from danger or fear—आप्टे
१२ प्रकर्षेण जायते इति प्रजा। व्यु० प्र जन् = to grow : to arise—आप्टे
१३ an uninitiated person.

हविष्मान

[ले०—प्रो० मुंशीराम जी शर्मा एम० ए० डी० लिट्०]

हविष्मान हवि वाला है। वह आहुति-शील है। यज्ञ की वेदी के अन्दर प्रज्वलित अग्नि में जो आहुति डालता है, वह हविष्मान है। हवि पवित्र होती है। जिस काष्ठ की समिधायें बनाई जाती हैं, वह भी पवित्र होना चाहिये। समिधायें सड़ी-गली कीटाणुयुक्त तथा आर्द्र नहीं होनी चाहियें। जिस घी और सामग्री की आहुतियां दी जाती हैं, वे भी पवित्र हों। आहुति देने वाला यजमान तथा यज्ञकर्ता, अध्वर्यु आदि भी शरीर और मन से पवित्र हों। यज्ञवेदी भी स्वच्छ, निर्मल, पवित्र स्थान में बननी चाहिये। इस प्रकार यज्ञ का समग्र वातावरण पवित्र है। इस बात पर याज्ञिकों ने विशेष ध्यान दिया है। हविष्मान इस वातावरण का एक भाग है। उसे पवित्र होना ही चाहिये। हविष्मान पवित्र हो, इतना ही पर्याप्त नहीं है। उसे अन्यों के साथ सहयोग भी करना चाहिये। सहयोग के बिना यज्ञ पूर्ण नहीं होता। यज्ञ एकाकी भी नहीं किया जा सकता। यजमान के साथ उसकी पत्नी दाहिने

और वेदी पर अवश्य बैठी हो। होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा में परस्पर सौहार्द और सहयोग होना चाहिये। अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता, यह लोकोक्ति यहां अपने परिपूर्ण रूप में चरितार्थ होता है। होता ऋग्वेदी, अध्वर्यु यजुर्वेदी, उद्गाता सामवेदी तथा ब्रह्मा अथर्ववेदी होता है। श्रम-विभाजन एवं संभूयसमुत्थान सिद्धान्त का पालन उद्योग-धंधों में ही नहीं, यज्ञ में भी होता है।

वेद कहता है—हविष्मान प्रभु के साथ युक्त हो जाता है, उसका सखा बन जाता है तथा जो यज्ञ नहीं करता—त्यागी और बलिदानी नहीं बनता, उसे प्रभु का सख्य प्राप्त नहीं होता। त्याग में निस्स्वार्थ होना प्रमुख है। यज्ञ इसी निस्स्वार्थ भावना पर अवलम्बित है। याज्ञिक जब कहता है—इदमग्नये, इदं सोमाय, इदं प्रजापतये, इदमिन्द्राय, इदन्न मम—तब वह इसी भावना का अभिव्यञ्जन करता है। देवता इसी भावना से प्रसन्न होते हैं। जो देवताओं को प्रसन्न करेगा, देवता उसे प्रसन्न करेंगे।

यज्ञ का एक नाम अध्वर है। अध्वर का अर्थ है—हिंसारहित। हिंसा के साथ कुटिलता, छल, दम्भ, अव्रत आदि लगे रहते हैं। आर्जव एवं सारल्य के लिये हिंसा में स्थान ही नहीं है। पर यज्ञ अहिंसा का मार्ग है, आर्जव का पथ है। हिंसा और कुटिलता आसुर सम्पदा हैं। अहिंसा आर्जव और यज्ञ दैवी सम्पदा हैं। यज्ञकर्ता स्वयं प्रकाशित होता है तथा दूसरों को भी प्रकाश देता है। हिंसक स्वयं अंधकार में गिरता है और दूसरों को भी गिराना चाहता है। हिंसा से हिंसा उत्पन्न होती है, पर अहिंसा से प्रेम का प्रादुर्भाव होता है। हिंसा विकर्षण एवं पार्थक्य की जननी है। अहिंसा एक को दूसरे से मिलाने वाली है। एक में विषाद है, दूसरी में प्रसाद। एक तमोमयी है, दूसरी सत्त्वमयी। विषाद से प्रसाद, हिंसा से अहिंसा तथा तम से सत्त्व की ओर चलना ही यज्ञ है।

यदि हम दिव्यता में रुचि रखते हैं, प्रकाश की ओर चलना चाहते हैं और मृत्यु की मार से बार-बार मरना नहीं चाहते, तो हमें हविष्मान बनना होगा, यज्ञिय मार्ग अपनाना होगा। इस पथ के पथिक बनकर ही हम स्वर्ग की ओर ले जाने वाले देवयान के दर्शन कर सकेंगे।

यज्ञ और यज्ञ के सम्पादक अर्थात् यज्ञ के लिये किये जाने वाले कर्म जागरूकता चाहते हैं। प्रमाद से ग्रस्त, निद्रा एवं आलस्य से अभिभूत मानव दोनों स्थितियों में से एक के लिये भी उपयुक्त नहीं है। जागरूक रह कर ही हम विचारपूर्ण कार्य कर सकते हैं। इन कार्यों से हमारे तन-मन की शुद्धि होती है। यह शुद्धि हमारी बुद्धि को पवित्र करती है और पवित्र बुद्धि हमें यज्ञिय बनाती है।

विश्ववारा आर्य संस्कृति ने सृष्टि के मूल में इसी यज्ञ-भावना को अनुभव किया और मानव जीवन की सफलता के लिये इसी भावना का प्रचार किया। निस्स्वार्थता, त्याग, दान, ऐक्य, सहयोग, संगतिकरण, पूजा, श्रद्धा, पवित्रता, और इन सब के लिये सदैव कटिबद्धता, संनद्धता, जागरूकता यज्ञमय जीवन के अंगीभूत साधन हैं। जिस जीवन में ये चिह्न दिखाई देते हैं, वही यज्ञिय जीवन है और यह जीवन एक हविष्मान आर्य का जीवन है॥

धर्म का सच्चा स्वरूप

धर्म वही है जिसका कोई विरोधी न हो।

महर्षि दयानन्द

यजुर्वेद में ऋत और सत्य शब्द

[ले०---श्री पं० भीमसेन जी विद्यालंकार-अम्बाला]

यजुर्वेद संहिता में निम्नलिखित मन्त्रभागों में ऋत और सत्य शब्दों का प्रयोग उपलब्ध होता है। ऋत-सत्य शब्द के क्या अर्थ हैं•••इनमें क्या भेद तथा क्या सम्बन्ध है—इस विषय पर इन मन्त्र-भागों का मूल पाठ हमारे लिये पथ-प्रदर्शन का कार्य कर सकता है। इन मन्त्रभागों के अध्ययन से ऋत–सत्य शब्द के सम्बन्ध में हमारे दिलों में अनेक प्रकार की भावनाएं पैदा होती हैं—ये भावनाएं भी हमें इन शब्दों के असली अर्थ को जानने में सहायक होंगी।

इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि। य० १। ५॥

ध्रुवाऽअसदन्नृतस्य योनौ ता विष्णो पाहि पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिं पाहि मां यज्ञन्यम्। य० २। ६॥

स्वदन्तु देवीरमृताऽऋतावृधः। य० ४। १२॥

तस्यास्ते सत्यसवसः प्रसवे तन्वो यन्त्रमशीय स्वाहा। य० ४। १८॥

सत्यसवꣳ रत्नधामभिप्रियं मतिं कविम्। य० ४। २५॥

नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे महो देवाय तदृतꣳ सपर्यत। य० ४। ३५॥

वरुणस्य ऋतसदन्यसि वरुणस्य ऋतसदनमसि वरुणस्य ऋतसदनमासीद। य० ४। ३६॥

सत्यमुपगेषꣳ स्विते मा धाः। य० ५। ५॥

एष्टा रायः प्रेषे भगायऽऋतमृतवादिभ्यो नमो द्यावापृथिवीभ्याम्। य० ५। ७॥

हव्यसूदनऽऋतधामासि स्वर्ज्योतिः। य० ५। ३२॥

सदोऽस्यृतस्य द्वारौ मा मा सन्ताप्तमध्वनामध्वपते प्र मा तिर स्वस्ति मेऽस्मिन्पथि देवयाने भूयात्। य० ५। ३३॥

घृतस्य कुल्या ऽउपऽऋतस्य पथ्याऽअनु। य० ६। १२॥

यस्मै त्वेडे तत्सत्यमुपरिप्रुता भङ्गेन हतोऽसौ फट् प्राणाय त्वा व्यानाय त्वा। य० ७। ३॥

तां धेनुं मित्रावरुणा युवं नो विश्वाहा धत्तमनप स्फुरन्तीमेष ते योनि ऋतायुभ्यां त्वा। य० ७। १०॥

मूर्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआ जातमग्निम्। य० ७। २४॥

ऋतस्य पथा प्रेत चन्द्रदक्षिणा वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षं यतस्व सदस्यैः। य० ७। ४५॥

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यसवसो बृहस्पतेरुत्तमं नाकं रुहेयम्। य० ९। १०॥

एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजम। य० ९। १२॥

देवस्याहꣳ सवितुः सवे सत्यप्रसवसो बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं जेषम्। य० ९। १३॥

वाजे वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः। अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः। य० ९। १८॥

एष ते निर्ऋते भागस्तं जुषस्व। य० ९। ३५॥

बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो ज्येष्ठ्याय रुद्रः पशुभ्यो मित्रः सत्यो वरुणो धर्मपतीनाम्। य० ९। ३९॥

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् होता वेदिषद् अतिथिर्दुरोणसत्।

नृषद् वरसद् ऋतसद् व्योमसद् अब्जा गोजा ऋतजाऽ अद्रिजाऽऋतं बृहत्॥ य० १०। २४। तथा १२। १४॥

ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजा इन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः। बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य॥ य० १०। २८॥

ऋतꣳ सत्यमृतꣳ सत्यमग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्वद्भरामः। ओषधयः प्रतिमोदध्वमग्निमेतं शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः। व्यस्यन् विश्वा अनिरा अमीवा निषीदन्नो ऽअपदुर्मतिं जहि॥ य० ११। ४७॥

अन्यमस्मदिच्छ सा तऽइत्या नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्तु। य० १२। ६२, ६३, ६४, ६५॥

देवइव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्।
य० १२। ६६॥

मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवꣳसत्यधर्मा व्यानट्। यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम। य० १२। १०२॥

इषमूर्जमहमितऽआदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम्।
य० १२। १०५॥

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरो जनाः।
य० १२। १११॥

रश्मिना सत्याय सत्यं जिन्व प्रेतिना धर्मणा धर्मं जिन्व। य० १५। ६॥

अधा ह्यग्ने क्रतो भद्रस्य दक्षस्य साधोः।
रथीर्ऋतस्य बृहतो बभूथ॥ य० १५।४५॥

ऋतव स्थऽऋतावृधऽऋतुष्ठा स्थ ऋतावृधः। य० १७।३॥

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन्वीतिहोत्राऽ ऋतावृधः। य० १७।७८॥

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माँश्च। शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यꣳहाः॥ य० १७।८०॥

ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च।
धर्ता च विधर्ता च विधारयः। य० १७।८२॥

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनजिच्च सुषेणश्च।
अन्तिमित्रश्च दूरेऽअमित्रश्च गणः। य० १७।८३॥

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धनं च मे विश्वं च मे महश्च मे क्रीडा च मे मोदश्च मे जातं च मे जनिष्यमाणं च मे सूक्तं च मे सुकृतं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥
य० १८।५॥

ऋतं च मेऽमृतं च मेऽयक्ष्मं च मेऽनामयच्च मे जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनमित्रं च मेऽभयं च मे सुखं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्। य० १८।६॥

ऋताषाड्तधामाग्निर्गन्धर्वस्तस्यौषधयोऽप्सरसो मुदो नाम।
स न इदं ब्रह्म क्षत्रं पातु तस्मै स्वाहा वाट् ताभ्यः स्वाहा।
य० १८।३८॥

इन्दुर्दक्षः श्येन ऋतावा हिरण्यपक्षः शकुनो भुरण्युः।
महान्त्सधस्थे ध्रुव आ निषत्तो नमस्ते अस्तु मा मा हिंसीः॥ य० १८।५३॥

उदीरतामवर उत्परासऽ उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृकाऽऋतज्ञास्ते नो ऽवन्तु पितरो हवेषु॥
य० १९।४९॥

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासोऽअग्नऽऋतमाशुषाणाः।
शुचीदयन्दीधितिमुक्थशासः क्षामा भिन्दन्तोऽअरुणीरप व्रन्॥ य० १९।६९॥

ऋतेन सत्यमिन्द्रियं विपानं शुक्रमन्धस इन्द्रस्येन्द्रियमिदं पयोऽमृतं मधु। य० १९।७२॥

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः। य० १९।७७॥

य० १९।७२—७९ तक ऋतेन सत्यं की चर्चा है।

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हुवेम।
तुविक्षत्रामजरन्तीमुरूचीं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्॥
य० २१।५॥

वाजे वाजेऽवत वाजिनो नो धनेषु विप्रा अमृता ऋतज्ञाः।
अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात पथिभिर्देवयानैः॥
य० २१।११॥

इमामगृभ्णन्रशनामृतस्य पूर्वं आयुषि विदथेषु कव्या।
सा नोऽअस्मिन्त्सुत आ बभूव ऋतस्य सामन्त्सरमारपन्ती॥ य० २२। २॥

यद्देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः।
सक्थ्ना देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा॥
य० २३। २९॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्रं धर्ममीमहे। उपयामगृहीतोऽसि वैश्वानराय त्वैष ते योनिर्वैश्वानराय त्वा। य० २६। ६॥

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे॥
य० २६। ११॥

समास्त्वाग्नऽऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः॥ य० २७। १॥

तव वायवृतस्पते त्वष्टुर्जामातरद्भुत।
अवांस्या वृणीमहे॥ य० २७। ३४॥

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः।
दृढा चिदारुजे वसु॥ य० २७। ४०॥

वि श्रयन्तामृतावृधो द्वार इन्द्राय मीढुषे व्यन्त्वाज्यस्य होतर्यज। य० २८।५॥

अन्तरा मित्रावरुणा चरन्ती मुखं यज्ञानामभि संविदाने। उषासा वां सुहिरण्ये सुशिल्पे ऋतस्य योनाविह सादयामि॥ य० २९।६॥

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व। मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः॥ य० २९।२६॥

अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः। य० २९।३६॥

पूषा नः पातु दुरितादृतावृधो रक्षा माकिर्नोऽअघशंस ईशत। य० २९।४७॥

परि द्यावापृथिवी सद्य इत्वा परि लोकान्परि दिशः परि स्वः। ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥ य० ३२।१२॥

यजा नो मित्रावरुणा यजा देवाँ२ऽऋतं बृहत्। अग्ने यक्षि स्वं दमम्॥ य० ३२।३॥

मूर्धानं दिवोऽअरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृत आ जातमग्निम्। कविं सम्राजमतिथिं जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः॥ य० ३३।८॥

आपश्चित्पिप्यु स्तर्यो न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र। य० ३३।१८॥

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे। सत्यः सोऽअस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥ य० ३३।८३॥

यस्मान्न ऋते किंचन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। य० ३४।३॥

उत नोऽहिर्बुध्न्यः शृणोत्वज एकपात् पृथिवी समुद्रः। विश्वे देवाऽऋतावृधो हुवाना स्तुता मंत्राः कविशस्ता अवन्तु॥ य० ३४।५३॥

चतुःस्रक्तिर्नाभिः ऋतस्य सप्रथाः स नो विश्वायुः सप्रथाः स नः सर्वायुः सप्रथाः। अप द्वेषोऽअपह्वरोऽन्यव्रतस्य सश्चिम॥ य० ३८।२०॥

मनसः काममाकूतिं वाचः सत्यमशीय। पशूनां रूपं अन्नस्य रसो यशः श्रीः श्रयतां मयि स्वाहा॥ य० ३९।४॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्।
ओ३म् खं ब्रह्म॥
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये। य० ४०।१७॥

निरुक्त निघण्टु में—ऋतम्। सत्यम्। इत्येकशतमुदकनामानि में प्रथम अध्याय में तथा तृतीय अध्याय में वट्। श्रत्। सत्रा। श्रद्धा। इत्था। ऋतमिति षट् सत्यनामानि में ऋत का उल्लेख है।

उपरिलिखित मन्त्रों में ऋत शब्द की ध्वनि तथा उसका स्वरूप "ऋतं बृहत्" शब्द से निरूपित होता है। ऋत बृहत् है। संसार में उपलभ्यमान सब तत्त्वों की अपेक्षा ऋत बृहत् है। ऋत और सत्य में ऋत की विशेषता 'ऋतेन' सत्यं शब्द से द्योतित होती है। अघमर्षण मन्त्र में भी 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसः' में ऋत की प्राथमिकता स्पष्ट दिखाई देती है।

ऋतज्ञाः—शब्द के साथ अमृताः का विशेषण ऋतवादियों की जीवन्मुक्तता को अङ्कित करता है।

अध्याय १८ के ५ वें और ६ ठे मन्त्र में सत्य और ऋत के सूक्ष्म भेद को सुन्दर ढंग से बताया गया है। दोनों की साधना यज्ञभावना से होती है, परन्तु परिणाम में तथा साधनों की दृष्टि से सत्य की अपेक्षा ऋत ज्यादा सूक्ष्म भावनाओं का निदर्शक है। ऋत शब्द को महः बृहद् शब्द से निर्दिष्ट किया गया है कि यह मूल कारण जो कि दृश्यमान कार्य की अपेक्षा बृहत् होते हैं, ऋत शब्द से निर्दिष्ट किये गये हैं।

पातञ्जल योगदर्शन के व्यासभाष्य में ऋत-सत्य के भेद को सुस्पष्ट रूप में इस प्रकार दिखाया गया है।

सत्यं यथार्थे वाङ्मनसे। यथादृष्टं यथानुमितं यथाश्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति। परत्र स्वबोधसंक्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वञ्चिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्तिवन्ध्या वा भवेदित्येषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता, न भूतोपघाताय। यदि चैवमप्यभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्। तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टं तमः प्राप्नुयात्। तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। यो० २।३०॥

ऋतंभरा तत्र प्रज्ञा

तस्मिन्समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतंभरेति संज्ञा भवति। अन्वर्था च सा सत्यमेव

बिभर्ति । न च तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्तीति ।

योः १ । ४८ ॥

चत्वारः खल्वमी योगिनः प्रथमकल्पिको, मधुभूमिकः प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभावनीयश्चेति । तत्राभ्यासी प्रवृत्तमात्रज्योतिः प्रथमः । ऋतम्भरप्रज्ञो द्वितीयः। भूतेन्द्रियजयी तृतीयः । योः ३।५१ ॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सत्य की अपेक्षा ऋत सूक्ष्म है । सत्य-चिन्ता में यह देखना होता है कि किसी को कष्ट नहीं हुआ । परन्तु ऋत आत्मा की ज्योति रूप है। आत्मा का धर्म है ।

इन मन्त्रभागों में ऋत के पन्था = मार्ग का भी संकेत है । सामान्य चर्चाओं में ऋत-सत्य-अनृत की विवेचना करते हुए कहा जाता है कि ऋत ऋषियों आत्मज्ञानियों की वाणी से प्रकट होता है । सत्य देव-मनस्वी-विद्वानों की वाणी में बसता है और अनृत हम साधारण लोगों की वाणी से न चाहते हुए भी प्रकट होता है । सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः ॥ ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुधावति के अनुसार ऋषि ऋत-वक्ता होते हैं । वे आत्मा की आवाज को प्रकट करते हैं ।

हरिवंश पुराण में—अलंकार कथानक ढंग से सृष्टि-रचना की चर्चा करते हुए एक श्लोक में यह भाव प्रकट किया है कि ब्रह्माण्ड फूटा या समय पर प्रस्फुटित हुआ तो उसमें से यह दृश्यमान पहाड़, नदी, सूर्य आदि प्रकट हुए । अण्डे का अन्दर का भाग रिक्त हो गया । ऋत रूप में रहा । यहाँ भी मूल कारण की चर्चा में ऋत शब्द की व्युत्पत्ति निर्दिष्ट की है । सममात्रा में इस मूल कारण अर्थ के कारण ऋत शब्द विना अर्थ में जो कि कारणता को ही निर्दिष्ट करता है, प्रयुक्त होने लगा ।

इन मन्त्रभागों में सत्य की चर्चा करते हुए "नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा" अक्षिभुवः सत्यस्य से बताया है कि सत्य इन्द्रियगम्य है जब कि ऋत-अनिन्द्रियगोचर है ।

ऋतु तथा ऋत शब्दों में भी प्रकृति के नित्यतत्त्वों की समानता ध्वनित होती है । सत्य मानव समाज की परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के कारण विविध रूपों में प्रकट होता है परन्तु ऋत एक रूप रहता है । यही ऋत अंग्रेजी भाषा के Right (राइट) रूप का मूल प्रतीत होता है । ऋत बृहत् महान् है, परन्तु सत्य उग्र रूप में प्रकट होकर संसार में परिवर्तन लाता है ।

इन मन्त्रभागों से यह भी ध्वनित होता है कि देवयान पितृयान की भांति ऋतयान या ऋतपथ भी एक स्थिति विशेष है । इस पथ के राही ऋषि मन्त्रार्थद्रष्टा होते हैं । अध्याय ५१ मंत्र ३३ में इसकी ध्वनि सुनाई देती है ।

इस लेख में हमने यज्ञविषयक विशेष चर्चा करने वाले यजुर्वेद के मन्त्रभागों का ही संग्रह किया है । अ० १२ मन्त्र १०५ में ऋत की योनि कारण का विवेचन करते हुए ऊर्ज, इष तथा महान्-इष-महिष् मूलतत्त्वों का उल्लेख है । ये तत्त्व द्रव रूप में या तरल रूप में ही होते हैं । ऋत भी खाने के स्थान पर पीने वाली वायु के रूप में ऋषियों द्वारा वर्णित किया गया है । कठोपनिषद् में 'ऋतं पिबन्तौ' इसे अमृतरस के रूप में निर्दिष्ट किया है । सामान्य व्यवहार की दृष्टि से यह ऋत-सत्य चर्चा संभवतः नीरस हो, परन्तु ऋत-सत्य शब्द युगल के स्वारस्य तथा महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए कुछ पंक्तियां लिखी हैं । इन पंक्तियों के अध्ययन से यदि कोई पाठक कार्य से सूक्ष्म कारण विवेचन की ओर प्रवृत्त होंगे तो मैं अपने इस प्रयास को सफल समझूंगा ॥

पारस्परिक सद्भावना से ही संसार का कल्याण

"आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' अर्थात् जो जो बातें सबके अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्यों कि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़ कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है॥"

—दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थप्रकाश)

विद्वानों को विचारार्थ

वेदार्थरहस्य तथा वेदानुसन्धान

[ले०—श्री पं० द्विजेन्द्रनाथ जी शास्त्री, वेदशिरोमणि, विद्यामार्त्तण्ड, मेरठ]

वेदवाणी के नवम्बर-दिसम्बर के वेदाङ्क में 'वेदों के प्रति भारतीय विद्वानों की उदासीनता क्यों' इस विषय पर लिखते हुए विद्वानों का ध्यान इस तरफ आकर्षित करने का प्रयत्न किया था और संकेत किया था कि वेदानुसन्धान तथा वेदार्थरहस्य की अभिव्यक्ति के लिये एक सुसङ्गठित तथा साधन-सम्पन्न संस्था की आवश्यकता है। स्वतन्त्र भारत के स्वतन्त्रसत्ताक वातावरण में यदि किसी संस्था को प्राथम्य देने की अपरिहार्यता होनी चाहिये तो वह वेदोद्धार व वैदिक वाङ्मय को पुनः अनुप्राणित करने वाली संस्था को। परन्तु खेद का विषय है हमारी द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में भी इसको कोई स्थान नहीं मिला। यह भारत की ही नहीं, अपितु विश्व की अमूल्य रत्न-निधि किसी अज्ञात अन्धगर्त्त में ही पड़ी हुई है। इसमें हमारी संस्कृति, इतिहास, वृत्तोपवृत्त, आचार-व्यवहार, सभ्यता एवं भव्य परम्पराएँ व आध्यात्मिक, दार्शनिक, कला, शिल्प, उदात्त वाङ्मय अन्तर्हित हुआ पड़ा है। इसके जीर्णोद्धार और यथार्थ रहस्य के स्पष्टीकरण की परम आवश्यकता है। यह हमारे जीवन व मरण का प्रश्न है। कारण, संस्कृति के जीवित रहने से देश जाति जीवित, जाग्रत एवं प्रतिपन्न रहते हैं। इसके मृत हो जाने पर राष्ट्र एवं जातियाँ अनन्तकाल के क्रूर कपोल में विलीन होकर नष्ट हो जाते हैं। रक्षा, उद्योग, भू-विभाजन, आदि बाह्य समस्त कार्यों पर हमारा ध्यान केन्द्रित हुआ प्रतीत होता है, किन्तु देश की आत्मा, हृदय, मस्तिष्क आदि समस्त मर्मस्थल शक्तिहीन होते जाते हैं और इस प्रश्न की ओर किसी का ध्यान नहीं। वस्तुतः ये महत्त्वपूर्ण प्रश्न अभी तक हमारी विचार-परिधि से बाहर ही पड़े हुए हैं। अस्तु।

वेदों तथा प्राचीन वैदिकसाहित्य की दुरवस्था को देखकर किस विचारशील का हृदय दुःखित न होता होगा।

जितने भी वेदभाष्य मिलते हैं, वे कदापि सर्वाङ्गपूर्ण नहीं कहे जा सकते। कारण, अधिकतर उनमें कर्मकाण्ड-परक तथा वैनियोगिक अर्थों का ही आश्रय लिया गया है। श्री सायण, उव्वट, महीधर आदि सब तत्कालीन कर्मकाण्ड की गति-विधि से अपने को प्रभावित होने से न बचा सके। अतः वे वेद के यथार्थ रहस्य-प्रदर्शक भाष्यकार नहीं कहे जा सकते। हाँ, यास्काचार्य की शैली हमें वेद के गहन-गम्भीर रहस्यों तक पहुँचाने में सहायता दे सकती है। परन्तु उसमें कहीं-कहीं अतिमात्र प्ररोचना ही नहीं किन्तु उच्छृङ्खलतासी भी किसी २ को भासने लगती है। यथार्थतया हृदयङ्गम नहीं बन पाती।

सक्तुः कसतेर्विपरीतस्य विकसितो भवति।

अर्थात् सक्तु शब्द को सच धातु से भी बनालो अथवा कस धातु को बदल के 'सक' कर लो जिससे सक्तु का अर्थ विकसित हो जायगा। इसी प्रकार कश्यप शब्द है—

कश्यपः कस्मात् पश्यको भवति।

कश्यप का अर्थ अक्षरों को बदलकर पश्यक बन जायगा। जिसका अर्थ देखने वाला—द्रष्टा हो जायगा।

वैदिक स्कालरों की दृष्टि में यह अति स्वतन्त्रता बिना किसी आधार के उच्छृङ्खलता में ही परिवर्त्तित होती दीखती है, इस प्रकार से किये हुए अर्थों की प्रामाणिकता नहीं रहती। अन्य भी इस प्रकार की अनेक समस्यायें हैं, जो अनुसन्धान का विषय बनी हुई हैं। उदाहरणार्थ वेदभाष्य में पाठभेद का प्रश्न स्कालरों के सामने हिमाचल के शिखर के समान खड़ा है, इसी प्रकार पदपाठ का प्रश्न अत्यन्त जटिल है। पदपाठकारों में बड़ा मतभेद है। उदाहरण के लिये, मित्रपद को ही लें। मित्र शब्द के सम्बन्ध में अनेक मतभेद हैं। किसी का मत है कि मि + त्र यह पृथक् शब्द है। इस प्रकार कुहक। कोई कहता है 'कुहक' यह एक ही शब्द है। दूसरे कहते हैं नहीं ये अलग-अलग हैं, 'कुह + कः' इत्याकारक पृथक् हैं।

इसी प्रकार पदों के सन्धिबन्धों में भी बड़ा मतभेद है जिसका विस्तारभय से इस लघु लेख में वर्णन करना सम्भव भी नहीं और न वाञ्छनीय है। वास्तव में वेद के वास्तविक अर्थों को प्रकाशित करने के लिये उन समस्याओं का अनुसंधान द्वारा कोई एक सर्वसम्मत [सं०]

निर्णीत समाधान करना परम आवश्यक है। इसके अतिरिक्त प्राचीन वेदार्थ प्रकाशनार्थ, उपलब्ध ग्रन्थों के आलोक में ही, अभिनव सारगर्भित भाष्य की आवश्यकता है, सम्प्रति उपलब्ध भाष्य पर्याप्त नहीं हैं, सन्तोषजनक भी नहीं। इस दृष्टि से तो वैदिकवाङ्मय महार्णव का मन्थन कर सार निष्कर्षण करने के हेतु हम अभी तक उसके किनारे पर ही खड़े हैं। वैदिक विद्वान् मेक्समूलर ने ठीक ही कहा है :- जितने भी वेद के अनुवाद, इंगलिश, फ्रेंच और जर्मन भाषाओं में हुए हैं, वे वेदों के रहस्यों को समझने के लिये पर्याप्त हैं या उनसे सब कुछ वेदरहस्य हमने सीख लिया—यह धारणा अवास्तविक है।

Every one of these translations has been put forward is a tentime only. I myself though during the last thirty years I have given translations of a number of the more important hymns of the Veda ought to be, as I venture to call it, of twelve hymns only...we are still on the mere surface of Vedic Literature".

भावार्थ यह है—मैंने भी ३० वर्ष के लम्बे समय के परिशीलन के पश्चात् केवल १२ मन्त्रों की विशद व्याख्या दी है। परन्तु दावे से कह सकता हूँ कि अभी हम वेदार्थ-रहस्य के ऊपर के स्तर पर ही खड़े हैं।

वेदों के भाष्यकारों में सायण का नाम प्रमुख है। वास्तव में सायण ने बड़ा ही प्रयत्न किया और बहुत अंशों में हम सायणाचार्य को सफल भाष्यकारों की पंक्ति में इस दृष्टि से रख सकते हैं कि यदि सायण का भाष्य न होता तो वेद नितान्त अन्धकार में ही रहते। परन्तु सायण को एक प्रामाणिक तथा विश्वसनीय भाष्यकर्त्ता के रूप में स्वीकार करने को कोई स्वतन्त्रप्रज्ञ बाध्य नहीं हो सकता। कारण, सायण का भाष्य एकदेशी, सङ्कुचित तथा परिमित तथा सीमित है, इसलिये सायण के भाष्य को सर्वाङ्गपूर्ण भाष्य नहीं कहा जा सकता। सायण का भाष्य उसके महान् एवं विशद पाण्डित्य पर जितना प्रकाश डालता है उतना भाष्योत्कर्ष का द्योतक नहीं। इसलिये सायण आदि भाष्य एक पूर्णाङ्ग यथार्थ भाष्य की अभिव्यक्ति में सहायक तो हो सकते हैं परन्तु आदर्श सम्मान के योग्य नहीं हो सकते। कारण, सायणकृत समस्त भाष्य कर्मकाण्ड से निरतिशय प्रभावित हुआ है। वेद के व्यापक, विशद, आध्यात्मिक तथा वैज्ञानिक एवं दार्शनिक अर्थों पर उसका ध्यान बहुत कम गया है, तथा वेदों में जो उपाख्यान, गाथाएँ आदि वेद के गम्भीर तत्त्वों को प्ररोचनात्मक रूप से सर्वसाधारण को समझाने के लिये आई हैं, उनकी सायणव्याख्या पौराणिक गाथाओं के आधार से ही की गई प्रतीत होती हैं। अतः उन अर्थों की पूर्ण प्रामाणिकता नहीं स्वीकार की जा सकती। सायणाचार्य वेदों को बहुत करके यज्ञविषयक रहस्यों का स्पष्टीकरण करने वाले ग्रन्थ ही मानते हैं। अतः उन्होंने प्रायः अपना सारा पाण्डित्य यज्ञप्रणाली की येन केनापि प्रकारेण अभिव्यक्ति करने के लिये ही लगाकर वेदों की व्याख्या की है। आश्चर्य तो यह है कि कोई भी शब्द क्यों न हो उसको उन्होंने यज्ञपरक ही लगाया है। उदाहरण के लिये कुछ शब्द नीचे दिये जाते हैं।

मर्त्त्यासः = यजमानाः (ऋ० १।१४४।५)
जन्तुभिः = ऋत्विग्भिः (३।२।५)
दाशुषे = यजमानाय
कवयः = क्रान्तदर्शिनो यजमानाः (३।८।४)

इन विभिन्नार्थक शब्दों को तोड़-मरोड़कर यज्ञपरक यजमान या ऋत्विक्परक ही लगा दिया। क्या इस प्रकार के अर्थ करने से वेद के यथार्थ रहस्य का पता लग सकता है ? कदापि नहीं। अतः सायण का भाष्य भी यथार्थ भाष्य की दृष्टि से प्रामाणिकता की कोटि में नहीं आ सकता है। रहे साम्प्रतिक भाष्यकार महर्षि दयानन्द जी महाराज। उन्होंने भी यद्यपि यास्क की शैली को पसन्द किया है। यास्क की शैली निर्वचन-पद्धति पर अवलम्बित है, जो हमारी समझ में सर्वश्रेष्ठ पद्धति है। इसमें सन्देह नहीं कि स्वामी जी ने वेदार्थ कैसा होना चाहिये इसका एक बुद्धिसङ्गत एवं हृदयङ्गम मार्ग-प्रदर्शन किया है। तथापि कइयों की दृष्टि में उनके भाष्य में भी पूर्णता दृष्टिगोचर नहीं होती, बहुधा पिष्टपेषण सा हो गया है। 'पुनरुक्तमेव विषयमाह' 'पुनरुक्ति' मात्र ही प्रतीत होती है। पूर्वोक्त-विषय होने पर भी तद्भिन्न तत्सदृश होना चाहिये। सर्वसाधारण की समझ में नहीं आता, अतः वह वैदिक विद्वानों के आदर्श भाष्य का निदर्शकमात्र ही हो सकता है।

स्वामी दयानन्द जी के भाष्य की चित्ताकर्षक विशेषता यह है कि वह वेद में वैज्ञानिक तत्त्व, शिल्प-कला की तरफ भी संकेत करता और वेदों में विद्युत् शास्त्र, वायु-यान, तार आदि के विज्ञान का प्रतिपादन करता है। यह किसी भी भाष्यकार ने नहीं लिखा। केवल वेदों को कर्म-काण्डपरक ग्रन्थ ही मानकर उनको सङ्कीर्ण तथा विशेष-महत्त्वहीन बना दिया।

हमारे दुर्भाग्य से महर्षि दयानन्द दीर्घायु न हो सके और उनका कार्य अपूर्ण एवं अधूरा रह गया। क्या आर्य समाज या आर्य-बन्धु इस तरफ ध्यान देंगे।

वेदों में वैज्ञानिक तत्त्व भरा पड़ा है। सूत्र तथा संक्षिप्त रूप से वेदों में अनेक विद्याओं एवं विज्ञानों का वर्णन है इसमें कोई सन्देह नहीं॥

महर्षि दयानन्द दीक्षाशताब्दी मथुरा का विशाल नगरकीर्त्तन (जलूस)

[वेदवाणी के विशेष संवाददाता द्वारा प्राप्त]

दीक्षा-शताब्दी के पूरे समाचार पाठक अन्यत्र पढ़ेंगे। हम केवल जलूस का परिचय ही इस समय दे रहे हैं। श्रद्धा-भक्ति का यह एक बाह्य प्रदर्शन होने पर भी यह उक्त समुदाय के उत्साहवर्धन की वस्तु अवश्य होती है। सो मथुरा में लगभग ३ लाख आर्य पहुँचे थे। यदि मथुरा नगर के बाहिर ही जलूस ने जाना होता, तब कहीं सब आर्य जलूस में समा सकते थे। गुरुवर दण्डी विरजानन्द की कुटिया बाज़ार के भीतर थी, जहाँ बाज़ार चौड़ा न था। हमें पता है कि भीड़ में कहीं भिंच कर मर ही न जावें (क्योंकि बाजार चौड़ाई में बहुत ही छोटा था), इस भय से आर्यबन्धु होरी दरवाजे के बाहिर से ही जलूस देख रहे थे, अन्दर नहीं गये। ऐसा करना ही ठीक था। बहुतों के पास कपड़े का बोर्ड आदि नहीं था, इससे सब स्थानों के नाम लिखने में नहीं आ सके॥

होरी दरवाजे के बाहिर पहुँचने पर मेरे मन में सहसा विचार हुआ, कि सब मण्डलियों के नाम संख्यासहित लिखे जावें। न जाने कोई लिखे या न लिखे। 'अनाहूतः प्रविशति' स्वयं ही स्वयंसेवक बन गया। सन् १९२५ की मथुरा शताब्दी के जलूस की सब मण्डलियों के नाम भी इन पङ्क्तियों के लेखक ने लिखे थे। वह जलूस बहुत भारी था। उसमें खुली जगह अधिक थी॥

होरी दरवाजे के बाहिर चौराहे पर खड़े पुलिस के सिपाही ने बहुत ही प्रेम से मुझे अपनी गोल चबूतरी पर खड़े होकर लिखने की अनुमति ही नहीं दी, सहयोग भी दिया जिसके लिये मथुरा के पुलिस अधिकारियों को धन्यवाद है। एक आर्य नवयुवक ने बहुत सहयोग दिया। वह बोलता जाता था। मैं लिखता जाता था। गिनती दोनों ही करते जाते थे (पीछे पता लगा कि यह नवयुवक सी० आई० डी० का था, जिससे मुझे और भी प्रसन्नता हुई)। प्रायः मण्डलियों के आगे कपड़े पर सुन्दर अक्षरों में निर्देशक वाक्य (साईन बोर्ड) दोनों ओर आर्यबन्धु पकड़े थे। उत्साह और भक्ति का पारावार न था। कुछ साधु महात्मा तक वैदिक नृत्य कर रहे थे। मातायें पुत्रियां परम उल्लसित थीं। नवयुवकों की प्रसन्नता का ठिकाना न था। गुरुवर विरजानन्द जी की कुटिया पर हर एक मण्डली का दृश्य अभूतपूर्व था, ऐसा पता लगा।

जलूस का क्रम प्रारम्भ में होरी दरवाजे पर निम्न प्रकार था, आगे जाकर पता नहीं जलूस कहां तक बढ़ गया होगा, यह किसी अन्य आर्य भाई ने नोट किया हो तो पता लगे॥

(१) ठीक ३ बजे होरी दरवाजे पर 'ओ३म्' का झण्डा लिये जीप पर ८ प्रतिष्ठित आर्य पहुँचे थे।

(२) बैण्ड गुरुकुल सोनगढ़ (सौराष्ट्र) के २० नव-युवकों का तथा गुरुकुल सोनगढ़ की भारी मण्डली थी।

(३) श्री स्वामी आनन्द भिक्षु जी हाथी पर थे पीछे बीन भी थीं।

(४) मण्डली आर्यसमाज बस्ती हरफूलसिंह (देहली) ५० आर्यपुरुष
(५) संन्यासी-वानप्रस्थ मण्डल ५०
(६) घुडसवार (उत्तम घोड़ों सहित) १२
(७) देहली आ.स. बिडलालाइन नवयुवक २०
(८) आर्य वीर दल रोहतक २०
(९) ,, ,, गाजीपुर २०
(१०) ,, ,, बम्बई २०
(११) ,, ,, आगरा ३२
(१२) ,, ,, अलीगढ़ २०
(१३) ,, ,, तथा आर्यसमाज शाहगंज ६०
(१४) आर्य समाज सुलतानपुर ५०
(१५) डी० ए० वी० स्कूल अलीगढ़ २०
(१६) आ० स० रानी सराय (आजमगढ़) ५०
(१७) आ० स० गूना २०
(१८) आ० स० मुंगेर (बिहार) १५
(१९) बैण्ड सुन्दर १५
(२०) आ० स० निजामाबाद (हैदराबाद) २०
(२१) ,, ,, हापुड़ २०
(२२) ,, ,, मतिकुआं १०
(२३) ,, ,, सोनीपत २०
(२४) ,, ,, बुलन्दशहर २५
(२५) वैदिक लोधी कालेज २५
(२६) आ० स० लोधीरोड २५
(२७) व्यायाम शा० आ० स० लोधीरोड २५
(२८) आ० स० आगरा २५
(२९) आ० स० करनाल ६०
(३०) स्त्री० ,, ,, ६०
(३१) देहली विद्यालय २०
(३२) आ० स० रोहतक ७५
(३३) स्त्री० ,, ,, ५०
(३४) कन्या गुरुकुल नरेला २०
(३५) आ० स० काशीपुर (स्त्री-पुरुष) ५०
(३६) गुरुकुल भैंसवाल ६०
(३७) ,, झज्झर ५०
(३८) वेदविद्यालय देहली ३०
(३९) आर्य युवक समाज हिसार ३०
(४०) आ० स० यमुनानगर २५
(४१) ,, ,, कादियां (पंजाब) १५
(४२) आ० स० फतहगढ़ २०
(४३) दयानन्द उपदेशक विद्यालय (यमुनानगर) ३०
(४४) आ० स० सराय रुहेला (देहली) ६०
(४५) ,, ,, जि० रोहतक २०
(४६) जिला रोहतक मण्डल ७५
(४७) आ० स० जींद ८०
(४८) दयानन्द महाविद्यालय रोहतक ४२
(४९) आ० स० गोहाना (पंजाब) ६०
(५०) ,, ,, सिंहपुरा (रोहतक) ७०
(५१) ,, ,, रिवाड़ी (पंजाब) ५०
(५२) ,, ,, लाडवा-कुरुक्षेत्र २०
(५३) ,, ,, कैथल (पंजाब) २५
(५४) ,, ,, बल्लभगढ़ ,, ३०
(५५) ,, ,, हिसार ,, २४
(५६) ,, ,, भिवानी ,, २१
(५७) ,, ,, लड्डूघाटी (देहली) २०
(५८) ,, ,, अन्धा मुगल ,, २०
(५९) अमृत पी देहली ? २०
(६०) ,, ,, भरतपुर १५०
(६१) ,, ,, दीवान हाल (देहली) १००
(६२) ,, ,, करौल बाग ,, १००
(६३) स्त्री आ० स० पहाड़गंज (मातायें) देहली १०
(६४) स्त्री आ० विनयनगर देहली ६०
(६५) ,, ,, ,, राजेन्द्र नगर ,, १२०
(६६) आ० स० ,, पुरुष ६०
(६७) ,, ,, विनयनगर (पुरुष) देहली ६०
(६८) ,, ,, करौलबाग ,, ,, १००
(६९) ,, ,, गांधी नगर ,, २०
(७०) ,, ,, सुरीर (मथुरा) २५
(७१) स्त्री आ० स० लाजपतनगर (देहली) ५०
(७२) आ० स० ,, (पुरुष) १२०
(७३) आ० स० माडल बस्ती (देहली) २५
(७४) ,, ,, बुलन्दशहर ५०
(७५) आ० स० शाहदरा (देहली) स्त्री ३०
(७६) ,, ,, पटेलनगर (स्त्री) ४०
(७७) ,, ,, ,, (पुरुष) ७०
(७८) आ० स० करौल बाग (पुरुष) ४०
(७९) ,, ,, रैगर पुरा (पुरुष) २५

(८०) आ० स० रैगरपुरा (मातायें)	२५
(८१) ,, ,, दरियागंज	२०
(८२) स्त्री० आर्य समाज दरियागंज (देहली)	२०
(८३) आ० स० व्याना (भरतपुर) स्त्री	१५
(८४) ,, ,, ,, भरतपुर (पुरुष)	२०
(८५) कन्या गुरुकुल भूसावर (भरतपुर)	२०
(८६) आ० स० लखनऊ	३०
(८७) कन्या गुरुकुल सासनी (हाथरस)	१६०
(८८) आ० स० बिहारीपुर (बरेली)	१००
(८९) स्त्री ,, ,, ,,	५०
(९०) स्त्री आ० स० बिजनौर	२०
(९१) आ० स० घाटमपुर (कानपुर)	१००
(९२) आ० स० तथा गुरुकुल सिरसागंज (मैनपुरी)	१५
(९३) बम्बई आ० स० बेगम	६०
(९४) आ० उपप्रतिनिधि सभा बिजनौर	५०
(९५) आ० स० जि० हिसार	५०
(९६) स्त्री आ० स० सीसा मऊ (कानपुर)	२५
(९७) ,, ,, ,, गाज़ीपुर	४०
(९८) ,, ,, ,, हरदोई	६०
(९९) ,, ,, ,, आगरा सिटी	२५
(१००) आ० स० ,, (पुरुष)	५०
(१०१) ,, ,, शाहजहांपुर	११
(१०२) अनाथालय आगरा (स्त्री)	२५
(१०३) स्त्री आ० स० नाई की मण्डी आगरा	५०
(१०४) पुरुष ,, ,, ,, ,,	८५
(१०५) आ० स० फैजाबाद	२५
(१०६) आ० स० इतरौल (जि० गोण्डा)	२५
(१०७) आ० स० हल्द्वानी (नैनीताल)	४५
(१०८) आ० स० फीरोजपुर (पंजाब)	५०
(१०९) स्त्री आ० स० ,, ,,	२५
(११०) आ० स० दाल बाजार लुधियाना	२५
(१११) स्त्री आ० स० ,, ,,	२५
(११२) आ० स० अतरौली (अलीगढ़)	१५
(११३) ,, ,, नैनूं ?	१५
(११४) आ० प्रतिनिधि सभा बम्बई	२८०
(११५) स्त्री आ० ,, बम्बई	५०
(११६) आ० स० अलीगढ़ (२० मोटी सहित)	२००
(११७) ,, ,, हरदुआ गंज (अलीगढ़)	२०
(११८) ,, ,, मुरसान ,,	२८

(११९) स्त्री आ० स० बरौठा (अलीगढ़)
(१२०) साधु आश्रम पुल काली नदी ,,
(१२१) आ० स० बिन्दकी
(१२२) आ० स० सीसा मऊ (कानपुर) पुरुष
(१२३) स्त्री आ० स० अलीगढ़
(१२४) ,, ,, ,, हाथरस
(१२५) आ० ,, ,, (पुरुष)
(१२६) आ० स० मेण्डू (अलीगढ़)
(१२७) ,, ,, सिकन्दरपुर (अलीगढ़)
(१२८) ,, ,, नगौला ,,
(१२९) ,, ,, कौडियागंज ,,
(१३०) ,, ,, जलाली ,,
(१३१) ,, ,, शाहगढ़ (स्त्री-पुरुष) ,,
(१३२) ,, ,, कचौरा (अलीगढ़) स्त्री
(१३३) ,, ,, ,, ,, पुरुष
(१३४) आ० स० गुरुकुल वृन्दावन
(१३५) स्त्री आ० स० गाजियाबाद
(१३६) आ० स० दौराला (मेरठ)
(१३७) ,, ,, जानी ,,
(१३८) आ० उप प्रति० सभा मथुरा
(१३९) ,, स० वाजना (अलीगढ़)
(१४०) स्त्री आ० स० जिला झांसी
(१४१) पुरुष ,, ,, ,,
(१४२) आ० स० मोठ (झांसी)
(१४३) वानप्रस्थ आश्रम ज्वालापुर (स्त्री-पुरुष)
(१४४) स्त्री आ० स० मेरठ
(१४५) आर्ष गुरुकुल एटा
(१४६) आ० स० एटा
(१४७) ,, ,, कानपुर
(१४८) ,, ,, गंजडुंडवारा (एटा)
(१४९) ,, ,, ,, (स्त्री) ,,
(१५०) ,, ,, जि० एटा
(१५१) ,, ,, पैहलादपुर जि० एटा
(१५२) ,, ,, भरथारी (पुरुष-स्त्री)
(१५३) स्त्री० आ० स० वाजिदपुर (मेरठ)
(१५४) आर्य महाविद्यालय किरठल
(१५५) आ० स० दीवान हाल (मातायें)
(१५६) आ० स० सीतापुर (स्त्री-पुरुष)
(१५७) विहार प्रान्तीय आर्य समाज

(१५८) आ० स० चम्पारन	५०	(१९७) मध्यप्रदेश नागपुरकी आर्य समाजें	२००
(१५९) ,, ,, सारन	५०	(१९८) आ० स० रीवां, सतना	११
(१६०) ,, ,, दानापुर	५०	(१९९) ,, ,, छतरपुर (म० प्र०)	६०
(१६१) ,, ,, पटना	५०	(२००) ,, ,, देहरादून	१२०
(१६२) ,, ,, गया	२५	(२०१) ,, ,, बेलून (बुलन्दशहर)	२५
(१६३) आ० स० फीरोजाबाद (आगरा)	५०	(२०२) ,, ,, ,, (डलहौज़ी)	२
(१६४) स्त्री ,, बदायूँ	५०	(२०३) स्त्री ,, जहांगीराबाद (बुलन्दशहर)	१५
(१६५) आ० स० गोण्डा	२५	(२०४) स्त्री ,, बुलन्दशहर (,,)	१५
(१६६) ,, ,, बलरामपुर	२०	(२०५) आ० स० नोगांव (,,)	१५
(१६७) ,, ,, गुड़गाँव	२०	(२०६) ,, ,, दादरी (,,)	१५
(१६८) स्त्री ,, ,,	२५	(२०७) ,, ,, इन्दौर (,,)	१५
(१६९) आ० स० देहली शाहदरा	१५०	(२०८) ,, ,, गंगापुर (,,)	२०
(१७०) स्त्री ,, ,, ,,	२०	(२०९) ,, ,, खुरजा (,,)	१५
(१७१) आ० स० प्रयाग	१००	(२१०) ,, ,, जहांगीराबाद (,,) पुरुष	३५
(१७२) स्त्री ,, ,,	१५	(२११) ,, ,, कैंधाला (बुलन्दशहर)	१६
(१७३) आ० स० बस्ती	६०	(२१२) ,, ,, शेखपुर ,,	२०
(१७४) ,, ,, फतहपुर	५०	(२१३) ,, ,, जैसि ,,	१०
(१७५) ,, ,, शाहपुरा (राजस्थान)	७०	(२१४) ,, ,, कोसीकलां (मथुरा)	५०
(१७६) स्त्री आ० स० जयपुर	५१	(२१५) ,, ,, चनोट (गढ़वाल)	५०
(१७७) पुरुष ,, ,, ,,	१५०	(२१६) ,, ,, भूपाल	४०
(१७८) स्त्री आ० स० भरतपुर	३५	(२१७) ,, ,, मुरैनी (म० प्र०)	२५
(१७९) पुरुष ,, ,, ,,	५०	(२१८) ,, " अम्बाः ,,	२५
(१८०) आ० स० विरजानन्दनगर मथुरा	३०	(२१९) ,, ,, मुज़फ्फरपुर (बिहार)	२५
(१८१) ,, ,, विरडगै राजस्थान	१०	(२२०) ,, ,, खतौली	३०
(१८२) ,, ,, पुजार (नीमाड़)	१०	(२२१) ,, ,, मुजफ्फरनगर (स्त्री-पुरुष)	१००
(१८३) ,, ,, कुंवा (मध्यप्रदेश)	१००	(२२२) ,, ,, भरथना (इटावा)	१००
(१८४) स्त्री ,, टंकारा (सौराष्ट्र)	८	(२२३) ,, ,, औरैय्या ,,	१०
(१८५) टंकारा ट्रस्ट (,,)	८०	(२२४) ,, ,, बकेवर ,,	१०
(१८६) आ० स० मगनी गांव (राजस्थान)	२५	(२२५) ,, ,, पूरनपुर (पीलीभीत)	१५
(१८७) आ० स० सवाई माधोसिंह (राजस्थान)	२५	(२२६) ,, ,, सोरों	१५
(१८८) वेदप्रचार मण्डल कोटा (राजस्थान) स्त्री-पुरुष	५०	(२२७) ,, ,, फर्रूखाबाद	२५
(१८९) आ० स० आज़मगढ़	६०	(२२८) ,, ,, कायमगंज	२५
(१९०) आ० स० छीपरा बड़ौद जि० कोटा	२०	(२२९) ,, ,, ढडियाल	२०
(१९१) आ० स० गंगानगर (राजस्थान)	१५	(२३०) महिला आ० स० कायमगंज	२०
(१९२) ,, ,, किशनगंज कोटा (राजस्थान)	५०	(२३१) आ० स० अम्बाला छावनी पंजाब (स्त्री-पुरुष)	५०
(१९३) स्त्री आ० स० बांदी कुई	१०	(२३२) आ० स० जिला प्रयाग	५०
(१९४) आ० स० छोटी सादड़ी (राजस्थान)	१५	(२३३) ,, ,, रानीमण्डी (प्रयाग)	१५
(१९५) ,, ,, डांगोवात (,,)	१५	(२३४) ,, ,, आज़मगढ़	१६०
(१९६) स्त्री ,, राजगढ़ (अलवर)	१५	(२३५) ,, ,, सुजानगढ़	२०

(२३६) आ० स० पलवल ५०
(२३७) मण्डली आ० स० पलपल २००
(२३८) आ० प्रति० सभा मुरादाबाद (१५०स्त्री + १५० पुरुष)
(२३९) आ० स० चन्दौसी (मुरादाबाद) स्त्री-पुरुष १००
(२४०) ,, ,, मुरादाबाद १००
(२४१) ,, ,, सखड़ा बिशनोई २०
(२४२) ,, ,, ब्रह्मपुर मेरठ २०
(२४३) ,, ,, लखीमपुर खीरी ६०
(२४४) ,, ,, मैनपुरी ५०
(२४५) आ० प्र० सभा मैनपुरी २५
(२४६) ,, स० नवाबगंज १५
(२४७) ,, ,, जगतपुर (बरेली) ५५
(२४८) ,, ,, अमृतसर (पंजाब) ५०
(२४९) ,, ,, मुरसान ५०
(२५०) ,, ,, लश्कर (ग्वालियर) स्त्री-पुरुष २००
(२५१) ,, ,, किंग्जवे देहली २०
(२५२) ,, ,, सिटी लखनऊ १५
(२५३) ,, ,, आलमबाग (लखनऊ) ६०
(२५४) ,, ,, रक्षामण्डल रकाबगंज ,, १२
(२५५) ,, ,, नानपारा (उत्तर प्रदेश) ६०
(२५६) आर्य वीरदल पाली २०
(२५७) आ० स० गोरखपुर ६०
(२५८) ,, ,, शिकोहाबाद ३०
(२५९) ,, ,, नासिर नगला (मेरठ) २५
(२६०) ,, ,, बड़ौत (मेरठ) २५
(२६१) आ० स० मध्य दक्षिण हैदराबाद
(२६२) ,, ,, औरंगाबाद ५००
(२६३) आ० स० काशी २०
(२६४) आ० वी० द० काशी
(२६५) आ० स० देवरिया
(२६६) ,, ,, जौनपुर
(२६७) ,, ,, पन्ना (म० प्र०)
(२६८) ,, ,, कुण्ठल (मेरठ)
(२६९) ,, ,, दीघ्वा (बम्बई)
(२७०) आ० क० विद्यालय (मथुरा)
(२७१) आ० स० बयाना (राजस्थान)
(२७२) आ० वि० भोटाना
(२७३) बैण्ड १५ का १५
(२७४) घोड़ा-बग्घी पर, स्वामी अभेदानन्द, पं० हरिशंकर, श्रीघनश्याम सिंह गुप्त, बा० पूर्ण चन्द जी आदि नेता ४
(२७५) स्त्री समाज महमूदपुर ५०
(२७६) पुरुष ,, ,, १५०
(२७७) आ० स० गंगोह (सहारनपुर) ३०
(२७८) हाथी पर कुछ सज्जन ६
(२७९) बग्घी पर ? ४
(२८०) आ० स० बिजनौर ५०
(२८१) स्त्री आ० स० बिजनौर २०
(२८२) हाथी पर कुछ व्यक्ति
(२८३) ट्रैक्टर पर स्त्री पुरुष १००

मण्डलियों का क्रम जलूस बढ़ने पर आगे-पीछे हो जाना सम्भव है। श्री वसिष्ठ स्वामी जी ने भारी ज्वर चढ़ा होने पर भी छोटी लाइन के पुल पर खड़े होकर जलूस का क्रम लिखा। उन्होंने "आर्य गजट" जालन्धर (पंजाब) के १० जनवरी १९६० के अङ्क में १३८ मण्डली तक का विवरण लिखा है। बुखार अधिक होने से उन्हें लिखना छोड़ देना पड़ा। मेरे लिखे अनुसार मण्डलियों की संख्या २८४ है ॥ यह होरी दरवाजे के बाहिर का वृत्तान्त है। मैंने २८४ मण्डलियों को देखने का तो प्रयत्न किया पर सब का बोर्ड नहीं देख पाया। गिना मैंने भी सबको प्रायः। यह मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि मण्डलियां जितनी लिखी हैं इनसे भी अधिक थीं। आगे जाकर अवश्य बढ़ी होगी। उनका क्रम आगे जाकर वैसा नहीं रहा। आर्य समाज देश में कहां तक व्यापक है और इतने घोर शीत काल में भी, जब कि ठहरने के लिये स्थान तक भी पूरा नहीं मिला, आर्य नर-नारियों की भक्ति और श्रद्धा और धर्य एवं सहनशीलता और अनुशासन का अनुपम प्रमाण मथुरा समारोह के इस अवसर पर देखने में आया। बड़े-बड़ों को जगह न मिल पाई। पण्डों ने इस विवशता से घोर लाभ उठाया। और छोटे २ स्थान (कोठरी) का २०) रुपया एक रात्रि का लिया। प्रबन्धकों के वश से बाहिर हो जाना स्वाभाविक था। २५ हजार के आने की आशा थी, आगये २॥ लाख ॥ कौन किससे शिकायत करे॥ आर्य नर नारियों को मिला क्या ? प्रेरणा वा आत्मसन्तोष, जो जीवन भर स्मरण रहेगा, यह लाभ भी कम नहीं ॥

हा केदारनाथ सारस्वत !

[श्री पं० गोपालशास्त्री दर्शनकेशरी—ज्योतिर्मठ]

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलङ्करणं भुवः ।
तदपितत्क्षणभङ्गुकरोतिचेदहहकष्टमपण्डितता विधेः ।।

जब मैंने अपने छोटे भाई, इस महापुरुष का महाप्रयाण सुना तो यह ऊपर का पद्य मेरे मुंह से एकाएक निकल पड़ा कि ब्रह्मा जी पहले तो गुणों के खान पृथ्वी के अलंकार महापुरुष की सृष्टि करते हैं तो पीछे उसे क्षणभङ्ग क्यों बना देते हैं? यह उनका अविवेक बड़ा ही कष्टकर है।

पं० केदारनाथजी के साथ मेरा बाल्यकाल से ही सम्पर्क था। मैं इनके पिताजी का छात्र था और यह मेरे देख-भाल में थे। इनके पूज्य दादा पं० नित्यानन्द मीमांसकजी १९ उन्नीस वर्ष की अवस्था में काशी में आकर ऐसे अद्वितीय विद्वान् हुए कि शिवकुमार शास्त्री जी भी मीमांसा में उनसे शंका-समाधान करते थे। उन्हीं के पुत्र पं० पद्मनाभ शास्त्रीजी न्यायशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् हुए, जिनके सुपुत्र पं० केदारनाथजी ने अपने पिता और पितामह से ही सभी विद्याओं का अध्ययन किया। केदारनाथजी की विशिष्टता यह थी कि अपने पैत्रिक विद्या और सम्पत्ति के अतिरिक्त साहित्य एवं वैद्यक (आयुर्वेद) का अध्ययन किया था। इन विषयों का अध्ययन इन्होंने देवीप्रसाद जी कविचक्रवर्ती तथा म० म० पं० रामावतार शर्मा जी से साहित्य का और कविराज धर्मदास जी से आयुर्वेद का अध्ययन किया था।

अध्ययनोपरान्त इन्होंने रणवीर संस्कृत पाठशाला में अध्यापन करते हुए पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद शास्त्री धर्माचार्य तथा मेरी सहायता प्राप्त कर काशी में संस्कृत साहित्य समाज की स्थापना की और उसके द्वारा काशी के संस्कृत विद्वत्समाज में एवं संस्कृत छात्रों में जो जागृति और प्रगति-प्रेम उन्होंने उत्पन्न किया उसी का परिणाम है कि आज काशी का संस्कृत छात्रसङ्घ भी सभी क्षेत्रों में सुधारप्रेमी दीख पड़ता है।

पं० केदारनाथजी की ही प्रेरणा थी कि हम तीनों पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री, पं० केदारनाथजी तथा मैं "असाधना वित्तहीना बुद्धिमन्तः सुहृत्तमाः, साधयन्त्याशु कार्य्याणि काककूर्ममृगाखुवत् ।" इस नीति के बल पर १३ तेरह वर्ष तक संस्कृत साहित्य समाज काशी के मुखपत्र रूप से 'सुप्रभातम्' ऐसे प्रगतिप्रतिस्पर्द्धी संस्कृत पत्र को चलाया था। उस पत्र के प्राचीन पाठक विद्वत्समाज पं० केदारनाथजी का यह आकस्मिक महाप्रयाण सुनकर स्तब्ध हो गया है।

पं० केदारनाथजी ने समाज की सेवा तथा संस्कृत की सेवा के लिए काशी निवास का भी मोह छोड़ दिया था। जब राजर्षि टण्डन जी से मैंने उनका परिचय कराया। और राजर्षि जी ने भारतीय संस्कृत सम्मेलन का भार हम लोगों पर डालना चाहा तो वे ही उसमें अग्रसर होकर आज जीवन पर्य्यन्त उसकी सेवा करते रहे। और भारतीय संस्कृति सम्मेलन और अ० भा० सं० सम्मेलन की सेवा में ही इहलीला भी समाप्त कर दी।

म० म० पं० गिरिधर शर्मा जी ने संस्कृत साहित्य समाज काशी के हाथ में जो अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य-सम्मेलन का कार्य्य समर्पित किया था, उसमें पं० केदारनाथ जी की ही कर्मठता कारण थी। उन्हीं की कर्मठता ने तो बीच में शिथिल हुए भी अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन को पुनरुज्जीवित कर सारे भारतवर्ष में उसकी शाखा स्थापित कर दी हैं। तथा 'संस्कृतरत्नाकर' पत्रिका द्वारा एवं अखिल भारतीय संस्कृत प्रसार परीक्षा मण्डल की स्थापना कर संस्कृत भाषा के पुनः विश्व भर में प्रचार के लिए मार्ग खोल दिया है।

यह उनकी बहुत दिनों की स्कीम थी कि संस्कृत साहित्य सम्मेलन की एक अपनी परीक्षा पद्धति चलाई जाय और उसका एक बृहत् मुद्रणालय हो जिससे सभी विलुप्त संस्कृत भाषा की ग्रन्थराशि का पुनः प्रकाश हुआ करे। उसमें उन्होंने परीक्षा-प्रणाली का तो सञ्चालन प्रारंभ कर ही दिया है। जिसकी बागडोर पं० भट्ट मथुरानाथ

शास्त्री एवं डा० मण्डन मिश्र जी ऐसे कर्मठ सज्जनों के हाथ में छोड़ गये हैं। आशा है—ये लोग परीक्षा प्रसार का कार्य्य तथा संस्कृत साहित्य सम्मेलन को उत्तरोत्तर समृद्ध कर देंगे। उनके पट्टशिष्य पं० लीलाधर पाण्डेय भी उनके सिद्धान्तों एवं कार्य्यों से पूरे परिचित हैं। उनके कार्य्यों को पूर्ण करना तथा उनके एकमात्र पुत्र ओङ्कार की देख-भाल अब उन्हीं के शिर पर है।

समाज-सुधार में भी पं० केदारनाथजी हम तीनों में अग्रणी थे। उन्हीं ने काशी की शुद्धिसभा में आर्य्य सिद्धांत के कट्टर पोषक पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु से मेरा परिचय कराया। उन दिनों में काशी ऐसी सनातन धर्म की जाग्रत नगरी में संस्कृत विद्वत्समाज को भी पिछड़े भाइयों की शुद्धिकर समाज में सम्मिलित करने वाले प्रवर्तित करने के लिए पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु जी का प्रबल प्रयत्न था। उन्होंने कविचक्रवर्ती पं० देवीप्रसाद शुक्ल जी, पं० गिरीशजी न्यायाचार्य्य, स्वामी रामानन्द जी व्याकरणाचार्य्य आदि विशिष्ट विद्वानों को आकृष्ट कर लिया था। उसी आन्दोलन में पं० केदारनाथ जी की ही प्रेरणा से मैं और पं० विन्ध्येश्वरी प्रसाद शास्त्री सम्मिलत हुए और तभी से हम तीनों का सहयोग जिज्ञासुजी के सभी सामाजिक सुधार के कार्य्यों में रहने लगा जिसमें केदारनाथ जी ही अग्रगण्य थे। जिज्ञासुजी की पाणिनिपद्धति के प्रचार में पं० केदारनाथजी का कितना हाथ था, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि आज भारत में कौन वैयाकरण है जो पाणिनिपद्धति से परिचित नहीं है। दिल्ली में पाणिनि-पद्धति के ही उनके द्वारा प्रदत्त नामान्तर जिज्ञासुपद्धति पढ़ाने वाले विद्यालय का उद्घाटन उन्हीं की प्रेरणा से जिज्ञासुजी ने किया था। जिज्ञासुजी के पाणिनि-पद्धति के प्रचारार्थ काशी में काशी विद्वन्मण्डल की सहायता प्राप्त करना यह कार्य्य पं० केदारनाथजी के ही उद्योग का प्रत्यक्ष फल है। उन्हीं ने अपने लाहौरी टोले वाले स्थान पर म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी के हाथों पाणिनि महाविद्यालय का उद्घाटन कराया था जिसमें काशी के प्रमुख विद्वानों ने जिज्ञासुजी की पाणिनि-पद्धति का परिचय प्राप्त किया और तभी से पाणिनि-पद्धति के प्रचार में उनका साथ दे रहे हैं।

बस यही केदारनाथजी का संक्षिप्त परिचय है। यों तो उनके अदम्य उत्साह एवं संस्कृत प्रचारार्थ जी तोड़ परिश्रम से सभी संस्कृत विद्वत्समाज पूरा परिचित ही है। मेरी लेखनी भी तो उनके शोक से आगे नहीं बढ़ रही है।

स्वर्गीय पंडित केदारनाथ शर्मा सारस्वत

[संक्षिप्त जीवन-परिचय]

[*श्री देवीनारायण जी एडवोकेट वाराणसी*]

काशी के प्रसिद्ध विद्वान्, लेखक तथा वक्ता पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत जी का एकाएक स्वर्गवास ५ दिसम्बर सन् १९५९ को कमलानगर दिल्ली में होगया। उनका जन्म १३ मार्च सन् १९०३ ई० को काशी में हुआ था। उन्होंने संस्कृत वाङ्मय की सच्ची सेवा की और अपने थोड़े जीवन में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य्य किए।

उनके पितामह पं० नित्यानन्द मीमांसक जी हरिपुर कांगड़ा के प्राचीन कुल के सारस्वत ब्राह्मण थे। वह एक सौ वर्ष पूर्व पंजाब से काशी आये। काशी के प्रसिद्ध शाह अग्रवाल खानदान ने उनको आश्रय दिया। उन्होंने मीमांसा शास्त्र का पूर्ण अध्ययन किया। आप मीमांसा शास्त्र के प्रसिद्ध अध्यापक होगए। उन्होंने रणवीर जम्बू काश्मीर पाठशाला में बहुत दिनों तक अध्यापन का कार्य्य किया।

उनके पुत्र सर्वतन्त्र स्वतन्त्र पंडितप्रवर पद्मनाभ शास्त्री जी षड्दर्शनाचार्य थे। वह केवल काशी ही नहीं बल्कि भारत के प्रसिद्ध विद्वान्, प्रचारक तथा धार्मिक नेता थे। उन्होंने भी बहुत दिनों तक रणवीर संस्कृत पाठशाला तथा हिंदू-विश्वविद्यालय में सांख्य, योग, वेदान्त

तथा नव्य न्याय की शिक्षा दी। उनका देहान्त १ मार्च सन् १९४१ को काशी के केदार घाट पर हुआ। उनके एक मात्र पुत्र पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत जी ने उनकी अन्तिम क्रिया बड़ी श्रद्धा भक्ति से की। एक बहुत बड़ी काशी के पण्डित मण्डल की सभा हुई जिसमें काशी के सम्पूर्ण विद्वद्गण उपस्थित थे। उनका एक स्मृति ग्रंथ भी तय्यार किया गया।

पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत साहित्य के उच्चकोटि के विद्वान् थे। आपने पञ्जाब से शास्त्री परीक्षा पास की थी। आपकी संस्कृत लेखन शैली अत्यन्त सरल, मधुर तथा प्रभावशालिनी थी। आप संस्कृत में अत्यन्त सुन्दर कविता करते थे, उससे आपका संस्कृत भाषण बड़ा मार्मिक होता था। आपने एकबार 'केन्द्रीय संस्कृत प्रचार आयोग' व बोर्ड में कहा कि संस्कृत बोर्ड में अंग्रेजी में भाषण नहीं होना चाहिए अपितु संस्कृत में होना उचित है। वह अत्यन्त निर्भीक, स्पष्ट वक्ता तथा हंसी हंसी में बड़े उच्चभाव प्रकट कर देते थे। आपने अपने गुरुदेव म. म. पं० देवीप्रसाद शुक्ल कविचक्रवर्ती तथा न्यायाचार्य पं० गिरीश शुक्ल आदि की सहायता से 'सुप्रभातम्' नाम की मासिक पत्रिका संस्कृत भाषा में सन् १९२७ ई० से निकाली। उसकी संस्कृत भाषा अत्यन्त सरल, तथा मनोरम थी। उसमें उच्चकोटि के साहित्यिक, ऐतिहासिक, धार्मिक तथा राजनैतिक लेख निकलते थे। उसमें आधुनिक संस्कृत कविताएँ भी विशेष रूप से प्रकाशित हुई हैं। उसके प्रधान सम्पादक पं० केदारदाथ सारस्वत जी थे। प्रायः २३ वर्षों तक 'सुप्रभातम्' प्रकाशित हुआ। इसमें इतने महत्वपूर्ण तथा रोचक लेख और कवितायें निकलती थीं कि भारत के कोने कोने में इसकी मांग होगई थी। इससे छात्रगण का संस्कृत सीखने में बड़ा लाभ हुआ।

पं० केदारनाथ जी रणवीर संस्कृत पाठशाला में बहुत दिनों तक साहित्य के अध्यापक थे। कुछ दिनों राजकीय संस्कृत विद्यालय में भी आपने कार्य्य किया। परन्तु आपकी मार्मिक तथा विस्तृत संस्कृत सेवा दिल्ली राजधानी में हुई। आप वहां सन् १९५० ई० में गए और वहां संस्कृत साहित्य, संस्कृत वाङ्मय तथा भारतीय संस्कृति का अद्भुत प्रचार किया। दिल्ली में तथा पञ्जाब में पाठशालायें खोलीं और ब्रह्मचर्य आश्रम खोले। दिल्ली में फारसी और उर्दू का दौर दौरा था। वहां आपने संस्कृत और हिंदी का डंका बजा दिया। आपने हरियाना, शेखावाटी, भिवानी, जालन्धर आदि स्थानों में संस्कृत का सुन्दर प्रचार किया।

"अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन" संस्कृत की एक संस्था है। उसके संस्थापकों में म. म. पं० गिरिधर शर्मा जी भी हैं। उस संस्था के व्यापक प्रचार के लिए पं० केदारनाथ सारस्वत जी उसके प्रधान मन्त्री बनाये गये। उसका उन्नीसवां अधिवेशन काशी में अप्रैल सन् १९४९ ई० में किया गया। उसमें म. म. पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी, जगद्गुरु शंकराचार्य भारतीकृष्णतीर्थजी, बाबू पुरुषोत्तमदास टंडनजी, डाक्टर सम्पूर्णानन्दजी, श्रीमान् पं० देवनायकाचार्य रामानुजाचार्य्य आदि ने उपस्थित होकर संस्कृत के प्रचार के लिए बहुत उत्साहित किया। इस सम्मेलन की सफलता का पूर्ण श्रेय पं० केदारनाथ शर्मा जी को ही है। वह इस संस्था के प्रधान-मंत्री चिर काल तक रहे।

पण्डित जी ने म. म. श्री गिरिधरशर्मा जी की राय से 'अखिल भारतीय सं० साहित्य सम्मेलन' का २० वां अधिवेशन सन् १९५३ में किया। २१ वां अधिवेशन जालंधर में अप्रैल सन् १९५४ में हुआ। २२ वां अधिवेशन बड़े उत्साह से सन् १९५५ में राजधानी दिल्ली में हुआ। २३ वां अधिवेशन सन् १९५६ में मुम्बई में हुआ। अंतिम अधिवेशन सन् १९५७ में पटना नगर में बड़े समारोह के साथ हुआ। इसमें प्रधान सभापति डाक्टर श्रीसम्पूर्णानंदजी प्रधान-मन्त्री उत्तरप्रदेश महोदय थे। उनका संस्कृत साहित्य पर गम्भीर भाषण हुआ। इस सम्मेलन में पं० केदारनाथ जी ही प्रधान-मन्त्री थे। उन्होंने अपने स्वास्थ्य की परवाह नहीं की और रात-दिन परिश्रम करके इन सब सम्मेलनों को सफल बनाया। इस घोर परिश्रम के परिणाम-स्वरूप उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो गया और वह दुर्बलता उनको अन्त तक रही।

पण्डितजी ने अखिल भारतीय संस्कृत साहित्य सम्मेलन के मुखपत्र 'संस्कृत-रत्नाकरः' को भी बड़े उत्साह से सम्पादित किया और उसको भी 'सुप्रभातम्' जैसा लोकप्रिय बना दिया। उसमें भी संस्कृतसाहित्य के महत्त्वपूर्ण लेख और कविताएँ प्रकाशित हुए हैं।

पण्डितजी ने भारतीय संस्कृति सम्मेलन में उसके संस्थापक बाबू पुरुषोत्तम दास टंडन जी के साथ कार्य्य किया। वह 'भारतीय संस्कृति' पत्रिका के भी बराबर प्रधान सम्पादक थे। आप केन्द्रिय संस्कृत आयोग तथा बोर्ड के भी प्रभाव शाली सदस्य थे।

पण्डितजी ने काशी की प्राचीन संस्था "श्री काशी पण्डित सभा" को भी बड़े उत्साह से चलाया। सं. १९४४ में 'श्री काशी पण्डित सभा' की स्थापना हुई। इस संस्था के सभापति गौतमावतार म० म० श्री कैलाश चन्द्र भट्टाचार्य महोदय, मीमांसकशिरोमणि म० म० पं० श्री नित्यानन्दशास्त्री महोदय, पं० अनन्तराम शास्त्री सारस्वत महोदय, म० म० पं० पंचानन तर्कभूषण जी आदि थे। इसके प्रधान मन्त्री पं० पद्मनाभशास्त्री तथा पं० केदारनाथ सारस्वतजी थे। संस्था को भी अब तक पूर्णरूप से चलाने का श्रेय पं० केदारनाथ जी को है।

पण्डित केदारनाथ सारस्वतजी ने अनेक ग्रन्थों, की रचना की और अनेक संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन और हिन्दी अनुवाद किया। प्रसिद्ध ऐतिहासिक महाकाव्य 'शिवराज विजय' का आपने बड़ा सुन्दर सम्पादन तथा हिंन्दी अनुवाद किया है। विहार सरकार की आज्ञा से आपने कविवर राजशेखर के प्रसिद्ध ग्रन्थ "काव्यमीमांसा" का हिन्दी अनुवाद किया। उसका सुन्दर संस्करण प्रकाशित हुआ है। 'कथा सरित् सागर' का भी आप अनुवाद कर रहे थे।

खेद है कि भारतीय संस्कृति, हिन्दूआर्यधर्म, संस्कृत-सहित्य के सच्चे पुजारी, सेवक तथा प्रचारक श्री पं० केदारनाथ सारस्वत इतनी शीघ्र हम लोगों में से चले गये !!!

स्वर्गीय श्री पं० केदारनाथजी सारस्वत

[*श्री—पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु—वाराणसी*]

'वेदवाणी' के पाठकों ने पिछले अङ्क में पं० केदारनाथजी शर्मा सारस्वत के निधन के विषय में सूचना पढ़ी होगी। इस पुरुषव्याघ्र का जीवनवृत्त इसी अङ्क में अन्यत्र दिया जा रहा है। काशी की इस महान् विभूति से हमारा परिचय सुदीर्घ काल (३५ वर्ष) तक रहा। स्वर्गीय सारस्वतजी का जीवन रूढिवादी शक्तियों से जूझने में बीता। प्रत्येक प्रगतिशील कार्य में अग्रणी रहना ही उनका वैशिष्ट्य था।

जबकि काशी में शुद्धि आदि प्रगति-शील कार्यों में सहयोग देने का साहस संस्कृत के विद्वानों में कोई नहीं करता था, उस विकट समय में भी सारस्वतजी ही थे जो पिछले लगभग ४० वर्षों में ऐसे प्रगतिशील कार्यों में भी छाती ठोक कर सबसे आगे रहते थे और उसके लिए प्रत्येक कष्ट, अपमान, आर्थिक हानि सब सहन करते हुए भी कभी पीछे नहीं हटते थे। उनके कार्य इतने अनगिनत हैं कि बताने लगें तो एक पुस्तक बन जाए। उनको धमका कर या प्रलोभन देकर देश हित के किसी कार्य से कोई हटा नहीं सकता था। असहयोग आन्दोलन में भी संस्कृत छात्रों का साथ देकर उन्होंने अभूतपूर्व कार्य किया था जिस में उन्हें अपने पिताजी से भी अलग होना पड़ा था। गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज वाराणसी के पाठ्य-क्रम संशोधन आदि में भी सदा उनका गहरा भाग रहा।

उनका स्वभाव अत्यन्त सरल, निष्कपट, उदार, सहृदयतापूर्ण, समय पर काम आने वाला, निर्भीक स्पष्ट वक्ता, विद्याप्रिय तथा गहरा अध्ययन-शील इत्यादि गुणों से भरपूर था। विद्यार्थियों के वे परम सहायक थे। जिस किसी कार्य में भी–घर फूंक तमाशा देखो–की नीति में सदा आरूढ़ रहते थे। उनमें साम्प्रदायिकता की गन्ध भी न थी। काशी का विद्वत्समाज अधिकतर उनके विचारों से सहमत न होते हुए भी उनका लोहा मानता था तथा उनके विरोध करने का साहस नहीं करता था। इसमें मुख्य कारण यह था कि वह सदा सत्य का ही पक्ष लेते थे और साथ ही इतने निर्लोभ तथा निःस्पृह थे कि कोई उनका मुकाबला नहीं कर सकता था। इसीलिए वह अपने कार्य में सफल भी होते थे। उनका त्याग चरम सीमा पर पहुँच चुका था। अपने लिये कभी उन्होंने अर्थसंचय की चेष्टा नहीं की। पर संस्कृत-साहित्य सम्मेलन के संस्थापक काशी के प्रमुख विद्वान् म. म. श्री पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी जी के लिए साढ़े सात हज़ार रुपये की थैली संस्कृत सम्मेलन द्वारा भेंट करवाना यह उन्हीं का कार्य था, जो सम्मेलन के इतिहास में कभी नहीं हुआ। यह सब पं० केदारनाथ सारस्वत के ही प्रयास का फल था।

देश के प्रमुख माननीय नेताओं में श्रद्धेय टंडनजी, श्री चिंतामणि द्वारकानाथ देशमुख, श्रीमान् नरहरि विष्णु गाडगिल, श्री अनन्तशयनम् अयङ्गर, श्री दातारजी आदि देश के प्रमुख नेताओं को संस्कृत-साहित्य सम्मेलन से जोड़ना और संस्कृत-साहित्य तथा भारतीय संस्कृति के लिए बड़े बड़े काम लेना यह सब पं० केदारनाथजी सारस्वत के ही प्रयत्न का फल है। उनके मन में संस्कृत साहित्य की उन्नति के लिए क्या २ योजनायें थीं, यह तो उनके अतिसमीप रहने वालों को ही पता है। हम तो समझते हैं कि इन योजनाओं के पीछे ही सारस्वतजी ने अपना स्वास्थ्य बलिदान कर दिया था। हमें पता है, कभी २ कार्यवश २-२ दिन भूखे भी रह जाते थे। परन्तु सक्रिय अदैन्य जीवन यह उनकी बहुत बड़ी विशेषता थी। भूखे रहने पर भी इस शेर को विद्वत्समाज में दहाड़ते हुए हमने देखा। काशी में वर्षों तक सत्य-सनातन धर्म की स्थापना कर श्री पं० देवीप्रसाद कविचक्रवर्ती, श्री पं० गिरीशजी शुक्ल, पं० गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी, पं० विंध्येश्वरी प्रसाद, स्वामी रामानन्दजी आदि द्वारा काशी में उदार संस्कृत विद्वानों के एक मण्डल की स्थापना करना पं० केदारनाथजी का ही काम था।

हम समझते हैं जब कभी काशी का सच्चा इतिहास प्रगतिशील कार्यों के लिए लिखा जायेगा तो उसमें सर्वोपरि श्री सारस्वतजी का ही नाम रहेगा।

अखिल भारतीय संस्कृत-साहित्य सम्मेलन को व्यापक बनाने के लिये जो कार्य श्री सारस्वतजी ने किया, दूसरे शब्दों में संस्कृत-साहित्य के लिये प्रतिक्षण सोचने वाला तथा संस्कृत-साहित्य सम्मेलन को अपने पैरों पर खड़ा करने वाला श्री सारस्वत के बाद कौन रहेगा, यह विचारणीय है।

हमें आशा है कि उनके पुत्रकल्प पं० लीलाधर शास्त्री और साथी पं० गोपाल शास्त्री दर्शनकेशरी तथा उनके मित्र पं० मण्डन मिश्रजी तथा प्रमुखनेता म० म० चतुर्वेदीजी आदि श्री सारस्वतजी की भावनाओं तथा आशाओं को सफल बनाने के लिए अवश्य प्रयत्न-शील रहेंगे। उनका एकमात्र पुत्र ओङ्कार अपने पूर्वजों के चरण-चिह्नों पर चलने का प्रयत्न करेगा। यह संसार तो ऐसा ही चलता रहेगा॥

वेदों पर एक नये दृष्टिकोण की आवश्यकता

[*ले०—श्री माधव पंडितजी, श्री अरविंद आश्रम पांडिचेरी*]

(१)
आधुनिक प्रचलित मत

माक्स मूलर ने एक मनोरंजन घटना का उल्लेख किया है। फ्रेडरिक रोसेन एक नामी जर्मन विद्वान् थे। गत शताब्दी के आरम्भ-काल में वेदों के अध्ययन की ओर ध्यान देने वाले पाश्चात्य विद्यार्थियों के अग्रगामियों में एक ये रोसेन भी थे। मालूम होता है, एक दिन जब वे ब्रिटिश म्यूजियम में ऋग्वेद के छन्दों की प्रतिलिपि करने में व्यस्त थे, तब भारतीय नवजागरण के प्रमुख प्रकाशदाता राजा राममोहन राय वहां आये और रोसेन जिस कार्य में व्यस्त थे उसे देखकर उन्हें अरुचिकर आश्चर्य हुआ। वेदों पर अपना किंचित् समय भी बरबाद नहीं करने के लिए उन्होंने रोसेन पर उपदेश झाड़ा और उन्हें सलाह दी कि इनके बदले वे उपनिषदों की ओर ध्यान देवें। हम नहीं जानते कि रोसेन ने उनकी सलाह मानी या नहीं। किन्तु उन्होंने नहीं मानी, यह स्पष्ट है। क्योंकि अपनी मृत्यु के समय तक भी वे वेदों में लगे हुए थे और लैटिन अनुवाद के साथ ऋग्वेद के प्रथम मंडल का उनका संस्करण बाद में प्रकाशित भी हुआ।

उस समय सुसंस्कृत और शिक्षित भारतीयों का मानसिक भाव वेदों के प्रति क्या था इस पर यह घटना जो प्रकाश डालती है, इसी लिए यह महत्त्वपूर्ण हो जाती है। और वैदिक सूक्तों के प्रति हमारे देशवासियों की शिक्षित श्रेणी का दृष्टिकोण आज, एक शताब्दी बाद भी बहुत ही कम परिवर्तित हुआ है। और कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि, वे तो बस निष्ठा-पूर्वक यूरोपीय प्रोफेसरों के पद-चिह्नों की लकीर पीटते रहे हैं और उन यूरोपीय प्रोफेसरों ने एक श्रेणी बनकर वेदों को इस दृष्टि से देखा और अध्ययन किया है कि वे किन्हीं स्थायी मूल्यों या सारतत्त्वों

के ग्रन्थ नहीं हैं, बल्कि पुरातत्त्व तथा भाषातत्त्व में रुचि रखने वाले लोगों के लिये उस समय के नमूने हैं। उनके लिए वेद कोई इस कारण अध्ययन के योग्य नहीं हैं कि उनके अन्दर कोई महत्त्वपूर्ण, सारगर्भित तत्त्व हो बल्कि वे अपने समय की सामाजिक तथा अन्य अवस्थाओं पर जो थोड़ा-बहुत प्रकाश डालते हैं उसके लिए वैदिक सूक्तों को स्वयं अकेले लिया जाय तो वे "सरलता, प्रकृत करुण-रस या महद्भावना से आश्चर्यकारी रूप में हीन हैं"। उनमें "इसिया या जीव या डेविड के छन्दों (ये बाईबिल के भाग हैं) की तरह की महद्भावना वाली कविता" नहीं है। 'वे तो आदि-कालीन गीत हैं जिनमें गौओं और बैलों की प्रशंसा अत्यधिक अतिरंजित शब्दों में की गई है, जिस प्रकार कि अफ्रीका के दिनकाओं और काफीरों में हम देखते हैं जिनकी वर्तमान आर्थिक व्यवस्था निश्चय ही वैदिक आर्यकाल की व्यवस्था के काफी समरूप होगी।' ओल्डनबर्ग जैसे प्रख्यात विद्वान् को भी वेदों के विषय में यह लिखने की आवश्यकता पड़ी कि उनमें 'चमचमाहट और बाहरी दमक को चाहने वाली कल्पना की अतिशय चाटुकारी बकवास है।' और विण्टर-नीज ने लिओपाल्ड मानस्क्रोडर की उस उक्ति का उल्लेख—स्पष्टतया उसका समर्थन करते हुए—किया है, जहां उन्हें वेदों के कुछ छन्द गीतों और "मानसिक-रोग तत्त्वज्ञों द्वारा संरक्षित पागलों की लिखी चीजों" के बीच सादृश्यता दीखती है।

तथापि, पश्चिम के सभी लोगों की प्रतिक्रिया ऊपर लिखे ढंग की नहीं रहती है। उनमें से कुछ लोगों ने अपने वेदाध्ययनों में एक अधिक साम्य-भावमयी अनुकूल और यथार्थ समझ का उपयोग किया है, और यह बात स्वीकार की है कि इन ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त उनके उच्चतर मानसिक क्षितिजों के लोकों का असाधारण विस्तार हुआ। उदाहरण के लिए ब्रनहोफर को लें। वे यह कहने पड़ने को बाध्य हुए। "अपनी महानता की चेतना में जागती उठती हुई मानव जाति का गान करते हुए भरत पक्षी के प्रभात गुंजन की नाई ही ये वेद हैं।"

तथापि वेदों को महत्तम श्रद्धा देने की परम्परा भारत में सदैव रही है। इस परम्परा ने उन्हें ईश्वरादिष्ट शास्त्र होने का, ज्ञान-ग्रन्थ होने का अधिकार प्रदान किया है। शताब्दियों से होते हुए ऐसे कीच उछालने के प्रयासों के बावजूद वेद चट्टान की भांति अटल खड़े हैं, कैलास के हिम-छत्रधारी शिखरों की भांति ऊंचे, अपने नीचे विशाल चतुर्दिक जगत् को निहारते हुए जो जगत् कि प्रत्येक क्षण ऊपर से अनवरत प्रवाहित होते हुए स्रोतों से प्रतिक्षण पुष्टि प्राप्त करता रहा है—इतने प्राचीन भारतीय जीवन का विशाल एवं शुभ्र जगत्! क्या है वह रहस्य जिस कारण कि वेदों को इतना प्रमुख स्थान मिलता रहा है जो उन्हें इस देश में आदि-काल से प्राप्त है? क्या उनके अन्दर ऐसी कोई चीज है जो मनुष्य के लिए इतनी मूल्यवान् है कि वे उस प्रतिष्ठा और श्रद्धा के पात्र हो जायें जो उन्हें अबतक मिलती रही है? और यदि वे वास्तव में इतने मूल्यवान् तथा पुनीत हैं तो फिर वे इतनी अधिक आलोचना के शिकार क्यों हुए हैं? ऐसा क्यों, कि आज वेद इतनी अधिक गलतफहमी से आच्छादित होगये हैं कि वे दृष्टि से पूर्णतया ओझल होजाने के संकट में हैं।

विद्वानों के विचारार्थ—

ऋग्वेद १०.८५.३० में 'वासस्' शब्द का अर्थ

[ले०—श्री पं० चिन्तामणि गणेश काशीकर, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना]

'वेदवाणी' के अगस्त १९५९ के अंक में—पं० युधिष्ठिर मीमांसक का एक लेख प्रकाशित हुआ है जिसमें उन्होंने ऋग्वेद १०·८५·३० में आये हुए 'वासस्' शब्द के अर्थ की चर्चा की है। मन्त्र इस प्रकार है:—

अश्रीरा तनूर्भवति रुशंती पापयामुया।
पतिर्यद् वध्वो३ वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते॥

इस मन्त्र में 'वासस्' शब्द का अर्थ साधारणतया वस्त्र किया जाता है। पं० युधिष्ठिर जी की संमति में इस शब्द

का रक्त अर्थ स्वीकार करना चाहिए। क्योंकि वस्त्र अर्थ स्वीकार करने से मन्त्र का संतोषजनक अर्थ नहीं हो सकता। वस्त्र अर्थ स्वीकार करने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पत्नी के वस्त्र में ऐसा क्या दुर्गुण है जिससे उसके पहनने में शरीर कान्तिविहीन हो जाता है? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए पं० युधिष्ठिर जी उक्त मन्त्र का नीचे लिखे अनुसार व्याख्यान करना चाहते हैं:-

"तेजस्वी शरीर कान्ति से विहीन हो जाता है, जब पति पत्नी के इस निन्दित रक्त से अपने अङ्ग को पोषित करने की इच्छा करता है।"

इस अर्थ के समर्थनार्थ पंडित जी ने दो वैदिक मन्त्र उद्धृत किये हैं जिनमें उनकी संमति में 'वासस्' शब्द का रक्त अर्थ ही हो सकता है। इस अर्थ की परीक्षा यहां हम करना चाहते हैं।

हम पं० युधिष्ठिर जी से यहां तक सहमत हैं कि वासस् शब्द का अभिधावृत्ति से केवल वस्त्र अर्थ स्वीकार करने से मन्त्रार्थ स्पष्ट नहीं होता। किंतु इस कारण वासस् शब्द का रक्त अर्थ स्वीकार करना हमको आवश्यक प्रतीत नहीं होता। वस्त्र अर्थ के स्थान में मलवद्वासस् अर्थात् रजोलिप्त वस्त्र यह लाक्षणिक अर्थ स्वीकार करने से मन्त्रार्थ स्पष्ट होता है। मुख्यार्थ को छोड़कर लाक्षणिक अर्थ करना मीमांसकों ने अनुचित माना है, किन्तु आवश्यकता होने पर लाक्षणिक अर्थ का आश्रय लेने में कोई हानि नहीं।

पं० युधिष्ठिर जी ने बताया है कि 'वासस्' पद अनेक स्थानों में रुधिर अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। उन्होंने इसके दो उदाहरण दिये हैं जिनमें एक है अथर्ववेद १·१७·१। यह मन्त्र इस प्रकार है:—

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥

यहां 'हिराः' के सम्बन्ध में 'योषितः' और 'लोहितवाससः' ये दो शब्द प्रयुक्त हैं। 'हिराः' शब्द का आयुर्वेदीय 'सिरा' शब्द से साम्य दर्शाया गया है। इस बात की चर्चा यहां आवश्यक नहीं। किन्तु एक बात की ओर वाचकों का ध्यान आकृष्ट करना उचित होगा। 'स' और 'ह' का विपर्यय समान अर्थ में बताते हुए पं० युधिष्ठिर जी ने लिखा है कि "ऋग्वेद २·३६·६ में 'सरस्वती' के अर्थ में 'हरस्वती' का प्रयोग मिलता है।" हमारी संमति में यह उदाहरण ठीक नहीं है। यहां सरस् और हरस् ये मूल शब्द समानार्थक नहीं हैं। अस्तु। 'लोहितवाससः' पद का अर्थ सायणाचार्य ने 'लाल कपडेवाली' किया है। इस अर्थ पर पं० युधिष्ठिर जी ने यह आपत्ति उठायी है कि 'योषितः' पद 'हिराः' का विशेषण है इसलिए 'लोहितवाससः' यह पद 'योषितः' का विशेषण नहीं बन सकता। इसलिए 'युष सेवने' इस धातु से योषित् शब्द सिद्ध करके 'शरीर की सेवा = पुष्टि = धारण करनेवाली' यह अर्थ उन्होंने किया है। और 'लोहितवाससः = लोहितं वासो यासां ताः हिराः' अर्थात् शुद्ध रक्तवहा हिराएँ ऐसा स्पष्टीकरण सुझाया है। "शरीरं वासयतीति वासः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार वासस् पद वे यौगिक मानते हैं। किंतु योषित् शब्द का स्त्री यह प्रसिद्ध अर्थ लेकर 'हिराः' और 'योषितः ये दोनों पद समानाधिकरण मानने से मन्त्रार्थ स्पष्ट हो जाता है, और 'योषित्' पद का यौगिक अर्थ करने की और 'लोहितवासस्' पद का अर्थ बदलने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

इस बन्धन में लोहितवासस्—शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य में और कहीं मिलता है या नहीं यह देखना लाभकारी होगा। षड्विंश ब्राह्मण ३-८-२२ में यह शब्द मिलता है। बौधायन श्रौत-सूत्र में अभिचार की सिद्धि के लिए काम्येष्टि का विधान कहा गया है। उसके संबन्ध में द्वैधसूत्र में (बौधायन श्रौतसूत्र २३-७) लिखा है:— "**स ह स्माह बौधायनो लोहितोष्णीषा लोहितवाससश्चर्त्विजः प्रचरेयुरिति**"।

अर्थात इस इष्टि में ऋत्विज लाल वस्त्र और लाल शिरोधान पहनें यह बौधायन आचार्य का मत है। उष्णीष और वासस् इन दोनों शब्दों का प्रयोग इस सूत्र में एकसाथ किया गया है, और वह भी ऋत्विजों के संबन्ध में यह बात स्पष्ट होती है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र १९-१६-६ भी कहता है:—"**सर्वेष्वाभिचरणिकेषु लोहितोष्णीषा लोहितवसना निवीता ऋत्विजः प्रचरन्ति।**" सर्व आभिचारिक कर्मों में ऋत्विज लाल शिरोधान और लाल वस्त्र पहनें और निवीती धारण करें। यहां 'वासस्' के स्थान में 'वसन' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिससे स्पष्ट होता है कि दोनों सूत्रकारों को वस्त्र यही अर्थ अभिप्रेत है। यही सूत्र आपस्तम्ब श्रौतसूत्र में और एकबार (२२-४-२३) मिलता है। कात्यायन श्रौतसूत्र २२-३-१५ भी वही बात बताता है:—'**लोहितवाससो लोहितोष्णीषाः प्रचरन्त्यृत्विजः**'। श्येनयाग के सम्बन्ध में यह विधान

है। इन वचनों से स्पष्ट होता है कि वैदिक साहित्य में 'लोहितवासस्' शब्द का अर्थ लाल वस्त्र वाला ऐसा ही होता है। एकही शब्द के एकही विषय में भिन्न-भिन्न अर्थ नहीं हो जाते। केवल अथर्ववेद में 'लोहितवासस्' शब्द का भिन्न अर्थ है इसके लिए कोई प्रमाण नहीं।

'वासस्' पद के रुधिर वाचक होने में पं० युधिष्ठिरजी ने नीचे लिखा हुआ दूसरा वचन प्रमाण रूप में उपस्थित किया है:—

तस्मान्मलवद्वाससा न संवदेत न सहासीत नास्या अन्नमद्यात्।

तैत्तिरीय संहिता २.५.१.५,६

मलवद्वासस् शब्द का अर्थ है वह स्त्री जिसका वस्त्र मलयुक्त अर्थात् रजोलिप्त हो। पं० युधिष्ठिरजी का मत है वासस् पद को वस्त्रवाचक मानने से 'मलद्वाससः' का अर्थ केवल मलिन वस्त्र वाली इतना ही संभव है। रजस्वला रूपी विशेष अर्थ करना खींचातानी होगा। इसलिए वासस् शब्द का रक्त अर्थ करके मलवत् अर्थात् दूषित है रक्त जिसका = रजस्वला स्त्री ऐसा अर्थ उन्होंने किया है। किन्तु यहां वासस् शब्द का वस्त्र अर्थ करके 'मलवद्वासः' का रजस्वला स्त्री अर्थ करने में कोई भी खींचातानी नहीं है। सायणाचार्य ने वासस् शब्द का वस्त्र अर्थ लेकर ही रजस्वला स्त्री यह अर्थ किया है। तैत्तिरीय संहिता पर भट्ट भास्कर का भाष्य है। उपर्युक्त संहिता वाक्य के स्पष्टीकरणार्थ वे लिखते हैं:—"**मलवद्वासो रजस्वला। वासोग्रहणं वाससि रजःस्पर्शात् प्रभृति अज्ञातेऽप्य-प्रायत्वमस्तीति सूचनार्थम्। तेन वाससयस्पृष्टे ज्ञानादूर्ध्वमेवाशुद्धिः।**" इससे स्पष्ट है कि भट्ट भास्कर के अनुसार भी यहां वासस् शब्द वस्त्रवाची ही है।

'मलवत्' शब्द का दूषित, मलिन इतना ही अर्थ पं० युधिष्ठिर जी मानते हैं। किन्तु उस शब्द का रक्त से युक्त यह अर्थ भी हो सकता है। और प्रकरण के अनुसार उसका वही अर्थ करना युक्त है। उक्त अनुवाक में त्वाष्ट्र विश्वरूप की कथा है। उसको मारने के बाद इन्द्र ने अपने ब्रह्महत्यारूप पाप का तीसरा हिस्सा स्त्रियों को सौंपना चाहा। इस संदर्भ में 'ऋत्विय' (= रजस्) शब्द आया है। अर्थात् मल शब्द उसी का पर्याय है। मनुस्मृति ५.१३५ में द्वादश शारीर मलों का परिगणन है, उनमें एक है रक्त। मलवता, मलिना, मलिनी, मलवासस्, इन शब्दों का अर्थ रजस्वला स्त्री ही है। शतपथ ब्राह्मण १४-९-४ ७ में मलोद्वासस् शब्द है। उसका अर्थ है वह स्त्री जिसने अपने रजोलिप्त वस्त्रों का त्याग किया है। ऐसी अवस्था में जब स्वयं मलवत् शब्द रक्त का बोधक है तो फिर वासस् शब्द भी रक्तवाचक मानने में अर्थ की पुनरुक्ति होगी। इसलिए मलवद्वासस् शब्द का जो अर्थ प्राचीनों ने किया है और आधुनिकों ने संमत किया है वही ठीक है, उसमें बदल करने की कोई आवश्यकता नहीं।

ऋग्वेद १०.८५.३० में वासस् पद का रक्त अर्थ सिद्ध करने के लिए पं० युधिष्ठिर जी ने जो दो उपोद्वलक उदाहरण दिये हैं उनमें वासस् पद का रक्त अर्थ सिद्ध नहीं होता। इसलिए ऋग्वेद १०.८५.३० में भी वासस् पद से रक्त का बोध होने की संभावना नहीं है। उस शब्द का वस्त्र यही अर्थ है। इस मन्त्र में 'अभिधित्सते' क्रियापद है जिसका अर्थ है—'आच्छादित करना चाहता है'। पं० युधिष्ठिर जी ने प्रथमतः जो सर्वस्वीकृत अर्थ दिया है उसमें इस क्रियापद का यही अर्थ दिया है। किन्तु आगे जहां अपने विचार के अनुसार मन्त्रार्थ दिया है वहां उन्होंने इसका अर्थ किया है 'पोषित करने की इच्छा करता है"। वासस् वस्त्र और अभिधित्सते-आच्छादन इन दोनों के अर्थों में पूर्ण संगति है। वासस् शब्द का अभिधावृत्ति के अनुसार अर्थ देने में 'अभिधित्सते' शब्द का लाक्षणिक अर्थ स्वीकार करने की आपत्ति में पं० युधिष्ठिर जी स्वयं पड़े हैं।

दो उदाहरणों के अतिरिक्त तीसरा कोई उदाहरण पंडित जी ने नहीं दिया है। वासस् शब्द के केवल और समासयुक्त प्रयोग वैदिक और संस्कृत साहित्य में बहुत मिलते हैं जैसे समुद्रवासस्, शुक्रवासस्, आर्द्रवासस्, कृष्णवासस्, कृत्तिवासस्, दुर्वासस्, चीरवासस्, अहतवासस्, आमुक्तवासस्, इत्यादि। क्या इन सब पदों में वासस् का अर्थ रक्त हो सकता है? संदर्भ के अनुसार यदि शब्दों के अर्थ बदल जाएँगे तो भाषा का स्वरूप ही अस्थिर हो जायेगा।

पं० युधिष्ठिर जी ने मीमांसकों के लाक्षणिक अर्थ के आक्षेप पर बड़ा जोर दिया है। किन्तु केवल अभिधा वृत्ति के आधार पर वेदमन्त्रों का अर्थ करना असंभव है। लाक्षणिक अर्थ का स्वीकार करने में कोई दोष नहीं। भाषा में मूलतः एक पद का एक ही अर्थ होता है। उस पद के भाषा में जब विविध प्रयोग होते हैं तब वक्ता की विवक्षा के अनुसार वाक्यार्थ-ज्ञान के लिए लक्षणा का स्वीकार करना ही आवश्यक होता है। लक्षणा का सर्वथा-त्याग करके केवल अभिधा वृत्ति का आश्रय लेने से वेदार्थ ज्ञान दुष्कर होने की संभावना है।

मथुरा दीक्षाशताब्दी समारोह उल्लासपूर्ण वातावरण में सम्पन्न

गत २४ दिसम्बर से २७ दिसम्बर तक मथुरा में दीक्षा-शताब्दी समारोह आशातीत सफलता के साथ सम्पन्न हुआ। भारत के कोने २ से लगभग तीन लाख आर्य नर नारियों ने मथुरा पहुँच कर गुरुवर विरजानन्द तथा ऋषि दयानन्द के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की। समारोह के आयोजकों को यह आशा न थी कि इतनी कड़ाके की सर्दी में इतने लोग आ सकेंगे।

मथुरा कैण्ट स्टेशन के सामने सुन्दर नगर का निर्माण किया गया था। बिजली-पानी-सफाई आदि की व्यवस्था पर्याप्त सन्तोष-जनक थी। विविध सम्मेलनों के लिये एक विशाल पण्डाल का निर्माण किया गया था। सांस्कृतिक प्रदर्शनी के कारण आकर्षण और बढ़ गया था। चार दिन अत्यन्त धार्मिक और उल्लासपूर्ण वातावरण रहा।

समारोह दीक्षा-यज्ञ से प्रारम्भ हुआ। यज्ञ के सञ्चालक आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध यज्ञविशेषज्ञ श्री स्वा० ब्रह्मानन्द जी दण्डी थे। यज्ञशाला के आकर्षक निर्माण का श्रेय भी उक्त स्वामी जी को ही है। प्रतिदिन प्रातःकाल साढ़े नौ बजे तक यज्ञ होता था। उसके पश्चात् विभिन्न सम्मेलनों का आयोजन होता था।

२५ दिसम्बर को राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने विरजानन्द वैदिक अनुसन्धान भवन का शिलान्यास किया। इसके पश्चात् पाण्डाल में गुरुकुल वृन्दावन के नव स्नातकों को उपाधि प्रदान की गयीं। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने दीक्षान्त भाषण किया। इस अवसर पर पाण्डाल के अन्दर बाहर चारों ओर जन समुद्र ठाठें मार रहा था। विरजानन्द वैदिक अनुसन्धान भवन के निर्माणार्थ बम्बईनिवासी प्रसिद्ध आर्य श्रेष्ठी श्री शूरजी प्रतापभाई ने एक लाख रुपये दान देने की घोषणा की।

२६ दिसम्बर को सायंकाल नर-नारियों का मीलों लम्बा विशाल जुलूस निकला। मथुरा के इतिहास में यह अभूतपूर्व प्रदर्शन बताया जाता है। इस जुलूस से आर्य-जनों के उत्साह और शक्ति का परिचय मिलता है।

इस अवसर पर विभिन्न सम्मेलनों का आयोजन किया गया। ये सम्मेलन ही वस्तुतः समारोह के प्राण थे। कई विषयों पर बहुत महत्त्वपूर्ण निर्णय किये गये। 'आर्यसमाज को राजनीति में भाग लेना चाहिये या नहीं,' इस विषय में बड़ा वाद-विवाद था। सम्मेलन में निर्णय किया गया कि ११ व्यक्तियों की एक तदर्थ समिति गठित कर दी जाय और जो निर्णय वह दे, आर्य-जनता को मान्य हो। तदर्थ समिति का गठन हो चुका है। राष्ट्र-रक्षा सम्मेलन में एक प्रस्ताव पास हुआ जिसमें प्रधान मन्त्री तथा सरकार को आश्वासन दिया गया है कि देश के लिये आर्यसमाज का बच्चा २ प्राण उत्सर्ग करने के लिये उद्यत है। प्रस्ताव में सरकार से चीनी आक्रामकों के विरुद्ध कठोर कदम उठाने की माँग की गई। राष्ट्रभाषा-सम्मेलन में केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों से 'कार्यालयों में हिन्दी का प्रयोग' करने का अनुरोध किया गया है। शिक्षा सम्मेलन में कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किये गये जिनमें विद्यार्थियों की अनुशासन-हीनता पर बहुत चिन्ता व्यक्त की गई।

वेद-सम्मेलन का आयोजन भी इस अवसर पर किया गया था। आशा थी, वैदिक विद्वानों के वेदविषय पर कुछ नये खोजपूर्ण तथ्य प्रकाश में आयेंगे। कुछ विद्वानों के व्याख्यान हुए भी। परन्तु यह सम्मेलन भी साधारण व्यावहारिक दृष्टि से ही सम्पन्न हुआ, जिसमें कई प्रस्ताव पास किये गये। एक प्रस्ताव में ऋषि दयानन्दकृत वेदभाष्य को विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में रखने की माँग की गई है।

महिला-सम्मेलन भी सफलता-पूर्वक तथा सोत्साह सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में इस बात पर चिन्ता व्यक्त की गई कि बहुत से पुरुष आर्यसमाजी होते हुए भी नशीली वस्तुओं (बीड़ी-सिगरेट) का सेवन करते हैं। इस सम्मेलन में एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव द्वारा जनता, विशेषतः वैश्य वर्ग, से यह माँग की गई है कि स्त्रियों के अश्लील चित्रों द्वारा विज्ञापन तत्काल बन्द कर दिये जायँ।

२७ दिसम्बर को दीक्षा-यज्ञ की पूर्णआहुति में हज़ारों आर्य नर-नारियों ने भाग लिया। इस अवसर पर आर्य स्त्री-पुरुषों ने मुक्तहस्त से दान दिया। समारोह में आये हुए लाखों आर्य नर-नारियों ने अन्तिम दिन दीक्षा-व्रत लेते हुए धर्म और मानव जाति के उपकार में जीवन समर्पण करने की प्रतिज्ञा की।

समारोह के अवसर पर कुछ अप्रिय घटनायें भी हुईं। २६ दिसम्बर को लेखरामनगर में आग लगने से २ व्यक्तियों की मृत्यु हो गई जिससे सर्वत्र शोक की लहर फैल गई। यह भी सुनने में आया कि कई व्यक्तियों की जेबें कट गयीं, कई व्यक्तियों के सामानों की चोरी हो गई। पं० धर्मदेवजी विद्यामार्तण्ड का बक्स, जिसमें उनके लिखे बहुमूल्य नोट्स तथा पुस्तकें थीं, गायब हो गया। पुलिस के अधिकारियों ने सतर्कता से काम नहीं किया, यह चर्चा सर्वत्र व्याप्त थी। इन सब बातों के बावजूद समग्रतया दृष्टिपात करने पर यही परिणाम निकलता है कि समारोह अत्यंत सफलता-पूर्वक सम्पन्न हुआ।

विविध समाचार

भारत-पश्चिमी पाक सीमाविवाद प्रायः समाप्त

नयी दिल्ली, ११ जनवरी। भारत और पश्चिमी पाकिस्तान के सीमा-विवाद के सम्बन्ध में पञ्चदिवसीय मन्त्रि-स्तर पर होनेवाले वार्त्तालाप के फलस्वरूप आज संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित की गई है, जिसमें घोषणा की गई है कि समस्त विवादग्रस्त क्षेत्रों के बारे में समझौता हो गया है। आवश्यक विवरणसंग्रह के न होने के कारण केवल कच्छ-सिन्ध सीमाविवाद अनिर्णीत रह गया है। आशा है तथ्य-संग्रह के पश्चात् इस विवाद का भी निपटारा हो जायगा। जिन चार विवादग्रस्त क्षेत्रों के बारे में समझौता हो गया है, वे हैं—(१) चक लधेके (२) थेह सर्जामार्जा (३) हुसैनीवाला (४) सुलेमान के कार्य केन्द्र।

रूस १२ लाख सशस्त्र सैनिक घटायेगा

मास्को, १४ जनवरी। रूस के प्रधान मन्त्री श्री क्रुश्चेव ने रूसी संसद के उभय सदनों की संयुक्त बैठक में घोषणा की कि रूस अपनी सशस्त्र सेना के १२ लाख सैनिक कम करने जा रहा है, जो सम्पूर्ण सैन्यबल का लगभग तृतीयांश है। इस कटौती के बाद रूसी सेना में २३ लाख २३ हजार सैनिक रह जायेंगे और इस कटौती से लगभग १६० खरब रूबल की बचत हो जायेगी। अमेरिका, ब्रिटेन तथा पश्चिमी जर्मनी में इस घोषणा की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई है। स्मर्त्तव्य है कि अमेरिकी सैनिकों की संख्या २४ लाख ८४ हजार है।

शिरोमणि गुरुद्वारा चुनाव में अकाली दल विजयी

चण्डीगढ़, १९ जनवरी। शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के चुनाव में अकाली दल की भारी विजय हुई है। इसके फलस्वरूप अगले पांच वर्ष के लिये गुरुद्वारों का प्रबन्ध अकाली दल के हाथ में चला गया है। अतः मास्टर तारासिंह ने पञ्जाबी सूबे के नाम पर 'सिखस्थान' बनाने का आन्दोलन पुनः तीव्र कर दिया है।

रूसी राष्ट्रपति श्री वोरोशिलोव का भव्य स्वागत

नयी दिल्ली, २० जनवरी। रूसी राष्ट्रपति मार्शल ई० के० वोरोशिलोव अपने दल के ७४ आदमियों सहित आज दोपहर में यहाँ आगये। ८० वर्षीय श्री वोरोशिलोव जैसे ही विमान से बाहर आये, उन्हें २१ तोपों की सलामी दी गई। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधान मन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू, रूस में भारतीय राजदूत श्री के० पी० एस० मेनन तथा अन्य वरिष्ठ अधिकारियों ने हवाई अड्डे पर श्री वोरोशिलोव का स्वागत किया। रूसी राष्ट्रपति १६ दिन की राजकीय यात्रा पर भारत आये हैं।

केरल में चुनाव संघर्ष

केरल के मध्यावधि निर्वाचन के लिये चुनाव प्रचार चरम सीमा पर है। पहली फरवरी को चुनाव होने वाला है। कम्युनिस्टों और संयुक्त मोर्चे में प्रत्यक्ष संघर्ष होगा। इस निर्वाचन में जनसंघ भी भाग ले रहा है। केरल विधान सभा के १२६ स्थानों में से कांग्रेस-प्रजासमाजवादी-मुसलिम लीग गुट ने १२५ स्थानों पर अपने प्रत्याशी खड़े किये हैं। कम्युनिस्ट पार्टी ने १०३ स्थानों के लिये अपने प्रत्याशी खड़े किये हैं, जब कि २३ स्थानों के लिये स्वतन्त्र उम्मीदवार हैं।

सूचना—(१) इस मास विशेष कारणों से रामायण का एक फार्म ही दिया जा रहा है। पाठक क्षमा करें।

(२) वेदवाणी के कुछ पिछले वर्षों के वेदाङ्क थोड़ी मात्रा में अवशिष्ट हैं। शिवरात्रि के अवसर पर एक वेदाङ्क का मूल्य ।) कर दिया गया है। जनता इस सुविधा से लाभ उठाये। डाक व्यय मँगाने वाले को देना होगा।

वाल्मीकिरामायण का भाषानुवाद

[अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, देहली तथा परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी, झरिया]

(गत अङ्क से आगे)

पञ्चमः सर्गः

व्रतचर्याविधानम्

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने । पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन । श्रेयसे राज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रतम् ॥ २ ॥
तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदां वरः । स्वयं वसिष्ठो भगवान् ययौ रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥
उपवासयितुं रामं मन्त्रवन्मन्त्रकोविदः । ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुधृतव्रतः ॥ ४ ॥
स रामभवनं प्राप्य पाण्डराभ्रघनप्रभम् । तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥
तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससंभ्रमम् । मानयिष्यन् स मानार्हं निश्चक्राम निवेशनात् ॥ ६ ॥
अभ्येत्य त्वरमाणश्च रथाभ्याशं मनीषिणः । ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात्स्वयम् ॥ ७ ॥
स चैनं प्रश्रितं दृष्ट्वा संभाष्याभिप्रसाद्य च । प्रियार्हं हर्षयन् राममित्युवाच पुरोहितः ॥ ८ ॥
प्रसन्नस्ते पिता राम यौवराज्यमवाप्स्यसि । उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया ॥ ९ ॥
प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः । पिता दशरथः प्रीत्या ययातिं नहुषो यथा ॥१०॥
इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतम् । मन्त्रवत्कारयामास वैदेह्या सहितं मुनिः ॥११॥
ततो यथावद्रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः । अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥१२॥

पांचवां सर्ग

व्रत का विधान

कल होने वाले अभिषेक के विषय में राम को सूचित करके राजा [दशरथ] पुरोहित वसिष्ठ को बुला कर [उन से] यह [वचन] बोले—॥ १ ॥ व्रत के पालन करने हारे तपोनिधि ! जाइये, कल्याण [और] राज्य प्राप्ति के लिये सपत्नीक राम को आज उपवास कराइये ॥ २ ॥ वेदज्ञों में श्रेष्ठ, मन्त्रवेत्ता, व्रत पालन करने वाले, वे भगवान् वसिष्ठ राजा से 'ऐसा' [ही होगा] यह कहकर स्वयं ब्राह्मणोचित रथ-पर आरूढ हो कर वीर, मन्त्र-तत्त्वज्ञ राम को उपवास कराने के लिये राम के निवास स्थान पर गये ॥३-४॥ वे मुनि श्रेष्ठ धवल अभ्र के समान [सुशोभित] रामभवन को प्राप्त करके [उस भवन की] तीन कक्षाओं (= द्वारों) तक रथ से ही प्रविष्ट हुए ॥ ५ ॥ उस आये हुए माननीय ऋषि का सम्मान करने के लिये शीघ्रता करते हुए राम घर से बाहर निकले ॥ ६ ॥ शीघ्रता करते हुए उन्हों [राम] ने रथ के समीप जाकर, तत्पश्चात् मनस्वी [वसिष्ठ] को स्वयं [हाथों से] पकड़ कर रथ से उतारा ॥ ७ ॥ वे पुरोहित उन विनीत राम को देखकर, [उन से] वार्त्ता करके, और प्रसन्न कर के [तथा] प्रिय [वचनों के] योग्य [राम] को हर्षित करते हुए बोले—॥ ८ ॥ राम ! तुम्हारे पिता [तुम पर] प्रसन्न हैं, कि तुम राज्य पाने वाले हो । आज आप सीता के साथ उपवास करें ॥ ९ ॥ प्रातः तुम को [तुम्हारे] पिता राजा दशरथ [उसी प्रकार] प्रीतिपूर्वक युवराज पद पर अभिषिक्त कर देंगे जिस प्रकार ययाति को नहुष ने [किया था] ॥ १० ॥ ऐसा कह कर मन्त्र के तुल्य पवित्र उस व्रतधारी (= वसिष्ठ) ने वैदेही (= सीता) सहित राम को उपवास कराया (= उपवास विधि का उपदेश किया) ॥ ११ ॥ तदनन्तर राम के द्वारा यथायोग्य सत्कृत वे राजगुरु [वसिष्ठ] राम को उपदेश करके अपने निवास स्थान को चले गये ॥ १२ ॥ वहाँ

सुहृद्भिस्तत्र रामोऽपि सहासीनः प्रियंवदैः । सभाजितो विवेशाथताननुज्ञाप्य सर्वशः ॥१३॥
प्रहृष्टनरनारीकं रामवेश्म तदा बभौ । यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः ॥१४॥
स राजभवनप्रख्यात्तस्माद्रामनिवेशनात् । निःसृत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम् ॥१५॥
वृन्दवृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः । बभूवुरभिसंबाधाः कुतूहलजनैर्वृताः ॥१६॥
जनवृन्दोर्मिसङ्घर्षहर्षस्वनवृतस्तदा । बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निस्वनः ॥१७॥
सिक्तसंमृष्टरथ्या च तदहर्वनमालिनी । आसीदयोध्या नगरी समुच्छ्रितगृहध्वजा ॥१८॥
तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः । रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः ॥१९॥
प्रजालंकारभूतं च जनस्यानन्दवर्धनम् । उत्सुकोऽभूज्जनो द्रष्टुं तमयोध्यामहोत्सवम् ॥२०॥
एवं तं जनसंबाधं राजमार्गं पुरोहितः । व्यूहन्निव जनौघं तं शनै राजकुलं ययौ ॥२१॥
सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरुह्य सः । समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव बृहस्पतिः ॥२२॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं नृपः । पप्रच्छ स्वमतं तस्मै कृतमित्यभ्यवेदयत् ॥२३॥
तेन चैव तदा तुल्यं सहासीनाः सभासदः । आसनेभ्यः समुत्तस्थुः पूजयन्तः पुरोहितम् ॥२४॥
गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातो मनुजौघं विसृज्य तम् । विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव ॥२५॥

(= महल में) राम प्रिय बोलने वाले मित्रों के साथ बैठे हुए, उन [मित्रों] से सत्कृत हुए, तदनन्तर उन [मित्रों] को सब प्रकार से आज्ञा देकर [अपने महल में] प्रविष्ट हुए ॥ १३ ॥ उस समय प्रसन्न नारी-नरों से युक्त राम का निवास स्थान ऐसा प्रतीत होता था [मानो] हर्षोन्मत्त पक्षी [तथा] प्रफुल्लित कमलों से युक्त सरोवर हो ॥ १४ ॥ उन वसिष्ठ ने राजप्रासाद के सदृश उस राम-भवन से निकल कर मार्ग को जन समुदाय से घिरा हुआ देखा ॥ १५ ॥ [अभिषेक देखने के] उत्सुक पुरुषों के समुदायों से अयोध्या में राजमार्ग चारों ओर से घिर गये थे [जिससे उन पर चलना] कठिन हो गया था ॥ १६ ॥ जन-समुदाय की तरङ्गों के संघर्ष [तथा] हर्ष से उत्पन्न हुए घोष से आवृत राजमार्ग की ध्वनि समुद्र के [गम्भीर] घोष के समान [प्रतीत होती] थी ॥ १७ ॥ उस दिन अयोध्या [जल से] छिड़काव की हुई तथा निर्मल सड़कों, वनमालाओं (= बन्दनवालों) तथा घरों पर फहराती हुई ध्वजाओं से युक्त थी ॥ १८ ॥ उस दिन अयोध्या के निवासी स्त्री बच्चों सहित राम के अभिषेक [को देखने] के उत्सुक सूर्य के उदय की प्रतीक्षा कर कर रहे थे ॥ १९ ॥ और प्रजा के अलङ्कारभूत, लोगों के आनन्द को बढ़ाने वाले उस अयोध्या के उत्सव को देखने के लिये जनसमूह उत्सुक था ॥ २० ॥ इस प्रकार मनुष्यों के समुदाय से अवरुद्ध राजमार्ग [पर आये और] जनसमुदाय को चीरते हुए से पुरोहित [वसिष्ठ] राजकुल तक पहुँचे ॥ २१ ॥ श्वेत बादलों के शिखर के समान [श्वेत या ऊँचे] राजमहल पर चढ़कर राजा [दशरथ] के साथ [पुरोहित वसिष्ठ] उसी प्रकार मिले जैसे शक्र के साथ बृहस्पति [मिले थे] ॥ २२ ॥ आते हुए उन [पुरोहित] को देखकर, राजसिंहासन को छोड़कर राजा ने उन से अपने अभिप्राय के विषय में पूछा [और पुरोहित ने] 'कर दिया' यह उत्तर दिया ॥ २३ ॥ [राजा] के समान ही साथ बैठे हुए सभासद पुरोहित का सत्कार करते हुए [अपने] आसनों से उठ खड़े हुए ॥ २४ ॥ गुरु [वसिष्ठ] द्वारा अनुज्ञात राजा ने उस जनसमूह का विसर्जन किया [और] अन्तःपुर में इस प्रकार प्रवेश किया जैसे सिंह पर्वत की कन्दरा में [प्रवेश करता है] ॥ २५ ॥ सुन्दर वेश धारण करने वाली स्त्रियों से पूर्ण वह राजमहल इन्द्र के

तदग्र्यवेषप्रमदाजनाकुलं महेन्द्रवेश्मप्रतिमं निवेशनम् ।
विदीपयंश्चारु विवेश पार्थिवः शशीव तारागणसंकुलं नभः ॥२६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे व्रतचर्याविधानं नाम पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

पौरोत्सेकः

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः । सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत् ॥ १ ॥
प्रगृह्य शिरसा पात्रीं हविषो विधिवत्ततः । महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितेऽनले ॥ २ ॥
शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्यात्मनः प्रियम् । ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशसंस्तरे ॥ ३ ॥
वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः । श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ॥ ४ ॥
एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः । अलङ्कारविधिं कृत्स्नं कारयामास वेश्मनः ॥ ५ ॥
ततः शृण्वन् सुखा वाचः सूतमागधवन्दिनाम् । पूर्वां संध्यामुपासीनो जजाप यतमानसः ॥ ६ ॥
तुष्टाव प्रणतश्चैव शिरसा मधुसूदनम् । विमलक्षौमसंवीतो वाचयामास च द्विजान् ॥ ७ ॥

महल के समान शोभायमान था । तारा समूह से भरे आकाश में चन्द्रमा के समान राजा ने [अन्तःपुर में] प्रवेश किया ॥ २६ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'व्रत का विधान' विषयक पाँचवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ५ ॥

छठा सर्ग

पुरवासियों का उल्लास

पुरोहित [वसिष्ठ] के जाने पर स्नान किये एकाग्रचित्त राम ने विशालाक्षी (= बड़ी २ आखों वाली) पत्नी के साथ नारायण की उपासना की ॥ १ ॥ हविः की पात्री को ऊपर से पकड़कर [और] उसमें से घी [लेकर उससे] जलती हुई अग्नि में प्रधान देवता के लिये [राम ने] विधिपूर्वक हवन किया ॥ २ ॥ उस हवि के शेष [भाग] का प्राशन (= भक्षण) करके [और] अपने प्रिय (= इष्ट) की प्रार्थना करके यज्ञ के शोभायमान गृह में सुन्दर कुश के विछौने पर एकाग्रचित्त नरवेर [दशरथ] के पुत्र [राम] ने वैदेही (= सीता) के साथ मौन होकर देव नारायण का ध्यान करते हुए शयन किया ॥ ३, ४ ॥ एक पहर रात अवशेष रहते ही जागकर उस [राम] ने सभामण्डप को अच्छे प्रकार सजाने का आदेश दिया ॥५॥ इसके पश्चात् सूत (कथावाचक), मागध (वंशप्रवक्ता), वन्दी (यशोगान करने वाले) [जनों] के सुखद वचनों को सुनते हुए [और] प्रातःकालीन सन्ध्या करते हुए, अच्छे प्रकार समाहित (= एकाग्रचित्त) [राम ने] जप किया ॥ ६ ॥ सिर झुकाकर (= नमस्कारपूर्वक) मधुसूदन (= प्रमाद आदि पापपुञ्जों के हर्त्ता प्रभु) की स्तुति की । [तदनन्तर] निर्मल रेशमी वस्त्र धारण किये उस [राम] ने द्विजों से स्वस्ति-वाचन कराया ॥ ७ ॥ उन [द्विजों] का गम्भीर और मधुर स्वस्तिघोष तूर्य [नामक बाजे] के घोष के

तेषां पुण्याहघोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तदा । अयोध्यां पूरयामास तूर्यघोषानुनादितः ॥८॥
कृतोपवासं तु तदा वैदेह्या सह राघवम् । अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः ॥९॥
ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम् । प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम् ॥१०॥
शुभ्राभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च । चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च ॥११॥
नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च । कुटुम्बिनां समृद्धेषु श्रीमत्सु भवनेषु च ॥१२॥
सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च । ध्वजाः समुच्छ्रिताश्चित्राः पताकाश्चाभवंस्तदा ॥१३॥
नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम् । मनःकर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः ॥१४॥
रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः । रामाभिषेके संप्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥१५॥
बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः । रामाभिषेकसंयुक्ताश्चक्रुरेव मिथः कथाः ॥१६॥
कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः । राजमार्गः कृतः श्रीमान् पौरै रामाभिषेचने ॥१७॥
प्रकाशीकरणार्थं च निशागमनशङ्कया । दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः ॥१८॥
अलङ्कारं पुरस्यैवं कृत्वा तत्पुरवासिनः । आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् ॥१९॥
समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च । कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम् ॥२०॥
अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः । ज्ञात्वा यो वृद्धमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥२१॥

साथ मिलकर अयोध्या में फैल गया । ॥ ८ ॥ उस समय वैदेही (=सीता) सहित राघव (=राम) ने उपवास किया है, [ऐसा] सुनकर अयोध्या निवासी सब जन प्रसन्न हुए ॥ ९ ॥ इसके पश्चात् राम के अभिषेक को सुनकर सब नागरिक रात बीती जानकर (अर्थात् पौ फटते ही) नगर को सजाने लगे ॥ १० ॥ सफेद बादलों की चोटियों के समान शुभ्र और उन्नत ईश्वरोपासना-मन्दिरों पर, चौराहों पर, सड़कों पर, यज्ञाग्नि-शालाओं[1] पर, अटारियों पर, नानाविध कीमती पण्य (=क्रय-विक्रय योग्य) सामग्री से युक्त व्यापारियों की दुकानों पर, गृहस्थियों के [धनधान्य से] समृद्ध सुन्दर भवनों पर, समस्त सभास्थानों पर और दूर से दिखाई देने वाले वृक्षों पर, ध्वजा और पताकायें अच्छी प्रकार फहरायी गईं ॥ ११-१३ ॥ तत्पश्चात् नट, नर्तकों के समुदायों तथा गान करते हुए गायकों की मन और कान को सुख देने वाली वाणियों को जनता ने सुना ॥ १४ ॥ राम के अभिषेक का समय आने पर जनता परस्पर चबूतरों और घरों पर रामाभिषेक सम्बन्धी बातें करने लगी ॥ १५ ॥ घर के द्वारों पर [अपने २] संघ बनाकर खेलते हुए बालक भी आपस में रामाभिषेक सम्बन्धी ही बातें करने लगे ॥ १६ ॥ रामाभिषेक के समय पुरवासियों ने राजमार्ग को फूल मालाओं से सुशोभित और धूप की सुगन्धि से सुगन्धित किया ॥ १७ ॥ रात हो जाने की सम्भावना से प्रकाश करने के लिये सब छोटी सड़कों पर वृक्षाकार दीपस्तम्भ [पुरवासियों ने] बनाये ॥ १८ ॥ इस प्रकार नगर को सजाकर पुरवासी राम के यौवराज्याभिषेक की आकांक्षा करते हुए राजा [दशरथ] की [इस प्रकार] प्रशंसा करने लगे ॥ १९, २० ॥ इक्ष्वाकु कुल के बढ़ाने वाले ये महात्मा राजा [दशरथ] अपने आप को वृद्ध जानकर राम को राज्य में अभिषेक करेंगे ॥ २१ ॥ [हम] सब [पुरवासी राजा दशरथ के] अनुगृहीत हैं जिससे कि सब लोगों की भलाई बुराई को जानने वाले राजा राम चिरकाल तक हमारे पालक होंगे ॥ २२ ॥ (वे) राघव (=राम) गर्वहीन विद्वान्, धर्मात्मा, भाइयों से प्रेम करने

१—'चैत्येषु' का तात्पर्य यहां यज्ञशाला से है। क्योंकि इस चैत्य शब्द का सम्बन्ध यज्ञगत चितियों से है। इस विषय में आश्व० गृह्यसूत्र ३ । ६ । ९ (पृ० ९३ पूना सं.) पर नारायणवृत्ति देखनी चाहिये। कुछ टीकाकारों ने इसका अर्थ बौद्ध मन्दिर किया है, वह अयुक्त है।

सर्वे ह्यनुगृहीताः स्मो यन्नो रामो महीपतिः । चिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः ॥२२॥
अनुद्धतमना विद्वान् धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः । यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः ॥२३॥
चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः । यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥२४॥
एवंविधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुः परे । दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः ॥२५॥
ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम् । रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥२६॥
जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निस्वनः । पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निस्वनः ॥२७॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं दिदृक्षुभिर्जानपदैरुपाहितैः ।
समन्ततः सस्वनमाकुलं बभौ समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम् ॥२८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पौरोत्सेको नाम षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

मन्थरापरिदेवनम्

ज्ञातिदासी यतो जाता कैकेय्या तु सहोषिता । प्रासादं चन्द्रसंकाशमारुरोह यदृच्छया ॥ १ ॥
सिक्तराजपथां कृत्स्नां प्रकीर्णकमलोत्पलाम् । अयोध्यां मन्थरा तस्मात्प्रासादादन्ववैक्षत ॥ २ ॥

वाले [हैं] और जैसे [वे] भाईयों से प्रेम करने वाले हैं वैसे ही हमारे से भी [प्रेम करने वाले हैं] ॥२३॥ पापरहित धर्मात्मा राजा दशरथ चिर-काल तक जियें, जिनकी कृपा से हम राम को अभिषिक्त देखेंगे ॥२४॥ [राम का राज्याभिषेक होगा ऐसा] समाचार सुनकर [भिन्न-भिन्न] दिशाओं से आये हुए जनपद निवासी दूसरे मनुष्यों ने इस प्रकार बात-चीत करते हुए पुरवासियों की [बातें] सुनीं ॥ २५॥ राम के अभिषेक को देखने के लिए [भिन्न २] दिशाओं से पुरी [अयोध्या] को प्राप्त हुए इन जनपद निवासी जनों ने राम की पुरी [अयोध्या] को भर दिया ॥ २६ ॥ उस समय [भिन्न २ स्थानों से] आते हुए जनसमूहों [के पदसंचरण] द्वारा [जनित] ध्वनि [इस प्रकार] सुनाई दी, जैसे पर्वों (= पूर्णिमा के दिनों) में बढ़े हुए वेग वाले समुद्र की ध्वनि [सुनाई पड़ती है]॥ २७॥ इन्द्रभवन के समान सुन्दर उस नगरी को देखने की इच्छा से आये हुए जन-पद-वासियों से [वह नगरी] चारों ओर से [इस प्रकार] व्याप्त व शब्दपूर्ण हो गई जैसे समुद्र के जल-जन्तुओं से समुद्र का जल व्याप्त व शब्दयुक्त हो जाता है ॥ २८॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्या काण्ड का 'पुरवासियों का उल्लास' विषयक छठा सर्ग समाप्त हुआ ॥ ६ ॥

सातवां सर्ग

मन्थरा का शोक

क्योंकि कैकेयी के साथ रहा करती थी, [इसलिये कैकेयी की] कुल दासी (= मन्थरा) [कैकेयी के] चन्द्र के समान [सुन्दर] महल पर स्वेच्छापूर्वक चढ़ी ॥ १ ॥ उस महल से मन्थरा ने जिसकी सड़कों पर [जल से] छिड़काव किया गया है [ऐसी] कमल पुष्पों से सुसज्जित सारी अयोध्या को देखा ॥ २ ॥ श्रेष्ठ (राजयोग्य) पताकाओं और झण्डों से सुशोभित, चन्दन [मिश्रित] जल से सींची

पताकाभिर्वराहाभिर्ध्वजैश्च समलंकृताम् । सिक्तां चन्दनतोयैश्च शिरःस्नातजनैर्युताम् ॥३॥
माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम् । शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनिस्वनाम् ॥४॥
संप्रहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषाभिनादिताम् । प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां संप्रणर्दितगोवृषाम् ॥५॥
प्रहृष्टमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम् । अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता ॥६॥
सा हर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डरक्षौमवासिनीम् । अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा ॥७॥
उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती । राममाता धनं किं नु जनेभ्यः संप्रयच्छति ॥८॥
अतिमात्रप्रहर्षोऽयं किं जनस्य च शंस मे । कारयिष्यति किं वापि संप्रहृष्टो महीपतिः ॥९॥
विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री परमया मुदा । आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवे श्रियम् ॥१०॥
श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन राघवम् । राजा दशरथो राममभिषेचयितानघम् ॥११॥
धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता । कैलासशिखराकारात्प्रासादादवरोहत ॥१२॥
सा दह्यमाना कोपेन मन्थरा पापदर्शिनी । शयानामेत्य कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥१३॥
उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते । उपप्लुतमघौघेन किमात्मानं न बुध्यसे ॥१४॥
अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे । चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्मगे ॥१५॥
एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः । कुब्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत्परम् ॥१६॥

हुई, [उबटन आदि लगाकर] स्नान किये हुए जनों से युक्त, माला-मोदक हाथ में लिये द्विजश्रेष्ठों
(= ब्राह्मणों) [की ध्वनियों] से निनादित, विद्वानों के सफेद द्वारवाले गृहों से युक्त, सब प्रकार के
[बज रहे] बाजों से नादित (= शब्दायमान), प्रसन्न मनुष्यों से व्याप्त, वेद के घोष से गुञ्जित, प्रसन्न
हुए श्रेष्ठ हाथी और अश्वों [तथा] रम्भाते हुए गाय [एवं] बैलों से युक्त, हर्षित [और]
प्रसन्न पुरवासियों द्वारा बनाई गई ऊँची ध्वजपंक्तियों से युक्त अयोध्या [नगरी] को देखकर मन्थरा
अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुई ॥ ३–६ ॥ उस मन्थरा ने हर्ष से प्रफुल्लित नेत्रोंवाली, हलके पीले वर्ण
के रेशमी वस्त्र धारण की हुई पास में स्थित [रामचन्द्र की] धात्री से पूछा—॥ ७ ॥ उत्तम (= उमड़े हुए)
हर्ष से युक्त, राममाता (= कौशल्या) [किसी विशेष] प्रयोजन से प्रेरित हुई मनुष्यों को धन क्यों बाँट
रही है ?॥ ८ ॥ इस [समस्त] जनता को अत्यधिक प्रसन्नता क्यों है ? क्या प्रसन्न हुए राजा (= दशरथ)
[कोई अनुपम कार्य] करने वाले हैं ? यह मुझे बताओ ॥ ९ ॥ हर्ष से खिलखिलाती हुई [उस] धात्री ने
अत्यन्त प्रसन्नता के साथ कुब्जा (= कुबड़ी) [मन्थरा] को राम को [प्राप्त होनेवाली] बहुत बड़ी श्री
(= राज्यलक्ष्मी) [के वृत्तान्त] को कहा ॥ १० ॥ कल पुष्य [नक्षत्रयुक्त काल] में राजा दशरथ जिसने
क्रोध को जीत लिया है [ऐसे] पापरहित (रघुवंशीय) राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करेंगे
॥ ११ ॥ धात्री के वचन को सुनकर, सह सकने में असमर्थ [मन्थरा] जल्दी ही कैलास शिखर के समान
उन्नत महल से नीचे उतरी ॥ १२ ॥ क्रोध से जलती हुई [भलाई में भी] बुराई देखनेवाली वह मन्थरा
सोती हुई कैकेयी [के पास जाकर उस] से यह वचन बोली—॥ १३ ॥ "[अरी] मूर्ख ! उठ, क्यों सो रही
है ? भय तेरी ओर बढ़ रहा है । दुःखप्रवाह में डूबी हुई [तू] अपने आप को नहीं जान रही । १४ ॥
[हे] अनिष्ट (= पति द्वारा न चाही हुई) [पति से] दिखावे का प्यार पानेवाली [कैकेयी तू व्यर्थ
ही] सौभाग्य से [युक्त होने का] गर्व करती है । ग्रीष्म ऋतु में [सूख जानेवाले] नदी के स्रोत के
समान तेरा सौभाग्य (= पतिप्रेम) चल (= नष्ट हो जानेवाला) है ॥ १५ ॥ पाप दिखानेवाली (= पाप
की ओर प्रेरित करनेवाली) क्रोधित कुब्जा [मन्थरा] द्वारा इस प्रकार कठोर वचन कही हुई कैकेयी
अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुई ॥ १६ ॥ कैकेयी बोली—मन्थरे ! क्या [कोई मेरा] अमङ्गल [हुआ है]

कैकेयी त्वब्रवीत्कुब्जां कच्चित्क्षेमं न मन्थरे । विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ॥१७॥
मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम् । उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ॥१८॥
सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्या हितैषिणी । विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ॥१९॥
अक्षय्यं सुमहद्देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम् । रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥२०॥
सास्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता । दह्यमानानलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता ॥२१॥
तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद्भवेत् । त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदत्र न संशयः ॥२२॥
नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः । उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुध्यसे ॥२३॥
धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः । शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसंधिता ॥२४॥
उपस्थितं प्रयुञ्जानस्त्वयि सान्त्वमनर्थकम् । अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति ॥२५॥
अपवाह्य स दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु । काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥२६॥
शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया । आशीविष इवाङ्केन बाले परिहृतस्त्वया ॥२७॥
यथा हि कुर्यात्सर्पो वा शत्रुर्वा प्रत्युपेक्षितः । राज्ञा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥२८॥
पापेनानृतसान्त्वेन बाले नित्यसुखोचिते । रामं स्थापयता राज्ये सानुबन्धा हता ह्यसि ॥२९॥
सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव । त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मयदर्शने ॥३०॥

क्योंकि [मैं] तुझे बहुत अधिक दुःखित [एवं] उतरे हुए चेहरेवाली देख रही हूँ ॥ १७ ॥ कैकेयी के मधुर वचन को सुनकर वाक्यविशारद (=बोलने में चतुर) मन्थरा क्रोधयुक्त [होकर] वचन बोली—॥ १८ ॥ उस [कैकेयी] के प्रति हित की इच्छा रखनेवाली वह कुब्जा [मन्थरा] और अधिक दुःखी होकर [कैकेयी को] दुःखी करती [व] राघव (=राम) [के प्रति] फोड़ती हुई बोली—॥ १९ ॥ हे देवि [कैकेयि]! तेरा बहुत बड़ा अक्षय (=जिसका प्रतिकार न हो सके ऐसा) विनाश होनेवाला है। राजा दशरथ राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करेंगे ॥ २० ॥ [इससे मैं] अथाह भय में डूबी हुई, दुःख [और] शोक से युक्त, अग्नि से जलती हुई के सदृश [हो गई हूँ और] तेरे हित के लिये यहाँ आई हूँ ॥ २१ ॥ हे कैकेयि ! [राम के अभिषेक से होनेवाले] तेरे दुःख से मेरा दुःख महान् होगा। तेरी वृद्धि (=बढ़ती) से ही मेरी वृद्धि है, इसमें सन्देह नहीं ॥ २२ ॥ तू राजकुल में उत्पन्न हुई है [और] राजा की पटरानी है। हे देवि ! [तू] राजधर्मों की कठोरता को क्यों नहीं समझती ? ॥ २३ ॥ तेरा पति धर्मयुक्त बातें कहनेवाला [होते हुए भी] शठ (=अधर्माचरण करनेवाला) [है] और मृदु बोलनेवाला [होते हुए भी अन्दर से] कठोर [है]। [तू उसकी बातों को] शुद्ध भाव से [कही हुई] समझती है, इसीलिये [तू] इस प्रकार ठगी गई है ॥ २४ ॥ [तेरे पास] आया हुआ, तुझ से अनर्थक सांत्वना की बातें करनेवाला तेरा पति आज कौसल्या को सुख-समृद्धि से युक्त करेगा ॥ २५ ॥ दुष्टात्मा [दशरथ] भरत को तेरे बन्धुओं के पास भेजकर [कल] प्रातः ही निष्कण्टक राज्य पर राम का अभिषेक करेगा ॥ २६ ॥ [हे] बाले ! हित की कामनावाली माता द्वारा गोद में धारण किये विषयुक्त सर्प की भाँति तूने पति के नाम से शत्रु को स्वीकार कर लिया है ॥ २७ ॥ जिस प्रकार उपेक्षित शत्रु वा सर्प [व्यवहार] करता है, उसी प्रकार आज राजा दशरथ ने पुत्रसहित तुझसे [व्यवहार] किया है ॥ २८ ॥ [हे] बाले ! [तुझे] झूठी सांत्वना देनेवाले, पापी [राजा दशरथ] द्वारा राम को राज्य पर बिठाने से नित्य सुखों में पली हुई [तू] पुत्रमित्र आदि सहित मारी गई है ॥ २९ ॥ हे कैकेयि ! [तू] समयोचित हितयुक्त [कार्य] शीघ्र ही कर ले। हे आश्चर्य से देखनेवाली ! [तू] पुत्र [भरत] की, अपनी और मेरी रक्षा कर ले ॥ ३० ॥ मन्थरा के

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात्सा शुभानना । उत्तस्थौ हर्षसंपूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥३१॥
अतीव सा तु संहृष्टा कैकेयी विस्मयान्विता । एकमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥३२॥
दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा । कैकेयी मन्थरां दृष्ट्वा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥३३॥
इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यासि परमं प्रियम् । एतन्मे प्रियमाख्यातं भूयः किं वा करोमि ते ॥३४॥
रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये । तस्मात्तुष्टास्मि यद्राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥३५॥

न मे परं किंचिदितस्त्वया पुनः प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचः परम् ।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं परं वरं ते प्रददामि तं वृणु ॥३६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे मन्थरापरिदेवनं नाम सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

मन्थरोपजापः

मन्थरा त्वभ्यसूय्यैनामुत्सृज्याभरणं च तत् । उवाचेदं ततो वाक्यं कोपाद्दुःखसमन्विता ॥ १ ॥
हर्षं किमिदमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे । शोकसागरमध्यस्थमात्मानं नावबुध्यसे ॥ २ ॥
मनसा प्रसहामि त्वां देवि दुःखार्दिता सती । यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्येदं व्यसनं महत् ॥ ३ ॥

वचन को सुनकर हर्ष परिपूर्ण सुन्दरमुखी कैकेयी शरद् ऋतु की चन्द्रलेखा के समान बिस्तर पर से उठी ॥ ३१ ॥ अत्यन्त संतुष्ट एवं विस्मय को प्राप्त हुई उस कैकेयी ने उस कुब्जा [मन्थरा] को अनुपम सुन्दर आभूषण दिया ॥ ३२ ॥ प्रसन्न हुई नारी श्रेष्ठ कैकेयी ने उस कुब्जा को आभूषण देकर फिर मन्थरा से यह बोली—॥ ३३ ॥ हे मन्थरे ! यह तो [तूने] मुझे परम प्रिय [समाचार] कहा है । यह प्रिय [संवाद तूने] मुझे कहा है । [इसके बदले में मैं] तेरा क्या उपकार करूँ ॥३४॥ राम वा भरत में मैं कोईभेद नहीं देखती । इसलिये [मैं] प्रसन्न हूँ कि राजा राम को राज्य में अभिषिक्त करेंगे ॥ ३५ ॥ हे प्रियार्हे=प्रिय वस्तु प्राप्त करने योग्य [मन्थरे] ! [तूने जो] मधुर श्रेष्ठ वचन कहा है, इससे उत्कृष्ट मेरे लिये और कोई बात नहीं । इसलिये [तू कोई] अतिप्रिय वर (=श्रेष्ठ वस्तु) माँग, मैं देती हूँ ॥ ३६ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्या काण्ड का 'मन्थरा का शोक' विषयक सातवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ७ ॥

आठवां सर्ग

मन्थरा कैकेयी संवाद

तत्पश्चात् क्रोध और दुःख से युक्त मन्थरा ने उस [कैकेयी] की निन्दा की [और] उस [कैकेयी द्वारा प्रदत्त] आभूषण को फेंक कर [वह] इस प्रकार बोली—॥ १ ॥ हे मूर्खे ! अस्थान (= अनुचित अवसर) में [तू] हर्ष क्यों अनुभव कर रही है। [तू] अपने आप को शोकसागर में डूबती हुई नहीं समझ रही ? ॥२॥ तू महान् [रामाभिषेकरूपी] विपत्ति को प्राप्त करके शोक करने योग्य स्थान पर प्रसन्न हो रही है। हे देवि ! [इस तेरे] दुःख से दुःखित हुई [मैं] मनसे तुझे सहन कर रही हूँ ॥ ३ ॥ [मैं] तेरी दुर्मति पर

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १२] [अङ्क ५

इस अङ्क के लेख

१—उस महान् पुरुष को जानो	आर्याभिविनय	पृ० १
२—बुद्धि की निर्मलता	श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज	३
३—न्याय-वात्स्यायनभाष्य में प्रयुक्त 'योग' पद का अर्थ	श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री	७
४—दण्डी विरजानन्द जी के विषय में अनुसन्धान	श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक	९
५—ब्रह्मा-विष्णु-महादेव समीक्षा	श्री पं० जे० पी० चौधरी	१४
६—विविध समाचार	सम्पादक	१६
७—'वाल्मीकिरामायण' का आलोचनात्मक भाषानुवाद (गताङ्क से आगे)	अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी	१६ (पृ० २०९–२२४)
८—प्रकाशन-सम्बन्धी विवरण		(टा० पृ० २)
९—यजुर्वेद-भाष्य-सम्बन्धी विज्ञप्ति		(टा० पृ० ४)

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

फाल्गुन २०१६ वि०, मार्च १९६० ई०
दयानन्दाब्द १३६
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६०

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य–भारत में ५)
वी० पी० से ५॥=)
" " विदेश में ६)
इस अङ्क का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार न किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक हो चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

'वेदवाणी' नामक हिन्दी मासिक पत्र के सम्बन्ध में विवरण

१—प्रकाशक का स्थान—वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस—वाराणसी नं० ६

२—प्रकाशन की अवधि—मासिक

३—मुद्रक का नाम—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
राष्ट्रीयता—भारतीय
पता—पो० अजमतगढ़ पैलेस—वाराणसी नं० ६

४—प्रकाशक का नाम—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
राष्ट्रीयता—भारतीय
पता—पो० अजमतगढ़ पैलेस वाराणसी नं० ६

५—सम्पादक का नाम—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
राष्ट्रीयता—भारतीय
पता—पो० अजमतगढ़ पैलेस—वाराणसी नं० ६

६—उन व्यक्तियों के नाम व पते जो इस समाचार पत्र के मालिक हैं, जो इसकी पूँजी के भागीदार हैं—रामलाल कपूर ट्रस्ट गुरु बाजार—अमृतसर (पंजाब)

मैं ब्रह्मदत्त जिज्ञासु इसके द्वारा यह घोषित करता हूँ कि ऊपर लिखी बातें मेरी जानकारी तथा विश्वास के अनुसार यथार्थ हैं॥

२८ फरवरी १९५९ ई०

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु
प्रधान रामलाल कपूर ट्रस्ट
प्रकाशक

ओ३म्

ऋग्वेद

यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद

अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों!

वर्ष १२ } काशी, फाल्गुन, सं० २०१६ वि०, मार्च १९६० ई० { अङ्क ५

आर्याभिविनय से— टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अनुगामी

स्तुतिविषयः

उस महान् पुरुष को जानो

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ यजु० ३१।१८ ॥

आर्याभिविनय—व्याख्या

सहस्रशीर्षादिविशेषणोक्तपुरुष सर्वत्र परिपूर्ण[1] (पूर्णत्वात्पुरिशयनाद्वा पुरुष इति निरुक्तोक्तेः) है। "वेदाहमेतम् पुरुषम्" उस पुरुष को मैं जानता हूँ अर्थात् सब मनुष्यों को उचित है कि उस परमात्मा को अवश्य जानें। उसको कभी न भूलें, अन्य किसी को ईश्वर[2] न जानें। वह कैसा है? कि (महान्तम्) बड़ों

अर्थबोधकटिप्पणी

१ परिपूर्ण = व्याप्त २ ईश्वर = स्वामी

से भी बड़ा अर्थात् उससे बड़ा वा तुल्य कोई नहीं है। "आदित्यवर्णम्" वही एक परमात्मा आदित्यादि का रचक और प्रकाशक है, तथा वह सदा स्वप्रकाशस्वरूप है। किञ्च[3] "तमसः परस्तात्" तम जो अन्धकार अविद्यादि दोष है, उससे रहित ही है, तथा वही परमात्मा स्वभक्त, धर्मात्मा, सत्यप्रेमी जनों को भी सद्यः[4] अविद्यादिदोषरहित करनेवाला है। विद्वानों का ऐसा निश्चय है कि कोई जीव परब्रह्म के ज्ञान और उसकी कृपा के विना सुखी नहीं होता। "तमेव विदित्वा मृत्युम् अति एति" जीव उस परमात्मा को जान के ही मृत्यु को उल्लंघन[5] कर सकता है, अन्यथा नहीं। "नान्यःपन्था विद्यतेऽयनाय" क्योंकि परमेश्वर की भक्ति और उसके ज्ञान के बिना, कोई मुक्ति[6] का मार्ग नहीं है। परमात्मा की ऐसी दृढ़[7] आज्ञा है। सब मनुष्यों को उसमें ही वर्त्तना चाहिये,[8] और सब पाखण्ड और जंजाल[9] अवश्य छोड़ देना चाहिये।

दण्डान्वय—टीका

अहम्	= मैं	विदित्वा[14]	= समझकर और अपनाकर
महान्तम्[10]	= अति महत्त्वपूर्ण, उदार, पूजनीय	मृत्युम्	= सकल कष्टों के
आदित्यवर्णम्[11]	= जो सूर्य में प्रकाश देनेवाला है	अति	= परे
तमसः[12]परस्तात्	= अविद्यादि क्लेशों के परे	एति	= चला जाता है,
एतम् पुरुषम्[13]	= इस सर्वत्र व्याप्त और पूर्ण परमेश्वर को	अन्यः	= दूसरा कोई
वेद	= जानता हूँ–समझता हूँ।	पन्थाः	= मार्ग
(नरः नारी वा)	= नर या नारी	अयनाय[15]	= चिरन्तन सुख प्राप्ति चाहने वाले का
तम् एव	= उसी को	न विद्यते	= नहीं है।

३ किञ्च = and further
४ सद्यः = तुरन्त
५ उल्लंघन = to pass over : परे जाना
६ मुक्ति = उच्चतमसुख
७ दृढ = स्थिर
८ इसमें सब को वर्तना चाहिये = परमेश्वर की आज्ञा को समझना और उसका पालन करना चाहिये।
९ पाखण्ड और जंजाल = ईश्वरविरुद्ध ज्ञान और कर्म को झंझट फंसावट समझकर
१० (अ) व्यु० मह = पूजायाम्—भ्वा०, मह = वृद्धौ—भ्वा० to delight : to be powerful : liberal : great : big.
(आ) महः इति ब्रह्म। ब्रह्मणो वाव सर्वे वेदाः महीयन्ते। तै० उ० शि० ५।१०.
११ व्यु० चूर्ण प्रेरणे चुरा०। वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु चुरा०। to explain : praise : to spread : to illuminate: to send—आप्टे।
१२ क्लेशः उ० ४।१८९ immovability—आप्टे। सुख की ओर न जाने वाला
१३ (अ) पुरति अग्रम् गच्छतीति पुरुषः। उ० ४।७४
(आ) प्राजापत्यो वै पुरुषः। तै० ३।२।५।३
(इ) पुरुषो वै यज्ञः। कौ० १७।७
१४ (अ) death : disease—आप्टे।
(आ) अमृतान्मृत्युः निवर्तते। श० १०।२।६।१।
१५ place of resort—आप्टे।

बुद्धि की निर्मलता

[ले०—श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज]

बुद्धि को निर्मल तथा तीव्र बनाने के लिये जहां योगासन तथा प्राणायाम आदि अन्य अनेक साधन हैं, वहाँ मन्त्र भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन हैं। वेद भगवान् में ऐसे मन्त्र हैं जिन से बुद्धि निखर जाती है और तीव्र हो जाती है। उनमें से सब से बड़ा मन्त्र है—महामन्त्र, गायत्री मन्त्र, गुरु मन्त्र, सावित्री मन्त्र, वेदजननी, पतितपावनी। ये सब एक ही मन्त्र के नाम हैं।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

इस मन्त्र के जप के द्वारा बुद्धि मिलती है, सम्मान मिलता है। पूना में महर्षि दयानन्द ने व्याख्यान देते हुए बताया कि सांसारिक व्यक्ति को मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? उन्हों ने गायत्री मन्त्र का उच्चारण करते हुए बताया कि इसके जप से बुद्धि के सब मल दूर हो जाते हैं। हमारे सब पूर्वजों ने इसी मन्त्र द्वारा जप से अपनी बुद्धियों को तीव्र किया। भगवान् शङ्कर, राम, कृष्ण, विश्वामित्र, वशिष्ठ, तिलक, अरविन्द घोष, शङ्कराचार्य, महात्मा गान्धी सब इसी मन्त्र का जप करते थे। राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद भी गायत्री का ही जप करते हैं। भागवत में जहाँ श्री कृष्ण के दैनिक जीवन का वृत्तान्त है, वहां लिखा है कि भगवान् कृष्ण सूर्योदय से दो घण्टा पूर्व उठते थे। नहा धोकर रेशमी कपड़े पहन कर प्रति दिन वे दो घण्टे गायत्री मन्त्र का जप किया करते थे।

मैं कैलाश के दर्शन करने के लिये गया—शिव भगवान् के उस स्थान पर जहाँ उन्होंने तपस्या की थी—अल्मोड़ा से २५० मील दूर। मेरी ये टांगें मुझे वहां ले गईं। रास्ता बहुत कठिन है। भयानक जंगल हैं। रास्ते में कई भयानक जन्तु देखे। कितना भयानक था वह रास्ता! हम मानसरोवर पहुँचे। समुद्रतल से पन्द्रह हज़ार फुट की ऊंचाई पर पृथ्वी की छत तिब्बत पर ५४ मील घेरे की सुन्दर झील है यह मानसरोवर। आज तक इस की गहराई नापी नहीं गई। इतनी ऊँचाई पर इतना पानी कहां से एकत्र हो गया। देख कर आश्चर्य होता है। अंग्रेजों के काल में इस की गहराई नापने का यत्न किया गया। एक नाव मध्य में ले जाकर ३५० फुट लम्बी लोहे की जंजीर के आगे लोहे का एक गोला बान्धा गया। परन्तु वह गोला भूतल पर नहीं लगा। कितनी गहरी है वह झील, आज तक ज्ञात न हो सका। वहां से कैलाश जहां पार्वती रहती थीं तीस मील है। दूसरे दिन प्रातः काल हम वहाँ से चले। डेढ़ मील पर एक नदी आई। उस में तीक्ष्ण नोकदार बरफ के टुकड़े तैर रहे थे। हमारे साथ हमारा पथप्रदर्शक कीचखम्बा था। उस से मैंने पूछा—'इस पर पुल नहीं है'? उसने बताया—'पुल क्या होगा। यह वर्ष में दो मास चलती है, दस मास तो यहां पर बरफ रहती है।' मैं ने पूछा—'इस को पार कैसे करें?' उसने उत्तर दिया—'कैलाश जाना है तो पार करना ही पड़ेगा।' पार किया। पैर घायल हो गये। ठण्डा पानी और उसमें नोकदार बरफ़ के टुकड़ों की मार। दो मील पर फिर एक नदी, डेढ़ मील के बाद तीसरी नदी, फिर चौथी। जैसे २ सूर्य ऊपर आता गया, नदियों का पानी बढ़ता गया। बरफ़ पिघल-पिघल कर वह पानी आता था। सूर्य से बरफ़ अधिक पिघलती है। पांचवीं नदी तो बहुत बड़ी थी। तीन मील के बाद छठी नदी आई। इस प्रकार हम दस नदियां पार कर गये। टांगें और पाओं बिल्कुल ज़ख़मी हो गये, सोचा—चलो अब और तो नहीं होगी। कीचखम्बा बोला—अभी सबसे बड़ी नदी शेष है और जब ग्यारहवीं नदी आई, हम सब घबरा गये। मैंने कीचखम्बा से कहा—'भाई! यह तो मुझ से पार न होगी चलो लौट चलो।' तब कीचखम्बा बोला—'इतनी दूर आ गये हो, थोड़ा और साहस करो। फिर और नदी नहीं है।' मैं ने कहा—'मुझे पीठ पर उठा ले जाओ।' वह बोला—'आप अकेले होते तो स्यात् उठा भी लेता। आप के पास

सामान भी है और फिर आप के नौ साथी भी हैं। न, मुझ से तो ऐसा न हो सकेगा।' मैं ने कहा—अच्छा, सहारा ही देदो। उस ने सहारा दिया। छाती तक पानी था। नोकीले बरफ़ के टुकड़े शरीर को चलनी किये दे रहे थे। पार होते-होते सारा शरीर रक्ताप्लावित हो गया और तब विचार आया कि महर्षि दयानन्द ने अलकनन्दा को पार करने के लिये कितने कष्ट सहन किये होंगे। इन सब बातों को देख कर ही मनुष्य दयानन्द की तपस्या का अनुमान कर सकता है। मानवसेवा के लिये महर्षि ने क्या कुछ नहीं किया?

हां, यह ग्यारहवीं नदी पार करके दारजन मण्डी आती है। यह स्थान वर्ष में चार मास आबाद रहता है। और आठ मास सुंसान। इन चार मास में यहां तिब्बत और भारत के बीच एक करोड़ रुपये का व्यापार होता है (तिब्बत पर चीनी अधिकार से पूर्व की यह स्थिति थी। इस समय भारत-तिब्बत व्यापार बन्द पड़ा है—सं०)। हम बिल्कुल थक गये थे। कम्बल ओढ़ कर मैं अपने शिविर में जा बैठा। तब ध्यान आया कि कैलाश तक पहुँचने के लिये जो ये ग्यारह नदियाँ पार करनी पड़ती हैं—वास्तव में ये ग्यारह नदियाँ—पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन है। इन कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों और मन को जीत लेने से ही कैलाश के दर्शन होते हैं। साढ़े तीन दिन में हम अठारह हजार फुट की ऊँचाई पर गौरी कुण्ड पहुँचे। इस गौरी कुण्ड के ऊपर बरफ़ जमी रहती है। बरफ़ को तोड़ कर नीचे से पानी निकाला जाता है। मैं ने साथियों से कहा—नहा लो। वे कहने लगे—पहले तुम नहाओ, फिर हम नहायेंगे। मैंने कहा—"अच्छा पहले मैं ही नहा लेता हूँ। परन्तु नहाने से पूर्व आप को एक कथा सुनाता हूँ। पंजाब में गांव के बाहर तालाब होते हैं। उन्हीं में लोग नहा लेते हैं। जनवरी का मास था, खूब सरदी पड़ रही थी। एक व्यक्ति वहां नहाने के लिये आया। क्योंकि सरदी अधिक थी, इस लिये उसने अपना जूता उतार कर पहले अपनी पांच अंगुलियां तालाब में डुबोयीं। जल अत्यन्त शीतल था। उस का नहाने का साहस न हुआ। पंजाब में पांच अंगुलियों को 'पब' कहते हैं। उस ने यह कहकर कि 'पब स्नान, सब समान' ही स्नान कर लिया और जूता पहन कर वापिस चल पड़ा। अभी थोड़ी ही दूर गया था कि रास्ते में एक और व्यक्ति मिला। उसने पूछा—क्यों भाई! स्नान कर आये? तो यह बोला—'पब स्नान, सब स्नान'। वह बोला—'अच्छा! तुम स्नान, हम स्नान'। बस उस आने वाले व्यक्ति ने यह कह कर ही स्नान कर लिया। कहीं आप लोग भी मेरे नहाने के बाद 'तुम स्नान, हम स्नान' कह कर स्नान तो नहीं कर लोगे।"

यह कहकर मैंने गौरी कुण्ड की बरफ तोड़ी और कमण्डलु भरकर शरीर पर पानी डाला। दूसरा कमण्डलु भरने का साहस न हुआ और फिर मैं स्नान करके प्रभु की भक्ति में बैठ गया। ध्यानमग्न हो गया। सचेत तब हुआ जब कीचखम्बा ने मुझे हिलाकर कहा—उठो बहुत देर हो गई, ऐसे ही बैठे रहोगे तो सारा रक्त जम जायेगा। मैंने कहा—अभी तो बैठा हूँ। तो उसने बताया कि साढ़े नौ बजे बैठे थे, अब अढ़ाई बज गया है। तभी मेरी दृष्टि ऊपर गई। चारों ओर बरफ ही बरफ, बीच में एक छोटा स्थान था जहाँ शिव और पार्वती बैठकर बातें किया करते थे। मैंने कीचखम्बा से कहा—मुझे वहाँ ले चल। उसने कहा—वहाँ कोई नहीं जाता, वहाँ जाने का रास्ता भी कोई नहीं। मैंने कहा—मैं वहाँ अवश्य जाऊँगा। उसने बहुत कहा—वहाँ नहीं जा सकते। परन्तु मैं न माना और अन्ततः उसे मेरे साथ चलना ही पड़ा। गौरीकुण्ड से वह स्थान हजार फुट ऊँचा था। इस एक हजार फुट को चढ़ने में ३ घण्टे लग गये। वहाँ जाकर मैं बैठ गया। कीचखम्बा कहने लगा—यहाँ मत बैठो, रक्त जम जायेगा और तुम मर जाओगे। मैंने कहा—यहाँ कैलाश पर मर गया तो इससे बढ़कर सौभाग्य की बात क्या हो सकती है। वह कहने लगा—नहीं, आपको वापिस पहुँचाने का उत्तरदायित्व मेरे ऊपर है। अल्मोड़ा पहुँच कर आप कुछ भी कर लीजिये।

तभी वहाँ शिव-पार्वती के उस स्थान पर मुझे याद आया। गायत्रीमञ्जरी अभी २ छपी है। इससे पहले वह प्रकाशित नहीं हुई थी। वह वार्त्तालाप मैं आपको सुनाता हूँ। पार्वती—'नाथ! आज गौरीकुण्ड से मैं एक जिज्ञासा लेकर आई हूँ, उसे

पूरा करके ही मैं सुख का श्वास लूंगी।' शिव भगवान—'पूछो, क्या पूछना चाहती हो ?' पार्वती—'आपने वह कौन सी साधाना की है, जिससे आप को ये सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं। शिव—'कुछ और पूछो, यह तो एक रहस्य की बात है।' पार्वती—'नहीं, यह रहस्य प्रकट करना ही होगा। शिव—'अच्छा सुनो !—

गायत्री वेदमातास्ति साऽऽद्याशक्तिर्मता श्रुवि।
जगतां जननी चैव तामुपासेऽहमेव हि॥

अर्थात्—गायत्री वेदमाता है। पृथ्वी पर वह आद्यशक्ति कहलाती है। वही संसार की माता है। मैं उसी की उपासना करता हूँ।

यौगिकानां समस्तानां साधनानां तु हे प्रिये।
गायत्र्येव मता लोके मूलाधारा विदां वरैः॥

अर्थात्—हे पार्वती ! विद्वानों ने सभी योग की साधनाओं का आधार गायत्री को ही माना है।

इस गायत्री से बढ़कर और कोई बात नहीं। इस विज्ञान के युग में लोग कहेंगे कि यह जप की बात कहता है, भला जप से भी कुछ होता है। इस मन्त्र में चौबीस अक्षर हैं। इनको इस प्रकार और क्रम से भगवान् ने रखा है कि जब इनका उच्चारण हृदय में होता है, तो वहाँ से आध्यात्मिक तरङ्गें उठकर ऐसी प्रभावपूर्ण होती हैं कि जब वे हमारे मस्तिष्क में पहुँचती हैं तो मनोमण्डल-बुद्धि-चित्तमण्डल पर चोट लगाती हैं और हृदय की सब तन्त्रियां झङ्कृत हो उठती हैं। कुण्डली पर चोट पड़ती है। इस प्रकार एक वैज्ञानिक क्रिया होने से बुद्धि निर्मल हो जाती है। इसलिये बुद्धि को निर्मल बनाने की एक बहुत बड़ी विधि जप करना भी है। वेदमन्त्रों का जप—और उन मन्त्रों में सबसे महत्त्वपूर्ण है गायत्री मन्त्र।

इसके अतिरिक्त बुद्धि निर्मल करने के लिये एक ओषधि भी है। आप कहेंगे—यह सबसे सरल है, इसका नुसखा बता दो। सुन लो, नुसखा भी सुनलो। मेरे पास जो कुछ है, मैं सब कुछ आपको दे दूँगा।

बुद्धि निर्मल करने का नुसखा

वच—दो तोला, शङ्खपुष्पी—१२ तोला, मीठी कुठ—२ तोला, ब्रह्मी—१२ तोला। चारों को कूटकर कपड़छन कर लो। फिर आगे लिखी भस्में मिलाकर छोटे बेर जितनी गोलियां बना लो। यशव प्रस्तर भस्म—२ माशा, अकीक भस्म, प्रवाल भस्म, मुक्ता-शुक्ति भस्म, बङ्गभस्म, लौह भस्म, शङ्खभस्म, वज्राभ्रक भस्म—सब दो माशा। रस सैंदूर—१ माशा। बादाम रोगन इतना मिलाओ, जितना समा सके। चालीस दिन का कोर्स है। लाल मिर्च, खटाई नहीं खाना।

आप कहेंगे—यह तो बुद्धि के पीछे ही पड़ गया है। बुद्धि के अतिरिक्त और कोई बात ही नहीं करता। बुद्धि सबसे बड़ी वस्तु है। आपके पास सब कुछ हो और अगर बुद्धि न हो तो कुछ भी नहीं। बुद्धि आधारभूत वस्तु है। यह सुधरी रहे तो सब कुछ सुधरा रहता है। यह विकृत हो जाये तो सब कुछ विकृत हो जाता है। सुनो ! मैं आपको बुद्धि और भाग्य की एक कथा सुनाता हूँ। एक बार बुद्धि और भाग्य में विवाद हो गया। भाग्य ने कहा—जिस पर मेरी कृपा हो जाती है, वह सब कुछ प्राप्त कर लेता है। बुद्धि ने कहा—अजी ! मिथ्या क्यों कहते हो ? जिस पर मेरी कृपा नहीं, वहां तुम्हारी कृपा कुछ नहीं कर सकती। दोनों में विवाद जोर पकड़ गया और जब झगड़ा बहुत बढ़ गया तो बुद्धि बोली—पारस्परिक कलह अच्छा नहीं। परीक्षा कर के देख लेते हैं, किसकी कृपा अधिक है। भाग्य ने मान लिया। दोनों एक ग्राम के बाहर गये। वहां एक निर्धन गड़रिया एक पेड़ के नीचे अपनी बकरियाँ चरा रहा था। भाग्य ने कहा—देखो, अपनी कृपा से मैं इसे राजा बना देता हूँ। यह बिल्कुल निरक्षर है, मूर्ख है, और तुम्हारी कृपा के बिना यह कैसे सुखी हो जाता है ? बुद्धि ने कहा—ठीक है। भाग्य ने उसके पास एक खड़ाओं का जोड़ा रख दिया। सोने की बनी हुई इन खड़ाओं में हीरे और मोती लगे हुए थे। थोड़ी ही देर में वहां एक व्यापारी आया। उस ने खड़ाओं को देखा; तो उसके मुँह में पानी आ गया। उस व्यापारी ने गड़रिये से कहा—ये खड़ाओं मुझे दे दो, जो मूल्य हो ले लो। गड़रिये ने कहा—ये खड़ाओं मैं ने क्या करनी हैं, तुम ले लो। मुझे यहां से गांव में जाकर चने भुनवाने में बहुत कष्ट होता है। तुम मुझे दो मन चने भुनवा कर दे

दो और ये खड़ाओं ले लो। व्यापारी बहुत प्रसन्न हुआ। उसने वैसा ही किया, चने दे दिये, खड़ावें ले लीं। खड़ावें ले कर वह शहर में चला गया। वहां जा कर उसने वे खड़ावें राजा को भेंट कर दीं। राजा उन खड़ाओं को देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, पूछने लगा—ये खड़ावें तुम्हें कहां से मिलीं। व्यापारी ने बताया कि उस देश के राजा ने प्रसन्न होकर ये खड़ावें मुझे पुरस्कार में दे दीं और यह सोच कर कि मैं इन खड़ावों को क्या करूँगा, आप की सेवा में भेंट कर रहा हूँ। राजा ने पूछा—क्या तुम ऐसी खड़ावें और ला सकते हो? व्यापारी ने कहा क्यों नहीं, जितनी कहो, ला देता हूँ। मेरे राजा के पास बहुत खड़ावें हैं। राजा ने पूछा—क्या तुम्हारा राजा बहुत धनवान् है। व्यापारी ने उत्तर दिया—जी हां, बहुत धनवान् है। राजा ने कहा—यदि ऐसा है तो तुम मेरी पुत्री का विवाह उस राजा या उसके पुत्र से करा दो। व्यापारी ने कहा—यह कौन बड़ी बात है। मैं अभी जाकर सब ठीक करा देता हूँ। व्यापारी यह सब कह तो आया, परन्तु उसे ज्ञात है कि सब असत्य कहा है। शहर से कुछ वस्तुएं खरीद कर और कुछ तांबे के बर्त्तन लेकर वापिस चल पड़ा। मार्ग में वह उस वृक्ष के नीचे रुका, जहां उसे गड़रिया मिला था। उसने अपना सामान वहां रखा। इतने में गड़रिया वहां आया। वह तांबे की गागर को सरहाना बनाकर सो गया। व्यापारी ने देखा कि जिस गागर पर वह सिर रख कर सोया है, वह सोने की हो गई। फिर क्या था, उसने शेष सब बर्त्तनों को उससे छूने को कहा। वे भी सोने के हो गये। व्यापारी को ज्ञात हो गया कि यह जिस बर्त्तन को छूता है, वह सोने का हो जाता है। उस ने गड़रिये को अपने वश में कर लिया। पर्याप्त सोना एकत्र किया। एक दुर्ग बनाया, सेना रखी, गड़रिये को राजा बना दिया। गड़रिया डर के मारे सब कार्य करता था। जब दुर्ग में सेना के सैनिक आये तो भयभीत हो गया कि कहीं उस की बकरियों और गौओं ने किसी की हानि तो नहीं कर दी, कि ये सिपाही उसे पकड़ने आये हैं। परन्तु वह व्यापारी डांट देता, वह शांत हो जाता। जो कहता, वह करता जाता। फिर उस व्यापारी ने उस राजा को सन्देश भेजा कि उसको आप की पुत्री से विवाह स्वीकार्य है। विवाह की तैयारियां आरम्भ हुईं। बारात ले जाई गई। व्यापारी ने गड़रिये से कहा—जो कोई भी आये उसे एक हजार रुपये की थैलियां देते जाओ। वह ऐसा ही करता गया। अन्त में सेना के सैनिक आये। गड़रिया भयभीत हो गया कि अब नहीं बचूँगा, अवश्य मेरी बकरियों ने कोई बड़ी हानि कर दी है। परन्तु उस व्यापारी ने फिर उसे डराया। वह शांत हो गया। शादी हो गई। शादी के बाद गड़रिये को एक सजे हुए कमरे में लाया गया। बिजलिया चमक रही थीं। झालरें लटक रही थीं। उस कमरे में जाते ही गड़रिया फिर डर गया। उसने सुन रखा था कि डायनों और चुड़ैलों के घर ऐसे ही होते हैं और वे स्वयं भी सज कर आती हैं। इतनी ही देर में राजकुमारी भी कमरे में आ गई। फिर क्या था—वह बहुत डर गया। और एक दरवाजे के पीछे छिप गया। राजकुमारी आई, उसने देखा कि उसका पति वहां नहीं है। वह निराश होकर वापिस अपनी माता के पास चली गई। उधर यह गड़रिया बहुत भयत्रस्त था। जैसे ही राजकुमारी बाहर निकली, वह कमरे से बाहर निकल कर महल से छलांग लगाने लगा।

तब बुद्धि ने भाग्य से पूछा—बताओ, तुम्हारी कृपा तो अब इस गड़रिये की जान लेने लगी है। वह मूर्ख है। कहो तो अपनी कृपा से उसे सुख दे दूँ।

इसी लिये मैं कहता हूँ—बुद्धि आधारशिला है। यही सब कुछ है। जब तक बुद्धि ठीक नहीं है, तब तक इस संसार में रहा ही कैसे जा सकता है। इस लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि हमारी बुद्धि ठीक हो—विमल हो।

न्याय-वात्स्यायनभाष्य में प्रयुक्त 'योग' पद का अर्थ

[ले०—विद्यावाचस्पति, श्री० पं० उदयवीर जी शास्त्री दर्शनाचार्य, गाज़ियाबाद]

न्यायदर्शन के वात्स्यायनभाष्य में अन्य अनेक दार्शनिक मतों का प्रसंगवश उल्लेख हुआ है, जैसा कि प्रायः इस प्रकार के ग्रन्थों में हुआ करता है। कहीं दर्शन का नाम लेकर और कहीं 'एके' 'अपरे' आदि पदों के निर्देशपूर्वक विभिन्न मत उल्लिखित हैं।

जैसे—१।१।२९ सूत्र के भाष्य में······'इति सांख्यानाम्, इति योगानाम्' ऐसा लेख है।

१।१।३२ सूत्र पर...एके नैयायिकाः...।

१।१।२३ ,, ,,...इत्येकं दर्शनं......इत्यपरम्।

३।२।१ ,, ,, एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति सांख्याः...।

२।२।१३ ,, ,, इत्येके...इत्यपरे...इत्यन्ये।

इत्यादि रूप में विभिन्न दार्शनिक मतों का उल्लेख वात्स्यायन भाष्य में पाया जाता है। इन प्रसंगों में एक स्थल पर 'सांख्य' के साथ 'योग' का उल्लेख है, विचारणीय यह है कि यहां 'योग' पद किस दर्शन के लिये प्रयुक्त हुआ है, अथवा इस पद से किस दर्शन का सिद्धान्त प्रकट करना अभिप्रेत है?

आशंका का कारण

इसका विवेचन करने की आवश्यकता क्यों हुई? इसका कारण है श्रीविन्ध्येश्वरी प्रसाद द्विवेदी का एक लेख। चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी से जो न्यायवार्तिक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है, उसके साथ श्री द्विवेदी जी द्वारा लिखित एक विस्तृत भूमिका संलग्न है। उसके ७६ पृष्ठ पर द्विवेदी जी का लेख है—

"३८ पृष्ठे 'इति सांख्यानाम्', इति 'योगानाम्' योगस्य चर्चा कठोपनिषदि ६ वल्याम्। श्वेताश्वतरोपनिषदि ६ अध्याये सांख्ययोगौ समुद्धृतौ। अपि च......श्रीकृष्णेन भगवद्गीतायाम्—

'एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति' इत्युक्तम्"

इन पंक्तियों के लिखे जाने का प्रसंग यह है कि द्विवेदी जी वात्स्यायन मुनि के चरित का वर्णन करते हुए बताते हैं कि वात्स्यायनभाष्य में जो अनेक दर्शनों के मतों का उल्लेख पाया जाता है, उसके आधार पर वात्स्यायन मुनि को अर्वाचीन सिद्ध किया जाना युक्तियुक्त नहीं है। इस प्रकार के उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। "वात्स्यायन भाष्य में ३८ पृष्ठ पर[1] सांख्य और योग का मत दिखाया गया है, योग की चर्चा कठोपनिषद् की ६ वल्ली में है, श्वेताश्वतर उपनिषद् के छठे अध्याय में सांख्य योग दोनों का उल्लेख है, और श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में सांख्य और योग को एक बताया है।"

श्री द्विवेदी जी के इस लेख से यह स्पष्ट अभिप्राय प्रकट होता है कि वे वात्स्यायनभाष्य के इस स्थल में प्रयुक्त 'योग' पद का अर्थ पातञ्जल योग समझ रहे हैं। क्योंकि उन्होंने कठ और श्वेताश्वतर उपनिषद् के जिन प्रसंगों का उल्लेख किया है, वहां पातञ्जलयोग विषयक ही निर्देश हैं, यह एक निश्चित मत है। उसी के साथ वात्स्यायनभाष्य में प्रयुक्त 'योग' पद का सामञ्जस्य प्रकट करते हुए द्विवेदी जी का उपर्युक्त विचार स्पष्ट हो जाता है। गीता के साथ सामञ्जस्य भी इसी अर्थ को दृढ़ करता है।

उक्त अर्थ में असंगति

उपनिषद् और गीता के जिन प्रसंगों का संकेत किया गया है, वहां सांख्य-योग समानशास्त्रों की चर्चा है, यह स्पष्ट है। जो अर्थ सांख्य द्वारा प्रतिपादित होता है, वही योग से जाना जाता है, इसी कारण उन स्थलों में इनकी समानता का वर्णन है। परन्तु वात्स्यायनभाष्य में इन पदों का ऐसा प्रयोग नहीं है। यहां पर एक दूसरे के विरोधी अर्थों का उल्लेख है।

वात्स्यायनभाष्य में यह प्रसंग 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' का प्रतिपादन करनेवाले सूत्र पर है। सूत्र है—

'समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः'।

जो अर्थ समानशास्त्र में सिद्ध है, निश्चित है, स्वीकार किया है, परन्तु अन्य शास्त्र में स्वीकार नहीं किया गया, वह 'प्रतितन्त्र सिद्धान्त' कहा जाता है अर्थात् प्रत्येक शास्त्र

१ यह पृष्ठसंख्या विजयनगर संस्कृत सीरीज में मुद्रित पुस्तक के अनुसार है। यह पाठ १।१।२९ सूत्र पर है।

का अपना अपना सिद्धान्त। उसी के उदाहरण रूप में भाष्यकार वात्स्यायन ने सांख्य और योग के परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया है। भाष्य की पंक्ति है—

'यथा नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानं, निरतिशयाश्चेतनाः, देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेष इति सांख्यानाम्।

पुरुषकर्मनिमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः, असदुत्पद्यते, उत्पन्नं निरुद्ध्यते इति योगानाम्।'

अर्थात्—जैसे असत् का आत्मलाभ नहीं होता, और न सत् का नाश होता है, अर्थात् असत् कभी सत् नहीं होता और न सत् कभी असत् होता है, देह, इन्द्रिय, मन तथा विषयों में और उन उनके कारणों में भेद रहता है, यह सांख्यों का मत है।

पुरुष के कर्मों के कारण भूतसर्ग होता है, कर्मों के कारण हैं दोष—राग-द्वेष-मोह आदि और प्रवृत्ति, अपने गुणों—सुख-दुःख-ज्ञान आदि से युक्त हैं चेतन, असत् की उत्पत्ति होती है, और उत्पन्न हुआ सत् पदार्थ नष्ट हो जाता है, यह योगों का मत है।

स्पष्ट है, ये दोनों विचारधारा एक दूसरे के विपरीत हैं। ये सिद्धान्त समान तन्त्र के न होकर प्रत्येक विभिन्न शास्त्र के हैं, इसी कारण यहां 'योग' पद सांख्य के समान तन्त्र पातञ्जलयोग का ग्राहक संभव नहीं। फिर यहां सांख्य के जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, पातञ्जलयोग के भी पूर्णरूप से वे ही सिद्धान्त हैं। यह भी कहना युक्तियुक्त न होगा कि पातञ्जल योगदर्शन के अनुयायी किन्हीं आचार्यों का ऐसा मत रहा हो, जो यहां 'योग' पद से प्रस्तुत किया गया है, कारण यह है कि योगदर्शन के किसी भी व्याख्या या टीका आदि ग्रन्थों में इस प्रकार के योग मत का उल्लेख उपलब्ध नहीं है, और न योगदर्शन की किसी ऐसी शाखा प्रशाखा का पता लगता है, जिसकी विचारधारा के साथ इन सिद्धान्तों को जोड़ा जा सके।

इसके विपरीत यहां पर 'योग' पद से कहे गये समस्त सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक के हैं। न्यायसूत्रों में ही इन सब सिद्धान्तों का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है। सबसे पहला सिद्धान्त जो यहां 'योग' पद से बताया गया है—पुरुषकर्मनिमित्तक भूतसर्ग है, इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन न्यायदर्शन के ३।२।६४ सूत्र से लेकर अनेक सूत्रों द्वारा किया गया है। दूसरा सिद्धान्त १।१।१७ और १८ सूत्रों में प्रतिपादित है। तीसरे के लिये १।१।१० सूत्र द्रष्टव्य है, तीसरे अध्याय के प्रथम आह्निक का प्रारम्भिक भाग भी इस सिद्धान्त को पुष्ट करता है। चौथे सिद्धान्त के लिये ४।१।४७-५० सूत्र द्रष्टव्य हैं। सांख्य के सत्कार्य-सिद्धान्त के समक्ष न्याय-वैशेषिक का यह एक विशिष्ट सिद्धान्त है कि असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश हो जाता है।

प्रसंग भी इस बात को पुष्ट करता है, कि यहां 'योग' पद पातञ्जल योगदर्शन के लिये प्रयुक्त न होकर अन्य दर्शन के लिये हुआ है, क्योंकि सांख्य-सिद्धान्त का कथन करने पर प्रतितन्त्र सिद्धान्त के रूप में उससे विपरीत मत रखनेवाले दर्शन का ही वर्णन होना चाहिये।

प्रस्तुत स्थल में 'योग' पद का अर्थ बौद्धों का एक भेद योगाचार समझ लेने में क्या असामञ्जस्य होगा, ऐसा कथन वही व्यक्ति कर सकता है, जो बौद्ध विचाराधारा और बौद्ध दर्शन से परिचय न रखता हो।

'योग' पद का अर्थ—न्याय-वैशेषिक

अभी तक के विवरण से इस प्रसंग में 'योग' पद का प्रयोग न्याय-वैशेषिक दर्शन के लिये हुआ है, यह प्रकट किया गया। परन्तु ऐसे अप्रसिद्ध पद का प्रयोग किस आधार पर हुआ है, यह विचारना अपेक्षित है। संभवतः ऐसा प्रतीत होता है, कि परमाणुओं के योग से जगत् की उत्पत्ति का वैदिक परम्परा के अनुसार वर्णन करने वाले ये ही दो दर्शन हैं। हमारा विचार है कि कदाचित् इसी आधार पर इन दर्शनों के लिये वात्स्यायन ने 'योग' पद का प्रयोग किया है। यह कोई ऐसी बात नहीं है, कि किसी मूल-भूत सिद्धान्त का विरोध करती हो, अथवा इसमें कोई ऐसा असामञ्जस्य हो, जिसे स्वीकार न किया जा सके।

'योग' पद का इसी अर्थ में अन्यत्र प्रयोग

यह देखना चाहिये, कि उक्त अर्थ में यह पद सर्वथा अप्रयुक्त है, या कहीं इसका अन्यत्र प्रयोग देखा भी जाता है। इसी सूत्र (प्रतितन्त्र सिद्धान्त) के न्यायवार्तिक में उद्योतकर ने भी इस पद का प्रयोग किया है। वहां दो विपरीत सिद्धान्तों को इस रूप में दिखाया गया है—

'यथा भौतिकानीन्द्रियाणीति योगानाम्। अभौतिकानीति सांख्यानाम्।'

यह स्पष्ट एवं सर्वविदित सिद्धान्त है, कि सांख्य तथा पातञ्जल योग दोनों दर्शन इन्द्रियों को अभौतिक मानते हैं। इसके प्रतिकूल विचार का प्रतिपादन करनेवाले दर्शन का नाम उद्योतकर ने यहां 'योग' लिखा है और उसका सिद्धान्त बताया, कि इन्द्रियां भौतिक हैं। स्पष्ट रूप से यह सिद्धान्त न्याय-वैशेषिक का है। न्याय के ३।१।३० सूत्र से ५० सूत्र तक इन्द्रियों का भौतिक होना विस्तार के साथ प्रतिपादित किया गया है। इस प्रकार उद्योतकर ने भी यहां 'योग' पद का प्रयोग न्याय वैशेषिक के लिये किया है, इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं।

इसके अतिरिक्त कौटलीय अर्थशास्त्र में भी इस पद का प्रयोग उक्त अर्थ में देखा जाता है। कौटल्य का प्रारम्भिक दूसरे अध्याय के विद्या-समुद्देश नामक प्रकरण का पहला सूत्र है—

'आन्वीक्षकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।'

इससे चार विद्याओं का निर्देश कर दसवें सूत्र में आन्वीक्षकी का विवरण इस प्रकार दिया है—

'सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षकी।'

आन्वीक्षकी विद्या में कौटल्य तीन का संग्रह करता है सांख्य, योग और लोकायत। इसमें किसी विचारशील व्यक्ति को सन्देह नहीं होना चाहिये, कि 'सांख्य' पद यहां सांख्य, पातञ्जल योग तथा वेदान्तदर्शन का ग्रहण कराता है, और 'लोकायत' पद में चार्वाक-जैन-बौद्ध दर्शनों का समावेश हो जाता है। 'योग' पद यहां पातञ्जल योग-दर्शन का बोधक नहीं समझा जा सकता, क्योंकि उस अवस्था में न्याय का आन्वीक्षकी में समावेश करने के लिये अन्य कोई पद यहां उपयुक्त न होगा। न्याय, आन्वीक्षकी विद्या है, इसका विस्तार के साथ प्रतिपादन वात्स्यायन मुनि ने न्याय के प्रथम सूत्र के भाष्य में ही किया है। इस प्रकार कौटल्य ने 'योग' पद का प्रयोग यहां न्याय-वैशेषिक को आन्वीक्षकी विद्या में समावेश के लिये किया है, यह स्पष्ट होता है।

कतिपय विद्वानों ने 'योग' पद के इस असाधारण समान प्रयोग के आधार पर कौटल्य और वात्स्यायन को एक व्यक्ति माने जाने की संभावना प्रकट की है। पर यह अन्य प्रसंग है, इससे विराम लेना ही सम्प्रति उपयुक्त होगा॥

दण्डी-घाट मथुरा में

श्री दण्डी विरजानन्द जी के विषय में अनुसन्धान

[ले०—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, अध्यक्ष—अनुसन्धान विभाग, टंकारा]

खतौली (जि० मुजफ्फरनगर) निवासी श्री महाशय मामराज सिंह जी का नाम आर्यसमाज के इतिहास में सदा स्मरणीय रहेगा। आपने ऋषिभक्ति से प्रेरित होकर अथक परिश्रम और अनिर्वचनीय कष्ट उठाकर पुरानी आर्यसमाजों और आर्यपरिवारों के सहस्रों घरों की वर्षों तक छानबीन करके ऋषि दयानन्द के सैकड़ों पत्रों और विज्ञापनों का उद्धार किया[1] तथा ऋषि के ८,९ वास्तविक चित्र प्राप्त किए। आपके साथ ही हमें दयानन्द-दीक्षाशताब्दी समारोह के अनन्तर दो दिन मथुरा में श्री गुरुवर दण्डी विरजानन्द जी और उनके अनन्य शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के विषय में छानबीन करने का अवसर प्राप्त हुआ। उस छानबीन से प्राप्त सामग्री का हम नीचे वर्णन करते हैं।

अनायास सुअवसर की प्राप्ति

लोक में कहावत प्रसिद्ध है कि भगवान् जिसे सम्पत्ति देना चाहते हैं उसे लक्ष्मी छप्पर फाड़कर प्राप्त होती है। यही कहावत हमारे साथ भी मथुरा में घटी।

ता० २६ दिसम्बर को मथुरा के श्री पं० गोविन्ददत्त जी चतुर्वेदी दीक्षाशताब्दी-समारोह देखते हुए रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर की दुकान पर अचानक पधारे।

१. यह सम्पूर्ण संग्रह श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर द्वारा प्रकाशित "ऋषिदयानन्द के पत्र और विज्ञापन" नामक ग्रन्थ में छप चुका है।

वहां उन्होंने ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन ग्रन्थ देखकर स्वयं कहा कि हमारे पास श्री दण्डी जी और स्वामी दयानन्द के कुछ पत्र हैं। इसी प्रकार श्री पं० गोविन्ददत्त जी के पुत्र श्री पं० मुकुन्ददत्त जी चतुर्वेदी ने सांस्कृतिक प्रदर्शनी में स्वामी जी महाराज के असली पत्र देखकर श्री महाशय मामराज सिंह जी से कहा। हम दोनों ने (पृथक् पृथक् रूप में) उनसे दण्डी जी और स्वामी दयानन्द जी के पत्र तथा अन्य उपयोगी सामग्री दिखाने की प्रार्थना की। इसे दोनों महानुभावों ने बड़ी सहृदयता से स्वीकार किया। हमने २८ ता० को उनके स्थान पर पहुँचने के लिए समय नियत किया।

हम दोनों दीक्षाशताब्दी-महोत्सव के अनन्तर २८ दिसम्बर को लग-भग ११ बजे दण्डी घाट पर श्री पं० गोविन्ददत्त जी के यहां पहुँचे। हमारे साथ एक सज्जन और भी थे। वहां हम लग-भग ४ बजे तक उनसे विविध जानकारी प्राप्त करते रहे।

श्री पं० गोविन्ददत्त जी का परिचय

श्री पं० गोविन्ददत्त जी चतुर्वेदी श्री गुरुवर दण्डी विरजानन्द के शिष्य श्री पं० नवनीत जी कविवर के पुत्र हैं। मथुरा में दण्डी घाट पर विराजते हैं। आप बड़े विद्वान् और मिलनसार व्यक्ति हैं। आपको श्री गुरुवर दण्डी जी तथा उनकी शिष्य परम्परा का इतिहास पूर्णतया अवगत है। आपसे हमें एतद्विषयक अनेक नवीन बातों का ज्ञान हुआ।

वंश-गोत्र आदि—श्री पं० गोविन्ददत्त जी के पिता का नाम श्री कविवर पं० नवनीतजी चतुर्वेदी था, यह हम पूर्व लिख चुके हैं। नवनीत जी के पिता श्री पं० बूलचन्द जी (बूलाजी), पितामह श्री किशनासद्ध जी (संन्यस्त कृष्णानन्द जी), प्रपितामह श्री सुखदेव जी, प्रप्रपितामह श्री हरदेव जी और उन के पिता निहाल जी थे। बूला जी छोटे भाई ऊला जी थे।

चतुर्वेदी जी का गोत्र शुद्ध भारद्वाज है, आङ्गिरस, बार्हस्पत्य, भारद्वाज त्रिप्रवर और आज्यहोमी अवटंक है। आप परम्परा से सामवेदीय छान्दोगराणायनी शाखा के अध्येता हैं। आपके घर में १२ वीं शताब्दी तक के सामवेद के हस्तलेख सुरक्षित हैं। इससे आपके कुल में वेदाध्ययन-परम्परा की अविच्छिन्नता स्पष्ट है। आप के यहां शतशः हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह है।

श्री कविवर नवनीत जी का परिचय

आपके पिता श्री पं० नवनीत जी का जन्म सं. १९१... मार्गशीर्ष शुदि १५ को हुआ। आठ वर्ष के वय[1] में आपका यज्ञोपवीत संस्कार हुआ और इसी बाल्यकाल में श्री गुरु... दण्डी विरजानन्द जी की पाठशाला में अष्टाध्यायी पढ़ने... प्रविष्ट हुए। उनसे ३ वर्ष तक (श्री दण्डी जी के स्वर्गवास... पर्यन्त) अष्टाध्यायी पढ़ते रहे। दण्डी जी के स्वर्गवास के अनन्तर श्री पं० गङ्गादत्तजी चतुर्वेदी (श्री दण्डी जी के प्रधान शिष्य तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती के गुरुभाई) से विद्याध्ययन किया। स्वर्गवासी श्री पं० पद्मसिंह जी शर्मा का श्री पं० नवनीत जी से अच्छा परिचय था। श्री पं० पद्मसिंह जी ने माधुरी वर्ष ६ खण्ड २ पृष्ठ ४५२-४५... (मई १९२८) में नवनीत जी का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया है। उसका उपयोगी अंश हम नीचे उद्धृत करते हैं—

"आठ वर्ष की वय में यज्ञोपवीत संस्कार हुआ। उपनीत होकर श्री पण्डित गङ्गादत्त जी चतुर्वेदी से लघु-कौमुदी का पाठ आरम्भ किया। उक्त पण्डित जी सुप्रसिद्ध वैयाकरण दण्डी श्री विरजानन्द जी महाराज के शिष्य और श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी (आर्यसमाज के प्रवर्तक) के सहपाठी थे। गङ्गादत्त जी को भरतपुर राज्य से १५) मासिक वृत्ति मिलती थी। उसी से अपना योगक्षेम चलाते और विद्यार्थियों को पढ़ाते थे। गुरुभाई स्वामी दयानन्द से आपका घनिष्ठ भाई-चारा था। स्वामी जी आपसे अत्यधिक स्नेह करते थे। ३००) रु० किसी से सहायता दिलाकर स्वामी दयानन्द जी ने पण्डित जी का पक्का मकान बनवा दिया था"।

उक्त लेख में तीन तथ्य—उक्त लेख से तीन बातें विदित होती हैं। प्रथम—श्री दण्डी जी के स्वर्गवास के पश्चात् श्री पं० गङ्गादत्त जी जैसे उद्भट विद्वान् भी अष्टाध्यायी महाभाष्य रूपी आर्षग्रन्थों के पठन-पाठन क्रम को स्थिर रूप से न अपना सके। परम्परागत लघुकौमुदी आदि अनार्षग्रन्थों को पढ़ाने लग गए। दूसरा—श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का उनसे घनिष्ठ भाई-चारा था। तीसरा—स्वामी जी ने किसी से ३०० रुपया दिलाकर उनका मकान पक्का करवा दिया था।

१. 'गर्भाष्टमे' नियमानुसार यह गणना है। जन्मतः ७ वें वर्ष में समझना चाहिए।
२. देखिए पूर्व टिप्पणी।

ऋषि दयानन्द के चरितों में अन्तिम महत्त्वपूर्ण घटना का कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। ऋषि के द्वारा बनवाया मकान इस समय श्री पं० गङ्गादत्त जी के पुत्र विदुरदत्त जी के भाई गरुड़दत्त जी चौबे के अधिकार में है।

श्री गुरुवर दण्डी जी के विषय में

श्री पं० गोविन्ददत्त जी से श्री गुरुवर दण्डी जी के विषय में निम्न नई बातों का परिज्ञान हुआ—

गुरुपरम्परा—श्री गुरुवर दण्डी विरजानन्द जी के गुरु का नाम श्री **स्वामी पूर्णानन्द दण्डी** था। आपने सौन्दर्यलहरी की एक संस्कृतटीका लिखी थी। इस टीका का हस्तलेख तथा दण्डी पूर्णानन्द जी के हाथ से लिखी दक्षिणामूर्ति संहिता की पुस्तक श्री पं० गोविन्ददत्त जी के संग्रह में सुरक्षित है।[1] एक वेदान्तविषयक ग्रन्थ श्री गङ्गादत्त जी के पुत्र विदुरदत्त जी के घर में विद्यमान है।[1] दण्डी पूर्णानन्द जी मूलतः मथुरा के निवासी थे।[2] मथुरा में दण्डी घाट पर कुटिया डालकर वर्षों तक तपस्या करते रहे।[3] श्री दण्डी पूर्णानन्द जी के गुरु का नाम **आनन्दस्वामी दण्डी** था।

दण्डी पूर्णानन्द के शिष्य—श्री दण्डी पूर्णानन्द जी अनेक विषयों के उद्भट विद्वान् थे। उनकी शिष्य मण्डली अतिविस्तृत थी। उनके मथुरावासी शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं—

१—किशनसिद्ध। ये श्री पं० गोविन्ददत्त जी चतुर्वेदी के प्रपितामह थे। सं० १९३० में ९९ वर्ष की आयु में इनका स्वर्गवास हुआ।

२—शिवानन्द। इनका जन्म सं० १८२२ और निर्वाण १९२२ में हुआ। पूर्ण शतवर्ष आयु पाई।

३—विरजानन्द। स्वामी दयानन्द सरस्वती के गुरु।

४—नरहरि बाबा। कल्लू जी की धर्मशाला के पास इनकी समाधि बनी हुई है।

५—खटखटा बाबा। इनके शिष्य ब्रह्मानन्द जी इटावा वाले थे, जिन्होंने इटावा में सरस्वती विद्यामन्दिर की स्थापना की। इसमें हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह था।

६—बूटी बाबा।

दण्डी विरजानन्द की शिष्य मण्डली

श्री गुरुवर दण्डी विरजानन्द से मथुरा निवास काल में निम्न प्रसिद्ध व्यक्तियों ने विद्याध्ययन किया था—

१—अंगदराम।	८—रमणलाल गोस्वामी।
२—बुद्धसेन।	९—श्यामलाल पण्डा।
३—उदय प्रकाश।	१०—बनमाली।
४—युगलकिशोर।	११—दयानन्द सरस्वती।
५—गङ्गादत्त।	१२—नवनीत कविवर।
६—रंगदत्त।	१३—ग्वालकवि।
७—नन्दन जी।	

टिप्पणी—विरजानन्दप्रकाश (प्रो० भीमसेनशास्त्री कृत) में अन्य शिष्यों के नाम भी लिखे हैं।

नवनीत जी ने ३ वर्ष तक दण्डी जी से अष्टाध्यायी पढ़ी थी। कविवर ग्वाल जी ने दण्डी जी से काव्यप्रकाश पढ़ा था। श्री पं० गोविन्ददत्त जी का कहना है कि दण्डी जी काव्यप्रकाश को आर्षग्रन्थवत् प्रामाणिक मानते थे।

दण्डी जी की माता का नाम—श्री पं० नवनीत जी ने गुरुवर श्री दण्डी विरजानन्द जी के विषय में एक कवित्त रचा था। उसमें उन्होंने श्लेषरूप में दण्डी जी की माता का नाम सरस्वती लिखा है। उक्त कवित्त महत्त्वपूर्ण है। अतः हम उसे नीचे उद्धृत करते हैं—

> विरजा[4]किनारे बसि व्रज जन दीक्षा दई
> पूर्णानन्द गुरु सो समग्रज्ञान पायौ हो
> नवनीत सुबन सरस्वती[5] पुलिन जन्म
> जन्म अन्ध[6] विरजू सातवर्ष का सिधायो[7] हो॥१॥

---

१. श्री पं० गोविन्ददत्त जी के कथनानुसार। हम स्वयं देख नहीं पाए।

२. श्री देवेन्द्र बाबू ने हरियाणा मूलस्थान माना है।

३. इस घाट का निर्माण आप के शिष्य किशनसिद्ध महलवाले चतुर्वेदी ने कराया था। दण्डी पूर्णानन्द जी यहाँ चिरकाल तक रहे। अतः यह दण्डी घाट के नाम से प्रसिद्ध हो गया। श्री गुरुवर दण्डी विरजानन्द भी कुछ समय इस घाट पर बनी कुटिया में रहे थे।

४. यमुना।

५. सरस्वती नदी। पक्ष में श्लेष से माता का नाम सरस्वती। दण्डी विरजानन्द के जन्मस्थान गंगापुर के समीप बहनेवाली नदी का नाम "बेई" है, सरस्वती नहीं है। क्या श्लेष के लिए ही 'बेई' को सरस्वती नाम से स्मरण किया है?

६. प्रायः माना जाता है कि दण्डी जी जन्म से अन्धे नहीं थे।

७. यह संकेत माता-पिता के स्वर्गवास की ओर है अथवा उनके गृहपरित्याग की ओर, यह विचारणीय है।

योग तप बल तें अधीत वेद वेद-अङ्ग
संग शिवानन्द[१] ब्रह्मचारी मित्र पायौ हो
संवत् अठारह सौ तेरह में[२] कृष्णानन्द[३]
सामवेदी दण्डी घाट ही को बनवायो हो ॥२॥

वृन्दावन बीच रंगाचारी रंगमन्दिर में
ताको शिष्य लल्लूलाल[४] विप्र अभिमानो भौ
नवनीत तासो गङ्गादत्तको विवाद छिड्यो[५]
अधिकरण षष्ठी तत्पुरुष प्रमानी भौ ॥३॥

दक्षिणा दे सेठ्हू ने संमति कराई झूँठि
विद्यावाद वाराणसी पुरी वेदवानी भौ
आगरे कलक्टरी न्याय ना मिल्यौ तौ
प्रज्ञाचक्षुहू प्रतिज्ञा काज उद्यत अमानी भौ ॥४॥

[६]उन्नतललाट बलबहुल विशालमुण्ड
अक्षमालमाल भव्य चन्दन त्रिपुण्डी ने
नवनीत प्यारे पर पच्छगिरि पच्छन पै
वज्राघात डिण्डिम नाम खलखण्डी ने ॥५॥

सम्प्रदायवाद वेदविहित विवर्जित पै
सासन विदेशिन कौ नासन[७] प्रचण्डी ने
गोरे के अगारी ही उद्दण्ड भै उठाय दण्ड
चण्ड ह्वै प्रतिज्ञा करि प्रज्ञाचक्षु दण्डी ने ॥६॥

आय मथुरा में शिष्यमण्डली बुलाय लीनी
आपने हिय के भाव कहि समुझा गये
कवि नवनीत मथुरा के सम्प्रदायवादी
सुन सुन वचन संकुचि सरमा गये ॥७॥

गङ्गादत्त हे जो रङ्गाचारीमतु खण्डन में
पुस्तक "रङ्गोक्तिपरिभावन"[८] बना गये
दयानन्द ही ने चर्णपादुका पकरि लीनी
दयाकर दर्शन के दर्शन[९] करा गये ॥८॥

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने गुरुवर दण्डी विरजानन्द जी से चतुस्सूत्री सिद्धान्त प्राप्त किया था। श्रीपण्डित गोविन्ददत्त जी के मतानुसार वे चार सूत्र ये हैं—

१—मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध है।

२—विधवाविवाह वेदवर्जित नहीं है।

३—मृतकश्राद्ध वेदविहित नहीं है।

४—कैसा भी पतित हो यज्ञयागादि प्रायश्चित्त से शुद्ध हो सकता है।

दण्डीजी के मथुरा निवास का कारण—दण्डी जी के गुरु भाई श्री किशनसिद्ध चतुर्वेदी ने दण्डी जी से मथुरा में निवास करने का अनुरोध किया था।

नैत्यिक पेय—दण्डीजी प्रतिदिन सूर्योदय से पूर्व आधी छटांक काली मिर्च और आध पाव घृत का पान करते थे।

दो पत्र—ऋषिदयानन्द ने आत्मचरित में लिखा है कि वे पत्र द्वारा गुरुवर से संशयोच्छेद किया करते थे। जब श्री पं० गोविन्ददत्त जी ने मुझसे कहा कि हमारे पास दण्डी जी और स्वामी दयानन्द के पत्र विद्यमान हैं, तब हमने कल्पना की थी कि सम्भव है इनके पास इन गुरु शिष्यों का कोई पारस्परिक पत्र उपलब्ध हो जाए। पण्डित जी के घर पर जाकर हमने इनसे दण्डी जी और स्वामी दयानन्द के पत्र दिखाने को कहा। तब उन्होंने एक दण्डी जी के नाम वृन्दाबन से आया और दूसरा ऋषिदयानन्द का गङ्गा-

---

१. दण्डी पूर्णानन्द के शिष्य। क्या अलवर से प्राप्त जटाजूट उपवीतधारी भव्यचित्र ब्रह्मचारी शिवानन्द का तो नहीं है?

२. यहां कुछ सन्देह है। पूर्व लिख चुके हैं कि किशनसिद्ध जी सं० १९३० में ९९ वर्ष की अवस्था में स्वर्ग सिधारे। अथवा ये कृष्णानन्द किशनसिद्ध न हों। इस सन्देह की निवृत्ति के लिए प्रयत्न किया जाएगा।

३. किशनसिद्ध चतुर्वेदी का सन्यस्त नाम। ४. अपर नाम लक्ष्मण शास्त्री।

५. यह शास्त्रार्थ दण्डी घाट पर सिद्धान्तकौमुदी की "अजाद्युक्ति" पद के समास विषय में हुआ था (पूरा विवरण देखिए विरजानन्दप्रकाश, प्रो. भीमसेन शास्त्री लिखित, पृष्ठ ६१)। लक्ष्मण शास्त्री ने गङ्गादत्त से कहा था—'जोगी मुंडा साधु क्या जाने'। यह संकेत दण्डी जी की ओर था। इस पर गङ्गादत्त ने प्रत्युत्तर में कहा—"दग्ध बैल शास्त्र क्या जाने"। दग्ध बैल = साण्ड (सांडों को चिह्नविशेष से दग्ध करके छोड़ने की रीति है) अर्थात् शंख चक्र आदि से दग्ध मूर्ख रङ्गाचारी।

६. इस कवित्त में दण्डी जी के मन्युसंक्रान्त प्रचण्ड स्वरूप का सुन्दर वर्णन किया है। कवित्त पढ़ते ही उनका स्वरूप चक्षुगोचरवत् प्रतीत होता है।

७. यह संकेत महत्त्वपूर्ण प्रतीत होता है। इस पर विशेष अनुसंधान होना चाहिए।

८. यह पुस्तक श्री पं० गङ्गादत्त जी के पुत्र विदुरदत्त जी के घर में सुरक्षित है।

९. इसका संकेत किरणावली और सर्वदर्शन संग्रह की ओर है, ऐसा श्री पं० गोविन्ददत्त जी का कहना है।

दत्त जी के नाम आया पत्र दिखाया। ऋषिदयानन्द ने पं० गङ्गादत्त जी को पत्र लिखाया था। उसकी मूल प्रति अभी तक श्री पं० गङ्गादत्त जी के पुत्र विदुरदत्त जी के घर में सुरक्षित है। उसकी प्रतिलिपि श्रीमहाशय मामराज जी ने सं० १९८५ भाद्र वदी १२ को की थी। श्री पं० गोविन्ददत्त जी के पास जो पत्र है वह उसी मूलपत्र की प्रतिलिपि प्रतीत होती है। श्रीमामराज जी द्वारा प्राप्त प्रतिलिपि श्रीरामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पत्र और विज्ञापन में पृष्ठ ४ पर छप चुकी है। इस प्रतिलिपि में न जाने कैसे पत्र के दूसरी ओर लिखी दो पंक्तियां छपने से रह गईं। वे पंक्तियां इसप्रकार हैं—

महाभाष्याष्टाध्यायीधातुपाठोणादिपाठवार्तिकपाठ परिभाषापाठगणपाठपुस्तकानि गृहीत्वैवागसनस्भवेत् अन्यदपि वेदस्यापि[1]।

यद्यपि ऋषि दयानन्द का गुरुवर दण्डी विरजानन्द के नाम आया पत्र तो नहीं मिला परन्तु वृन्दावन निवासी बिहारीलाल जी किसोरीलाल जी का एक पत्र उपलब्ध हुआ। गुरुवर दण्डी जी के नाम आए किसी भी पत्र के अभाव में उपलब्ध पत्र का ही बहुत महत्त्व स्वीकार करना होगा। इसलिए हम उसे नीचे उद्धृत करते हैं—

श्रीराम जी !

सिद्ध श्री मथुरा जी सुभस्थाने दण्डि स्वामी जी जोग्य लिखि श्रीवृन्दावनते सुकुल जी बिहारीलाल जी व किसोरीलाल जी के नमोनारायण बंचने जी

अपरं च आप के पास आदमी भेजा है सो आप आदमी के साथ जरूर जावोगे आजुई आवोगे जरूर। सं० १९०८ मिति मार्ग सुदि १२

दण्डीजी की पादुका—श्री पं० गोविन्ददत्त जी के यहां श्री गुरुवर दण्डीजी की पादुका विद्यमान हैं। यह अति जीर्ण हो चुकी हैं। उनके साथ दो पादुकाएँ और हैं। इनकी श्री पं० गोविन्ददत्त जी नित्य अर्चना करते हैं। श्री मामराजसिंह जी ने १५ रु० व्यय करके इन पादुकाओं का फोटो ले लिया है। इसी प्रकार एक फोटो दण्डी घाट का भी लिया है।

काशी पराजेता गुरुशिष्य

श्री पं० गोविन्ददत्त जी का कहना है कि 'अजाद्युक्ति' पर जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसमें श्री दण्डी जी के विपरीत काशी के पण्डितों द्वारा सम्मति देने पर श्री दण्डी जी स्वयं काशी गए और वहां सब पण्डितों को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। परन्तु दण्डी जी की विद्वत्ता से भलीभांति परिचित पण्डितसमुदाय उनके सन्मुख नहीं आया। गुरुवर दण्डी जी के प्रसिद्धतम शिष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती की काशीविजय प्रसिद्ध है। उनके पश्चात् श्री पं० गङ्गादत्त जी ने भी काशी की पण्डित मण्डली को परास्त किया[2]। उनके विषय में निम्नलिखित प्रसिद्ध है—

पलायध्वं पलायध्वं भो भो दिग्गजतार्किकाः।
गङ्गादत्तः समायातो वैयाकरणकेसरिः॥

इस प्रकार थोड़े से काल में मथुरा में श्री गुरुवर दण्डी जी तथा उनके शिष्यों के विषय में जो कुछ जान पाए उसका हमने संक्षेप से निर्देश किया है। श्री पं० गोविन्ददत्त जी चतुर्वेदी के सहयोग से मथुरा से बहुत सी नई बातों का परिज्ञान हो सकता है क्योंकि वे दण्डी जी के शिष्य के साक्षात् पुत्र हैं। उन्हें अपने पिता और दण्डी जी के अन्य शिष्यों से बहुत सी बातों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त हुआ है। उनके द्वारा कई अलभ्य वस्तुएँ प्राप्त की जा सकती हैं। इस सारे कार्य के लिए समय और लगनशील व्यक्ति की आवश्यकता है। कई बार इन महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए द्रव्य भी व्यय करना पड़ता है। आशा है उत्तर प्रदेश की आर्य प्रतिनिधिसभा इस महत्त्वपूर्ण कार्य की ओर ध्यान देगी। यदि उक्त सभा श्री माननीय मामराजसिंह जी को विशिष्ट सहयोग प्रदान करे तो वे अन्यों की अपेक्षा इस कार्य में अधिक सफल हो सकते हैं क्योंकि उन्हें ऋषि दयानन्द के शतशः पत्र खोजने का वर्षों का अनुभव है।

दीक्षा शताब्दी महोत्सव मथुरा की वास्तविक सफलता तभी होगी जब कोई आर्ष ग्रन्थों का श्रेष्ठतम अध्यापक वहां बैठकर गुरुवर दण्डी जी द्वारा पुनर्दृष्ट आर्षज्योति को जगमगाए। परन्तु ऐसे व्यक्ति समाज में दो एक ही हैं, और वे भी पश्चिमावस्था में हैं। उनके बाद नई पीढ़ी में कोई भी आर्ष ग्रन्थों का विशिष्ट विद्वान् नहीं है।

---

१ ये पंक्तियां हमने श्री पं० गोविन्ददत्तजी के पास सुरक्षित पत्र से प्रतिलिपि की हैं। जिन महानुभावों के पास 'ऋषिदयानन्द के पत्र और विज्ञापन' पुस्तक हो वे इन्हें पृष्ठ ४ पर पत्र के नीचे लिख लें।

२ एक बार काशी नरेश मथुरा पधारे थे। प्रत्येक पण्डित को एक एक सुवर्ण-मुद्रा दक्षिणा दी। उस समय उन के साथ आए पण्डितों से पं० गङ्गादत्त जी का शास्त्रार्थ हुआ। उस में गङ्गादत्त जी ने सब को परास्त किया। इस पर काशीनरेश ने कहा कि आप काशी आवें। मुख्य मुख्य पंडित तो वहीं हैं, वहां आकर शास्त्रार्थ करें तब काशी के पंडितों की अगाध विद्या का परिज्ञान होगा। इस गर्वोक्ति को सुनकर पं० गङ्गादत्त जी अपने एक शिष्य को साथ लेकर काशी पहुंचे और काशीनरेश से शास्त्रार्थ की व्यवस्था करने का अनुरोध किया। निरन्तर कई दिन शास्त्रार्थ होता रहा। अन्त में काशी के पंडितों को पराजय से बचने का कुछ उपाय न सूझा तो उन्होंने प्रच्छन्न रूप से पं० गङ्गादत्त जी के घात करने की योजना बनाई। एक काशी निवासी द्वारा उसका परिज्ञान हो जाने से वे इस घोर संकट से बचे।

विद्वानों के विचारार्थ—

ब्रह्मा-विष्णु-महादेव समीक्षा

[ले०—श्री पं० जे० पी० चौधरी—काशी]

श्री डा० सत्यकाम जी भारद्वाज, नई देहली ने वेदवाणी के वेदांक में "त्रिदेवता अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु तथा शिव" शीर्षक लेख में उक्त देवताओं के विषय में ऐसी क्लिष्ट मिथ्या कल्पना की है, जिसे पढ़कर कोई भी इसका सारांश अपने शब्दों में नहीं कह सकता। लेख पढ़ने वाले हमारे मन्तव्य से अवश्य ही सहमत होगें।

पहले तो आप वेद के "तदेवाग्निः" आदि कई मन्त्र देकर प्रतिपादन करते हैं कि ये सब विभिन्न नाम एक ही परमात्मा के बोधक हैं। वही इस विश्व का स्रष्टा, धर्ता तथा संहारक है। वेदभाष्यकारों की दृष्टि से यह बात ओझल हो गई और अनेकदेवतावाद का जनता में प्रचार किया।

अनेकदेवतावाद का न तो भाष्यकारों ने प्रचार किया और न निरुक्त-निघण्टु आदि वैदिक ग्रन्थों ने। आगे आपने जितनी भी क्लिष्ट कल्पना की है, वह पुराणों के आधार से, जो सर्वथा पुराणों के विरुद्ध भी है, जैसा कि हम आगे दिखलावेंगे।

वेद में देवता का अर्थ होता है Subject matter अर्थात् जिस मन्त्र में जो विषय रहता है, उसीका नाम देवता है। अर्थात् प्रतिपाद्य विषय का नाम देवता है। उदाहरण लीजिये—श्रद्धां प्रातर्हवामहे-(ऋ० १०।१५१।५) इस मंत्र का देवता श्रद्धा, १०।१०७।७ इस मंत्र का देवता दक्षिणा है। १०।११७।११ में धन प्रशंसा देवता। १०।१४६।३ में अरण्यानी देवता। पाठकों को अब यह प्रतीत हो गया होगा कि प्रतिपाद्य विषय का नाम देवता है। इसी प्रकार अश्व, रथ, दम्पति, गौ, वृषभ, क्षेत्र, सीता, नदी, आप (जल), औषधियां, वनस्पति आद स लेकर सूर्य पर्यन्त देवता हैं। इसी प्रकार मनुष्य, स्त्री, राजा, प्रजा, पत्नी, जीवात्मा, प्राण से लेकर ब्रह्म पर्यन्त देवता हैं। इन सभी पदार्थों को सम्बोधित कर वेद वर्णन करते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं कि ये सब चेतन देवता हैं। चेतनत्व का आरोप करके वर्णन करने की शैली वेदों की है। भाषा में भी ऐसा ही होता है। लेख बढ़ जाने के भय से उदाहरण नहीं दिये जा रहे हैं।

इसी प्रकार ब्रह्मा-विष्णु-शिव कोई अलग अलग देवता नहीं, जैसा प्रारम्भ में आपने दिखलाया है। उक्त सभी बातों को आप भी जानते अवश्य होंगे। परन्तु आगे जाकर अपनी प्रतिज्ञा के विरुद्ध ब्रह्मा-विष्णु-शिव को अलग अलग मान पौराणिक कल्पना को सिद्ध करने लगे। पुराणों में तो प्रकृति के तीनों गुणों को लेकर ब्रह्मा-विष्णु-महादेव की कल्पना है, पर वेद पुराणों में नहीं। पृष्ठ २२ में आपने पुराण के साथ वेद को भी घसीटा है, जो सर्वथा मिथ्या है। वेद के देवतावाद का वर्णन हमने पीछे दे दिया है।

मत्स्यपुराण का उद्धरण आपके पक्ष का पोषक नहीं, किन्तु बाधक है। वेद के साथ ही वेदाङ्ग और उपाङ्ग जो ऋषिप्रणीत हैं, उन्हें ब्रह्मा से उत्पन्न मानना अज्ञानमूलक है। इसी मत्स्यपुराण के अध्याय तीन में पुराणों की उत्पत्ति वेद से पहले लिखी हुई है।

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
नित्यं शब्दमयं पुण्यं शतकोटि सविस्तरम्॥
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदान्तस्य विनिर्गतः।

क्या यह भी ठीक है। यदि ऐसा नहीं मानते तो पुराण के प्रमाण की आवश्यकता ही क्या थी? आप ब्रह्मा की जो कल्पना कर रहे थे, उसमें इसकी कोई भी आवश्यकता नहीं थी।

आपको पहले बतलाना चाहिये था कि वास्तव में ब्रह्मा है कौन? पर आपने मत्स्यपुराण का प्रमाण देकर लोगों को उलझन में डाल दिया। पुराणों में बहुत सी बातें वैदिक और बहुत सी बातें मिथ्या हैं। आपने ब्रह्मा के चार मुखों को मान्यता दी है। परन्तु चार मुख क्यों है, इसे आपने नहीं ढूढ़ा। इसी से आप ब्रह्मा की क्लिष्ट कल्पना करने लगे "बृंहति वर्धते तद् ब्रह्म" अर्थात् जो बढ़ता है वह ब्रह्म। यह तो प्रकरण-विरुद्ध व्युत्पत्ति है। ऐसी ही क्रिया लेकर मनमाने अर्थ करने से जनता में भ्रम होता है। हम भी कह सकते हैं कि यहां ब्रह्म का अर्थ घोड़ा, गदहा, वटवृक्ष आदि हैं क्योंकि सब ही बढ़ते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मा के मुख को मुख न मानकर अर्थ करते हैं कि मुख का अर्थ है पदार्थों का तोड़ फोड़ करना। कैसी मिथ्या कल्पना है।

'खनति अन्नादिकमिति मुखम्' जो अन्नादि को तोड़े फोड़े खने, वही मुख। फिर "खनति वृक्षान् अनेनेति मुखम्"— जो वृक्ष को खोदे वह मुख है अर्थात् फांवड़ा, टांगा आदि। ऐसा अर्थ क्यों नहीं ? ऐसी कल्पना कौन मान सकता है।

अब, ब्रह्मा कौन है, सुनिये—पहले मनुस्मृति लीजिये—

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥

पहले अप तत्त्व को बनाया, उसमें बीज डाला। वह सुवर्णमय अण्ड हुआ। उसमें सर्वलोक पितामह ब्रह्मा पैदा हुये।

अब मत्स्यपुराण लीजिये—

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।
तदेवाण्डं समभवत् हेमरूप्यमयं महत्॥
संवत्सरसहस्रेण सूर्यायुतसमप्रभम्।
प्रविश्यान्तर्महातेजाः स्वयमेवात्मसम्भवः॥
प्रभावादपि तद्व्याप्त्या विष्णुत्वमगमत्पुनः।
तदन्तर्भगवानेष सूर्यः समभवत् पुरा॥
आदित्यश्चादिभूतत्वात् ब्रह्मा ब्रह्म पठन्नभूत्।
मृतेऽण्डे जायते यस्मात् मार्तण्डः तेन संस्मृतः॥
रजोगुणमयं यत्तत् रूपं तस्य महात्मनः।
चतुर्मुखः स भगवान् स्वयंभूर्लोकपितामहः॥
येन सृष्टं जगत्सर्वं सदेवासुरमानुषम्।

अर्थात्—पहले अपतत्त्व उत्पन्न किया, उसमें बीज डाला। वह हेममय अण्ड हो गया। करोड़ों सूर्यों के समान तेजस्वी आत्मसंभव उसमें प्रवेश करके अपनी व्याप्ति के प्रभाव से विष्णुत्व को प्राप्त हुए। उसके भीतर से भगवान् सूर्य पैदा हुए। आदि होने से वे आदित्य कहलाये। मृत अण्ड से पैदा होने से मार्तण्ड कहलाये। रजोगुणमय रूप हुआ। चार मुख वाले हुए।

इससे भी स्पष्ट है कि सूर्य का ही नाम विष्णु है और चारों दिशा में किरणों द्वारा व्याप्त होने से चतुर्मुख कहलाये। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन है। आदित्य ब्रह्म है, कैसा आदित्य है उसकी व्याख्या की जाती है—पहले यह अव्यक्त ही था। वह सत् (व्यक्त) हो गया। वह अंकुरित हुआ। वह एक अण्डे में परिणत हो गया। वह एक वर्ष तक उसी प्रकार पड़ा रहा। फिर वह फूटा। अण्डे के दोनों खण्ड रजत और सुवर्ण हो गये। जो रजत है वही पृथ्वी है। जो सुवर्ण था वह द्युलोक हो गया। जो जरायु था, वे पर्वत हो गये। जो उल्व था वह मेघों के साथ नीहार। जो धमनियाँ थीं वे नदी। जो वास्तेय उदक था वह समुद्र हुआ। जो उसमें पैदा हुआ वह आदित्य हुआ इत्यादि।

अब पाठक समझ गये होंगे कि डाक्टर भारद्वाज जी की कल्पना निरर्थक है या नहीं ? यह दिखाने का प्रयोजन यही था कि ब्रह्मा हम लोगों जैसा कोई शरीरवान् व्यक्ति नहीं था। चारों दिशाओं में उसका प्रसार होने से वह चतुर्मुख कहलाया।

अब रहा, वेद कैसे किससे प्रादुर्भूत हुए—?

अग्निवायुरविभ्यस्तुः त्रयं ब्रह्मसनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुःसामलक्षणम्॥

परमात्मा ने आदि सृष्टि में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि आदि चारों महर्षियों द्वारा चारों वेद ब्रह्मा को प्राप्त कराये। अर्थात् ब्रह्मा ने अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा से वह ऋगादि ग्रहण किया।

स्वामी जी के अर्थ की पुष्टि सायण ऐ० ब्रा० ५।३२ का प्रमाण देकर लिखते हैं कि ये अग्नि, वायु, आदित्य आदि जीव विशेष थे। यथा—

जीवविशेषैरग्निवाय्वादित्यैः वेदानामुत्पादितत्वात्। ऋग्वेद एवाग्नेरजायत, यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात् (ऐ० ५।३२) इति श्रुतेः। ईश्वरस्याग्न्यादिप्रेरकत्वेन निर्मितत्वं द्रष्टव्यम्।

अग्नि आदित्य वायु आदि जीव विशेषों ने वेदों को प्रकट किया। इस श्रुति के अनुसार ईश्वर ने अग्नि आदि ऋषियों में प्रेरणा की, इससे ईश्वर का निर्माण करना मानना चाहिये।

इसलिये आपका पौराणिक प्रमाण स्वामी दयानन्द और सायण के भी विरुद्ध है। ऐसी मिथ्या कल्पना आर्य जनता में फैलाकर उनमें भ्रम उत्पन्न करना आप सरीखे विद्वान् को शोभा नहीं देता।

(शेष अगले अंक में)

विविध समाचार

शिक्षा-केन्द्रों में धार्मिक-नैतिक शिक्षा अत्यावश्यक

शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक-नैतिक शिक्षा पर विचार करने के लिये गत अगस्त में भारत सरकार द्वारा श्री श्रीप्रकाश जी की अध्यक्षता में जो समिति गठित की गई थी, उसने अपने प्रतिवेदन में कहा है--राष्ट्र की शिक्षा-संस्थाओं में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा अत्यावश्यक है। आज व्यापक सामाजिक दोषों का कारण धार्मिक शिक्षा का अभाव ही है। अतः राष्ट्र के चरित्रोत्थान के लिये परम आवश्यक है कि प्रारम्भिक कक्षा से लेकर विश्व-विद्यालय स्तर तक की शिक्षा में धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा का समावेश किया जाय। सदाचार-शिष्टता तथा दया के गुणों पर विशेष रूप से बल दिया जाय।

केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्री डा० श्रीमाली ने भी केन्द्रीय शिक्षा परामर्श दात्री समिति के समक्ष भाषण करते हुए धार्मिक शिक्षण की अनिवार्यता पर बल दिया है।

केरल निर्वाचन में साम्यवादियों की भारी पराजय

केरल विधानसभा के मध्यावधि निर्वाचन में त्रिदल (कांग्रेस-प्रजासमाजवादी-मुसलिम लीग.) मोर्चे की भारी विजय हुई। १२६ सदस्यों की विधान सभा में त्रिदल मोर्चे को ९४ स्थान प्राप्त हुए, जिनमें से कांग्रेस को ६३, प्रजा-समाजवादी दल को २० तथा मुसलिम लीग को ११ स्थान मिले हैं। साम्यवादियों तथा साम्यवादी दल द्वारा समर्थित सदस्यों की संख्या २९ है। ३ सदस्य अन्य दलों के हैं। विगत साम्यवादी मन्त्रिमण्डल के पाँच मन्त्री भी पराजित हो गये।

श्री क्रुश्चेव भारत में

रूसी प्रधान मन्त्री श्री निकिता क्रुश्चेव ११ फरवरी को देहली पहुँचे। भारत के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति तथा प्रधान मन्त्री ने हवाई अड्डे पर श्री क्रुश्चेव का स्वागत किया। हवाई अड्डे से राष्ट्रपति भवन तक के मार्ग में जनता की अपार भीड़ ने अतिथि का हार्दिक स्वागत किया।

संसद में भाषण करने के लिये जब रूसी प्रधान मन्त्री संसद-भवन में पहुँचे तो सदस्यों ने जयजयकार द्वारा उनका स्वागत किया। श्री क्रुश्चेव ने हाथ जोड़कर भारतीय ढंग से 'नमस्ते नमस्ते' कहकर अभिवादन स्वीकार किया। संसद में अपने भाषण में आपने कहा कि शान्तिप्रिय भारत का यह गौरव है कि उसने पञ्चशील को इतिहास में ला दिया।

भारतीय भाषाओं के लेखक पुरस्कृत

१९५९ में प्रकाशित भारतीय भाषाओं की ७ पुस्तकों के लेखकों को प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने साहित्य अकादमी के पुरस्कार दिये। ये पुस्तकें बंगला, हिन्दी, कन्नड़, मराठी, पंजाबी, सिन्धी तथा उर्दू में लिखी गई हैं। प्रत्येक लेखक को ५ हजार रुपये का चेक तथा साहित्य अकादमी का चिह्न 'दीपक' दिया गया।

फ्रांस द्वारा परमाणु-बम का प्रथम सफल परीक्षण

सहारा मरुस्थल के मध्य में तीन सौ फुट ऊँचे मंच से फ्रांस ने १३ फरवरी को अपने प्रथम परमाणु-बम का विस्फोट किया। लगभग ६०० वैज्ञानिक, सैनिक तथा प्राविधिज्ञों ने यह दृश्य देखा।

अफ्रीकी देशों में परमाणु-बमविस्फोट की बड़ी तीव्र प्रतिक्रिया हुई है। घाना के प्रधान मन्त्री ने घोषणा की है कि घाना स्थित सभी फ्रांसीसी फर्मों की सम्पत्तियाँ तुरन्त जब्त कर ली जा रही हैं। इसी प्रकार मोरक्को आदि देश भी कारवाई करने का निश्चय कर चुके हैं।

चीनी प्रधान मन्त्री वार्त्ता के लिये आमन्त्रित

भारतीय प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने चीनी प्रधान मन्त्री श्री चाओ-एन-लाई को पत्र लिखकर यह सुझाव दिया है कि मार्च मास के दूसरे पक्ष में किसी समय सीमा-विवाद पर हम लोगों में दिल्ली में वार्त्ता हो सकती है। संसदीय विरोधी पक्ष ने इस पत्र की तीव्र आलोचना की है। विरोध-पक्ष का कथन है कि प्रधान मन्त्री का पत्र घोषित नीति में एक भारी परिवर्त्तन का परिचायक है।

वाल्मीकिरामायण का भाषानुवाद

[अनुवादक--श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, देहली तथा परिशोधक--श्री पं० अखिलानन्द जी, झरिया]

(गत अङ्क से आगे)

शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत् । अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम् ॥ ४ ॥
भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद्भयम् । तद्विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते ॥ ५ ॥
लक्ष्मणो हि महेष्वासो रामं सर्वात्मना गतः । शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥
प्रत्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि । राज्यक्रमो विप्रकृष्टस्तयोस्तावद्यवीयसोः ॥ ७ ॥
विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः । भयात्प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥ ८ ॥
सुभगा खलु कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते । यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥
प्राप्तां वसुमतीं प्रीतिं प्रतीतां तां हतद्विषम् । उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीव त्वं कृताञ्जलिः ॥ १० ॥
एवं च त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि । पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यभावं गमिष्यति ॥ ११ ॥
हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः । अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये ॥ १२ ॥
तां दृष्ट्वा परमप्रीता ब्रुवन्ती मन्थरां ततः । रामस्यैव गुणान् देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥ १३ ॥
धर्मज्ञो गुणवान्दान्तः कृतज्ञस्सत्यवाक्शुचिः । रामो राज्ञस्सुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥ १४ ॥
भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत्पालयिष्यति । संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥ १५ ॥
भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात्परम् । पितृपैतामहं राज्यं प्राप्नुयात्पुरुषर्षभः ॥ १६ ॥
सा त्वमभ्युदये प्राप्ते दह्यमानेव मन्थरे । भविष्यति च कल्याणे किमर्थं परितप्यसे ॥ १७ ॥

दुःखित हो रही हूँ। कौन बुद्धिमती [स्त्री] मृत्यु के समान सपत्नी (=सौत) के शत्रु-सदृश पुत्र की वृद्धि (=उत्कर्ष) पर प्रसन्न होगी ॥ ४ ॥ [भरत का] राज्य पर समान अधिकार होने से राम को भरत से ही भय है, यह सोचकर [मैं] दुःखी हूँ, क्योंकि डरे हुए से [ही] भय हुआ करता है ॥ ५ ॥ महाबाहु लक्ष्मण तो पूरी तरह राम का [ही] अनुयायी [है] और काकुत्स्थ (=राम) के प्रति लक्ष्मण के समान शत्रुघ्न भरत का [अतः ये दोनों राज्य के अधिकारी न होने से राम के भय के कारण नहीं] ॥ ६ ॥ हे भामिनि ! उत्पत्तिक्रम से भी भरत का ही राज्य पर अधिकार है। उन कनिष्ठ [लक्ष्मण और शत्रुघ्न] का [राज्याधिकारतो] दूर की बात है ॥ ७ ॥ तेरे पुत्र के विषय में सोचती हुई [मैं] विद्वान्, क्षत्रियों के [सन्धि-विग्रह आदि] प्रयोगों में निपुण, समयोचित [कार्य] करनेवाले राम के भय से कांप रही हूँ ॥ ८ ॥ निश्चय से कौसल्या सौभाग्यवती [है], जिसका पुत्र कल पुष्य [योग] में द्विजोत्तमों (=ब्राह्मणों) द्वारा युवराज पद पर अभिषिक्त होगा ॥ ९ ॥ [राज्यप्राप्ति के कारण] नष्ट हो गये हैं शत्रु जिसके [ऐसी] राज्य व प्रीति को प्राप्त हुई विश्वस्त कौसल्या के सामने तू हाथ जोड़े दासी की तरह खड़ी हुआ करेगी ॥ १० ॥ इस प्रकार तू हमारे साथ उस [कौसल्या] की प्रेष्या (=दासी) बनेगी और तेरा पुत्र [भरत] राम की दासता को प्राप्त होगा ॥ ११ ॥ [राम के अभिषेक पर] राम की पूज्य स्त्रियां (=सीता और उसकी सखियां) प्रसन्न होंगी, [और] भरत के क्षय (राज्यनाश) पर तेरी पुत्रवधुएँ (=पुत्रवधू और उसकी सखियां) अप्रसन्न होंगी ॥ १२ ॥ तत्पश्चात् परम प्रसन्न बोलती हुई मन्थरा को देखकर देवी कैकेयी [उससे] राम के ही गुणों की प्रशंसा करने लगी ॥ १३ ॥ [हे मन्थरे ! क्योंकि] राम धर्म का जानने वाला, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यग्राही, पवित्र [और] राजा का ज्येष्ठ पुत्र है, इसलिये [वह ही] युवराज बनने के योग्य है ॥ १४ ॥ दीर्घायु [राम] भाइयों और भृत्यों का पिता के समान पालन करेगा। हे कुब्जे ! रामाभिषेक को सुनकर [तू] क्यों संतप्त हो रही है ? ॥ १५ ॥ नरश्रेष्ठ भरत भी राम के सौ वर्ष से [भी] अधिक स्थिर [रहने वाले] पिता-पितामह [आदि वंशपरम्परा] से प्राप्त राज्य का उपभोग करेगा [ही] ॥ १६ ॥ सो तू मन्थरे ! अभ्युदय (=रामाभिषेकरूपी उत्सव) तथा भावी कल्याण पर जली हुई के समान क्यों संतप्त हो

यथा मे भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः । कौसल्यातोऽतिरिक्तं च स तु शुश्रूषते हि माम् ॥१८॥
राज्यं च यदि रामस्य भरतस्यापि तत्तदा । मन्यते हि यथात्मानं तथा भ्रातृंश्च राघवः ॥१९॥
कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता । दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥२०॥
अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुध्यसे । शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥२१॥
भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः । राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते ॥२२॥
न हि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि । स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥२३॥
तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः । स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेषु च ॥२४॥
असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति । अनाथवत्सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ॥२५॥
साहं त्वदर्थे संप्राप्ता त्वं तु मां नावबुध्यसे । सपत्नीवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमिच्छसि ॥२६॥
ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम् । देशान्तरं नाययिता लोकान्तरमथापि वा ॥२७॥
बाल एव हि मातुल्यं भरतो नायितस्त्वया । संनिकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्वपि ॥२८॥
भरतस्याप्यनुवशः शत्रुघ्नोऽपि समं गतः । लक्ष्मणो हि यथा रामं तथासौ भरतं गतः ॥२९॥
श्रूयते च द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीविभिः । संनिकर्षादिषीकाभिर्मोचितः परमाद्भयात् ॥३०॥
गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः । अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥३१॥

रही है ? ॥ १७ ॥ [मुझे] जैसा भरत मान्य (= प्रिय) है, वैसा [तथा] उससे भी अधिक राम, [क्योंकि राम] कौसल्या से भी अधिक मेरी सेवा करता है ॥ १८ ॥ यदि राज्य राम का है तो भरत का भी [साथ में ही है] क्योंकि जैसे राघव (= राम) अपने आप को समझता है, वैसे ही भाइयों को भी ! ॥ १९ ॥ कैकेयी के वचन को सुनकर अत्यधिक दुःखित हुई हुई मन्थरा लम्बी गरम सांस लेकर कैकेयी से इस प्रकार बोली ॥ २० ॥ [हे कैकेयि !] अनर्थ देखने वाली (= बुराई को भलाई समझने वाली) मूर्खतावश शोक और विपत्ति से पूर्ण दुःख सागर में डूबती हुई [तू] अपने आप को नहीं समझ रही है ॥२१॥ [पहले] राघव (= राम) राजा होगा, [फिर] राघव का जो पुत्र [होगा, वह राजा बनेगा] [इस प्रकार] हे कैकेयि ! भरत तो राजवंश से रहित हो जायगा ॥ २२ ॥ हे भामिनि ! राजा के सभी लड़के राजगद्दी पर नहीं बैठते । सबको स्थापित किये जाने पर महान् अनर्थ होने लगें ॥ २३ ॥ इसलिये हे अनवद्याङ्गि(= सुन्दरि) कैकेयि ! राजा लोग ज्येष्ठ पुत्र पर ही राज्यशासन [का भार] स्थापित करते हैं। [ज्येष्ठ के गुणवान् न होने पर ही] दूसरे [कनिष्ठ] गुणवान् [पुत्रों पर] राज्यभार स्थापित करते हैं। ॥ २४ ॥ हे वत्सले ! यह तेरा पुत्र [भरत] अनाथ के समान सुखों और राजवंश से अत्यन्त हीन हो जायगा ॥ २५ ॥ [इसलिये] मैं तेरे [लाभ के] लिये आई हूँ, [परन्तु] तू मुझे नहीं समझ रही है, जो [तू] सपत्नी की वृद्धि (= उत्कर्ष) पर मुझे प्रदेय (= पारितोषिक) देना चाहती है ॥ २६ ॥ निश्चय ही निष्कण्टक राज्य प्राप्त करके राम भरत को किसी दूसरे देश अथवा लोकान्तर (= परलोक) में भिजवा देगा (अर्थात् देशनिकाला देगा अथवा मरवा देगा) ॥ २७ ॥ तू ने बाल्यकाल से ही भरत को मामा के घर भिजवा दिया था, [अतः दशरथ का राम के समान उस पर स्नेह नहीं]। क्योंकि समीप रहने से स्थावर (= जड़) पदार्थों में भी स्नेह हो जाता है ॥ २८ ॥ जिस प्रकार लक्ष्मण राम का अनुगामी है, उसी प्रकार भरत का शत्रुघ्न । [इसलिये] भरत का अनुवश शत्रुघ्न [उसी के] साथ चला गया, [अन्यथा वह उसको अभिषेक सम्बन्धी कष्ट से उसी प्रकार बचा लेता, जिस प्रकार] वनजीवियों द्वारा काटा जाने वाला वृक्ष समीपता के कारण इषीका (= कँटीली झाड़ी) द्वारा [कटने रूपी] परम भय से मुक्त कर दिया गया ॥ २९-३० ॥ सुमित्रा का पुत्र (= लक्ष्मण) राम की रक्षा करेगा और राघव (= राम) लक्ष्मण की। उन दोनों का भ्रातृप्रेम अश्वि कुमारों के समान लोकों में विख्यात है ॥ ३१ ॥ इसलिये लक्ष्मण के प्रति

तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किंचित्करिष्यति । रामस्तु भरते पापं कुर्यादिति न संशयः ॥३२॥
तस्माद्राजगृहादेव वनं गच्छतु राघवः । एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव ॥३३॥
एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति । यदि चेद्भरतो धर्मात्पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥३४॥
स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः । समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥३५॥
अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम् । प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि ॥३६॥
दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया । राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत् ॥३७॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यति प्रभूतरत्नाकरशैलसंयुताम् ।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥३८॥
यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यति ध्रुवं प्रनष्टो भरतो भविष्यति ।
अतो हि संचिन्तय राज्यमात्मजे परस्य चैवाद्य विवासकारणम् ॥३९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे मन्थरोपजापो नाम अष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

राम कुछ भी पाप (=अनिष्ट) नहीं करेगा। परन्तु भरत के प्रति पाप (=अनिष्ट) तो राम करेगा ही, [इसमें] संशय नहीं ॥ ३२ ॥ इसलिये राघव (=राम) राजभवन से ही वन को चला जाय, यही मुझे उचित तथा तेरे लिये हितकारक प्रतीत होता है ॥ ३३ ॥ इस प्रकार यदि भरत धर्म से पिता का राज्य प्राप्त कर लेगा, [तो इससे] तेरे भाई-बन्धुओं का कल्याण ही होगा ॥ ३४ ॥ [अन्यथा] वह समृद्धार्थ (=राज्यलक्ष्मी प्राप्त) सुख पाने का अधिकारी, राज्याधिकार से च्युत हुआ तेरा बालक [भरत] राम का सहज शत्रु [तथा उसके] वश में होकर किस प्रकार जियेगा ॥ २५ ॥ [इसलिये] वन में सिंह द्वारा पीछा किये जाते हुए हाथियों के यूथपति के समान राम से तिरस्कार को प्राप्त होते हुए भरत की रक्षा करना [तुझे] उचित है ॥ ३६ ॥ [अन्यथा] पतिप्रेमयुक्त तेरे द्वारा अभिमान से पहले तिरस्कृत हुई तेरी सपत्नी राममाता [कौसल्या] बैर का बदला क्यों नहीं लेगी ॥ ३७ ॥ हे भामिनि! जब अनेक समुद्र और पर्वतों से युक्त पृथिवी को राम [राज्य के रूप में] प्राप्त कर लेगा, तब [तू] दीन [होकर] भरत के साथ ही बुरे पराभव को प्राप्त होगी ॥ ३८ ॥ जब राम पृथिवी (=राज्य) को प्राप्त कर लगा, तो निश्चय ही भरत नष्ट हो जायगा। इसलिये [हे कैकेयि!] अपने पुत्र के लिये राज्य [प्राप्ति के उपाय] को तथा पर (=शत्रु) [राम] के विवासकारण (=देशनिकाले के उपाय) को सोचो ॥ ३९ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'मन्थरा-कैकेयी-संवाद' विषयक

आठवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

रामप्रवासनोपायचिन्ता

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना । दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ १॥
अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम् । यौवराज्येन भरतं क्षिप्रमेवाभिषेचये ॥ २॥
इदं त्विदानीं संपश्य केनोपायेन मन्थरे । भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ३॥
एवमुक्ता तया देव्या मन्थरा पापदर्शिनी । रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ४॥
हन्तेदानीं प्रवक्ष्यामि कैकेयि श्रूयतां च मे । यथा ते भरतो राज्यं पुत्रः प्राप्स्यति केवलम् ॥ ५॥
किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे । यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६॥
मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि । श्रूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चैतद्विधीयताम् ॥ ७॥
श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकेयी । किंचिदुत्थाय शयनात्स्वास्तीर्णादिदमब्रवीत् ॥ ८॥
कथय त्वं ममोपायं केनोपायेन मन्थरे । भरतः प्राप्नुयाद्राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ९॥
एवमुक्ता तु कैकेय्या मन्थरा पापदर्शिनी । रामार्थमुपहिंसन्ती कुब्जा वचनमब्रवीत् ॥ १०॥
पुरा दैवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः । अगच्छत्त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत् ॥ ११॥

नवम सर्ग

रामप्रवासनोपाय-विचार

इस प्रकार [मन्थरा द्वारा] कही गई [बातों को सुनकर] क्रोध से जलते (=लाल) मुख वाली कैकेयी दीर्घ गरम सांस लेकर मन्थरा से बोली—॥ १ ॥ आज [ही मैं] राम को यहाँ [अयोध्या] से वन को भिजवाती हूँ [और] भरत को युवराज पद पर शीघ्र ही अभिषिक्त कराती हूँ। ॥ २ ॥ हे मन्थरे ! किस उपाय से भरत राज्य को प्राप्त करे, परन्तु राम कदापि न [प्राप्त कर सके], इस बात को इस समय [तू] सोच ॥ ३ ॥ देवी [कैकेयी] द्वारा इस प्रकार कही गई, पाप (=बुराई] दिखाने वाली मन्थरा राम के [अभिषेक के] लिये विघ्न उत्पन्न करती हुई कैकेयी से इस प्रकार बोलीः—॥ ४ ॥ हे कैकेयि ! जिस प्रकार केवल तेरा पुत्र भरत राज्य को प्राप्त करेगा, [उस उपाय को मैं] कहूँगी, [तू] मेरी बात सुन ॥ ५ ॥ हे कैकेयि ! क्या [तुझे उपाय] स्मरण नहीं, या स्मरण होते भी छिपा रही है, जो कि तेरे द्वारा कहेजाने वाले अपने लिये [हितकारक उस उपाय को] तू मुझसे सुनना चाहती है ॥ ६ ॥ हे विलासिनि ! (=सुन्दरि !) यदि मेरे द्वारा कहे [उपाय] को ही तेरी सुनने की इच्छा है, तो [मैं अभी] कहती हूँ [तू] सुन और सुनकर इसको कर ॥ ७ ॥ उस मन्थरा के इस प्रकार के वचन को सुनकर कैकेयी अपने बिछे हुए बिस्तर से कुछ उठकर यह बोलीः—॥ ८ ॥ हे मन्थरे ! मुझे तू उपाय बता । किस उपाय से भरत राज्य को प्राप्त करे और राम किसी प्रकार [भी] न [प्राप्त कर सके] ॥ ९ ॥ कैकेयी द्वारा इस प्रकार कही गई पाप दिखाने वाली कुब्जा मन्थरा राम के लिये विघ्न उत्पन्न करती हुई [यह] वचन बोलीः—॥ १० ॥ पहले देवासुर युद्ध में इन्द्र की सहायता करने वाले तेरे पति [दशरथ] तुझे लेकर [अन्य] राजर्षियों (=श्रेष्ठ क्षत्रियों) के साथ गये थे ॥ ११ ॥ हे कैकेयि ! दक्षिण दिशा में

दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान् प्रति । वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥१२॥
स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः । ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्घैरनिर्जितः ॥१३॥
तस्मिन् महति संग्रामे पुरुषान् क्षतविक्षतान् । रात्रौ प्रसुप्तान् घ्नन्ति स्म तरसासाद्य राक्षसाः ॥१४॥
तत्राकरोन्महद्युद्धं राजा दशरथस्तदा । असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः ॥१५॥
अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः । तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥१६॥
तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने । स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरौ ॥१७॥
गृह्णीयामिति तत्तेन तथेत्युक्तं महात्मना । अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथिता पुरा ॥१८॥
कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया । रामाभिषेकसंभारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥१९॥
तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् । प्रव्राजनं च रामस्य त्वं वर्षाणि चतुर्दश ॥२०॥
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् । प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥२१॥
क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते । शेष्वानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥२२॥
मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः । रुदन्ती पार्थिवं दृष्ट्वा जगत्यां शोकलालसा ॥२३॥
दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः । त्वत्कृते स महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥२४॥
न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम् । तव प्रियार्थं राजा हि प्राणानपि परित्यजेत् ॥२५॥
न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः । मन्दस्वभावे बुद्ध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः ॥२६॥

दण्डक वनों के पास 'वैजयन्त' नाम से प्रसिद्ध नगर [है]। जहां पर देवसंघों से अपराजित, बहुत छल कपट से युक्त 'शम्बर' [नाम से] प्रसिद्ध तिमिध्वज [नामक] महान् असुर ने इन्द्र के साथ संग्राम छेड़ दिया ॥ १२–१३ ॥ उस महान् संग्राम में रात्रि में सोते हुए क्षत विक्षत (=घायल) पुरुषों को राक्षस लोग सहसा पकड़ कर मार डालते थे ॥ १४ ॥ वहाँ पर उस समय शस्त्रों से घायल होते हुए भी महाबाहु राजा दशरथ ने असुरों के साथ महान् युद्ध किया ॥ १५ ॥ हे देवि ! [उस समय] तुमने संग्रामभूमि से अन्यत्र ले जाकर शस्त्रों से घायल मूर्छित अपने पति की रक्षा की थी ॥ १६ ॥ हे शुभदर्शने ! संतुष्ट हुए उन्होंने तुम्हें दो वर दिये थे। हे देवि ! तुमने उनसे कहा था कि जब [मैं] चाहूँगी तब वरों को ले लूँगी। [इस पर] उस महात्मा ने 'तथा' (=ऐसा ही होगा) ऐसा कहा था। हे देवि ! मैं तो पहले [इस बात से] अनभिज्ञ थी, तू ने ही [मुझसे] कहा था ॥ १७–१८ ॥ तेरे प्रति स्नेह के कारण ही मैंने इस बात को मन में धारण किया हुआ है। [अपने पति को प्रतिज्ञा द्वारा] अपने आधीन करके रामाभिषेक-समारोह से निवृत्त करो ॥ १९ ॥ और उन दोनों [वरों] को स्वामी से मांग लो। [एक से तो] भरत का अभिषेक और [दूसरे से] चौदह वर्ष तक राम का वनवास ॥ २० ॥ चौदह वर्ष के लिये राम के वन भेजे जाने पर प्रजा-पालन रूपी कर्म से [प्रजा का] स्नेह-भाजन [होकर] तेरा पुत्र [भरत] राज्य में स्थिर हो जायगा ॥ २१ ॥ अश्वपति की पुत्रि ! तुम मलिन वस्त्र को धारण करके क्रोधित के समान कोपभवन में जाकर बिछौने से रहित भूमि पर सो जाओ ॥ २२ ॥ राजा को देखकर शोकयुक्त [होकर] रोती हुई [तुम] भूमि पर [पड़ी रहना] न उनकी ओर देखना और न ही उनसे बोलना ॥ २३ ॥ तुम सदा पति की प्रिया [रही हो] इसमें मुझे संशय नहीं। तुम्हारे लिये तो महाराज अग्नि में भी प्रवेश कर सकते हैं ॥ २४ ॥ [राजा] तुम्हें क्रोधित नहीं कर सकते [और] न ही क्रुद्ध हुई [तुम] को देख सकते हैं। तुम्हारे प्रिय [काम] के लिये राजा प्राणों का भी परित्याग कर सकते हैं ॥ २५ ॥ महाराजा तुम्हारे वचन का अतिक्रमण नहीं कर सकते। अपने को हीन समझने वाली ! अपने सौभाग्य-बल को समझो

मणिमुक्तासुवर्णानि रत्नानि विविधानि च । दद्याद्दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥२७॥
यौ तौ दैवासुरे युद्धे वरौ दशरथो ददौ । तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो मा त्वामतिक्रमेत् ॥२८॥
यदा तु ते वरं दद्यात्स्वयमुत्थाप्य राघवः । व्यवस्थाप्य महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम् ॥२९॥
रामं प्रव्राजयारण्ये नव वर्षाणि पञ्च च । भरतः क्रियतां राजा पृथिव्याः पार्थिवर्षभः ॥३०॥
चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् । रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥३१॥
रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम् । एवं सिध्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव भामिनि ॥३२॥
एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति । भरतश्च हतामित्रस्तव राजा भविष्यति ॥३३॥
येन कालेन रामश्च वनात्प्रत्यागमिष्यति । अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति ॥३४॥
संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः सार्धमात्मवान् । प्राप्तकालं तु ते मन्ये राजानं वीतसाध्वसा ॥३५॥
रामाभिषेकसंभारान्निगृह्य विनिवर्तय । अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥३६॥
हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् । सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरीवोत्पथं गता ॥३७॥
कैकेयी विस्मयं प्राप्ता परं परमदर्शना । प्रज्ञां ते नावजानामि श्रेष्ठा श्रेष्ठाभिधायिनि ॥३८॥
पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये । त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥३९॥
नाहं समवबुद्ध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम् । सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जे वक्राः परमदारुणाः ॥४०॥

॥ २६ ॥ यदि मणि-मुक्ता-सुवर्ण [आदि] विविध रत्नों को राजा दशरथ देवें तो उनमें मन (=इच्छा) मत करना ॥ २७ ॥ राजा दशरथ ने देवासुर-युद्ध में जो दो वर दिये थे, उनको स्मरण कराना। हे महाभागे! वह [मांगा हुआ] अर्थ तुम्हें अतिक्रमण नहीं करेगा (=अवश्य प्राप्त होगा) ॥ २८ ॥ जब राघव (=दशरथ) स्वयं तुम्हें उठाकर वर दें, तो महाराज को [प्रतिज्ञा आदि के द्वारा सत्य में] नियत करके इस वर को मांगना कि हे राजश्रेष्ठ ! राम को चौदह वर्ष के लिये वन में भेजिये [और] भरत को पृथ्वी का राजा बनाइये ॥ २९, ३० ॥ चौदह वर्ष के लिये राम के वन भेजे जाने पर [राज्य] को प्राप्त हुआ तेरा पुत्र [राज्य में] सुदृढ़ प्रबन्ध वाला होकर चौदह वर्ष के आगे भी [राजगद्दी पर] स्थिर रहेगा ॥ ३१ ॥ हे देवि ! रामप्रवासरूपी उस वर को मांगो। हे भामिनि ! इस प्रकार तुम्हारे पुत्र के सब अर्थ (=प्रयोजन) सिद्ध हो जायेंगे ॥ ३२ ॥ इस प्रकार [वन को] भेजे हुये राम [प्रजा के] अराम (=अप्रिय) हो जायेंगे और तुम्हारे पुत्र भरत शत्रुरहित [होकर] राजा बन जायेंगे ॥ ३३ ॥ जब तक राम वन से लौटेंगे, [तब तक] तेरा जितेन्द्रिय पुत्र मित्रों सहित सब मनुष्यों को अपने पक्ष में करके [राज्य में] भीतर और बाहर सुदृढ़मूल (=प्रभाव वाला) हो जायगा। [इसलिये मैं] तुम्हारे लिये [यह] समयोचित समझती हूँ [कि तुम] भयभीत होकर राजा को ॥ ३४, ३५ ॥ वचन बद्ध करके रामाभिषेकोत्सव से निवृत्त करो। इस प्रकार [मन्थरा] ने उस [कैकेयी] को बुराई भलाई के रूप में ग्रहण करायी ॥ ३६ ॥ कुब्जा [मन्थरा] के वाक्य से बालिका के समान उलटे मार्ग चलने वाली बहुत अधिक विस्मय को प्राप्त हुई प्रसन्न [एवं मन्थरा के वचन को] स्वीकार करने वाली सुन्दरी कैकेयी मन्थरा से बोली—हे श्रेष्ठ (=हितकारक बात) कहने वाली! तेरी श्रेष्ठ बुद्धि को [अब तक मैं] नहीं जानती थी ॥ ३७-३८ ॥ पृथिवी पर बुद्धि से निश्चय करने में [तू सब] कुब्जाओं (=कुबड़ियों) में उत्तम है। हित चाहने वाली तू ही मेरे इष्टकार्यों में नित्य लगी रहने वाली है ॥३९॥ हे कुब्जे ! [तेरे बताये बिना मैं] राजा की इस चाल को नहीं समझ सकती थी। [क्योंकि] हे कुब्जे ! यद्यपि संसार के अन्य काने कुबड़े आदि कुटिल तथा परम पापी ही देखने में आते हैं ॥ ४० ॥ किन्तु हे मन्थरे ! तू वायु से [झुके हुए सुन्दर] कमल के समान

त्वं पद्ममिव वातेन संनता प्रियदर्शना । उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत्स्कन्धं समुन्नतम् ॥४१॥
अधस्ताच्चोदरं शातं सुनाभमिव लज्जितम् । परिपूर्णं तु जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥४२॥
विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे । जघनं तव निर्मृष्टं रशनादामशोभितम् ॥४३॥
जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ चाप्यायतावुभौ । त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी ॥४४॥
अग्रतो मम गच्छन्ती राजहंसीव राजसे । आसन् याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥४५॥
सर्वास्त्वयि निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः । तवेदं स्थगु यद्दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥४६॥
मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते । अत्र ते प्रतिमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम् ॥४७॥
अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते । जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन सुन्दरि ॥४८॥
लब्धार्था च प्रतीता च लेपयिष्यामि ते स्थगु । मुखे च तिलकं चित्रं जातरूपमयं शुभम् ॥४९॥
कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च । परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥५०॥
चन्द्रमाह्वयमानेन मुखेनाप्रतिमानना । गमिष्यसि गतिं मुख्यां गर्हयन्ती द्विषज्जनम् ॥५१॥
तवापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः । पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥५२॥
इति प्रशस्यमाना सा कैकेयीमिदमब्रवीत् । शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥५३॥
गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते । उत्तिष्ठ कुरु कल्याणि राजानमनुदर्शय ॥५४॥

झुकी हुई सुन्दर [प्रतीत होती है]। कन्धे तक उन्नत तेरा उरःस्थल भी सुरचित है ॥ ४१ ॥ [छाती से] नीचे लज्जित के समान सुन्दर नाभि से सुशोभित पतला [तेरा] उदर [है] जघन (= कमर से नीचे का भाग) [प्रदेश] भरा हुआ [है], और स्तन सुन्दर व स्थूल [हैं] ॥ ४२ ॥ [तेरा] मुख निर्मल चन्द्रमा के समान सुन्दर [है], करधनी से सुशोभित तेरा जघन [भाग] अत्यन्त शुद्ध (= लोमादि रहित) [है], [इस प्रकार] हे मन्थरे [तू] सुशोभित हो रही है ॥ ४३ ॥ [तेरी] जांघें अत्यन्त सटी हुईं तथा दोनों पैर लम्बे [हैं]। हे मन्थरे ! रेशमी वस्त्र धारण करने वाली तू लम्बी २ उरुओं से ॥ ४४ ॥ मेरे आगे २ चलती हुई राजहंसी के समान सुन्दर मालूम होती है। असुरों के अधिपति शम्बर में जो बहुत सी माया (= छल कपट) थीं ॥ ४५ ॥ वे सब, [तथा] और बहुत सी तेरे में हैं जिसके कारण ही यह तेरी छाती रथघोण (= रथ के अग्रिम भाग) के समान लम्बी और बड़ी [हो गई है] ॥४६॥ तेरे [इसी भाग में] मतियां (= तात्कालिक प्रतिभा) क्षत्रविद्या (= राजनीति), माया (= छल कपट) रहती हैं। हे कुब्जे ! इसी स्थान (= गले) में मैं सुवर्णमयी माला डालूँगी ॥ ४७ ॥ हे सुन्दरि ! भरत के अभिषिक्त होने व राघव (= राम) के वन को जाने पर मनोकामना को प्राप्त व संतुष्ट हुई [मैं] अच्छी जाति (= किस्म) के खूब तपे हुए सुवर्ण से ॥ ४८ ॥ तेरी छाती को लेप करूँगी (= ढक दूँगी)। [तेरे] मुख पर सुन्दर विचित्र सुवर्णमय शुभ तिलक लगवा दूंगी। हे कुब्जे ! शुभ आभूषणों व वस्त्रों को धारण करके [तू] देवता के समान विचरेगी ॥ ४९, ५० ॥ चन्द्रमा से स्पर्धा करने वाले मुख के कारण अप्रतिम (= अद्वितीय) मुख वाली (= सुन्दर) [तू अपने] शत्रुजन को तिरस्कृत करती हुई मुख्य पद (= स्थान) को प्राप्त होगी ॥ ५१ ॥ सब आभरणों से भूषित कुब्जा [दासियां] तुझ कुब्जा की चरणसेवा करेंगी— जैसे तू सदा मेरी [करती थी] ॥ ५२ ॥ इस प्रकार प्रशंसित होती हुई वह [मन्थरा] सुन्दर पलंग पर लेटी हुई वेदी पर अग्निशिखा के समान [सुशोभित] कैकेयी से बोली:—॥ ५३ ॥ हे कल्याणि ! जलरहित [नदी] पर पुल नहीं बनाया जाता। [इसलिये] हे कल्याणि ! उठो, [मेरे बताये अनुसार] कार्य करो और राजा को यह दिखला दो कि मैं क्या से क्या कर सकती हूँ ॥ ५४ ॥ इस प्रकार मन्थरा द्वारा प्रोत्सा-

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह । क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥५५॥
अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना । अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च ॥५६॥
ततो हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशं गता । संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥५७॥
इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि । वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यति क्षितिम् ॥५८॥
न सुवर्णेन मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः । एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥५९॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः ।
उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥६०॥
प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे ।
अतो हि कल्याणि यतस्व तत्तथा यथा सुतस्ते भरतोऽभिषेक्ष्यते ॥६१॥
तथातिविद्धा महिषी तु कुब्जया समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः ।
निधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता शशंस कुब्जां कुपिता पुनः पुनः ॥६२॥
यमस्य वा मां विषयं गतामितो निशम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि ।
वनं गते वा सुचिराय राघवे समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥६३॥
अहं हि नैवास्तरणानि न स्रजो न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम् ।
न किंचिदिच्छामि न चेह जीवितं न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥६४॥
अथैतदुक्त्वा वचनं सुदारुणं निधाय सर्वाभरणानि भामिनी ।
असंवृतामास्तरणेन मेदिनीं तदाधिशिश्ये पतितेव किंनरी ॥६५॥

हित की हुई, बड़ी २ आखों वाली, सौभाग्य के मद से गर्वित, श्रेष्ठ अङ्गों वाली, सोने के समान वर्णवाली कैकेयी कुब्जा के साथ क्रोधभवन में प्रवेश करके, सैकड़ों हजारों रुपये के मोतियों के हार तथा अन्य शुभ आभरणों को [अङ्गों] से निकाल कर [तथा] भूमि पर बैठकर मन्थरा से बोली ॥ ५५-५७ ॥ हे कुब्जे! यहाँ [कोपभवन में] मुझको मरी हुई राजा से बतायेगी ! या राघव (=राम) के वन जाने पर भरत पृथिवी को प्राप्त करेगा ॥ ५८ ॥ न मुझे सुवर्ण से प्रयोजन, न रत्नों से, न भोजनों से । यदि राम का अभिषेक होगा तो [निश्चय ही] मेरे जीवन का अन्त [हो जायगा] ॥ ५९ ॥ इसके पश्चात् फिर कुब्जा [मन्थरा] ने राजा की पटरानी, भरत की माता [कैकेयी] से अत्यधिक अर्थपूर्ण वचनों के द्वारा राम के लिये अहितकर तथा [भरत के लिये] हितकर बात कही ॥ ६०॥ यदि इस राज्य को राघव (=राम) प्राप्त करेगा, तो [हे कैकेयि !] तू निश्चय ही पुत्रसहित सन्तप्त होगी । इसलिये हे कल्याणि ! उस प्रकार यत्न कर जिस प्रकार तेरा पुत्र भरत अभिषिक्त हो ॥ ६१ ॥ इस प्रकार कुब्जा के वचनरूपी बाणों से बींधी गई (=प्रेरित की गई) दुःखित, कुपित व अतिविस्मय को प्राप्त हुई महारानी [कैकेयी] ने हृदय पर हाथ रख कर बार २ कुब्जा की प्रशंसा की ॥ ६२ ॥ [या तो राम के अभिषिक्त होने पर] हे कुब्जे [तू] मुझको, यहां (=अयोध्या) से यम के देश (=मृत्यु) को प्राप्त हुई देखकर [राजा को] बता देगी। या [फिर] राघव के चिरकाल तक वन में चले जाने पर भरत पूर्णमनोरथ हो जायगा ॥ ६३ ॥ जबतक यहां से राघव (=राम) वन को नहीं जाते [तब तक] मैं बिछौने, मालायें, चन्दन, अञ्जन, पान (=पेय), भोजन [आदि] कुछ भी नहीं चाहती ॥ ६४ ॥ इस कठोर वचन को कह कर सब आभरणों को फेंक कर भामिनी [कैकेयी] उस समय लेटी हुई किंनरी (=जाति विशेष की स्त्री) के समान बिछौने से रहित पृथिवी पर सो गई ॥ ६५ ॥ उत्कट क्रोधरूपी अन्धकार से आवृत मुखवाली उत्तम माल्य और आभूषणों

उदीर्णसंरम्भतमोवृताननां तथावमुक्तोत्तममाल्यभूषणा ।
नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका ॥६६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे रामप्रवासनोपायचिन्ता नाम नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

कैकेय्यनुनयः

विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम् । तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किंनरी ॥ १ ॥
निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी । मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥ २ ॥
सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता । नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥ ३ ॥
मुहूर्तं चिन्तयामास मार्गमात्मसुखावहम् । सा सुहृच्चार्थकामा च तन्निशम्य सुनिश्चयम् ॥ ४ ॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा । अथ सा रुषिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥ ५ ॥
संविवेशाबला भूमौ निवेश्य भ्रुकुटिं मुखे । ततश्चित्राणि माल्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥
अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे । तया तान्यपविद्धानि माल्यान्याभरणानि च ॥७॥
अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः । क्रोधागारे निपतिता सा बभौ मलिनाम्बरा ॥८॥

को परित्याग की हुई राजा की पत्नी [कैकेयी उस समय] तारकाहीन अन्धकारयुक्त आकाश के समान उदासीन हो गई ॥ ६६ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का रामप्रवासनोपाय-विचार विषयक नवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ९ ॥

दसवाँ सर्ग

कैकेयी का अनुनय

जब पापिनी कुब्जा द्वारा इस प्रकार बार २ देवी [कैकेयी] विरुद्ध [कार्य] की ओर प्रेरित को गई (= वहकायी गई), तब [वह] विषबुझे वाण से बिन्धी हुई किंनरी के समान भूमि पर लेट गई ॥ १ ॥ उस बुद्धिमती भामिनी [कैकेयी] ने मन से कृत्य (= करने योग्य कार्य) को ठीक प्रकार से निश्चय करके धीरे से मन्थरा से सब कह दिया ॥ २ ॥ उस मन्थरा के वाक्य से मोहित दीन भामिनी [कैकेयी] ने निश्चय करके लम्बी और गरम साँस लेकर ॥ ३ ॥ कुछ देर तक अपने लिये सुखप्रद मार्ग को सोचा । उस सुनिश्चय को सुनकर [कैकेयी की] हितैषिणी मित्र वह ॥ ४ ॥ मन्थरा सिद्धि प्राप्त करके [होने वाली प्रसन्नता के समान] परम प्रसन्न हुई । इसके पश्चात् अच्छी प्रकार निश्चय करके क्रोधित वह देवी ॥ ५ ॥ अबला [कैकेयी] मुख की ओर भौंहें चढ़ाकर भूमि पर पड़ गई । तत्पश्चात् विचित्र मालायें तथा दिव्य आभरण ॥ ६ ॥ कैकेयी द्वारा फैंके गये भूमि पर गिरे । उस [कैकेयी] के द्वारा फैंकी गयी वे मालायें तथा आभरण पृथ्वी पर [पड़े हुए] इस प्रकार शोभित हुए जिस प्रकार आकाश में नक्षत्र । एक वेणी को दृढ़ता से बाँधकर कोपभवन में पड़ी हुई मलिन वस्त्रों वाली वह [कैकेयी] मृत किंनरी के समान शोभित-

एकवेणीं दृढं बद्ध्वा गतसत्त्वेव किंनरी । आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥९॥
उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम् । अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान् ॥१०॥
प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी । स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥११॥
पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः । शुकबर्हिणसंघुष्टं क्रौञ्चहंसरुतायुतम् ॥१२॥
वादित्ररवसंघुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् । लतागृहैश्चित्रगृहैश्चम्पकाशोकशोभितैः ॥१३॥
दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् । नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिश्चोपशोभितम् ॥१४॥
दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः । विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥१५॥
उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् । तत्प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥१६॥
न ददर्श प्रियां भार्यां कैकेयीं शयनोत्तमे । स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थं मनुजाधिपः ॥१७॥
अपश्यन् दयितां भार्यां पप्रच्छ विषसाद च । न हि तस्य पुरा देवी तां वेलामत्यवर्तत ॥१८॥
न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन । ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥१९॥
यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् । प्रतीहारी त्वथोवाच संत्रस्ता सुकृताञ्जलिः ॥२०॥
देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता । प्रतीहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥२१॥
विषसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः । तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥२२॥

हुई ॥ ७,८ ॥ महाराज दशरथ ने राघव (=रामचन्द्र) के अभिषेक की आज्ञा ॥ ९ ॥ [तथा] अभिषेक सामग्री की तैयारी की अनुज्ञा देकर रनिवास भवन में प्रवेश किया। "आज ही रामाभिषेक के होने का निश्चय हुआ है", [यह] ॥ १० ॥ प्रिय [समाचार] प्रियाओं में श्रेष्ठ (=कैकेयी) से कहने के लिये वशी [दशरथ] ने अन्तःपुर में प्रवेश किया। धुंधले बादलों से ढके हुए [व] राहुयुक्त आकाश में चन्द्रमा के समान उस महायशस्वी [दशरथ] ने कैकेयी के श्रेष्ठ गृह में प्रवेश किया। तोतों व मोरों से युक्त, सारस और हंसों के शब्दों से व्याप्त, ॥ ११,१२ ॥ बाजों के शब्दों से निनादित, कुब्जा और वामनिकाओं (=सेविकाओं) से युक्त, चम्पक और अशोक से शोभित, लतागृहों तथा चित्रगृहों से [युक्त] ॥ १३ ॥ [हाथी] दांत, चाँदी तथा सोने से निर्मित वेदिकाओं से युक्त, नित्य पुष्प फल वाले वृक्षों तथा वापियों (=बावलियों) से उपशोभित ॥ १४ ॥ [हाथी] दांत, चाँदी तथा सोने के उत्तम आसनों से बिछे हुए, विविध अन्नपान तथा विविध भोजन सामग्रियों से [युक्त] ॥ १५ ॥ बहुमूल्य आभूषणों से युक्त, स्वर्गतुल्य ऐश्वर्ययुक्त उस अपने अन्तःपुर में प्रवेश करके महाराज [दशरथ] ने उत्तम पलंग पर प्रिय भार्या कैकेयी को नहीं देखा। वे कामबल से प्रेरित हुये, रति की इच्छा वाले राजा [दशरथ] ॥ १६,१७ ॥ प्रिय भार्या [कैकेयी] को न देखकर बहुत पूछने लगे और दुःखी हुये [क्योंकि] पहले कभी देवी [कैकेयी] ने [राजा के आने के] उस समय का अतिक्रमण नहीं किया था ॥ १८ ॥ कभी भी राजा ने शून्य गृह में प्रवेश नहीं किया था। इसलिये घर में गये राजा ने अपण्डिता (=कार्याकार्यविवेकशून्या) स्वार्थलिप्सु कैकेयी को न जानकर पूर्व की भाँति [प्रतिहारी से] पूछा। भयभीत प्रतिहारी हाथ जोड़े हुए बोली ॥ १९,२० ॥ हे देव ! देवी [कैकेयी] बहुत क्रुद्ध [होकर] क्रोधभवन में चली गई हैं। प्रतिहारी के वचन को सुनकर अत्यन्त दुःखित मन वाले, ॥ २१ ॥ चञ्चल व व्याकुल इन्द्रियों वाले महाराज दशरथ बहुत ही दुःखित हुये। वहाँ [कोपभवन में] अत्यन्त बुरी अवस्था में भूमि पर पड़ी हुई उस [कैकेयी] को ॥ २२ ॥ दुःख

प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः । स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥२३॥
अपापः पापसंकल्पां ददर्श धरणीतले । लतामिव विनिष्कृत्तां पतितां देवतामिव ॥२४॥
किंनरीमिव निर्धूतां च्युतामप्सरसं यथा । मालामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥२५॥
करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने । महागज इवारण्ये स्नेहात्परिममर्श ताम् ॥२६॥
परिमृश्य च पाणिभ्यामभिसंत्रस्तचेतनः । कामी कमलपत्राक्षीमुवाच वनितामिदम् ॥२७॥
न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम् । देवि केनाभियुक्तासि केन वासि विमानिता ॥२८॥
यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु । भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि ॥२९॥
भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनि । सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥३०॥
सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि । कस्य वा ते प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥३१॥
कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम् । मा रोदीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि संपरिशोषणम् ॥३२॥
अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम् । दरिद्रः को भवत्वाढ्यो द्रव्यवान्वाप्यकिंचनः ॥३३॥
अहं चैव मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः । न ते किंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥३४॥
आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसेच्छसि । बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥३५॥
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे । यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा ॥३६॥

से सन्तप्त हुए राजा ने देखा। पापरहित उस वृद्ध [दशरथ] ने पापसंकल्पवाली प्राणों से भी प्रिय युवती भार्या [कैकेयी] को कटी हुई लता के समान, [नीचे] गिरी देवता के समान, तिरस्कृत किंनरी के समान, भ्रष्ट अप्सरा (= सुन्दर स्त्री) के समान, गिरी हुई माला के समान, बँधी हुई हरिणी के समान पृथिवी तल पर [पड़ी हुई] देखा ॥ २३–२५ ॥ वन में शिकारी के द्वारा विषबुझे बाण से बींधी गई हथिनी को अरण्य में [सांत्वना देने वाले] हाथी के समान [राजा दशरथ ने] स्नेह के कारण उस [कैकेयी] को सांत्वना दी ॥ २६ ॥ हाथों को [कैकेयी के शरीर पर] फेर कर कामी भयचित्तवाले [राजा दशरथ] ने कमलनयनी भार्या [कैकेयी] से यह कहा ॥ २७ ॥ तेरे अपने चित्त में आश्रित क्रोध [के कारण] को मैं नहीं जानता हूँ। हे देवि ! किसके द्वारा [तुम] तिरस्कृत हुई हो और किसने तुम्हारी निन्दा की है ॥ २८ ॥ यदि मेरे दुःख के लिये [तुम] धूलि में सो रही हो ! हे कल्याणि ! कल्याण चाहने वाले मेरे [जीवित] होने पर मेरे चित्त को दुःख पहुँचाने वाली तू भूतों (= रोगों) से नष्ट चित्तवाली हुई के समान भूमि पर क्यों सो रही है ? मेरे पास सब प्रकार से सन्तुष्ट कुशल वैद्य हैं ॥ २९,३० ॥ [जो] तुझे रोग-रहित कर देंगे। हे भामिनि ! [मुझे अपनी] व्याधि बताओ। किस का तुम प्रिय करना चाहती हो, या किस ने तुम्हारा अप्रिय किया है ॥ ३१ ॥ [हे देवि ! मुझे बताओ] कौन आज प्रिय (= अभीष्ट) का पात्र बनना चाहता है और कौन महान् अनिष्ट का भागी बनना चाहता है। हे देवि ! तुम मत रोवो, [अपने शरीर का] परिशोषण मत करो ॥ ३२ ॥ [देवि ! तुम्हारी इच्छानुसार] कौन अवध्य (= न मारने योग्य) [आज] बध को प्राप्त हो और कौन वध्य मुक्त किया जाय। कौन दरिद्र धनवान् होवे और कौन धनवान् दरिद्र बनाया जाय ॥ ३३ ॥ मैं और मेरे सभी अनुयायी तेरे वशीभूत [हैं]। तेरी किसी भी इच्छा को मैं नष्ट करने को नहीं तैयार हूँ ॥ ३४ ॥ जो [तुम] मन से चाहती हो [उसको] कहो। अपना जीवन देकर भी [मैं] उसको सिद्ध करूँगा। मेरे बल को जानती हुई [तुम] मुझ पर शंका मत करो ॥३५॥ मैं धर्म से अपने सुकृत की शपथ करता हूँ [कि] तेरा प्रिय [मैं] करूँगा। जहाँ तक [सूर्य] चक्र घूमता है [अर्थात् सूर्य का प्रकाश पहुँचता है] वहाँ तक [सारी] पृथिवी मेरे [राज्याधिकार में] है ॥ ३६ ॥

द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः। वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ॥३७॥
तत्र जातं बहुद्रव्यं धनधान्यमजाविकम्। ततो वृणीष्व कैकेयि यद्यत्त्वं मनसेच्छसि ॥३८॥
किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने। तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम् ॥३९॥
तत्ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव रश्मिवान्। तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम् ॥४०॥
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे कैकेय्यनुनयो नाम दशमः सर्गः ॥१०॥

एकादशः सर्गः

वरद्वयनिर्बन्धः

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम्। उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः ॥ १ ॥
नास्मि विप्रकृता देव केनचिन्नावमानिता। अभिप्रायस्तु मे कश्चित्तमिच्छामि त्वया कृतम् ॥ २ ॥
प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि। अथ ते व्याहरिष्यामि यदभिप्रार्थितम् मया ॥ ३ ॥
तामुवाच महाराजः कैकेयीमीषदुत्स्मितः। कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुवि स्थिताम् ॥ ४ ॥

द्रविड़ों (=जातिविशेष) के [प्रदेश], सिन्धु, सौवीर, दक्षिणापथ, वंग (=बंगाल), अङ्ग (=मगध), मत्स्य [और] समृद्ध काशी और कोसल ये सब प्रदेश [मेरे आधीन हैं]॥ ३७॥ वहाँ [उन देशों में] द्रव्य (=सुवर्ण चाँदी आदि), धनधान्य, और भेड़-बकरी [आदि पशु] बहुत हैं। हे कैकेयि! इनमें से जो जो तू मन से चाहती है [उसको] माँग ॥ ३८ ॥ हे भीरु! [इस प्रकार कष्टप्रद] चेष्टा से क्या [लाभ] है। शोभने! उठो। हे कैकेयि! जिससे तुमको भय हुआ है, उस [भय के कारण] को मुझे बताओ ॥ ३९ ॥ तेरे उस [भयकारण] को [मैं] दूर कर दूँगा, जैसे सूर्य कोहरे को [दूर करता है]। [राजा से] इस प्रकार कही गई, आश्वस्त [होकर] उस अप्रिय [रामवनगमन] को कहने की इच्छावाली [कैकेयी] ने पति को [अपनी चेष्टा आदि से] और अधिक पीड़ा पहुँचाना प्रारम्भ किया ॥ ४० ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का 'कैकेयी का अनुनय' विषयक दसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १० ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

वर—माँगना

कामदेव के बाणों से बिंधे हुए, कामवेग के वशीभूत उस राजा [दशरथ] से कैकेयी ने कठोर वचन कहा ॥ १ ॥ हे देव! [मैं] रोगग्रस्त नहीं हूँ, न ही किसी से तिरस्कृत [हुई हूँ]। मेरा अभिप्राय [तो] कुछ [और है], उसको आपके द्वारा [पूर्ण] किया हुआ चाहती हूँ ॥ २ ॥ यदि आप उसको [पूर्ण] करना चाहते हैं तो प्रतिज्ञा करें। तत्पश्चात् मेरा जो अभीष्ट [है] उसको [मैं] कहूँगी ॥ ३ ॥ [तत्पश्चात्] कुछ २ मुस्कराते हुए कामयुक्त महाराज [दशरथ] भूमि पर पड़ी हुई [कैकेयी के] बालों को हाथ से सहलाकर उस कैकेयी से बोले:—॥ ४ ॥ हे सौभाग्यगर्विते! [तू] नहीं जानती कि मुझे मनुष्य-श्रेष्ठ

अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम । मनुजो मनुजव्याघ्राद्रामादन्यो न विद्यते ॥ ५ ॥
तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना । शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेच्छसि ॥ ६ ॥
यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवेयमहं ध्रुवम् । तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ७ ॥
आत्मना वात्मजैश्चान्यैर्वृणे यं मनुजर्षभम् । तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम् ॥ ८ ॥
भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे । एतत्समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत्साधु मन्यसे ॥ ९ ॥
बलमात्मनि पश्यन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि । करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे ॥१०॥
सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम् । निर्माध्यस्थ्यात्प्रहर्षाच्च बभाषे दुर्वचं वचः ॥११॥
तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः । व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम् ॥१२॥
यथा क्रमेण शपसि वरं मम ददासि च । तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद्देवाः साग्निपुरोगमाः ॥१३॥
चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः । जगच्च पृथिवी चेयं सगन्धर्वा सराक्षसा ॥१४॥
निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः । यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव ॥१५॥
सत्यसंधो महातेजा धर्मज्ञः सुसमाहितः । वरं मम ददात्येष तन्मे श्रृण्वन्तु देवताः ॥१६॥
इति देवी महेष्वासं परिगृह्याभिशस्य च । ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥१७॥
स्मर राजन् पुरा वृत्तं तस्मिन् दैवासुरे रणे । तत्र त्वच्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥१८॥

राम के [अतिरिक्त] अन्य कोई भी तुझसे अधिक प्रिय नहीं ॥ ५ ॥ उस अजेय, जीवन से भी श्रेष्ठ, प्रिय, महात्मा राघव (= राम) की [मैं] तेरे लिये शपथ करता हूँ। कहो, जो [तुम] मन से चाहती हो ॥ ६ ॥ जिस [रामचन्द्र] को बिना देखे एक मुहूर्त्त भी मैं नहीं जी सकता । हे कैकेयि ! उस रामचन्द्र की तेरी वचनपूर्त्ति के लिये [मैं] शपथ करता हूँ ॥ ७ ॥ अपने तथा अपने अन्य पुत्रों के बदले जिस पुरुष-श्रेष्ठ [राम] को [मैं] वरण करता हूँ। हे कैकेयि ! उस राम की तेरी वचनपूर्त्ति के लिये [मैं शपथ करता हूँ]॥ ८ ॥ हे भद्रे ! [इस शपथ से] मेरे हृदय [की अवस्था] को समझकर [इस दुःख से मेरा] उद्धार करो। हे कैकेयि ! इस [सारी स्थिति] को विचार कर जो ठीक समझती हो कहो ॥ ९ ॥ अपने बल को समझते हुए [तुझे] मेरे प्रति शंका करना उचित नहीं। मैं [अपने] धर्म की तेरे लिये शपथ करता हूँ कि [मैं] तेरे प्रिय [कार्य] को [पूर्ण] करूँगा ॥ १० ॥ उस अभिप्राय को सफल हुआ ही [जानकर], अभिप्राय को मन में रखने वाली उस देवी [कैकेयी] ने [भरत के अभिषेक के प्रति] पक्षपात होने के कारण तथा प्रसन्नता हो जाने से कठोर वचन कहे—॥ ११ ॥ उस [दशरथ के] वाक्य से प्रसन्न हुई २ [कैकेयी ने] आये हुए यमराज के समान महाघोर उस अपने अभिप्राय को कहा ॥ १२ ॥ [हे राजन् !] जिस क्रम से [आप] शपथ ले रहे हैं, और मुझे वर दे रहे हैं, उसको अग्नि प्रभृति तैंतीस देव सुनें (=अर्थात् साक्षी बनें) ॥ १३ ॥ चन्द्र-सूर्य, आकाश, ग्रह, रात-दिन, दिशायें, जगत् और गन्धर्व राक्षस सहित यह पृथिवी ॥ १४ ॥ निशाचर, भूत (= पाँच महाभूत), घरों में [निवास करने वाले] विद्वान् लोग तथा जो अन्य प्राणी [हैं वे भी] आपकी कही बात को जानें ॥ १५ ॥ सत्यप्रतिज्ञ, महा-तेजस्वी, धर्मज्ञ, जितेन्द्रिय यह [राजा दशरथ] मुझे वर दे रहे हैं, उसको देवताएँ सुनें ॥ १६ ॥ इस प्रकार महाधनुर्धारी [राजा] को वश में करके तथा [स्वार्थसिद्धि के लिये] राजा की प्रशंसा करके देवी [कैकेयी] वर देनेवाले काममोहित [राजा से] यह बोलीः—॥ १७ ॥ हे राजन् ! पहले देवासुर-संग्राम में हुई घटना को स्मरण करो। उसमें शत्रु ने [तुम्हें] [घायल करके] पराक्रमहीन कर दिया था, [केवल] प्राणमात्र ही तुम्हारे [शेष थे]॥ १८ ॥ वहाँ पर हे देव ! जागकर आप की प्राणरक्षा के लिये सारथी बनकर यत्न

तत्र चापि मया देव यत्त्वं समभिरक्षितः । जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ ॥१९॥
तौ तु दत्तौ वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम् । तवैव पृथिवीपाल सकाशे सत्यसंगर ॥२०॥
तत्प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद्दास्यसि मे वरम् । अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥२१॥
वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशे कृतः । प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥२२॥
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् । वरौ यौ मे त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥२३॥
तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः । योऽभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ॥२४॥
अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम् । यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ॥२५॥
तदा दैवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः । नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥२६॥
चीराजिनजटाधारी रामो भवतु तापसः । भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥२७॥
एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे । अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वनम् ॥२८॥
स राजराजो भव सत्यसङ्गरः कुलं च शीलं च हि रक्ष जन्म च ।
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥२९॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे वरद्वयनिर्बन्धो नाम एकादशः सर्गः ॥११॥

करती हुई मेरे द्वारा रक्षित हुए आपने मुझे [दो] वर दिये थे ॥ १९ ॥ हे देव, सत्यवादिन्, पृथिवीपाल! आप के दिये हुए [तथा] आपके पास धरोहर रूप में रखे हुए उन दोनों वरों को मैं [अब] स्मरण करा रही हूँ। ॥ २० ॥ यदि धर्म से प्रतिज्ञा करके [भी] उस वर को [आप] नहीं देंगे तो आपके द्वारा तिरस्कृत हुई [मैं] आज ही (प्राणों) को छोड़ दूँगी ॥ २१ ॥ उस समय कैकेयी द्वारा वाणी मात्र से वश में किये गये राजा [दशरथ] अपने विनाश के लिये यथा मृग पाश के समीप जाता है तद्वत् [कैकेयी के पास] गये ॥ २२ ॥ तत्पश्चात् [कैकेयी] वर देने वाले काममोहित [राजा दशरथ] से यह बोली—हे देव, महीपते ! उस समय जो दो वर आपने मुझे दिये थे, उन दोनों को मैं आज ही कहूँगी, मेरे वचन को सुनो। [आपने] जो राघव (=रामचन्द्र) का अभिषेक समारोह रचा है, इसी अभिषेक समारोह से मेरे पुत्र भरत का अभिषेक किया जाय। उस देवासुर-युद्ध में प्रसन्न हुए आपने जो दूसरा वर दिया था, उसका यह समय आ गया [है] । चौदह वर्ष तक वल्कलवसन, मृगचर्म और जटाओं को धारण करते हुये तपस्यापूर्वक राम दण्डक वन में रहें। भरत आज अकण्टक (=शत्रुरहित) युवराज पद का सेवन करें ॥ २३–२७ ॥ यही मेरी परम कामना है, दिये हुए वर को ही [मैं] माँगती हूँ। आज ही राघव (=राम) को वन जाते हुये [मैं] देखना चाहती हूँ ॥ २८ ॥ हे राजाधिराज [आप] सत्यप्रतिज्ञ हों, और [इस प्रकार अपने] कुल, शील और जन्म की रक्षा करें, क्योंकि तपस्वी लोग परलोक में मनुष्यों का सबसे अधिक हितकारक सत्य वचन को ही बताते हैं ॥ २९ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का 'वर माँगना' विषयक ग्यारहवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

कैकेयीनिवर्तनप्रयासः

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः । चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च ॥ १ ॥
किं नु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम । अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वाप्युपद्रवः ॥ २ ॥
इति संचिन्त्य तद्राजा नाध्यगच्छत्तदा सुखम् । प्रतिलभ्य ततः संज्ञां कैकेयीवाक्यताडितः ॥ ३ ॥
व्यथितो विक्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः । असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ॥ ४ ॥
मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः । अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥
मोहमापेदिवान् भूयः शोकोपहतचेतनः । चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः ॥ ६ ॥
कैकेयीमब्रवीत्क्रुद्धः प्रदहन्निव चक्षुषा । नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥ ७ ॥
किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा । सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥ ८ ॥
तस्यैव त्वमनर्थाय किं निमित्तमिहोद्यता । त्वं मयात्मविनाशाय भवनं स्वं निवेशिता ॥ ९ ॥
अविज्ञानान्नृपसुता व्याली तीक्ष्णविषा यथा । जीवलोको यदा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम् ॥१०॥
अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम् । कौसल्यां वा सुमित्रां वा त्यजेयमपि वा श्रियम् ॥११॥
जीवितं वात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम् । परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम् ॥१२॥

बारहवां सर्ग

कैकेयी निवर्तन प्रयास

तत्पश्चात् कैकेयी के दारुण वचन को सुनकर महाराज [दशरथ] बहुत अधिक चिन्ता को प्राप्त हुए और क्षण भर के लिये संतप्त हो गये ॥ १ ॥ क्या यह मुझे दिन में स्वप्न [आया है] या मेरे चित्त का भ्रम [है] या [पूर्व जन्म में] अनुभूत किसी बात का स्मरण [हो रहा है], या कोई मानसिक विकार (=उन्माद) [उत्पन्न हो गया है] ॥ २ ॥ इस प्रकार सोचकर राजा उस समय ठीक २ निश्चय न कर सके तत्पश्चात् होश में आकर कैकेयी के वाक्य से ताड़ित, व्याघ्री को देख कर जैसे मृग व्याकुल तथा व्यथित [होता है, उसी के समान] व्यथित एवं व्याकुल, बिना बिछी जमीन पर [ही] बैठे हुये, दीर्घ उच्छ्वास लेते रहे ॥ ३, ४ ॥ मण्डल में मन्त्रों (=विचारयुक्त उपायों) से घिरे हुए महाविषयुक्त सर्प के समान क्रोधयुक्त राजा [दशरथ] 'अहो धिक्कार है' ऐसा वचन कहकर ॥ ५ ॥ शोक से नष्टबुद्धिवाले [होकर] मूर्च्छा को प्राप्त हुए। बहुत देर बाद होश में आकर अत्यन्त दुःखित व क्रोधित राजा तेज से जलाते हुए के समान कैकेयी से बोले—अरे नृशंस (=क्रूर), दुष्ट चरित्र वाली, इस कुल का नाश करने वाली ॥ ६,७ ॥ पापिनि ! राम ने या मैंने तेरा क्या बुरा किया है ? राघव (=रामचन्द्र) सदा तेरे साथ माता के तुल्य व्यवहार करता है ॥ ८ ॥ उसी के अनर्थ के लिये तू आज किस कारण से उद्यत [हुई है]। मैंने अपने विनाश के लिये [ही] अज्ञान से तीक्ष्ण विषवाली सर्पिणी के समान तुझ राजपुत्री को घर में बसा लिया है। जब सभी लोग राम के गुणों की प्रशंसा करते हैं ॥ ९,१० ॥ तब किस अपराध को लगा कर मैं [अपने] प्रिय पुत्र रामचन्द्र का त्याग करूँगा। कौसल्या, सुमित्रा, तथा [इस अपनी राज्य] लक्ष्मी का [तो मैं] त्याग कर सकता हूँ ॥ ११ ॥ [परन्तु] अपने जीवनस्वरूप पितृभक्त राम को नहीं [छोड़] सकता। ज्येष्ठ पुत्र [राम] को देखकर मुझे बहुत अधिक प्रसन्नता होती है ॥ १२ ॥ राम को

अपश्यतस्तु मे रामं नष्टा भवति चेतना । तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ॥१३॥
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् । तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ॥१४॥
अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे । किमिदं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम् ॥१५॥
अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये । अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥१६॥
स मे ज्येष्ठः सुतः श्रीमान् धर्मज्येष्ठ इतीव मे । तत्त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥१७॥
तच्छ्रुत्वा शोकसंतप्ता संतापयसि मां भृशम् । आविष्टासि गृहे शून्ये सा त्वं परवशं गता ॥१८॥
इक्ष्वाकूणां कुले देवि संप्राप्तः सुमहानयम् । अनयो नयसंपन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥१९॥
न हि किंचिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम । अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधाम्यहम् ॥२०॥
ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना । बहुशो हि सुबाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥२१॥
तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः । कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥२२॥
अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे धृतात्मनः । कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥२३॥
रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने । तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥२४॥
रामोऽपि भरताद्भूयस्तव शुश्रूषते सदा । विशेषं त्वयि तस्मात्तु भरतस्य न लक्षये ॥२५॥
शुश्रूषां गौरवं चैव प्रमाणं वचनक्रियाम् । कस्ते भूयस्तरां कुर्यादन्यत्र मनुजर्षभात् ॥२६॥

न देखने पर मेरी चेतना नष्ट होने लगती है। सूर्य के बिना संसार स्थिर रह सकता है, और जल के बिना धान जीवित रह सकता है ॥१३॥ परन्तु राम के बिना मेरे शरीर में प्राण नहीं रह सकता। इसलिये हे अनिष्ट निश्चय करने वाली ! [तू अपना] यह निश्चय छोड़ दे ॥ १४ ॥ मैं तेरे चरणों को सिर से स्पर्श करता हूँ [तू] प्रसन्न हो जा। अयि पापे ! तू ने यह अति कठोर बात क्यों सोची ॥ १५ ॥ यदि तू मेरा भरत के प्रति प्रेम या अप्रेम जानना चाहती है, [तो] वैसा ही हो (=अर्थात् भरत का ही अभिषेक हो) परन्तु जो तूने पहले राघव (=राम) के प्रति कहा था कि—॥ १६ ॥ वह [राम] मेरा ज्येष्ठ पुत्र है, श्रीमान् तथा धर्म से बड़ा है, वह शायद प्रिय बोलने वाली तूने मुझे खुश करने के लिये कहा होगा ॥१७॥ [इसीलिये तो] उस [राम] के अभिषेक को सुनकर [तुम] शोकयुक्त हो कर मुझे बहुत अधिक सन्ताप दे रही हो। [मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि किसी] शत्रु के वश में होकर ही तुम इस शून्य गृह में आ बैठी हो ॥ १८ ॥ हे देवि ! नीतिसंपन्न इक्ष्वाकुओं के कुल में यह बहुत बड़ा नीतिविरुद्ध कार्य आ पड़ा है। [क्योंकि राज्याभिषेक-मंगल में] तेरी मति विकृत [हो गई है] ॥ १९ ॥ हे विशालाक्षि ! पहले तूने कभी मेरे लिये अयोग्य व अप्रिय [काम] नहीं किया, इसलिये [तेरी इस अप्रिय बात का] मुझे विश्वास नहीं होता ॥ २० ॥ हे सुबाले ! तुमने पहले बहुत बार बातचीत में मुझसे कहा थे—कि महात्मा भरत के तुल्य राघव [मुझे प्रिय] है ॥ २१ ॥ हे भीरु, देवि ! उस धर्मात्मा, यशस्वी [राम] का चौदह वर्ष तक वन में रहना [तुझे] कैसे अच्छा लगता है ॥ २२ ॥ अत्यन्त सुकुमार, धर्म में निष्ठावान् उस [राम] का महाभयंकर वन में वास [तू] कैसे पसन्द कर रही है ॥ २३ ॥ हे सुन्दर नेत्रों वाली ! अपनी सेवा करने वाले, [सब के] प्रिय राम का देशनिकाला [तू] किसलिये चाहती है ॥ २४ ॥ सदा भरत से अधिक राम तेरी सेवा करता है, तेरी सेवा में उस [राम] से अधिक भरत की विशेषता [मैं] नहीं देखता ॥ २५ ॥ तेरी सेवा, [तेरा] सम्मान, [तेरी बात की] प्रामाणिकता, [तेरे] वचन का पालन पुरुषश्रेष्ठ (=राम) के सिवाय कौन अधिक अच्छी तरह से कर सकता है ! (=अर्थात् कोई नहीं) ॥ २६ ॥

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १२] [अङ्क ८

इस अङ्क के लेख

१—अन्तर्यामी प्रभु	आर्याभिविनय	पृ० १
२—ईश्वरविश्वास और श्रद्धा	श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी	३
३—ऋग्वेद का अक्षसूक्त—एक अध्ययन	श्री पं० भवानीलाल जी भारतीय	७
४—महर्षि दयानन्द जी तथा आर्यसमाज को समझने में पौराणिकों का भ्रम (गताङ्क से आगे)	श्री पं० शिवपूजन सिंह जी कुशवाहा	९
५—विविध समाचार	सम्पादक	१६
६—'वाल्मीकिरामायण' का आलोचनात्मक भाषानुवाद (गताङ्क से आगे)	अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी	१६ (पृ० २५६-२७२)
७—यजुर्वेद-भाष्य-सम्बन्धी विज्ञप्ति		(टा० पृ० ४)

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

ज्येष्ठ २०१७ वि०, जून १९६० ई०
दयानन्दाब्द १३६
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६१

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
बी० पी० से ५॥=)
" " विदेश में ६)
इस अङ्क का ॥)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ।।।) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

ओ३म्

ऋग्वेद यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष १२ } काशी, ज्येष्ठ, सं० २०१७ वि०, जून १९६० ई० { अङ्क ८

आर्याभिविनय से— टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

अन्तर्यामी प्रभु

तदे॑जति॒ तन्नैज॑ति॒ तद्दू॒रे तद्व॑न्ति॒के।

तद॒न्तर॑स्य॒ सर्व॑स्य॒, तदु॒ सर्व॑स्यास्य बाह्य॒तः ॥ यजु० ४० । ५॥

आर्याभिविनय-व्याख्या

'तद् (ब्रह्म) एजति तत् न एजति' सो अविद्वान् लोग ईश्वर में भी आरोप[१] करते हैं कि परमात्मा भी चलता होगा, परन्तु वह सबमें पूर्ण है[२]। वह परमात्मा सब जगत् को यथायोग्य अपनी २ चाल पर चला

अर्थबोधक टिप्पणी

१. आरोप = attributing the nature of properties of one thing to another–आप्टे।

२. पूर्ण है = पूर्णतया व्याप्त है।

रहा है–[स्वयं] कभी चलायमान नहीं होता। अतएव स्वतः वह परमात्मा कभी नहीं चलता, एकरस[3] निश्चल होके भरा है। विद्वान् लोग इसी रीति से ब्रह्म को जानते हैं।

'तद् दूरे [अस्ति] तत् अन्तिके [अस्ति]' वह ईश्वर अधर्मात्मा, अविद्वान्, विचारशून्य, अजितेन्द्रिय, ईश्वरभक्तिरहित इत्यादि दोषयुक्त मनुष्यों से बहुत दूर है अर्थात् वे [लोग] उसको कोटि २ वर्ष तक नहीं प्राप्त होते। इससे जब तक कि उसको नहीं जानते, तब तक वे जन्म मरणादि दुःख सागर में इधर-उधर घूमते-फिरते हैं। [वह] सत्यवादी, सत्यकामी, जितेन्द्रिय, सर्वजनोपकारक, विद्वान्, विचारशील पुरुषों के अत्यन्त निकट है।

'तत् सर्वस्य अन्तरस्य [अस्ति] तत् उ अस्य सर्वस्य बाह्यतः [अस्ति]' किञ्च (=पुनश्च) वह अन्तर्यामी व्यापक होके, सबके आत्माओं के बीच में, सर्वत्र पूर्ण भर रहा है। क्योंकि वह परमेश्वर सब जगत् के भीतर और बाहर तथा मध्य [में विराजमान है] अर्थात् एक तिलमात्र भी उसके बिना खाली नहीं है सो (=अतः) [वह] आत्मा का भी आत्मा है। वह अखण्डैकरस[4] सबमें व्याप रहा है। उसको जानने से ही सुख और मुक्ति होती है अन्यथा नहीं।

दण्डान्वय–टीका

तत् =	वह ब्रह्म
एजति[5] =	(सुनने वाले के) ज्ञान तथा कर्म को प्रकाशित करता रहता है।
तत् =	वह ब्रह्म
न एजति =	(न सुनने वालों के) ज्ञान तथा कर्म को प्रकाशित नहीं कर पाता।
[अतः] तत् =	अतः वह ब्रह्म
दूरे [अस्ति] =	(न सुनने वालों से) दूर है [तथा]
तत् =	वह ब्रह्म
उ =	निश्चय से
अन्तिके [अस्ति] =	(सुनने वालों के) नजदीक ही है।
तत् =	वह ब्रह्म
सर्वस्य =	सब आत्माओं के
अन्तरस्य[6] [अस्ति] =	भीतर है।
तत् =	वह ब्रह्म
उ =	निश्चय से
अस्य सर्वस्य =	प्रत्येक आत्मा के
बाह्यतः [अस्ति] =	शारीरिक खोल और सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्राकृतिक वस्तुओं में पूर्णतया व्याप्त है, अतएव सर्वत्र सुनने-सुनाने के लिए प्रस्तुत है।

३. रस = interest–feeling : Sentiment—आप्टे।
४. अखण्डैकरस = सर्वदा समानभाव से युक्त
५. व्यु० एज् = दीप्तौ कंपने च। भ्वा०
६. अन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तै० उप० ब्र० अनु० ४

पारस्परिक सद्भावना से ही संसार का कल्याण

"आजकल बहुत से विद्वान् प्रत्येक मतों में हैं, वे पक्षपात छोड़ 'सर्वतन्त्र सिद्धान्त' अर्थात जो जो बातें सबके अनुकूल सब में सत्य हैं, उनका ग्रहण और जो एक दूसरे से विरुद्ध बातें हैं, उनका त्याग कर परस्पर प्रीति से वर्त्तें वर्त्तावें तो जगत् का पूर्ण हित होवे क्योंकि विद्वानों के विरोध से अविद्वानों में विरोध बढ़कर अनेकविध दुःख की वृद्धि और सुख की हानि होती है।"

—ऋषि दयानन्द सरस्वती (सत्यार्थप्रकाश)

ईश्वरविश्वास और श्रद्धा

[ले०—श्री महात्मा आनन्द स्वामी जी महाराज]

ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किं च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम् ॥

इस वेदमन्त्र में चार बातें कही गई हैं और ये ही चार बातें हमें बताती हैं कि संसार में हमें कैसे रहना चाहिये ?

पहली बात—'ईशावास्यमिदम्'

इस सारे संसार में—इसके कण २ में—परमात्मा ओतप्रेत है—वह परमात्मा जो सच्चिदानन्दस्वरूप है, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, पवित्र, सर्वव्यापक, सर्व-हितैषी है और जिसने सारी सृष्टि की रचना की है। वह निर्विकार, सर्वोपरि, सर्वाधार तथा सर्वेश्वर है। जीवन में हमें अपने मन में पूर्ण विश्वास होना चाहिये कि वह है और सर्वत्र है। वह जो कुछ भी करता है, संसार के लिए एवं जीव आत्मा के कल्याण के लिये करता है। वह पालक है, उद्धारक है—संहारक नहीं। वही सब कुछ है। जिसके हृदय में यह विश्वास उत्पन्न हो गया—दृढ़विश्वास—फिर उसे संसार में कोई भय नहीं। हमारे हृदय में भगवान् के लिये श्रद्धा होनी चाहिये, भक्ति होनी चाहिये, विश्वास होना चाहिये—फिर कोई दुःख नहीं, विपत्ति नहीं, घृणा नहीं, द्वेष नहीं।

परन्तु हो क्या गया है ? आज संसार उसे भूल गया है। उस पर विश्वास नहीं रहा। जब इस असीम शक्ति को भूल गये हैं, तो फिर हमारा कल्याण कैसे हो सकता है। कई व्यक्ति कहते हैं कि जब वह दिखाई नहीं देता, तो फिर हम कैसे मानें कि वह है भी या नहीं और जब तक यह ज्ञात न हो कि वह है, तब तक विश्वास कैसे हो सकता है। और कहते हैं—पहले दिखाओ, तब हम उसे मानेंगे। वे पुनः पुनः यही कहते हैं कि पहले उसे दिखा तो दीजिये। वह दीख सकता है, किन्तु उसके लिए आँखें चाहियें। कुछ भी देखना हो, उसके लिये आँखें अवश्य चाहियें। यदि कोई अन्धा यह कहे कि मुझे सूर्य दिखा दो, तो सबसे पहले उसे अपनी आँखों का उपचार कराना चाहिये। किसी आंखों के डाक्टर के पास जा कर अपनी आंखों की शल्य-क्रिया करानी चाहिये। तभी वह सूर्य का दर्शन कर सकता है। यदि अन्धे के पास आंखें नहीं तो इसका यह अर्थ नहीं कि सूर्य है ही नहीं। सूर्य तो है किन्तु उसे देखने के लिये आंखें चाहियें। इसी प्रकार भगवान् तो है, परन्तु उसे देखने के लिए हमारे पास आंखें भी तो होनी चाहियें। आप कहेंगे 'हमारे पास तो अच्छी भली दो आंखें हैं। हम सब कुछ देख सकते हैं, इन आंखों से हमें सब कुछ दिखाई देता है, केवल परमात्मा ही नहीं दिखाई देता। फिर भगवान् को देखने के लिए कौन सी आंखें चाहियें।' भगवान् को देखने के लिये ये आंखें नहीं चाहियें। उसे देखने के लिए तो अन्दर की आंखें चाहियें, बाहर की आंखें नहीं। ज्ञान और विद्या की आँखें, अन्तरात्मा की आंखें, मन की आँखें चाहियें, क्योंकि वह अन्दर है, बाहर नहीं। बाहर तो केवल उसकी लीला है। उस लीला को आप बाहर की आँखों से देख सकते हैं। मरुस्थल, समुद्र, झरने, जंगल, बाग-बगीचे, बरफ से ढकी हुई पर्वतों की चोटियाँ, बहती हुई नदियाँ—ये सब उसकी लीला हैं। इन्हें देख सकते हो और यदि उसे देखना चाहते हो, तो बाहर की आंख, कान, मुँह सब बन्द करके अपने अन्दर चले जाओ। बाह्य जगत् को भूल जाओ और अपने अन्दर अपने मन की आंख खोलकर अन्तर्मन से—ज्ञानचक्षु द्वारा—उसे देखो, फिर वह दिखाई देगा।

मेरे कानों में आहिस्ते कहा पीरतरीकत ने,
जिसे तू ढूँढ़ता है वह तो तेरे दिल में रहते हैं।
करूँ क्योंकर न सिजदा सर झुकाकर अपने सीने को,
कि सीने में मेरा दिल है, वह मेरे दिल में रहते हैं ॥

वह सर्वत्र विद्यमान अवश्य है, किन्तु उसके दर्शन हृदय में ही होते हैं। भक्त और भगवान् इन दोनों का मिलाप कहाँ होता है, इसके लिये वेदमन्त्र

में कहा गया है कि वह परमात्मा हृदय की गुहा में बैठा हुआ है।

एक नास्तिक विचार का पिता था। उसका पुत्र एक आर्य कालेज में पढ़ता था और उसे भगवान् पर पूर्ण विश्वास था। पुत्र ने कालेज में साइंस भी ले रखी थी। खूब पढ़ता था। परन्तु प्रातःकाल प्रभु का नाम लेने में भी घण्टा,आध घण्टा व्यतीत करता था। पिता कहता—'पुत्र! तूने साइंस ले रखी है, इसके लिये तैयारी कर! इधर उधर समय नष्ट न किया कर'। पुत्र बोला—'मैं तो पूरी तैयारी कर रहा हूँ। भगवान् का भजन भी तो बहुत आवश्यक है। इससे मेरे हृदय में विश्वास उत्पन्न होता है। मुझे बहुत शान्ति मिलती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वह मेरे अन्दर छिपा बैठा है और मेरे ऊपर छाया बनकर रहता है। उसका भजन भी तो आवश्यक है'। पिता बोला—'अरे! वह तो है ही नहीं। तू साइंस पढ़कर भी ऐसी व्यर्थ बातें कहता है। तुम्हें तो ज्ञात है कि यह सृष्टि उष्णता और क्रिया (Heat and Energy) से बनी है। फिर यह भगवान् कैसा? तू बता वह कहाँ है?' उस समय तो पुत्र शान्त हो गया। दूसरे दिन कालेज गया। वहाँ कुछ रंग पड़े थे। एक कागज लिया, उन रंगों से एक सुन्दर चित्र बनाया। चित्र बनाकर वह घर ले आया और रात को चुपके से वह चित्र अपने पिताजी के सोने के कमरे में रख आया। प्रातः उसके पिता जब उठे, तो सबसे पहले उनकी दृष्टि उस चित्र पर गई। वे पूछने लगे—यह चित्र कहाँ से आया है, इसे किसने बनाया है? तो पुत्र आया। उसने कहा—पिताजी! यह चित्र स्वयं बन गया है। पिता ने कहा—हट, मूर्ख! यह कैसे हो सकता है, वह स्वयं कैसे बन सकता है? पुत्र ने उत्तर दिया—क्रिया और उष्णता से—कागजों में क्रिया हुई, वे उड़े—रंगों के समीप जा बैठे, फिर रङ्गों मे उष्णता आई कि बस दोनों मिले और यह चित्र बन गया।

पिता बोला—यह कैसे हो सकता है? अपने आप यह चित्र बन ही नहीं सकता, इसका निर्माता अवश्य कोई होना चाहिये। पुत्र ने कहा—'जब यह छोटा सा चित्र स्वयं नहीं बन सकता—तो फिर यह इतना बड़ा चित्र—यह संसार चित्र—केवल उष्णता एवं क्रिया से कैसे बन सकता है? जब इस छोटे चित्र को बनाने वाला कोई चाहिये, तब इतने बड़े चित्र को भी बनाने वाला कोई होना चाहिये।' यह सुनकर पिता चुप हो गया। फिर उसे भी स्वीकार करना पड़ा कि हाँ, इस संसार का भी निर्माता कोई है। उसे हम परमात्मा कह लें, खुदा कह लें, गाड कह लें या कोई भी नाम क्यों न दे दें, वह कोई है अवश्य।

लोग कहते हैं कि हमें समझा दो—परमात्मा कैसा है, किस प्रकार का है। किन्तु वह समझ में नहीं आ सकता। तर्क और बातों से समझ में आ जाये, फिर उसे हम परमात्मा ही क्यों कहें। उसे समझना बहुत कठिन है। उर्दू के एक प्रसिद्ध कवि 'अकबर' इलाहाबादी ने कहा है—

जहन में जो घिर गया लाइन्तहा क्योंकर हुआ।
जो समझ में आगया फिर वह खुदा क्योंकर हुआ॥

बुद्धि तुम्हें उसके द्वार तक पहुँचा देगी। फिर तुम उसे समझ लो, देख लो। उसकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। उसका दर्शन ही उसकी अभिव्यक्ति है। उस पर श्रद्धा रखो। उस पर विश्वास करो कि वह है। वेद भगवान् कहते हैं कि उसे पाये बिना सुख नहीं। जब तक उसे पा न लिया जाय तब तक हम कुछ नहीं कर सकते। आज संसार उसे भूल गया है। उस पर विश्वास नहीं रहा। वह तो कल्याणकारी है। जो भी करता है, हमारे कल्याण के लिये करता है। हमें कर्म करना चाहिये, फल भगवान् पर छोड़ देना चाहिये।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

हम कर्म करें, फल भगवान् देगा। और विश्वास रखो—वह कभी हमारा बुरा नहीं चाहता, हमारा भला ही करेगा। जिसके हृदय में यह विश्वास उत्पन्न हो गया, वह कभी धोखा नहीं खा सकता।

लोग कहते हैं—'ये सब बातें भावुकतापूर्ण हैं।' ये भावुकतापूर्ण नहीं हैं, वास्तविक हैं। भगवान् कभी हानि नहीं पहुँचाता, उससे हानि तो हो नहीं सकती। तांबे के तार में बिजली दौड़ती है। तांबे के तार में बिजली छोड़ दो तो वह उसके कण-कण में फैल

जाती है। क्या उससे तांबे के तार को कोई हानि पहुँचती है ? इसी प्रकार इस प्रकृति में परमात्मा फैला हुआ है, कण कण में व्याप्त है। इससे क्या प्रकृति को हानि पहुँचेगी ? नहीं, वह तो सुख के लिये है। जीवात्मा के कल्याण के लिए है। भगवान् ने यह संसार इसी लिये बनाया है कि जो जीवात्मायें उससे बिछुड़ गई हैं, वे पुन: उससे मिल जायें। वह पालक है, तारक है, मारक नहीं।

कई लोग पूछते हैं—यह भगवान् रहता कहाँ है कि जहाँ हम मिल सकें। वेद के एक मन्त्र में बताया गया है कि भगवान् एक ऐसी नगरी में रहता है जिसमें आठ चक्र हैं, प्रत्येक द्वार पर एक प्रहरी है। उसमें प्रकाश से पूर्ण हिरण्मय कोष है। वहाँ भगवान् रहते हैं। वहीं उनके दर्शन हो सकते हैं। वह नगरी कहाँ है ? कभी आपने इस नगरी को देखा है। वह नगरी और कहीं नहीं, यहीं पर है। यह सिर से लेकर पैरों तक शरीर रूपी नगरी है। इसके नौ द्वार हैं—दो आंखें, दो कान, दो नथने, एक मुँह, एक मूत्र-त्याग स्थान—एवं एक मलत्याग-स्थान। इसके नौ द्वारों पर एक २ देवता चौकीदारी कर रहा है—आंखों पर चक्षु:, कानों पर श्रवण, मुख पर वाणी इत्यादि और उसमें आठ चक्र हैं—

(१) मूलाधार चक्र (२) स्वाधिष्ठान चक्र (३) मणिपूर्ण चक्र (४) हृदय चक्र (५) अनाहत चक्र (६) विशुद्धि चक्र (७) आज्ञा चक्र (८) सहस्रार चक्र

इसके अन्दर प्रवेश करो। आपको स्वर्ग दिखाई पड़ेगा। बाहर के सब द्वार बन्द कर दो, फिर आपको वहां आत्मा ही आत्मा दिखाई देगी। फिर भी समझ में न आये, तो वहाँ संसार के अन्दर जितनी वस्तुएँ हैं, सबको देखो, वहीं दिखाई देंगी। इन वस्तुओं में जितने गुण हैं, उन सबको इकट्ठा करो। तुम्हें एक शक्ति दिखाई देगी। वही परमात्मा है। उसी का नाम भगवान् है। मन में विश्वास पैदा करो—गहरा विश्वास, अटूट श्रद्धा। फिर देखो भगवान् है या नहीं—

अगर भगवान् के चरणों में तेरा प्यार हो जाता।
तो भवसागर से तू बस एक पल में पार हो जाता॥

प्यार, श्रद्धा, भक्ति और विश्वास तो है ही नहीं, केवल तर्कों के पीछे भाग रहे हो। श्रद्धा नहीं है, तब तक ये तर्क काम नहीं आयेंगे। तर्क करो किन्तु साथ ही श्रद्धा और विश्वास भी पैदा करो। कोरे तर्क काम नहीं आते। इसी प्रकार कोरा विश्वास भी काम नहीं आता। मैं तो कहता हूँ कि आर्य-समाजियों के पास केवल तर्क हैं, सनातन धर्मियों के पास श्रद्धा और विश्वास है। आवश्यकता इस बात की है कि दोनों को मिला दिया जाय। दोनों को साथ-साथ ले जाया जाय। ज्ञान एवं श्रद्धा दोनों एकत्र हो जायें तो संसार का कल्याण हो जायेगा।

"Wisdom is the lamp of love and love is the oil of the lamp."

इसलिए अपने अन्दर बुद्धि के साथ-साथ श्रद्धा और विश्वास पैदा करो।

जिसे खोजना हो, उसे अपने रोम २ में रचा लो—उसके हो जाओ; उसके बन जाओ। जब तक भगवान् तुम्हारे मन में रच नहीं जाता, तब तक तुम उसकी खोज कैसे कर सकते हो। जिनके हृदय में भगवान् का प्रेम जाग उठा है, उनको मन और बुद्धि कभी दु:ख नहीं देते। उनकी बुद्धि और मन दोनों टिक जाते हैं—एक स्थान पर स्थिर हो जाते हैं।

इकजान होके चलते हैं मैं तू को छोड़कर।
उलफत की तंग राह में दो का गुजर नहीं॥

भगवान् के लिये जब हम एक जान हो जायें, उस पर पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास उत्पन्न कर लें, तब उसके दर्शन होते हैं। उसके दर्शन कैसे होते हैं ? यह सरल बात नहीं है, बहुत कठिन है। दो बातें हैं इसके लिये। वह दूर से दूर है और निकट से निकट है। वह है भी और नहीं भी। वह दिखाई भी देता है, नहीं भी। आप कहेंगे—यह क्या बात है ? एक ही समय में दो विरोधी बातें कैसे ?

नज़र आते हैं जो नहीं अपने,
जो है अपना वह नज़र नहीं आता।
ज़ेरे साया हूँ उसके प्यारे,
जिसका साया नज़र नहीं आता॥

फिर काम कैसे बने ? किस प्रकार हम उसे पायें। उसके प्रेम में, भक्ति में उसके ध्यान में अपने भाव और हृदय एक कर दो। उठते-बैठते, काम करते, सोते, जागते, चलते-फिरते हर समय उसी में लीन हो जाओ। प्रति समय, प्रति घड़ी, प्रति पल उसी का ध्यान करो। परन्तु अपने कर्तव्यों को न

भूल जाओ। अपने कार्य भी करते जाओ और उसमें मन भी लगाये रखो। कर्त्तव्यों से पीछे हट जाना उचित नहीं। कर्त्तव्य भी उतने ही आवश्यक हैं जितनी भगवान् की भक्ति।

आँखें बन्द करके—बाहर के सब द्वार बन्द करके, सभी धन्धों से पृथक् होकर कुछ समय के लिये प्रभु में ध्यान लगाओ। ऐसा ध्यान लगाने से कोई लाभ नहीं, जिसमें आपकी आँखें बन्द हों किन्तु ध्यान हो काम-धन्धे की ओर, पार्टीबाज़ी की ओर। दुकानदारी की ओर, नौकरी की ओर। कुछ समय तो ऐसा निकालो, जब आप सांसारिकता से परे हट कर, प्रकृति-उपासना को एक ओर रखकर भगवान् में ध्यान लगायें। वैसे भी प्रतिदिन ऐसा होता है। प्रत्येक थोड़ी देर के लिये इन धन्धों से पृथक् हो जाता है। कब? जब हम सो जाते हैं। हमारे बाहर के सब द्वार बन्द हो जाते हैं। तब मन विशुद्धि चक्र में चला जाता है। वहाँ बैठकर वह सब धन्धे करता है। संसार भर का सारा काम करता है। उस समय तीन चीजें काम करती हैं—आत्मा, प्राण और मन। स्वप्न में मन अपनी सृष्टि रचता है। प्राण कुछ नहीं करता—वह तो प्राणी की निस्स्वार्थ सेवा करता है। उसे कुछ नहीं चाहिये, वह कुछ नहीं माँगता। उसके सो जाने के थोड़ी देर बाद मन भी सो जाता है। गहरी निद्रा आ जाती है, तब स्वप्न नहीं आते। जब मन सो जाये, तब स्वप्न कहाँ से आये। इसे हम 'सुषुप्ति' अवस्था कहते हैं। फिर केवल आत्मा और प्राण जागते हैं। ऐसी गहरी निद्रा को हम कहते हैं—सुख की निद्रा आई। यह बात कौन कहता है। मन सो गया, तो फिर कौन बोलता है कि सुख की निद्रा आई। किसे यह ज्ञान हुआ? आत्मा कहती है। यह बात आत्मा को अनुभव होती है। उस अवस्था में हम प्रकृति की उपासना से—संसार से, प्रकृति से, अपने काम धन्धों से पृथक् हो जाते हैं। ऐसा समय प्रतिदिन आता है।

एक बार जनक महाराज ने ऋषि याज्ञवल्क्य जी से पूछा—वह कौन सी ज्योति है, जो हमें मार्ग दिखाती है। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—सूर्य की ज्योति से सब काम चलता है। जनक महाराज ने कहा—जब सूर्य नहीं रहता तब? याज्ञवल्क्य बोले-चन्द्रमा। पुनः जनक महाराज ने प्रश्न किया—जब चन्द्रमा भी न हो, अमावस्या की रात्रि हो, तब? तो उत्तर मिला—आग जलाकर हम अपना काम चलाते हैं। पुनः जनक महाराज ने पूछा—यदि आग भी न रहे, तेल और लकड़ी न मिले, तब? तो याज्ञवल्क्य ने कहा—तब शब्द मार्ग दिखाता है। जैसे घोर अन्धकार में कोई चला जा रहा हो, जंगल में रास्ता न दिखाई देता हो, वह तीव्र ध्वनि करेगा कि मैं कहां से आऊँ। दूसरी ओर से ध्वनि आयेगी—जिस ओर से मेरी ध्वनि आ रही है, उस ध्वनि की ओर से मेरी ओर बढ़ आओ। जनक महाराज ने कहा—जब यह ध्वनि भी न हो. तब? तो ऋषि कहने लगे—तब आत्मा ही ज्योति है। जनक महाराज ने पूछा—यह आत्मा क्या है? याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया—यह जो हृदय के अन्दर प्राणों से ढका हुआ ज्योतिर्मय पुरुष है, वही आत्मा है।

फिर हम इस आत्मा को जानते क्यों नहीं? जिस प्रकार साधारण लोग यह नहीं जानते कि जिस भूमि पर वे चल रहे हैं; उसके अन्दर क्या २ धातुएँ हैं; किन्तु एक विशेषज्ञ जिसने भूगर्भ विद्या का अध्ययन किया है, भूमि को देख कर ही बता देगा कि अमुक भूमि के अन्दर लोहा है या कोयला या सोना। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति नहीं जानता कि जब वह सुषुप्ति अवस्था या ब्रह्मलोक में जाता है, वह आत्मा है। उसे वह पहचानता नहीं।

मुझे श्री सच्चर से मिलना हो, तो पहले मैं उनका पता पूछूंगा, उनका लक्षण और आकृति पूछूँगा। पता पूछ कर मैं राजभवन गया। वहाँ पता लगा कि वे कथा सुनने गये हैं। कथा-स्थान पर उन्हें ढूँढूँगा। और यतः मुझे श्री सच्चर का लक्षण और अकृति ज्ञात है, अतः उन्हें खोज निकालूँगा। यदि मुझे उनके लक्षण और आकृति का ज्ञान नहीं, तो उनके समीप खड़ा रहकर भी उन्हें पा न सकूंगा। इस प्रकार हम जाते हैं ब्रह्मलोक में किन्तु हमें आत्मा के स्वरूप का ही बोध नहीं। उसकी पहचान ही नहीं, तो हम लौट आते हैं। आनन्दस्वरूप के पास जाकर भी हम आनन्द से वञ्चित रह जाते हैं, उसका आनन्द नहीं ले पाते।

ऋग्वेद का अक्ष-सूक्त—एक अध्ययन

(ले०—श्री पं० भवानीलाल जी भारतीय एम. ए. सिद्धान्तवाचस्पति)

वेद भगवान् ने मनुष्य मात्र को अच्छाइयों की ओर प्रेरित करने और बुराइयों से बचने का उपदेश दिया है। मदिरासेवन, अक्षक्रीड़ा, व्यभिचार आदि ऐसी बुराइयाँ हैं जिनसे मनुष्य का तत्काल सर्वनाश हो जाता है। वेद जहाँ मानव के कर्तव्यों का विधान करते हैं वहाँ वे उसे पाप कर्मों से बचने का उपदेश भी देते हैं। इसीलिये मीमांसाकार महर्षि जैमिनि ने धर्म उसे ही माना है, जिसे करने की प्रेरणा हमें वेद से मिलती हो।

ऋग्वेद के १० वें मण्डल का ३४ वाँ सूक्त अक्षसूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें परम कारुणिक परमात्मा ने एक जुवारी के मुँह से जुवे की बुराइयों का वर्णन कराया है। इस सूक्त की विद्यमानता के आधार पर कभी २ वेदार्थ के रहस्य से अनभिज्ञ जन यह आशंका कर बैठते हैं कि क्या वेद भी अक्षक्रीड़ा का विधान करता है अथवा क्या वैदिक युग में आर्य लोग जुवा खेलते थे। वस्तुतः वेद का अर्थ करते समय यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि वेद किसी कालविशेष का इतिहास प्रस्तुत नहीं करता। उसकी शिक्षा और उपदेश सदा सब कालों के लिये मानने योग्य हैं। सर्वज्ञ परमात्मा का, यह जान कर कि मनुष्य अपनी दुर्बलताओं के कारण किसी भी समय अक्षक्रीड़ा जैसे दुर्व्यसन में फँस कर अपना सर्वनाश कर सकता है, इस सूक्त के द्वारा अक्ष की निन्दा करना और उससे बचने का उपदेश देना नितान्त समीचीन है। इस सूक्त का इतिहासपरक अर्थ लगाना और वैदिक ऋषियों को जुवारी बताना केवल क्लिष्ट कल्पना मात्र है।

वेद ने जुवारी की दुर्दशा का कितना यथार्थ चित्र उपस्थित करते हुए उसके पश्चात्ताप का विवरण प्रस्तुत किया है, यह वस्तुतः मननीय है। प्रो० मैकडानल ने इस सूक्त का अनुवाद करते हुए यह टिप्पणी लिखी है—

It is the lament of a gambler who unable to resist the fascination of the dice, deplores the ruin he has brought on himself and his family.
Vedic Reader P. 186.

अर्थात् यह उस जुवारी का खेद प्रकाशन है जो जुवे के आकर्षण से अपने आपको नहीं बचा पाता और जुवे के द्वारा होने वाले अपने और अपने परिवार के सर्वनाश का वर्णन करता है।

सूक्त का प्रथम मन्त्र है—

प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति
प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो
विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान्॥

जुवारी कहता है—"ये जुवे के पासे जो विभीदक (बहेड़ा का वृक्ष) की लकड़ी से बनते हैं जब जुवे की फड़ पर उछलते हैं तो मेरे हृदय में प्रसन्नता भर जाती है, उसी प्रकार जिस प्रकार सोम रस का पान हमें आनन्दित और हर्षित करता है। जुवे के प्रलोभन और तज्जन्य आनन्द की तुलना सोमपान से की है। यहां वेदमन्त्र में 'मौजवत सोम' का उल्लेख हुआ है। पं० जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है 'मुञ्जवान् पर्वत पर उत्पन्न सोम औषधिलता'। क्या मुञ्जवान् पर्वत कोई वास्तविक पर्वत है, और यदि है तो वेद में उसका उल्लेख होने से वेद का 'अनादित्व' किस प्रकार स्थिर रह सकता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। अस्तु।

जुवारी की पत्नी उसे अक्षक्रीड़ा से विरत होने के लिए परामर्श देती है, परन्तु द्यूतमद में मतवाला वह उसके 'कान्ता सम्मित उपदेश' की अवहेलना कर जुवा खेलता है और पछताता है। इसके लिए दूसरा मंत्र देखिये—

न मा मिमेथ न जिहीळ एषा
शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षस्याहमेकपरस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधम्॥

मेरे अक्षक्रीड़ा में रत होने से पूर्व यह मेरी अनुव्रता पत्नी न तो कभी मुझसे नाराज हुई और न इसने मुझ पर कभी क्रोध ही किया। यह मेरे लिए और मेरे मित्रों के

प्रति सदा उदार रही। किन्तु मैंने अक्षक्रीड़ा के कारण ही इस आज्ञाकारिणी पत्नी को अपने से दूर कर दिया है। (Rejecting the kindly advice of my wife, I gambled and lost. prof A. A. Macdonell.)

जुवारी का पश्चात्ताप अवर्णनीय है। केवल उसकी पत्नी ही नहीं, उसके सभी परिवार वाले उससे घृणा करते हैं। उसकी दुर्दशा की तुलना उस वृद्ध घोड़े से की जा सकती है जो विक्रयार्थ है, परन्तु जिसे कोई खरीदना पसंद नहीं करता। वह कहता है—

द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न
नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्त्यस्य नाहं
विन्दामि कितवस्य भोगम्॥

मेरी सास मुझसे घृणा करती है, मेरी स्त्री भी मुझसे विरुद्ध हो चुकी है। कोई भी दया करने वाला नहीं। मुझे वृद्ध अश्व की तरह अब सुख और विश्राम कहाँ?

जुवारी की दुर्दशा यहीं समाप्त नहीं होती। उसकी पत्नी दुराचारिणी हो जाती है। अन्य लोग ही उसका आलिंगन करते हैं। यहाँ तक कि उसके पिता, माता और भाई भी उससे अपना नाता तोड़ कर यह कहने लगते हैं कि हम तो इसे जानते भी नहीं, यह कौन है, इसे बांध कर ले जाओ। यही भाव चौथे मन्त्र में व्यक्त हुआ है—

अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्यक्षः।
पिता माता भ्राता एनमाहुर्न जानीमो नयता बद्धमेतम्॥

अहा! द्यूत का आकर्षण भी कितना प्रबल है। धर्मराज कहे जाने वाले युधिष्ठिर और धर्मात्मा नल भी इससे नहीं बच सके। फिर एक साधारण व्यक्ति की तो बात ही क्या? जुवारी सोचता है कि भविष्य में वह पासे नहीं खेलेगा। द्यूतस्थान जायेगा ही नहीं। परन्तु फड़ पर फेंके जाने वाले पासों की आवाज मानो उसे आमन्त्रित करती है। वह विवश हो जाता है, अपने को रोकने में असमर्थ हो जाता है और पुनः खेलने के स्थान पर चला जाता है, जिस प्रकार व्यभिचारिणी स्त्री अपने अभिसार-स्थान पर जाती है। कितनी विवशता है। मन्त्र देखिये—

यदादीध्ये न दविषाण्येभिः
परायद्भ्योऽवहीये सखिभ्यः।
न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ
एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव॥

लालच का मारा जुवारी अक्षसभा में जाता है। परन्तु क्या आपने कभी उसके मनोविज्ञान का भी अध्ययन किया है? वेद भगवान् कहते हैं—

सभामेति कितवः पृच्छमानो
जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वितिरन्ति
कामं प्रतिदीव्ने दधत आकृतानि॥

जुवा खेलने जाते समय जुवारी अपने आप से ही पूछता है—'क्या मैं जीतूंगा?' उसका शरीर आशंका से कंपित है। परन्तु उसका दुर्भाग्य! उसकी आशा के विपरीत पासे उसके विपक्षी के अनुकूल पड़ते हैं।

ये पासे भी कितने विचित्र हैं। कई अंकुश की तरह वेदना उत्पन्न करने वाले हैं, प्रवंचनायुक्त तथा स्वयं जलकर दूसरे को भी जलाने वाले हैं। जुवारियों को प्रसन्न करने के लिये कभी जिता भी देते हैं, परन्तु तुरन्त बाद ही किसी बालक की तरह, जो कोई वस्तु देकर फौरन ले भी लेता है, उसका धन वापिस छिनवा देते हैं। जुवारी पर उनका जादू खूब चलता है। यही सातवें मन्त्र का भाव है—

अक्षास इदङ्कुशिनो नितोदिनो
निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो
मध्वा संपृक्ताः कितवस्य बर्हणा॥

द्यूतक्रीड़ा का काव्यपूर्ण वर्णन इस मंत्र में देखिये—

नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्य-
हस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अंगारा इरिणे न्युप्ताः
शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति॥

विरोधाभास का कितना सुन्दर उदाहरण है—ये पासे कभी नीचे दौड़ते हैं, कभी ऊपर उछलते हैं। बिना हाथों वाले ये पासे हाथ वाले मनुष्यों को भी परास्त कर देते हैं। ये अलौकिक अंगारे फड़ पर फेंके जाकर ठण्डे होते हुये भी हृदय को जलाते हैं।

जुवारी का सारा परिवार छिन्न-भिन्न हो जाता है। उसके द्वारा त्यागी हुई स्त्री बेचारी दुःखी होकर मारी-मारी फिरती है। माता भी अनाथा की तरह न जाने कहाँ भटकती रहती है। ऋणग्रस्त होकर, धन की इच्छा रखने वाला, भयभीत जुवारी रात्रि के समय अन्य लोगों के घर (सम्भवतः चोरी के लिये—मैकडानल) जाता है। यही बात तो यहाँ कही गई है—

जाया तप्यते कितवस्य हीना
माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमा-
नोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति ॥

क्या अन्य सुखी परिवारों को देखकर जुवारी के मन में कुछ वेदना और पश्चात्ताप नहीं होता, अवश्य ही होता होगा। तभी तो वेद भगवान् कहते हैं—

स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं ततापान्येषां
जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्
सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद ॥

जब यह जुवारी अन्य गृहपत्नियों को उनके उत्तम सुखी घरों में देखता है तो कितना दुःखी होता है। परन्तु बेचारा क्या करे, अपनी आदत से मजबूर है। दिन के पूर्व भाग में वह भूरे रंग के पासों रूपी घोड़ों पर सवारी करता है और सायंकाल तक उन पासों से प्रवञ्चित, वह अपना सर्वस्व हारकर अग्नि के समीप भिखारी की तरह पड़ जाता है।

यह है जुवारी की दुर्दशा का नग्न चित्र। परन्तु क्या वेद भगवान् ऐसे अभागे जुवारी को भी सदुपदेशों से वंचित रखते हैं, कदापि नहीं। इनका आदेश पालन वस्तुतः प्रभूत ऐश्वर्य और अक्षय सुख का देने वाला है। वे जुवारी को अक्षक्रीड़ा छोड़ कर कृषि करने का आदेश देते हैं—

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित्कृषस्व
वित्ते रमस्व बहुमन्यमानः।
तत्र गावः कितव तत्र जाया
तन्मे विचष्टे सवितायमर्यः ॥

अक्षक्रीड़ा मत करो, कृषि करो, उसे ही बहुत मानते हुये प्राप्त धन का उपभोग करो। कृषिकर्म ही तेरे गाय आदि पशुओं तथा तेरी स्त्री को आनन्द देगा—यही सर्वोत्पादक सविता देव का आदेश है। यह है वैदिक अक्षसूक्त का रहस्य, जिसे समझ कर और हृदयंगम करके मनुष्य द्यूतक्रीड़ा रूपी पाप से बच सकता है ॥

महर्षि दयानन्द जी तथा आर्यसमाज को समझने में पौराणिकों का भ्रम

[*लें०—श्री पं० शिवपूजन सिंह जी, पथिक, बी०ए०, विद्यावाचस्पति, साहित्यालंकार, कानपुर*]

[गताङ्क से आगे]

श्रीजियालाल जैनी ने "दयानन्द छल कपट दर्पण" में स्वामी दयानन्द का नाम शिवभजन, पिता का नाम भजनहरि, जाति कापड़ी और मोरवी राज्य के रामपुरा गांव का रहने वाला लिखा है।

किन्तु श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई के आग्रह करने पर मालिया के पुलिस आफिसर ने अपनी "तहकीकात की रिपोर्ट" मई सन् १० में लिखा है:—"ते ग्राम केवल २५–३० घरनुं छे। अने त्यानां वृद्धो तथा एकवे साधुओं पण कहे छे ते गाम मां कापड़ी नी बस्ती हाल न थी ते मजछेल्लां पहेलां पण कोई कापड़ी नुं घरज न होतुं।"

अर्थात्:—वह गांव केवल २५–३० घर का है। वहां के वृद्ध तथा एक दो साधु भी कहते हैं कि इस गांव में न तो हाल ही में किसी कापड़ी की बस्ती है और न बहुत पहले भी कभी किसी कापड़ी का घर इसमें था। नष्टे मूले शाखा पत्रम्[६]।"

वर्णसंकर जियालाल जैनी के मत का खंडन पं० बालकृष्ण शर्मा तथा पं० रघुनन्दन शर्मा साहित्यभूषण[७] ने किया है।

अतः 'आर्य समाज के द्वारा खंडन न किया जाना' आप का लिखना नितान्त असत्य है और जानबूझ कर

६ देखो पं० बालकृष्णजी शर्मा रचित "मार्तण्डप्रकाश"।
७ "कान्यकुब्जों का इतिहास" प्रथम संस्करण पृष्ठ ११२ की पादटिप्पणी।

आपने महर्षि दयानन्द जी को बदनाम करने के लिए कापड़ी लिखा है।

मासिक पत्रिका "गंगा" के भूतपूर्व सम्पादक ऋग्वेद के हिन्दी भाषान्तरकार पं० रामगोविन्द त्रिवेदी वदान्त-शास्त्री ने लिखा है कि...आधुनिक युग में सर्वाधिक वेद-प्रचार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने किया है। स्वामीजी वेद-विद्या के अनन्य भक्त और विद्वान् थे। उनके वेदज्ञान के कुछ विदेशा भी कायल थे।

स्वामीजी का जन्म संवत् १८८१ में (कदाचित् आश्विन कृष्णा सप्तमी) हुआ था। उनका नाम मूलजी वा मूलशंकर था। वे सामवेदी औदीच्य ब्राह्मण थे, ।...स्वामी जी संवत् १९४० की दीपावली के दिन स्वर्गवासी हो गए[८]।

श्रीनगेन्द्रवसु प्राच्यविद्यामहार्णव, सिद्धान्तवारिधि, एम. आर. ए. एस. लिखते हैं।

"आर्यसमाज के संस्थापक श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म विक्रमा संवत् १८२४ को गुजरात देश के मोरवी राज्य के औदीच्य ब्राह्मणकुल में हुआ था[९]। पुनः लिखते हैं—दीपावली को ईश्वरोपासना करते करते हमसे सदा को विदा हुए[१०]।"

त्रिवेदी जी और वसु जी दोनों ही आर्यसमाजी नहीं हैं। फिर भी दोनों विद्वानों ने स्वामी जी को औदीच्य ब्राह्मण लिखा है और दीपावली को मृत्यु लिखा है। आपका नरकचतुर्दशी लिखना भूल है। स्वामी रामतीर्थजी की मृत्यु भी चतुर्दशी को हुई थी तो क्या वे नरक में चले गए?

श्रीमती एनी बीसेण्ट, श्री एस० ई० स्टोक्स, श्री पाल रिचार्ड. श्री फौक्स पिट्, सर एडवर्ड डगलस मेक्लेमन, श्री जे० एस० आरण्डेल, रेवरेण्ड टी० डी० सले, श्री सी० एफ० एण्ड्रयूज, श्री टी० एफ० ओडोनल, श्री एस० एल० मिकाएल, श्री एण्ड्री जेक्सन डेविस, श्री ए० ओ० ह्यूम, श्रीरेमजे मेकडानल्ड, प्रो० मैक्समूलर, श्री एर्डरिक फ्रौ० थोम प्रभृति पाश्चात्य विद्वानों ने महर्षि दयानन्दजी की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है और उनकी विद्वता का लोहा मानते हैं[११]।

आपने महर्षि दयानन्दजी को तो कापड़ी लिखा पर कभी अपने सनातनधर्मी आचार्य, सम्प्रदायप्रवर्तकों की जाति की ओर भी ध्यान दिया?

वैष्णव सम्प्रदाय के मूलप्रवर्तक शठकोपजी अस्पृश्य जाति के थे[१२]।

श्री रंगाचार्य एम. ए. लेक्चरार इन हिस्ट्री गवर्नमेण्ट कालेज पालघाट (दक्षिण भारत) लिखते हैं:—"The Alvars included a Saint of depressed classes, the famous Tirupanna, Alvar and of the others Namanalvar, who was also Known as Parankusar and Satakopar and who is regarded as the greatest of the order, was a Vellala.[१३]

अर्थात् अलवारों में अछूत जाति के सन्त सम्मिलित थे। प्रसिद्ध तिरूपन, अलवार और दूसरे नमनलवार जो परानकुशर और शठकोप के नाम से जाने जाते हैं। और उस संप्रदाय का सब से महान् व्यक्ति था वह एक बलाल था।

अभी श्री स्वामी हरिहरानन्दजी सरस्वती (करपात्रीजी महाराज) ने "वेद का स्वरूप और प्रामाण्य" नामक पुस्तक दो भागों में लिखी है। इसमें आपने आर्य-समाज के सिद्धान्तों की तीव्र आलोचना की है। इसके द्वितीय भाग पृष्ठ ४२९ में आप महर्षि दयानन्द जी के पवित्र जीवन पर प्रहार करते हुए लिखते हैं कि:—"इसी लिए तो कई समाजियों ने श्रीस्वामी दयानन्द के विषय में भी कहा है कि स्वामीजी ने भाँग पीकर अमुक-अमुक अंश लिख दिया था।"

---

८ "वैदिक साहित्य" प्रथम संस्करण पृष्ठ ३९८।

९ "हिन्दी विश्वकोष" २५-२७ खंड, प्रथम संस्करण पृष्ठ ६८३-६८४।

१० वही पृष्ठ ६८४।

११ "दिव्य दयानन्द" गिरीश औषधालय, माईथान आगरा द्वारा प्रकाशित।

१२ श्रीनिवासाचार्यकृत "दिव्यसूरिचरित" चतुर्थ सर्ग, सनातनधर्म मार्तण्ड, पृष्ठ १८७। "भारत का धार्मिक इतिहास" द्वितीय संस्करण पृष्ठ ३३२। पौराणिक पं० गंगाप्रसाद शास्त्री कृत "अछूतोद्धार निर्णय" पृष्ठ ७७-७८।

१३ "The cultural heritage of India" pp. 73

क्या इस प्रकार ऊटपटांग बातें लिखकर वैदिक सिद्धान्त का खंडन किया जा सकता है। दो-चार उन आर्य समाजियों का नाम लिखना उचित था, जिन्होंने उपर्युक्त बातें महर्षि दयानन्द जी के लिए लिखी हैं। नाम नहीं लिखने से स्पष्ट आपकी कपोलकल्पना ज्ञात होती है।

आप तो श्री शांकर मत के अनुयायी हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थों में क्या अंश लिखा है, इसके भी दो एक उदाहरण देखिए:—

छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक २ खंड १३ में आता है कि:—"स य एवमेतद्वामेदव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनीभवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेवि ज्योग् जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या न कांचन परिहरेत् तद्व्रतम् ।"

इसका भाष्य करते हुए श्रीमच्छंकराचार्य जी लिखते हैं:—"न कांचन काश्चिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्पप्राप्तां न परिहरेत्समागमार्थिनीम् ।"

अर्थात्—समागम चाहनेवाली जो अपनी शय्या पर आवे तो ऐसी किसी भी स्त्री को न छोड़े।[१४]

क्या यही वैदिक सभ्यता है? श्रीशंकराचार्य जी का भाष्य कितना अश्लील, व्यभिचारी बनाने वाला है! क्या उन्होंने यह भाष्य भंग की तरंग में लिखा था?

"बृहदारण्यकोपनिषद् ६।४।१८ में आता है कि:—

"अथ य इच्छेत् पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति मांसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्त मश्नीयातामीश्वरौ जनयितवा औक्षेण वार्षभेण वा।।"

इसका भाष्य करते हुए श्री शंकराचार्यजी महाराज लिखते हैं कि:—"विविधं गीतो विगीतः प्रख्यात इत्यर्थः। समितिंगमः सभां गच्छतीति प्रगल्भ इत्यर्थः। पाण्डित्यस्य पृथग् ग्रहणात् शुश्रूषितां श्रोतुमिष्टां रमणीयां वाचं भाषिता। संस्कृताया अर्थवत्या वाचो भाषितेत्यर्थः। मांसमिश्रमोदनं मांसोदनम्। तन्मांसनियमार्थमाह औक्षेण वा मांसेन। उक्षा सेचनसमर्थः पुङ्गवस्तदीयं मांसम्। ऋषभस्ततोऽप्यधिकवयास्तदीयमार्षभं मांसम्"[१५]।

अर्थात्—जो पुरुष चाहे कि मेरा पुत्र पंडित, प्रख्यात, प्रगल्भ (चतुर), सुन्दर अर्थवाली वाणी का बोलने वाला, चारों वेदों का वक्ता, सम्पूर्ण आयु के भोगने वाला होवे, वह पुरुष जवान अथवा उससे कुछ अधिक उम्र वाले बैल का मांस चावलों के साथ पका कर उसमें घृत डाल के अपनी स्त्री सहित (अर्थात् दोनों ही स्त्री पुरुष) खावे।

क्या यही वैदिक संस्कृति है? यवन, ईसाइयों के सिद्धान्त और श्रीशंकर के इस सिद्धान्त में क्या अन्तर है? क्या उन्हों ने यह भाष्य भंग की तरंग में लिखा था?

इसका अर्थ तो पं० दीनानाथ शास्त्रीने अपने ग्रन्थ[१६] में ठीक आर्यसमाजी विद्वानों जैसा करके श्री शंकराचार्य-के भाष्य पर हड़ताल कर दिया है।

श्री स्वामी करपात्री जी तथा पं० दीनानाथ शर्मा शास्त्री दोनों ही आद्य श्रीशंकराचार्य के वर्ण के विषय में देखें।

श्री सी. एन. कृष्णस्वामी अय्यर एम. ए. एल. टी. सहायक नेटिव कालेज कायम्बटूर ने" **Life and time of Shankar**" नामक एक पुस्तक लिखी है। पुस्तक के पृष्ठ १२ में श्री आनन्द गिरि कृत "शंकर विजय" के आधार पर आप लिखते हैं:—"**We are told that there was a pious Brahmin living with his wife at this place (Chidambaram) and that at one time the husband retired to a neighbouring forest after renouncing the world; that the wife continued for a long time to serve the lord of Chidambaram, and that as reward of her devotion the lord was pleased to make her conceive in some mysterious and miraculous manner. And the child thus born to her was Shankar.**[१७]

अर्थात्—"हमलोगों से कहा जाता है कि इस स्थान पर (चिदंबरम् में) एक धर्मनिष्ठ ब्राह्मण अपनी स्त्री के

---

१४. "वैदिक सम्पत्ति" द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५०४।
१५. संवत् १९९९ वि. में गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित, पृष्ठ १३५२.
१६. "श्रीसनातनधर्मालोक" छठा सुमन, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ३२० से ३३० तक.
१७. "श्री र. का. शास्त्री" मानस मीमांसा, प्रथम संस्करण, पृष्ठ १८, १९.

साथ रहते थे। काल पाकर वे संसार से विरक्त हुए और एक निकटवर्ती वन में चले गए। उनकी स्त्री बहुत काल तक चिदंवरम् के अधिष्ठाता देवता की सेवा करती रही। देवता ने उसकी भक्ति के पुरस्कार स्वरूप उसे किसी गुप्त तथा करामाती उपाय से गर्भवती वना दिया और इस प्रकार जो बच्चा हुआ वही शंकर हुआ।"[१८]

पुनः उसी पृष्ठ में पंडित नारायणाचार्य कृत "मणि मंजरी" के आधार पर लिखा है:—"**The writer of Manimanjari states that a Brahmin widow of Kaladi went astray from the ascetic life imposed upon her and begot a male child, and this child was Shankar. This plain statement, however, is based upon a tradition still current in some parts of Malabar, that a young widow of Kaladi once went to the temple of Siva along with girls of her own age and that as some among them prayed for children, she also did so and the lord granted her request, and that she bore Shankar in consequence**" [१९]

अर्थात्—मणिमंजरी का लेखक कहता है कि कालडी की एक विधवा ब्राह्मणी तापस जीवन से जो उसके लिए विहित था, च्युत हो गई और उसने एक पुत्र उत्पन्न किया। यही लड़का शंकर था। इस सीधे सादे कथन का आधार परम्परागत वह लोककथा है जो मालावार के कुछ भागों में अब तक प्रचलित है। वह लोककथा यह है कि कालड़ी की एक अल्पवयस्क विधवा अपनी ही उम्र की अन्य लड़कियों के साथ एक बार शिव के मन्दिर में गई और चूँकि उन लड़कियों में से कुछ ने बच्चों के लिए प्रार्थना की, उसने भी वैसा ही किया और प्रभु ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की। परिणामस्वरूप उसने शंकर को उत्पन्न किया" †

पं० बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य भी लिखते हैं:—मणिमंजरी के अनुसार शंकर एक दरिद्र ब्राह्मणी विधवा के पुत्र थे।

उपाध्यायजी के कथन से श्री अय्यर के लेख की पुष्टि होती है।

श्री शंकराचार्य की माता का क्या नाम था, आज तक पौराणिकों ने निर्णय नहीं किया है। उपाध्यायजी श्री शंकराचार्यजी की माता के विषय में लिखते हैं कि:..."इस कन्या का नाम भिन्न भिन्न बतलाया जाता है। माधव ने इनका नाम सती + और आनन्दगिरि ने 'विशिष्टा' × बतलाया है[२१]।

वेद व्यासजी ने श्रीशंकराचार्य को पूर्वजन्म का असुर लिखा है...

---

१८. ब्राह्मण देवता तो संसार से विरक्त होकर वन में चले गए थे। उनके संसारत्याग के बाद उनकी धर्मपत्नी बिना किसी पुरुष के संसर्ग के ही गर्भवती कैसे हो गई, यह समझ में नहीं आता। पाठकगण, Mysterious तथा Miraculous शब्दों से अपना जो भाव चाहें निकाल लें।

१९. मानस मीमांसा प्रथम संस्करण पृष्ठ १९–२०.

† महात्मा यीशु मसीह की उत्पत्ति के समान इनकी उत्पत्ति है—लेखक।

२०. श्रीशंकराचार्य (श्रीशंकराचार्य के जीवनचरित तथा उपदेशों का प्रामाणिक विवरण) प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३.

\+ माधव दिग्विजय सर्ग २। ५.

× सा कुमारी सदाध्यानसक्ताभूत् ज्ञानतत्परा।
विशिष्टेति च नाम्ना तु प्रसिद्धाभूद् महीतले॥ आनन्द गिरि पृष्ठ ८.

२१. "श्रीशङ्कराचार्य" प्रथम संस्करण पृष्ठ ४३.

मणिमत्पूर्वका दुष्टा दैत्या आसन्कलौ युगे ।
तेषां मध्ये शंकरस्तु पूर्वं यो मणिमान्खलः ॥
स्कन्द पुराण, उत्तर खंड[२२] ।

श्री करपात्रीजी ने महर्षि दयानन्दजी के लिए भंग पीना लिखा है, पर प्रमाण कोई नहीं दिया । पर कई पौराणिक तथा अन्यान्य लेखकों ने श्री शंकराचार्य को "प्रच्छन्न बौद्ध" लिखा है ।

'सांख्य सूत्र' के प्रसिद्ध वृत्तिकार पं० विज्ञानभिक्षु ने पद्म पुराण का प्रमाण देकर लिखा है ।

"माया वादमसच्छास्त्रं प्रछन्नं बौद्धमेव च ।
मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मणरूपिणा ॥"

अर्थात्—(शिव पार्वतीजी से कहते है)—मायावाद असत् शास्त्र है और छिपा हुआ बौद्ध मत है । उसको मैंने ही ब्राह्मण (शंकराचार्य) रूप धारण कर कलियुग में वर्णन किया है ।

श्री पं० देवराजजी लिखते हैं:—विज्ञानभिक्षु जैसे विद्वान् भी शंकराचार्य को "प्रच्छन्न बौद्ध (छिपा हुआ शून्यवादी) कहने से नहीं चूके । शंकर का मायावाद हमारे प्रबलतम नैतिक प्रयत्नों और गूढ़तम भक्ति भावनाओं को मदारी के खेल जैसा झूठा करार दे देता है[२३] ।

डा० भगवानदास जी एम. ए. लिखते हैं:—"शास्त्र के विषय में तो शंकर के अनुयायी प्रच्छन्न बौद्ध ही कहलाए । मायावादम् असत् शास्त्रं प्रच्छन्न बौद्धमेव च[२४]।

श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य एम. ए. एल. एल. बी. लिखते हैं:—शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहते हैं । कदाचित् उनके मायावाद और बौद्धों के विज्ञानवाद में साम्य होने के कारण ही लोग ऐसा कहते हैं[२५] ।"

पं० विश्वनाथ शास्त्री वेद व्याकरणतीर्थ लिखते हैं:—"शंकर या उनके सम्प्रदाय का तात्त्विक मतभेद बौद्धधर्म से कहीं भी नहीं है । यहाँ तक कि शंकराचार्य प्राचीनतम मूलभूत बौद्ध धर्म के ही उद्धारक प्रतीत होते हैं, उन्हें इस कारण "प्रच्छन्न बौद्ध" अर्थात् छिपा हुआ बौद्ध माना जाता है[२६] ।"

पं० रुद्रदेव जी शास्त्री, वेदाचार्य, वेदालंकार, वेद-शिरोमणि, दर्शनालंकार अपने "चैतन्य मीमांसा" शीर्षक लेख[२७] में लिखते हैं:—"शंकराचार्य (७८८–८२० ई०) के शारीरिक भाष्य में महायान सम्प्रदाय के बौद्धों के दर्शनों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है । महायान सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की विवेचना माध्यमिक और योगाचार के दर्शनों में की गई है । शांकर दर्शन के सिद्धान्तों के लिए एक सुप्रसिद्ध शब्द है–मायावाद । शंकर की "माया" या मा–जो न हो होवे अर्थात् होती हुई भी न होवे सदसद् विलक्षणं, नागार्जुन का 'मध्यमक' शून्य है । शंकर के अनुयायियों के एक वाद का नाम है दृष्टिसृष्टिवाद । दृष्टि-सृष्टिवाद में प्रधान अन्तर यही है कि वेदान्त पक्ष में "ब्रह्म" की सत्ता पारमार्थिकी वस्तुतः है और बौद्ध पक्ष में ब्रह्म की भी पारमार्थिकी सत्ता नहीं है । स्वाभाववाद से इसकी आवश्यकता भी नहीं है । इसीलिए मायावाद को 'प्रच्छन्न बौद्धवाद' भी कहा जाता है ।"

श्रीनारायण पंडिताचार्य ने "मध्व विजय" में श्रीशंकराचार्य को "शठश्चतुर्थाश्रममेष भेजे" "महातस्करसेन-

२२. वैदिक सम्पत्ति द्वितीय संस्करण पृष्ठ ५१० की पादटिप्पणी, तुलना करो मासिक पत्र वेदप्रकाश मेरठ वर्ष ८, मास १० सन् १९०४ ई० पृष्ठ १९८,
पं० बलदेव उपाध्याय एम. ए. साहित्याचार्य कृत "श्रीशंकराचार्य" प्रथम संस्करण पृष्ठ २७१ की पाद-टिप्पणी, पं० माधवाचार्य शास्त्री कृत "पुराण दिग्दर्शन" द्वितीय संस्करण पृष्ठ १३३, पं० कालूराम शास्त्री कृत "पुराण मर्म" पूर्वार्द्ध, द्वितीय संस्करण पृष्ठ ५.

२३. भारतीय दर्शन शास्त्र का इतिहास पृष्ठ ३८३.

२४. शास्त्रवाद बनाम बुद्धिवाद पृष्ठ ३२ [जून १९४४ ई० में सस्ता साहित्य मंडल दिल्ली द्वारा प्रकाशित]

२५. हिन्दू भारत का उत्कर्ष "पृष्ठ २९४ [वैद्यजी की अंग्रेजी पुस्तक" हिस्ट्री आफ मेडिव्वल हिन्दू इंडिया" डा० भगवान् दास जी एम. ए. द्वारा अनुवादित, संवत् १९८६ वि. ज्ञान मंडल यन्त्रालय वाराणसी में मुद्रित.]

२६. "भगवान् बुद्धावतार" पृष्ठ ३६. [जनवरी १९४२ ई० में अखिल भारतीय हिन्दू धर्म सेवा संघ १०२ मुक्ताराम बाबू स्ट्रीट कलकत्ता से प्रकाशित.]

२७. मासिक पत्रिका "गंगा" सुल्तान गंज, प्रवाह ४ मई सन् १९३४ ई० तरंग ५ पृष्ठ ५८३.

माहुः" प्रभृति श्लोकों में शठ और महातस्कर कहा है।

यहाँ श्री शंकराचार्य को शंकररूप कहनेवाले और उन्हें ही प्रच्छन्न बौद्ध, शठ, महातस्कर तक कहने वाले पौराणिक ही हैं।

श्रीनारायण पण्डिताचार्य जी पुनः लिखते हैं:—

सान्नाय्यमव्यत्ता हृद् आखुभुग्वा
श्वा वा पुरोडाशमसारकामः।
मणिस्रजं वा प्लवगो व्यवस्थो
जग्राह वेदादिकमेष पापः॥

इस श्लोक में श्रीशंकर को चूहा खानेवाला (बिलाव) कुत्ता, बन्दर, और पापी आदि बड़े मधुर (!) शब्दों से स्मरण किया है।

श्रीकरपात्री जी ने महर्षि दयानन्द जी के ऊपर भंग पीने का दोषारोपण आर्यसमाजियों के द्वारा किया है, पर प्रमाण नहीं दिया है। और मैंने उनके आचार्य श्रीशकराचार्य के वर्ण, प्रच्छन्नबौद्ध, चूहा खाने वाला, कुत्ता, बन्दर, पापी उनके पौराणिक लेखकों द्वारा प्रदर्शित कर दिया है।

श्रीदीनानाथ शर्मा शास्त्री केवल छिद्रान्वेषण करना जानते हैं। एक शुद्ध औदीच्य ब्राह्मण कुलोत्पन्न महात्मा को कापड़ी लिखते हैं। अपने को सारस्वत लिखकर अत्यन्त कुलीन बनते हैं। क्या कापड़ी से सारस्वत ब्राह्मण श्रेष्ठ होते हैं? आप सारस्वत की उत्पत्ति भी सनातनधर्मी पण्डित के द्वारा सुन लें:—

दयानन्द तिमिर भास्कर के कुख्यात लेखक, विद्यावारिधि पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र मुरादाबादी "सारस्वत ब्राह्मणों की उत्पत्ति" के विषय में लिखते हैं:—"श्री हर्षचरित के आरम्भ में लिखा है कि ब्रह्मलोक में एक समय दुर्वासा के मुख से कोई शब्द अशुद्ध निकल गया, उस पर सरस्वती हँसी। तब दुर्वासा ने शाप दिया कि तुम मर्त्यलोक में मानुषी हो, तब सरस्वती मानुषी होकर दधीच से विवाही गई। उसकी सन्तान सारस्वत ब्राह्मण के नाम से विख्यात हुई। स्कन्द उपपुराण के हिंगुलाद्रि खंड की उत्तर संहिता में लिखा है कि सिन्धु देश में हिंगुल तीर्थ के समीप दधीच ऋषि का आश्रम था। वहाँ सिन्धु नदी और सागर का संगम है तथा अनेक तीर्थ हैं। एक समय पृथिवी तल में वर्षा नहीं हुई। तब देवताओं ने भूलोक में आकर सरस्वती नदी के समीप सारस्वत तीर्थ में यज्ञानुष्ठान किया और एक कलश में सौत्रामणि अमृत रक्खा और सरस्वती देवी की स्तुति की। उस समय सरस्वती ने प्रत्यक्ष रूप से दर्शन दे, वर माँगने को कहा। तब देवता बोले—'भिषजो हंसगा-गर्भात्पुत्रो भवति निश्चितम्।' कि अश्विनी कुमार के वीर्य से तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हों तो उसके द्वारा वर्षा होगी। तब सरस्वती ने लज्जित हो कहा यदि अपना भाग और यह ब्रह्मा जी अश्विनी कुमार को दें तो ऐसा हो सकता है। यह स्वीकार होने पर अश्विनी कुमार ने प्रसन्न हो देवी से रमण किया और सरस्वती के गर्भ रहा, परन्तु छठे महीने वह गर्भस्राव हो गया जिससे देवताओं को बड़ी चिन्ता हुई। ब्रह्माजी ने अपने हाथ में वह गर्भ ले सौत्रामणि कलश में धरा और सरस्वती को दिया सरस्वती ने जल में जाकर उस गर्भ के दो रूप देखे। तब देवी ने सोचा कि इसमें से एक देवताओं को दूंगी और एक मैं रक्खूँगी। सौ वर्ष में वह गर्भ पुष्ट हुआ और देवी ने जो तटस्थ दृष्टि से पुत्र को देखा तो वह लाल रंग हो गया, वेद मे यही लोहितेन्द्र नाम से विख्यात है, देवता वृष्टि के निमित्त इनको स्वर्ग में ले गए।

'मन्नाम्नाप्यपरः पुत्रः सारस्वतो दधीचकः'

तब देवी ने कहा यह दूसरा पुत्र मेरे नाम से सारस्वत दधीच कहावेगा[२८]।"

'नियोग' पर आक्षेप करनेवाले श्रीदीनानाथ जी शास्त्री बतलावें कि दधीच के जीवित रहते ही अश्विनी कुमार ने उनकी स्त्री सरस्वती से नियोग किया या नहीं? और आप नियोगज सन्तान हैं या नहीं? गर्भस्राव होने पर कलश में रखकर सौ वर्ष में पुष्ट करना भी सृष्टिक्रम के विरुद्ध है। सारस्वतों की उत्पत्ति भी विचित्र है।

इन पौराणिकों ने वेदव्यास के नाम से ऋषियों पर कलंक लगाया है। यथा असुरों का ब्रह्मा से बलात्कार,[२९] बृन्दा विष्णु समागम[३०], कृष्ण कुब्जा समागम[३१], दारुक वन में दिगम्बर शिवजी का ऋषि-पत्नियों के सतीत्व का भंग करना[३२], शिवजी का महानन्दा वेश्या से समागम[३३],

२८. जाति भास्कर पृष्ठ ४५–४६ संवत् १९९५ वि. बम्बई संस्करण।
२९. श्रीमद्भागवत ३। २०। २३–३७.
३०. देवी भागवत ९। २३। ११
३१. श्रीमद्भागवत १०। ४८। १। ११.
३२. शिवपुराण धर्मसंहिता अध्याय १०.
३३. शिवपुराण शतरुद्र संहिता २६.

ब्रह्मा, विष्णु, महेश त्रिदेवों का सती अनुसूया का शील भंग करना[३४], ब्रह्मा का अपनी लड़की, विष्णु का अपनी माता, शिव का अपनी भगिनी को भार्या बनाना[३५], इन्द्र अहल्या समागम[३६], बृहस्पति ऋषि का अपने अग्रज उतथ्य की पत्नी ममता से बलात्कार[३७], बृहस्पति ऋषि की पत्नी तारा से चन्द्रमा का बलात्कार[३८], योगिराज कृष्ण का अर्जुन में गर्भाधान[३९]।

श्रीमाधवाचार्य शास्त्री ने उपर्युक्त कलंकों को "पुराण दिग्दर्शन" में वेदों से सिद्ध करने का कुप्रयास किया है।

श्रीदीनानाथ शास्त्री ने भविष्यपुराण ब्रा० अ० ४२ में "शुक्याः शुकः कणादाख्यः" का समाधान करते हुए ऋषियों पर पशु, पक्षियों से संभोग करने का जघन्य पाप लगाया है:—

यह भी जानना चाहिए कि पशु पक्षी आदि योनियों में पुराण ने जो पुत्र दिखलाये हैं वहां यह भी बताया गया है कि अमोघवीर्य ऋषियों ने ही उनमें पुत्र पैदा किए।

ब्राह्मणों ने ही यदि उससे भी बढ़कर पशु पक्षी स्त्रियों में भी पुत्र पैदा किए, तब बीज की प्रधानता से वे भी ब्राह्मण हुए इसमें भी सनातनधर्म के सिद्धान्त की पुष्टि है।[४०]

पाठकवृन्द विचार करें कि जब इन पौराणिकों ने अपने ऋषि मुनियों पर कलंक लगाया, पशु पक्षियों से मैथुन कर के सन्तानोत्पत्ति करना बतलाया जो सृष्टि क्रम के विरुद्ध है तो भला वे अपने स्वभाव के कारण महर्षि दयानन्द जी पर कलंक क्यों न लगावें।

शास्त्री जी का "सनातनधर्म का विश्वकोष" अश्लील कामशास्त्र की मंजूषा है। क्या पशु पक्षियों से मैथुन करना ही सनातनधर्म है ? यह है शास्त्रीजी का रिसर्च।

महर्षि दयानन्द जी रूपी सूर्य पर थूक फेंकने वालों के ऊपर ही थूक आकर गिरेगा।

अन्त में श्री. जे. एन. फारुकहर की महर्षि दयानन्द जी के प्रति सम्मति के साथ इस लेख को समाप्त करते हैं:—

He published a number of books and went from town to town, delivering lectures in Sanskrit on the right interpretation of the Vedas and the teaching which he believed they gave. This method was more successful.[४१]

अर्थात्—"उन्हों (दयानन्दजी) ने अनेक पुस्तकें प्रकाशित कीं और नगर-नगर में जाकर संस्कृत में व्याख्यान दिए और अपने विश्वास के अनुसार वेदों की युक्तिसंगत व्याख्या की। यह प्रणाली अधिक सफल थी।"

इन पौराणिक पंडितों से पाश्चात्य विद्वान् अच्छे हैं जो महर्षि दयानन्द जी की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा करते हैं, पर ये तो महर्षि के प्रति कृतघ्नता प्रकट करते हैं।

३४. भविष्य पुराण प्रति सर्ग खंड ४ अ० १७.
३५. वही प्रति सर्ग खंड ४ अ० १८. श्लोक २६.
३६. ब्रह्मवैवर्त्त पुराण कृ० ज० खंड ६१। ४४–४६.
३७. श्रीमद्भागवत ९। २०.
३८. वही स्क० ९ अ० १४.
३९. पद्मपुराण, पाताल० अ० ७४ श्लोक १८८ से १९० तक।
४०. श्री सनातनधर्मालोक "चतुर्थ सुमन" प्रथम संस्करण पृष्ठ ३०५–३०६.
४१. Modern religious movements in India PP. 108.
तुलना करो—"भारतीय ईश्वरवाद" प्रथम संस्करण पृष्ठ १६६.

विविध समाचार

अमेरिका भारत को १७० लाख टन अन्न देगा

भारत-अमेरिकी समझौते के अनुसार आगामी चार वर्षों में अमेरिका भारत को एक करोड़ सत्तर लाख टन खाद्यान्न देगा, जिसमें १ करोड़ ६० लाख टन गेहूँ तथा १० लाख टन चावल होगा। खाद्यान्न के मूल्य का भुगतान डालर में न होकर रुपयों में किया जायेगा। यह रुपया भारत के विकास कार्यों में व्यय किया जायेगा।

एक वर्ष की राष्ट्रीय सेवा अनिवार्य

भारत सरकार ने एक योजना तैयार की है जिसके अनुसार माध्यमिक शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् छात्रों के लिये एक वर्ष की राष्ट्रीय सेवा अनिवार्य होगी।

हिन्दी सन् ६५ तक राजभाषा

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने राजकीय भाषा सम्बन्धी संसद् समिति की सिफारिशों को स्वीकार करते हुए एक अध्यादेश जारी किया है। तदनुसार सन् १९६५ तक हिन्दी केन्द्र की मुख्य राजभाषा होगी तथा अंग्रेजी का प्रयोग सहायक राजभाषा के रूप में जारी रहेगा।

विहार राज्य में गोवध दण्डनीय अपराध

विहार राज्य की सरकारी विज्ञप्ति में घोषणा की गई है कि विहार राज्य में गौओं, बछिया या तीन साल से कम उम्र के बछड़ों का वध दण्डनीय अपराध होगा। अपराधी ६ मास के कारावास या एक हजार रुपये तक जुर्माना अथवा उभय दण्ड का भागी होगा।

अङ्कलेश्वर में तेल का विशाल भण्डार

तेल और खानों के राज्य-मन्त्री श्री केशव देव मालवीय ने एक प्रैस सम्मेलन में बताया कि खम्भात नगर से लगभग एक सौ मील दक्षिण एक नये तैल-क्षेत्र का पता लगा, जब कि भड़ौंच जिले के अङ्कलेश्वर नामक स्थान पर अनुसन्धानार्थ प्रथम कूप खोदा गया। यह तैल-क्षेत्र अब तक प्राप्त सभी सरकारी तैल-क्षेत्रों से बड़ा बताया जाता है।

रूस ने अमेरिकी विमान गिराया

रूसी प्रधान-मन्त्री ने रूसी संसद् में घोषणा की कि अमेरिका के एक जासूसी विमान को मार गिराया गया है। यह विमान रूस के महत्त्वपूर्ण रहस्यों का पता लगाने के लिए पेशावर के हवाई अड्डे से उड़ा तथा रूस की सीमा के अन्दर घुस कर सामरिक महत्त्व की सामग्रियों एवं स्थलों के चित्र लेने में व्यस्त था। रूसी सेना के राकेट ने जब विमान का भेदन किया, तो चालक हवाई छाते के द्वारा विमान से कूद गया तथा गिरफ्तार हो गया।

शिखर सम्मेलन भंग

चिर प्रतीक्षित चार बड़ों का शिखर सम्मेलन पैरिस में १६ मई को कटुतापूर्ण वातावरण में आरम्भ हुआ। किसी प्रकार के प्रारम्भिक शिष्टाचार के पूर्ण किये विना ही रूसी प्रधान मन्त्री ने अपना 'जासूसी विमान' विषयक रोषपूर्ण भाषण आरम्भ कर दिया और मांग की कि अमेरिका को आक्रामक घोषित किया जाय। ब्रिटेन तथा फ्रांस के नायकों के बहुत यत्न करने पर भी कोई मार्ग वार्ता के लिये न निकलने पर तत्कालीन अध्यक्ष श्री देगाल ने सम्मेलन को स्थगित कर दिया। अगले दिन भी कोई मार्ग न निकलने से तीनों पश्चिमी राष्ट्रों ने सम्मेलन के भंग होने की घोषणा कर दी।

राष्ट्रपति की रूस यात्रा जून में

भारत के राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने रूस की सद्भावना-यात्रा के लिये सर्वोच्च सोवियट प्रेसिडियम का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया है। राष्ट्रपति २० जून को मास्को पहुँचेंगे तथा एक सप्ताह सोवियट यूनियन का दौरा करेंगे।

वाल्मीकिरामायण का भाषानुवाद

[अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक तथा परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी, झरिया]

(गत अङ्क से आगे)

न नूनं मयि कैकेयि किंचिदाशंससे गुणम् । यद्राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती ॥२४॥
यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम् । ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद्वनम् ॥२५॥
भरतः पालयेद्राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा । तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥२६॥
स रामस्य वचः श्रुत्वा भृशं दुःखहतः पिता । शोकादशक्नुवन् वक्तुं प्ररुरोद महास्वनम् ॥२७॥
वन्दित्वा चरणौ रामो विसंज्ञस्य पितुस्तथा । कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात महाद्युतिः ॥२८॥
स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम् । निष्क्रम्यान्तःपुरात्तस्मात्स्वं ददर्श सुहृज्जनम् ॥२९॥
तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनुजगाम ह । लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥३०॥
आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम् । शनैर्जगाम सापेक्षो दृष्टिं तत्राविचालयन् ॥३१॥
न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति । लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः ॥३२॥
न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुंधराम् । सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया ॥३३॥
प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलंकृते । विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान् ॥३४॥
धारयन् मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च । प्रविवेशात्मवान् वेश्म मातुरप्रियशंसिवान् ॥३५॥

हे कैकेयि ! मेरी [पिता जी की अपेक्षा] अधिक पूज्य होते हुए आपने जो महाराज से [मेरे वनगमन के विषय में] कहा, [इससे प्रतीत होता है कि] आप मेरे अन्दर किसी [विशेष] गुण (=माता पिता की आज्ञा पालन) को नहीं जानतीं [क्योंकि मेरे लिये तो आप का आदेश पिताजी के आदेश से भी बढ़कर था] ॥ २४ ॥ पहले मैं माता जी (कौसल्या) की आज्ञा ले लूँ और सीता को समझा दूँ, उसके पश्चात् दण्डकों[1] के महावन को आज ही चला जाऊँगा ॥ २५ ॥ आप ऐसा [यत्न] करें जिससे भरत राज्य का पालन करें तथा पिता जी की सेवा करते रहें। क्योंकि यही शाश्वत धर्म है।" ॥ २६ ॥ अत्यधिक दुःख से आहत वे पिता (=दशरथ) राम के वचन को सुनकर शोक के कारण बोल न सके। [किन्तु] उच्च स्वर से [फूट २ कर] रोने लगे ॥ २७ ॥ महातेजस्वी राम संज्ञाशून्य पिता के चरणों की वन्दना करके अनार्या कैकेयी के चरणों में पड़े (=चरण स्पर्श किये) ॥२८॥ पिता और कैकेयी की प्रदक्षिणा करके तथा अन्तःपुर से बाहर निकलकर श्रीराम ने अपने सुहृद् जनों को देखा ॥ २९ ॥ [अपनी माता] सुमित्रा के सुख को बढ़ाने वाले, अत्यन्त क्रुद्ध तथा अश्रुपूर्ण नेत्रों वाले लक्ष्मण उनके पीछे चले ॥ ३० ॥ अभिषेक सम्बन्धी सामग्री वाले पात्रों की परिक्रमा करके, [वनगमन के प्रति] सापेक्ष तथा उन [अभिषेक सम्बन्धी वस्तुओं] पर दृष्टि न डालते हुए श्रीराम शनैः २ चले ॥ ३१ ॥ [प्राप्त होने वाले] राज्य का नाश (=अप्राप्ति) भी, सहज कान्तियुक्त होने के कारण लोक को सुशोभित करने वाले इन (=राम) की महती शोभा का अपहरण उसी प्रकार नहीं कर सका जिस प्रकार चन्द्रक्षय (=कृष्णपक्ष में घटना) शीत किरणों वाले [चन्द्रमा] की शोभा को अपहृत नहीं कर पाता ॥ ३२ ॥ [एक ओर तो] वन जाने की कामना [तथा दूसरी ओर] राज्य का त्याग करते हुए [राम] के चित्त में [कोई] विकार (=दुःख का प्रभाव) उसी प्रकार नहीं दीखता था जैसे सब लौकिक ऐश्वर्यों का अतिक्रमण करनेवाले [जीवनमुक्त योगी] के चित्त में कोई विकार नहीं दीखता ॥ ३३ ॥ सुन्दर छत्र और सजे हुए चमरों का निषेध करके, अपने सुहृद्, रथ तथा पुरवासी लोगों को विदा करके, [पिता के] दुःख को मन में धारण किये हुए और इन्द्रियों को वश में करके (=मानसिक वेदना को बाहर प्रकट न करके) अप्रिय [घटना] की बताने के लिये धीर श्रीराम माता (=कौसल्या) के महल में प्रविष्ट हुए ॥ ३४, ३५ ॥ [अभिषेक में] सजधज कर आये

1—इक्ष्वाकु के पुत्र का नाम दण्ड था। उन्हीं के सम्बन्ध से राज्य को दण्डक कहा जाता था। कालान्तर में राज्य के विनष्ट हो जाने पर वह प्रदेश घोर वन के रूप में परिवर्त्तित हो गया।

सर्वो ह्यभिजनः श्रीमाञ्श्रीमतः सत्यवादिनः । नालक्षयत रामस्य किंचिदाकारमानने ॥३६॥
उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मनः । शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥३७॥
वाचा मधुरया रामः सर्वं संमानयञ्जनम् । मातुः समीपं धर्मात्मा प्रविवेश महायशाः ॥३८॥
तं गुणैः समतां प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः । सौमित्रिरनुवव्राज धारयन् दुःखमात्मजम् ॥३९॥
प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदान्वितं समीक्ष्य तां चार्थविपत्तिमागताम् ।
न चैव रामोऽत्र जगाम विक्रियां सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया ॥४०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे रामप्रतिज्ञा नाम एकोनविंशः सर्गः ॥१९॥

विंशः सर्गः

कौसल्याक्रन्दः

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ । आर्तशब्दो महाञ्जज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा ॥ १ ॥
कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च । गतिर्यः शरणं चापि स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ २ ॥
कौसल्यायां यथायुक्तो जनन्यां वर्तते सदा । तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥ ३ ॥

हुए लोगों ने सत्यवादी श्रीयुत राम के मुख पर कोई विकार नहीं देखा ॥ ३६ ॥ महाबाहु [श्रीराम] ने अपने स्वाभाविक हर्ष को उसी प्रकार नहीं छोड़ा जिस प्रकार शरद् ऋतु का पूर्ण चन्द्रमा अपने तेज को नहीं छोड़ता ॥ ३७ ॥ महायशस्वी धर्मात्मा श्रीराम अपनी मधुर वाणी से सब लोगों को सम्मानित करते हुए माता के समीप पहुँच गये ॥ ३८ ॥ गुणों में उन (=राम) की समता को प्राप्त, अत्यन्त पराक्रमी भाई लक्ष्मण अपने दुःख को [हृदय में] धारण किये हुए [श्रीराम के] पीछे २ चले गये ॥ ३९ ॥ अत्यधिक उल्लास से युक्त महल में प्रवेश करके और भावी घोर शोक को प्राप्त उस [माता कौसल्या] को देख कर यहाँ (=ऐसी परिस्थिति में) भी श्रीराम अपने सुहृद् जनों के दुःखी होने की आशङ्का से विकार को प्राप्त नहीं हुए (अर्थात् मुखाकृति से शोक नहीं प्रकट होने दिया) ॥ ४० ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'राम की प्रतिज्ञा' विषयक उन्नीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ १९ ॥

बीसवाँ सर्ग

कौसल्या का क्रन्दन

जिस समय पुरुषव्याघ्र राम [कैकेयी के महल से] हाथ जोड़े हुए बाहर निकल रहे थे, उस समय अन्तःपुर में स्त्रियों का महान् आर्त्तनाद होने लगा - ॥ १ ॥ "सब [प्रजाजनों] तथा अन्तःपुर की [महारानियों एवं परिचारिकाओं के] कृत्यों को पिता की प्रेरणा के बिना ही जो पूर्ण कर देते थे, और [सब की] रक्षा करते थे, वे राम आज वन को जायेंगे ॥ २ ॥ राघव (=राम) जन्म से लेकर [आज पर्यन्त] जैसे सदा अपनी जननी कौसल्या के प्रति [सेवाभाव से] वर्त्तते रहे हैं, वैसे ही हम सब से वर्त्तते रहे हैं ॥ ३ ॥ जो [दूसरों के द्वारा] कठोर-अप्रिय बात कहे जाने पर भी [उनकी] क्रोध योग्य बातों

न क्रुध्यत्यभिशस्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् । क्रुद्धान्प्रसादयन् सर्वान् स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ ४ ॥
अबुद्धिर्वत नो राजा जीवलोकं चरत्ययम् । यो गतिं सर्वलोकानां परित्यजति राघवम् ॥ ५ ॥
इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः । पतिमाचुक्रुशुश्चैव सस्वरं चापि चुक्रुशुः ॥ ६ ॥
स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः । पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा व्यालीयतासने ॥ ७ ॥
रामस्तु भृशमायस्तो निःश्वसन्निव कुञ्जरः । जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी ॥ ८ ॥
सोऽपश्यत्पुरुषं तत्र वृद्धं परमपूजितम् । उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान् बहून् ॥ ९ ॥
दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे सहसोत्थिताः । जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥१०॥
प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः । ब्राह्मणान् वेदसंपन्नान्वृद्धान् राज्ञाभिसत्कृतान् ॥११॥
प्रणम्य रामस्तान् वृद्धांस्तृतीयायां ददर्श सः । स्त्रियो वृद्धाश्च बालाश्च द्वाररक्षणतत्पराः ॥१२॥
वर्धयित्वा प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः । न्यवेदयन्त त्वरिता राममातुः प्रियं तदा ॥१३॥
कौसल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता । प्रभाते त्वकरोत्पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ॥१४॥
सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा । अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत्कृतमङ्गला ॥१५॥
प्रविश्य च तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम् । ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ॥१६॥
देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत्समुद्यताम् । दध्यक्षतघृतं चैव मोदकान् हविषस्तथा ॥१७॥
लाजान् माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं तथा । समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥१८॥

की ओर ध्यान न देकर [उनपर] क्रोध नहीं करते थे, और [अपने पर] क्रोध करने वालों को प्रसन्न किया करते थे, वे राम आज प्रवास को जायेंगे ॥ ४ ॥ हमारा राजा (= दशरथ) बड़ा मूर्ख है, जो कि सब प्राणियों की गति राम को छोड़ रहा है, और इस प्रकार सारी प्रजा का नाश कर रहा है" ॥ ५ ॥ इस प्रकार बिना बछड़े वाली गायों के समान [दीन] वे सब [अन्तःपुर की] स्त्रियाँ पति (= पालक राजा) को कोसने लगीं और जोर २ से विलाप करने लगीं ॥ ६ ॥ पुत्र-शोक से सन्तप्त राजा दशरथ ने जब अन्तःपुर में इस प्रकार का घोर आर्त्तनाद सुना तो [दारुण दुःख के कारण अपने आप को] बिछौने के अन्दर छिपा लिया ॥ ७ ॥ रामचन्द्र भी अपने स्वजनों के दुःख से अत्यन्त दुःखी हुए और यथाकथञ्चित् अपने को वश में कर, हाथी के समान श्वास लेते हुए, भाई लक्ष्मण के साथ माता कौसल्या के भवन में चले गये। ॥ ८ ॥ [वहाँ पहुँच कर] उन्होंने बाहर गृहद्वार पर बैठे हुए परम पूजित वृद्ध पुरुष को तथा अन्य अनक बैठे हुए द्वारपालों को देखा ॥ ९ ॥ राम को देखते ही वे सब के सब खड़े हो गये, और श्रेष्ठ राघव का जय-जयकार करने लगे ॥ १० ॥ राम [महल की] प्रथम कक्ष्या (= खण्ड) को पार करके जब दूसरी कक्ष्या में पहुँचे तो वहाँ उन्होंने राज-सत्कृत, वेदमर्मज्ञ, वृद्ध ब्राह्मणों को देखा ॥ ११ ॥ उन वृद्धों को प्रणाम करके राम ने तीसरी कक्ष्या में द्वार की रक्षा में तत्पर वृद्ध स्त्रियों, और बालाओं को देखा ॥ १२ ॥ तब प्रसन्न हुई २ उन स्त्रियों ने राम का जय-जयकार किया और शीघ्र ही राममाता को [रामचन्द्र के आने का] प्रिय संवाद सुनाया ॥ १३ ॥ उस समय कौसल्या देवी रात भर समाहित-चित्त रहकर प्रभात वेला में पुत्र का हित चाहती हुई सर्वव्यापक भगवान् की पूजा कर रही थी ॥ १४ ॥ नित्य व्रत-परायण, रेशमी वस्त्र धारण की हुई कौसल्या उस समय मन्त्रोच्चारण पूर्वक अग्नि होत्र कर रही थी ॥ १५ ॥ राम ने जब माता के शुभ अन्तःपुर में प्रवेश किया, तो उन्होंने माता को हवन करते हुए देखा ॥ १६ ॥ रघुनन्दन (= राम) ने वहाँ पर यज्ञ कार्य के निमित्त एकत्रित किये गये दही, अक्षत, घी, मोदक, हवन सामग्री, खीलों, सफेद मालाओं, खीर, तिलमूँग मिश्रित चावल, समिधाओं और जलपरिपूर्ण घड़ों को देखा ॥ १७, १८ ॥

तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्शिताम् । तर्पयन्तीं ददर्शाद्भिर्देवतां वरवर्णिनीम् ॥१९॥
सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम् । अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥२०॥
स मातरमभिक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः । परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामुपाघ्रातश्च मूर्धनि ॥२१॥
तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः । कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ॥२२॥
वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम् । प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले ॥२३॥
सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव । अद्यैव हि त्वां धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥२४॥
दत्तमासनमालभ्य भोजनेन निमन्त्रितः । मातरं राघवः किंचित् प्रसार्याञ्जलिमब्रवीत् ॥२५॥
स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तदानतः । प्रस्थितो दण्डकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥२६॥
देवि नूनं न जानीषे महद्भयमुपस्थितम् । इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च ॥२७॥
गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे । विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ॥२८॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने । मधुमूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम् ॥२९॥
भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति । मां पुनर्दण्डकारण्ये विवासयति तापसम् ॥३०॥

[राम ने] व्रतों के सेवन से कृश हुई २, सफेद रेशमी वस्त्रों को धारण की हुई, उत्तम वर्ण वाली (=गौराङ्गी) [माता कौसल्या को] यज्ञाग्नि के चारों ओर जल सिंचन करते हुए देखा ॥१९॥ सदा माता को प्रसन्न रखने वाले पुत्र को चिरकाल के बाद आया देखकर माता कौसल्या प्रसन्न होकर उसकी ओर इस प्रकार दौड़ी जिस प्रकार घोड़ी अपने बच्चे को देखकर उसकी ओर दौड़ती है ॥ २० ॥ राघव ने पास में आई माता के चरण छुए । माता ने उसका आलिङ्गन किया और सिर सूँघा ॥२१॥ [तदनन्तर] कौसल्या पुत्र-स्नेहवश दुर्जेय अपने पुत्र राघव से यह प्रिय-हितकारी वचन बोली—॥२२॥ " [हे पुत्र !] तू धर्मशील वृद्ध, महात्माओं और राजर्षियों की आयु और कीर्त्ति को प्राप्त कर और कुलोचित धर्म का सेवन कर ॥२३॥ हे राम ! तू अपने पिता राजा (दशरथ) को सत्यप्रतिज्ञ समझ । वे धर्मात्मा आज ही युवराज पद पर तेरा अभिषेक करेंगे" ॥२४॥ [यह कह कर माता ने उसे] भोजन करने को कहा । [माता द्वारा] दिये हुए आसन का स्पर्श कर के राम ने अंजलि फैलकर माता से कहा ॥२५॥ स्वभाव से ही विनीत, [माता के प्रति] आदर के कारण और अधिक नम्र होकर दण्डकारण्य प्रस्थान के लिये उद्यत राम [अनुमति हेतु माता से] पूछने लगे ॥२६॥ देवि ! शायद आप नहीं जानतीं कि आपके, वैदेही के और लक्ष्मण के लिये महान् भय उपस्थित हो गया है। ॥ २७ ॥ मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ, [इसलिये] अब इस आसन से मेरा क्या प्रयोजन ? [अब तो] मेरे लिये [तपस्वियों के समान] कुशासन-योग्य काल आ उपस्थित हुआ है ॥ २८ ॥ मैं राजभोग्योचित[1] वस्तुओं को छोड़कर मुनियों के समान, मधु, कन्द, मूल एवं फलों से जीवन निर्वाह करता हुआ निर्जन वन में १४ वर्ष तक वास करूँगा ॥ २९ ॥ महाराज दशरथ भरत को युवराज पद दे रहे हैं, और मुझे तापस बनाकर दण्डकारण्य भेज रहे हैं ॥ ३० ॥ सो मैं वल्कलों को धारण करता हुआ और फल-मूलों से निर्वाह

१—'आमिषम्' का तात्पर्य राजभोग्योचित पदार्थों से है । मेदिनी कोष में 'आमिषम्' का अर्थ 'राजभोग्य वस्तु' भी दिया है—"आकर्षणेऽपि पुंसि स्यादामिषं पुंनपुंसकम् । भोग्यवस्तुनि संभोगेऽप्युत्कोचे पललेऽपि च ।" रामचन्द्र टीकाकार ने भी इसका यही अर्थ किया है । पूर्वापर विचार करने पर भी यहाँ 'आमिषम्' का मांस अर्थ करना उचित नहीं प्रतीत होता । पूर्व प्रकरण (सर्ग १२) में जहाँ राम के लिये भोजन के पदार्थों का वर्णन आया है, वहाँ मांस का वर्णन नहीं किया गया । मांस अर्थ करने पर इससे उसका विरोध होगा ।

स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने । आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ॥३१॥
सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने । पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ॥३२॥
तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव । रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम् ॥३३॥
उपावृत्योत्थितां दीनां वडवामिव वाहिताम् । पांसुकुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना ॥३४॥
सा राघवमुपासीनमसुखार्ता सुखोचिता । उवाच पुरुषव्याघ्रमुपशृण्वति लक्ष्मणे ॥३५॥
यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव । न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ॥३६॥
एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः । अप्रजास्मीति संतापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते ॥३७॥
न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे । अपि पुत्रे तु पश्येयमिति रामास्थितं मया ॥३८॥
सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् । अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां वरा सती ॥३९॥
अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति । मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः ॥४०॥
त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता । किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव मे ॥४१॥
अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता । परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा ॥४२॥
यो हि मां सेवते कश्चिदथवाप्यनुवर्तते । कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ॥४३॥
नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि तत् । कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता ॥४४॥

करता हुआ १४ वर्ष तक निर्जन वन में वास करूँगा ॥ ३१ ॥ यह सुनकर देवी कौसल्या वन में कुल्हाड़े से काटी गई साल वृक्ष की शाखा तथा आकाश से गिरी तारा के समान एकदम नीचे गिर पड़ी ॥ ३२ ॥ कटे कदली स्तम्भ के समान गिरी हुई, सुखों के योग्य, चेतनाशून्य माता को देखकर राम ने उसे उठाया ॥ ३३ ॥ और भारवाहन के बाद थककर लोट-पोट होकर उठी घोड़ी के समान, धूलि से लथ-पथ अंगों वाली माता को हाथ से साफ किया ॥ ३४ ॥ तब सुखों के योग्य, दुःखपीड़िता माता ने लक्ष्मण के सुनते हुए पास में बैठे पुरुषव्याघ्र राम से कहा—॥ ३५ ॥ "पुत्र ! राघव ! यदि तू मेरे [इस वियोगजन्य] शोक के लिये पैदा न हुआ होता तो मैं पुत्रहीन होकर इस [वन्ध्या-दुःख] से अधिक इस [पुत्र-वियोग] दुःख को नहीं देखती ॥ ३६ ॥ [क्योंकि] वन्ध्या को केवल एक ही मानसिक दुःख होता है कि मैं निस्सन्तान हूँ, परन्तु पुत्र ! उसे अन्य सन्ताप तो नहीं होता ॥३७॥ पति के पौरुष से होने वाले सुख और कल्याण को मैंने [समुचित रूप में] कभी नहीं प्राप्त किया । राम ! मैंने सोचा था कि पुत्र के [युवराज] काल में सुख प्राप्त करूँगी ॥ ३८ ॥ पर अब मुझे हृदय-छेदन करनेवाली, अपने से छोटी सपत्नियों की बहुत सी अरुचिकर बातें, उनसे बड़ी होने पर भी, सुननी पड़ेंगी ॥ ३९ ॥ जैसा [सपत्नियों के तानों के कारण] यह अनन्त शोक और विलाप मेरे लिये उपस्थित हुआ है । इससे बढ़कर और अधिक दुःख स्त्रियों को क्या होगा ? ॥ ४० ॥ पुत्र ! तुम्हारे पास रहने पर भी जब मैं इस प्रकार तिरस्कृत रहती थी, तब तुम्हारे चले जाने पर क्या कहा जाय, तब तो निश्चय ही मेरी मृत्यु होगी ॥ ४१ ॥ भर्त्ता के द्वारा सम्मान न पाने के कारण मैं सदा बहुत तिरस्कृत रही हूँ । मैं तो कैकेयी की दासियों के बराबर या उनसे भी छोटी समझी जाती हूँ । ॥ ४२ ॥ जो मेरे सेवक और अनुयायी हैं, वे भी कैकेयी के पुत्र भरत को देखकर मुझसे नहीं बोलते ॥ ४३ ॥ हे पुत्र ! दुर्दशा को प्राप्त हुई मैं उस कैकेयी का नित्य क्रोध करने के कारण कठोर बोलने वाला मुख कैसे देख सकूँगी ॥ ४४ ॥ हे राघव ! तुझे उत्पन्न (दूसरा जन्म = उपनयन संस्कार) हुए १७

दश सप्त च वर्षाणि तव जातस्य राघव । आसितानि प्रकाङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम् ॥४५॥
तदक्षयमहं दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरम् । विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव ॥४६॥
अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम् । कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविकाम् ॥४७॥
उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिश्रमैः । दुःखं संवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया ॥४८॥
स्थिरं तु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते । प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा ॥४९॥

ममैव नूनं मरणं न विद्यते न चावकाशोऽस्ति यमक्षये मम ।
यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव ॥ ५० ॥
स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं न भिद्यते यद्भुवि नावदीर्यते ।
अनेन दुःखेन च देहमर्पितं ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते ॥ ५१ ॥
इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि ।
तपश्च तप्तं यदपत्यकारणात्सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे ॥ ५२ ॥
यदि ह्यकाले मरणं स्वयेच्छया लभेत कश्चिद्गुरुदुःखकर्शितः ।
गताहमद्यैव परेतसंसदं विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ॥५३॥

वर्ष[1] (कुल २८ वर्ष) व्यतीत हो गये। ये वर्ष मैंने दुःखों की समाप्ति की कामना करते हुए (अर्थात् तेरे युवराज बनने पर इनका अन्त हो जायेगा, यह सोचते हुए) बिताये ॥ ४५ ॥ हे राघव ! जीर्ण (=बूढ़ी) हुई २ मैं इस अक्षय दुःख और सपत्नियों के अपमान को अब और नहीं सह सकती ॥ ४६ ॥ [हे पुत्र राम !] पूर्ण चन्द्रमा के समान सुन्दर तेरे मुख को न देख सकने पर मैं अभागिन कैसे अपना अभागा जीवन बिताऊँगी ॥ ४७ ॥ [हे पुत्र !] उपवासों से, ईश्वरोपासनाओं से और अनेकविध परिश्रम साध्य कृत्यों से भाग्यहीन मैंने तुझे बड़े कष्ट से व्यर्थ ही पाला [क्यों कि उस पालने का फल मिलने के समय तुम वन जा रहे हो ।] ॥ ४८ ॥ मेरा हृदय बड़ा कठोर जान पड़ता है, जो कि वर्षा ऋतु में महानदी के नये जल से स्पर्श किये जाते हुए किनारे के समान टूट-फूट नहीं जाता ॥ ४९ ॥ अवश्य ही मेरी मृत्यु नहीं आयी, शायद मृत्यु के घर में मेरे लिये स्थान नहीं है जिससे रोती हुई मृगी को जबर्दस्ती सिंह के उठा ले जाने के समान यमराज आज ही मुझे उठा ले जाना नहीं चाहता ॥ ५० ॥ निश्चय ही यह मेरा हृदय लोहे का बना हुआ है, इसीलिये ऐसे दुःख से युक्त होने पर भी यह न टूटता है, न फटता है। वस्तुतः असमय में मरण नहीं होता, यह ध्रुव है ॥५१॥ मुझे इसी बात का दुःख है कि मेरे व्रत, दान, संयम और सन्तान की इच्छा से जो मैंने तप किया, ये सब ऊसर में बीज बोने के समान निष्फल हुए ॥ ५२ ॥ यदि कोई दुःख से पीड़ित व्यक्ति असमय में ही अपनी इच्छा से मृत्यु को प्राप्त कर सकता होता, तो मैं तुमको यहाँ छोड़कर वत्सरहित गाय के समान, आजही परलोक सिधार गई होती ॥ ५३ ॥ हे चन्द्रसमान

१—यहाँ जन्म से १७ वर्ष का तात्पर्य द्वितीय जन्म (उपनयन संस्कार) से १७ वर्ष का है। "एकादशे राजन्यम्" के अनुसार क्षत्रियों का उपनयन ११ वर्ष की आयु में होता था। इस प्रकार उपनयन तक ११ वर्ष और उसके बाद के १७ वर्ष कुल मिलाकर २८ वर्ष हुए। इस प्रकार वन जाने के समय तक राम की आयु २८ वर्ष की ठहरती है। ऐसा मानने से सब प्रकरणों की संगति लग जाती है। यदि १७ वर्ष जन्म से ही लिये जायें तो बालकाण्ड में दशरथ द्वारा विश्वामित्र से कही गई "ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः" तथा आगे सीता द्वारा कही जाने वाली "द्वादश समा इक्ष्वाकूणां निवेशने" आदि उक्तियों की परस्पर असंगति होगी। इन दोनों उक्तियों के समन्वय से २८ वर्ष की आयु सिद्ध होती है॥

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः सुदुर्बला वत्समिवानुकाङ्क्षया ॥५४॥
भृशमसुखममर्षिता तदा बहु विललाप समीक्ष्य राघवम् ।
व्यसनमुपनिशाम्य सा महत्सुतमिव बद्धमवेक्ष्य किंनरी ॥५५॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्या काण्डे कौसल्याक्रन्दो नाम विंशःसर्गः ॥२०॥

एकविंशः सर्गः

कौसल्यालक्ष्मणप्रतिबोधनम्

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम् । उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः ॥ १ ॥
न रोचते ममाप्येतदार्ये यद्राघवो वनम् । त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत्स्त्रिया वाक्यवशंगतः ॥ २ ॥
विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः । नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः ॥ ३ ॥
नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम् । येन निर्वास्यते राष्ट्राद्वनवासाय राघवः ॥ ४ ॥
न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः । स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योऽस्य दोषमुदाहरेत् ॥ ५ ॥

कान्ति युक्त मुख वाले राम ! तेरे बिना मेरे इस जीने से क्या ? यह तो व्यर्थ है । इस लिये अपने बच्चे के पीछे २ जाने वाली दुबली गाय के समान मैं भी सुख की इच्छा से तेरे साथ ही वन को चलूँगी ॥ ५४ ॥ [कौसल्या ने] इस प्रकार दुःख न सह सकने के कारण बहुत विलाप किया । [सपत्नियों के कारण होने वाले] दुःखों को सुनकर और सत्यपाश में बँधे पुत्र को देखकर कौसल्या किन्नर जातीय स्त्री के समान विलाप करने लगीं ॥ ५५ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'कौसल्या का क्रन्दन' विषयक बीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २० ॥

इक्कीसवाँ सर्ग

कौसल्या और लक्ष्मण को समझाना

इस प्रकार विलाप करती हुई राममाता कौसल्या से दुःखी लक्ष्मण उस समय के योग्य वचन बोले ॥ १ ॥ "आर्ये ! यह मुझे भी नहीं रुचता कि राघव राज्यलक्ष्मी को त्याग कर वन को चला जावे । स्त्री के वाक्यों से वशीभूत हुआ, ॥ ३ ॥ उलटी बुद्धि वाला वृद्ध, विषयों का शिकार, कामी राजा [स्त्री के द्वारा] प्रेरित होकर क्या कुछ नहीं कह सकता ? [अतः उनके कहे की परवाह नहीं करनी चाहिये] ॥ ३ ॥ मैं राघव का कोई ऐसा अपराध या दोष नहीं देख रहा कि जिससे उन्हें वनवास के लिये राष्ट्र से निकाला जावे ॥ ४ ॥ मैं लोक में ऐसे किसी पुरुष को नहीं देखता—चाहे वह अतिशत्रु हो या [किसी अपराध के कारण] तिरस्कृत हुआ हो—जो परोक्ष में (=पीठ पीछे) भी उन [राम] के दोष को बतलावे ॥५॥ देवतुल्य,

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम् । अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत्पुत्रमकारणात् ॥ ६॥
तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः । पुत्रः को हृदये कुर्याद्राजवृत्तमनुस्मरन् ॥ ७॥
यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः । तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम् ॥ ८॥
मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव । कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः ॥ ९॥
निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ । करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये॥१०॥
भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वास्य हितमिच्छति । सर्वानेव हनिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते ॥११॥
प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या दुष्टो यदि नः पिता । अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां बध्यतामपि ॥१२॥
गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः । उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम् ॥१३॥
बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषर्षभ । दातुमिच्छति कैकेय्यै राज्यं स्थितमिदं तव ॥१४॥
त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम् । कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिनाशन ॥१५॥
अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः । सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे ॥१६॥
दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति । प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥१७॥
हरामि वीर्याद्दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः । देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥१८॥
हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम् । कृपणं चास्थिरं बालं वृद्धभावेन गर्हितम् ॥१९॥
एतत्तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः । उवाच रामं कौसल्या रुदन्ती शोकलालसा ॥२०॥

मृदु, जितेन्द्रिय तथा शत्रुओं के भी प्यारे धर्मस्वरूप पुत्र को देखकर कौन पिता उसको निष्कारण छोड़ सकता है ? तो फिर बालभाव को प्राप्त हुए राजा के इस [वनगमनरूपी] आदेश को राजधर्म को जानता हुआ कौन पुत्र हृदय में (=स्वीकार) कर सकता है ? ॥७॥ इसलिये [हे भाई राम !] जब तक कोई मनुष्य [आपके] इस [वनगमन की] बात को नहीं जान पाता, आप मेरे साथ मिलकर राज्यशासन को अपने अधीन कर लेवें ॥ ८ ॥ हे राघव ! मैं आपके पास धनुष लेकर आपकी रक्षा करूँगा। तब किसकी शक्ति है कि साक्षात् मृत्यु के समान मेरे खड़े रहने पर आप पर अधिकार करे ? ॥९॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! यदि कोई विरोध में खड़ा होगा, तो मैं तीक्ष्ण बाणों से इस सारी अयोध्या को मनुष्यों से रहित कर दूँगा ॥ १० ॥ चाहे कोई भरत का पक्षपाती हो, या उसका हित चाहता हो, मैं उन सबको मार डालूँगा, क्यों कि कोमल मनुष्य सदा दबाया जाता है, [अतः मैं कोमल नहीं बनूँगा] ॥ ११ ॥ यदि ये हमारे पिता कैकेयी से प्रोत्साहित होकर शत्रु के समान वर्त्ताव करने लगें, तो निस्संकोच होकर उन्हें मार डालो या कैद करलो ॥१२॥ क्योंकि यदि गुरु भी अभिमान में आकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य को भूल जावे, और उलटे मार्ग पर चलने लगे तो उसको भी दण्ड देना चाहिये ॥ १३ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! [पिता] किस बल पर और किस कारण से तुम्हारा यह उपस्थित राज्याधिकार कैकेयी को दे देना चाहता है ॥ १४ ॥ हे शत्रुओं का नाश करने वाले ! आपके और मेरे साथ इस प्रकार वैर को उत्पन्न करके इनकी क्या सामर्थ्य है कि भरत को राज्य दे दें ॥ १५ ॥ देवि ! मैं यथार्थ रूप से सब तरह भाई का अनुरागी हूँ। मैं इसके लिये सत्य, धनुष, दान तथा इष्ट (=अग्नि होत्र, तप आदि) की शपथ लेता हूँ ॥ १६ ॥ माता ! यदि राम जलती हुई आग में या वन में प्रवेश करेंगे तो आप मुझे उनसे पूर्व ही वहाँ प्रविष्ट हुआ समझिये ॥ १७ ॥ माता ! मैं अपने पराक्रम से आपके दुःख को अभी दूर करता हूं, जिस प्रकार उदित सूर्य अन्धकार को दूर करता है। देवि ! आप मेरे पराक्रम को देखें, और राघव भी देखें ॥ १८ ॥ कैकेयी में आसक्त मन वाले, कृपण, अस्थिर एवं बुढ़ापे के कारण विवेक शक्ति नष्ट होने से जो निन्दित हो गये हैं ऐसे पिता को भी मैं [राम के हित के लिये] मार दूँगा ॥१९॥ महात्मा लक्ष्मण के इस वचन को सुनकर शोकाकुल कौसल्या रोती हुई राम से बोली ॥२०॥

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया । यदत्रानन्तरं कार्यं कुरुष्व यदि रोचते ॥२१॥
न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम् । विहाय शोकसंतप्तां मां वनं गन्तुमर्हसि ॥२२॥
धर्मज्ञ यदि धर्मिष्ठो धर्मं चरितुमिच्छसि । शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥२३॥
शुश्रूषुर्जननीं पुत्रः स्वगृहे नियतो वसन् । परेण तपसा युक्तः काश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥२४॥
यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् । त्वां नाहमनुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥२५॥
त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन वा । त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम् ॥२६॥
यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम् । अहं प्रायमिहासिष्ये न हि शक्ष्यामि जीवितुम्॥२७॥
ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम् । ब्रह्महत्यामिवाधर्मात्समुद्रः सरितां पतिः ॥२८॥
विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः । उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥२९॥
नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम । प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥३०॥
ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता वनचारिणा । गौर्हता जानता धर्मं मण्डुनापि विपश्चिता ॥३१॥
अस्माकं च कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः । खनद्भिः सागरैर्भूमिमवाप्तः सुमहान् वधः ॥३२॥

"पुत्र ! अपने भाई लक्ष्मण की बात को तूने सुन लिया । इसके अनन्तर तू अपने कर्त्तव्य को, जो तुझे रुचिकर है, उसे कर ॥२१॥ मेरी सपत्नी [कैकेयी] की कही हुई अधर्म युक्त बात को सुनकर तुझे मुझ शोक संतप्ता को छोड़कर यहाँ से जाना उचित नहीं ॥ २२ ॥ ऐ धर्मिष्ठ, तू धर्मज्ञ है, यदि तू धर्माचरण की इच्छा करता है, इसलिये तू यहाँ रहकर मेरी शुश्रूषा कर और इस प्रकार श्रेष्ठतम धर्म का आचरण कर ॥ २३ ॥ [हे पुत्र राम !] अपनी माता की सेवा करने की इच्छा वाले कश्यप के पुत्र ने अपने घर में नियम पूर्वक वास करते हुए परम तप किया और उस [तपोबल से] स्वर्ग को प्राप्त किया ॥ २४ ॥ पुत्र ! जैसे तेरे लिये राजा पूज्य है, वैसे ही उनसे अधिक मैं पूज्य हूँ । सो मैं तुझे [वन जाने की] अनुमति नहीं देती । तुझे यहां से वन को नहीं जाना चाहिये ॥ २५ ॥ तेरे वियोग के कारण मेरा जीना और सुख सब व्यर्थ है । तेरे साथ रह कर मेरे लिये तृणों का भक्षण भी हितकारक है ॥ २६ ॥ यदि तुम मुझ शोकाकुला को छोड़ कर वन को जावोगे तो मैं [यहाँ पर] अनशन करके बैठ जाऊँगी और जीवित न रह सकूँगी ॥ २७ ॥ पुत्र ! तब तू [मातृ-घाती बन कर] लोक प्रसिद्ध घोर दुःख पायेगा, जैसे कि नदियों के स्वामी समुद्र राजा ने [माता को दुःख देने रूपी] अधर्माचरण से ब्रह्म-हत्या जैसे कठोर दण्ड को भोगा था ॥ २८ ॥ तत्पश्चात् विलाप करती हुई दीन कौसल्या जननी से धर्मात्मा राम धर्मयुक्त वचन बोले ॥ २९ ॥ [हे माता !] मुझमें पिता के आदेश को उल्लंघन करने की शक्ति नहीं है । मैं आपको प्रसन्न करता हुआ [आपके चरण में] सिर रख कर आज्ञा मांगता हूँ कि मैं वन जाना चाहता हूँ ॥ ३० ॥ वन में विचरण करते हुऐ विद्वान् मण्डू ऋषि ने पिता की आज्ञा को पूर्ण करने के लिए धर्म समझ कर गौ की हत्या की ॥ ३१ ॥ हमारे ही कुल में पहले पिता सगर की आज्ञा से उसके पुत्रों ने भूमि को खोदते हुए अपने प्राणों का त्याग कर दिया ॥ ३२ ॥ जमदग्नि के पुत्र परशुराम ने

जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम् । कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारिणा ॥३३॥
एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम् । पितुर्वचनमक्लीबं करिष्यामि पितुर्हितम् ॥३४॥
न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम् । एतैरपि कृतं देवि ये मया तव कीर्तिताः ॥३५॥
नाहं धर्ममपूर्वं ते प्रतिकूलं प्रवर्तये । पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥३६॥
तदेतत्तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा । पितुर्हि वचनं कुर्वन्न कश्चिन्नाम हीयते ॥३७॥
तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत् । वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥३८॥
तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम् । विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥३९॥
मम मातुर्महद्दुःखमतुलं शुभलक्षण । अभिप्रायमविज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च ॥४०॥
धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम् । धर्मसंश्रितमेतच्च पितुर्वचनमुत्तमम् ॥४१॥
संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा । न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता ॥४२॥
सोऽहं न शक्ष्यामि पितुर्नियोगमतिवर्तितुम् । पितुर्हि वचनाद्वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः ॥४३॥
तदेनां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम् । धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥४४॥

पिता का आदेश पालन करने के लिए तपोवन में अपनी जननी रेणुका को स्वयं कुल्हाड़े से काट दिया था ॥ ३३ ॥ इन तथा अन्य देव समान बहुत से पुरुषों ने वीरता-पूर्वक पिता के वचन का पालन किया, अतः मैं भी पिता का प्रिय करूँगा ॥ ३४ ॥ अकेला मैं ही पिता की आज्ञा का पालन नहीं कर रहा, अपितु हे माता ! इन सबने भी किया है, जिनका कि मैं पहले वर्णन कर चुका हूँ ॥ ३५ ॥ मैं किसी नये धर्म का आपके प्रतिकूल प्रवर्त्तन नहीं कर रहा, अपितु पूर्व लोगों द्वारा अभिप्रेत मार्ग का ही अनुगमन कर रहा हूँ ॥३६॥ पृथिवी में—मैं [पिता की आज्ञा का पालन रूपी] करने योग्य कार्य ही मैं कर रहा हूँ, उसके विपरीत कुछ नहीं, पिता का वचन पालन करने से कोई हानि नहीं होती ॥ ३७ ॥ माता के इस प्रकार कहने के पश्चात् सब धनुर्धारियों तथा वाक्यविदों (=समयोचित बात को जानने वालों) में श्रेष्ठ राम लक्ष्मण से बोले ॥ ३८ ॥ "लक्ष्मण ! मेरे प्रति तुम्हारा जो अति श्रेष्ठ स्नेह है, उसको मैं जानता हूँ, तुम्हारे पराक्रम, बल तथा अजेय तेज को भी जानता हूँ ॥ ३९ ॥ [परन्तु] हे शुभलक्षण वीर ! सत्य और शान्ति के [वास्तविक] अभिप्राय को न समझने के कारण ही मेरी माता को महान् अनुपम दुःख हो रहा है ॥ ४० ॥ लोक में धर्म ही परम [पुरुषार्थ] है, धर्म में सत्य प्रतिष्ठित है, पिता का यह [वनवासका] आदेश भी धर्माश्रित है । [अतः इसका पालन अवश्य करना चाहिये] ॥ ४१ ॥ वीर ! धर्मानुसार आचरण करने वाले पुरुष को पिता, माता या ब्राह्मण की आज्ञा-पालन की प्रतिज्ञा करके उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥ इसलिए मैं पिता की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता । हे वीर ! पिता के आदेश से ही कैकेयी ने मुझे यह बात कही ॥ ४३ ॥ अतः लक्ष्मण ! क्षात्र धर्म का सहारा लेकर इस अनार्योचित मति को दूर करो, धर्म का आश्रय लो, तीक्ष्णता का नहीं, मेरी बुद्धि का अनुगमन करो ॥ ४४ ॥ लक्ष्मण के बड़े भाई राम स्नेहवश

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद् भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः । उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः ॥४५॥

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम् । शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे ॥४६॥

तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात्पुनरेष्याम्यहं पुरीम् । ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥४७॥

शोकः संधार्यतां मातर्हृदये साधु मा शुचः । वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥४८॥

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया । पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥४९॥

अम्ब संहृत्य संभारान् दुःखं हृदि निगृह्य च । वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥५०॥

एतद्वचस्तस्य निशम्य माता सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लवं च ।
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥ ५१ ॥

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च ।
न त्वानुजानामि न मां विहाय सुदुःखितामर्हसि गन्तुमेवम् ॥ ५२ ॥

किं जीवितेनेह विना त्वया मे लोकेन वा किं स्वधयामृतेन ।
श्रेयो मुहूर्तं तव संनिधानं ममेह कृत्स्नादपि जीवलोकात् ॥ ५३ ॥

भाई को इस प्रकार कह कर पुनः हाथ जोड़े हुए, सिर झुका कर माता कौसल्या से बोले ॥ ४५ ॥ "देवि ! यहां से वन को जाते हुये मुझको अनुमति दीजिये । मेरे प्राणों की आपको शपथ हो, मुझे आशीर्वाद दीजिये ॥ ४६ ॥ प्रतिज्ञा पूर्ण करके मैं पुनः वन से नगरी को लौट आऊँगा, जैसे कि पहले राजर्षि ययाति भूमि को छोड़ पुनः स्वर्ग को चले गये थे ॥ ४७ ॥ इसलिये हे माता ! अब शोक को हृदय में ही अच्छी प्रकार रोक लीजिये, उसे बाहर न आने दीजिये । मैं पिता की आज्ञा पूर्ण करके वन से फिर यहाँ आजाऊँगा ॥ ४८ ॥ आपको, मुझे, वैदेही, को लक्ष्मण तथा सुमित्रा को पिता जी की आज्ञा में रहना चाहिये, यही सनातन धर्म है ॥४९॥ हे अम्ब ! अभिषेक सामग्रियों को एक तरफ करके, दुःख को हृदय में रोक कर वनवास-विषयक मेरे धर्मयुक्त निश्चय की अनुमति दीजिये ॥ ५० ॥ राम के धर्मयुक्त, व्याकुलता तथा कातरतारहित इस वचन को सुनकर मृता के समान हुई २ देवी कौसल्या चेतना को प्राप्त करके राम को देख कर उससे पुनः बोलीं ॥ ५१ ॥ हे पुत्र ! जैसे पिता तुम्हारे गुरु हैं, वैसे ही मैं भी हूँ । स्वधर्म (=पालनादिरूप मातृधर्म) तथा स्नेह के कारण मैं तुम्हें जाने की अनुमति नहीं देती । मुझ दुःखिता को इस प्रकार छोड़ कर जाना तुम्हें उचित नहीं ॥ ५२ ॥ तेरे बिना इस संसार में मुझे जीने से क्या लाभ ! सुहृज्जनों, स्वधा, (=देवपूजादि) तथा अमृत (=मोक्षप्राप्ति के साधन तत्त्वज्ञान) से भी क्या प्रयोजन ? [सब व्यर्थ है] एक क्षण के लिये भी तेरा मेरे पास रहना संसार के सब सुखों से बढ़ कर है ॥ ५३ ॥ जिस प्रकार [हाथी पकड़ने की इच्छा

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो महागजोऽध्वानमनुप्रविष्टः ।
भूयः प्रजज्वाल विलापमेनं निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥ ५४ ॥
स मातरं चैव विसंज्ञकल्पामार्तं च सौमित्रिमभिप्रतप्तम् ।
धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम् ॥ ५५ ॥
अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।
मम त्वभिप्रायमसंनिरीक्ष्य मात्रा सहाभ्यर्दसि मां सुदुःखम् ॥ ५६ ॥
धर्मार्थकामाः किल जीवलोके समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा ॥ ५७ ॥
यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा धर्मो यतः स्यात्तदुपक्रमेत ।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता ॥ ५८ ॥
गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः क्रोधात्प्रहर्षाद्यदि वापि कामात् ।
यद्व्यादिशेत्कार्यमवेक्ष्य धर्मं कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥ ५९ ॥

वाले] मनुष्यों द्वारा उल्काओं (= जलती हुई मशालों) से हटाया जाता हुआ महागज मार्ग में प्रविष्ट होकर अत्यधिक सुशोभित होता है, उसी प्रकार जननी [कौसल्या] के इस करुण विलाप को सुनकर राम और अधिक सुशोभित हुये [अर्थात् इस विलाप को सुनकर राम अपने वनगमन के संकल्प में और दृढ़ हो गये] ॥५४॥ मूर्छित हुई माता तथा दुःखी एवं क्रुद्ध सौमित्रि (= लक्ष्मण) से धर्म में स्थित श्री राम ने ऐसे धर्मयुक्त वचन कहे, जिनको वे ही कह सकते थे ॥ ५५ ॥ "लक्ष्मण ! तेरी [मेरे प्रति] जो भक्ति तथा पराक्रम है, वह मैं जानता हूँ। पर तुम मेरा अभिप्राय न समझ कर माता के साथ मुझ दुःखी को और दुःखी बना रहे हो ॥५६॥ धर्म (= सदसत्कर्मों) के फलरूप [ऐश्वर्य और सुख आदि] की प्राप्ति में, लोक में [उपाय] माने गये धर्म, अर्थ और काम ये सब, वश्या (= पति के अनुकूल) प्रिया और पुत्रवती भार्या के समान निस्सन्देह मेरे वशीभूत होंगे। [अर्थात् जिस प्रकार भार्या अनुकूल होने से धर्म में, प्रिय होने से काम में, एवं पुत्रवती होने से अर्थ में सहायक होती है, उसी प्रकार ये तीनों मेरे धर्म में सहायक हों] ॥ ५७ ॥ जिस धर्म में मनुष्य उपदेश आदि के बिना प्रवृत्त नहीं होते, वह धर्म जिस उपाय से प्राप्त हो, उसको आरम्भ करें। क्योंकि केवल अर्थपरायण मनुष्य लोक में द्वेष करने योग्य हो जाता है और कामपरायणता भी प्रशंसनीय नहीं ॥ ५८ ॥ गुरु, राजा, पिता और वृद्ध क्रोध से, प्रसन्नता से या काम से किसी कार्य का आदेश दे, तो अकुटिल आचरण वाला कौन ऐसा पुरुष होगा जो धर्म समझ कर उसको न करे ॥ ५९ ॥ इसलिये पिता की इस प्रतिज्ञा—भरत का

स वै न शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञामिमामकर्तुं सकलां यथावत् ।
स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे देव्याश्च भर्ता स गतिः स धर्मः ॥ ६० ॥
तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने ।
देवी मया सार्धमितोऽपगच्छेत्कथंस्विदन्या विधवेव नारी ॥ ६१ ॥
सा मानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि ।
यथा समाप्ते पुनराव्रजेयं यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः ॥ ६२ ॥
यशो ह्यहं केवलराज्यकारणान्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम् ।
अदीर्घकाले न तु देवि जीविते वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ॥ ६३ ॥
प्रसादयन्नरवृषभः स्वमातरं पराक्रमाज्जिगमिषुरेव दण्डकान् ।
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं चकार तां हृदि जननीं प्रदक्षिणम् ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे कौसल्यालक्ष्मणप्रतिबोधनं नाम एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

राज्याभिषेक तथा मेरा वनवास—को यथावत् रूप में पूर्ण न करने में मैं समर्थ नहीं [अर्थात् मैं अवश्य पूर्ण करूँगा], क्योंकि हे तात लक्ष्मण! हम दोनों [भरत और मुझ] को आज्ञा देने में वे [हमारे] गुरु हैं और देवी [कौसल्या] के तो वे पति हैं, वे ही उसके सर्वस्व और धर्म हैं ॥ ६० ॥ विशेष रूप से अपने राजधर्म में वर्त्तमान धर्मराज पिता दशरथ के जीवित रहते देवी कौसल्या अन्य [सामान्य] विधवा नारी के समान मेरे साथ यहाँ वन को कैसे जायेंगी ? ॥ ६१ ॥ इस लिये देवि ! मुझे वन जाने की अनुमति दीजिये। और मेरे लिये स्वस्तिवचन बोलिये। जिससे कि [वनवास की अवधि] समाप्त होने पर मैं पुनः लौट आऊँ, जिस प्रकार सत्य के कारण ययाति राजा पुनः [स्वर्ग को लौट गये थे] ॥ ६२ ॥ केवल राज्य के कारण से बहुत बड़े फल वाले [अर्थात् राज्य छोड़ कर राम ने पिता की आज्ञा का पालन किया इस प्रकार के] यश को मैं पीठ पीछे (=उपेक्षित) नहीं कर सकता। देवि ! अल्पकाल वाले जीवन में इस प्रकार अधर्म से तुच्छ प्रयोजन वाली पृथिवी (राज्य) को मैं नहीं स्वीकार करता ॥ ६३ ॥ धीरतापूर्वक दण्डक वन को जाने की इच्छा वाले नरश्रेष्ठ राम ने अपनी माता को प्रसन्न करते हुए अनुज लक्ष्मण को अपना धर्मयुक्त अभिप्राय बार बार समझाया और मनही मन माता की प्रदक्षिणा की ॥ ६४ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'कौसल्या और लक्ष्मण को झमझाना' विषयक इक्कीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

दैवप्राबल्यम्

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम्। श्वसन्तमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १॥
आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम्। उवाचेदं स धैर्येण धारयन् सत्त्वमात्मवान् ॥ २॥
निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम्। अवमानं निरस्येमं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम् ॥ ३॥
उपक्लृप्तं हि यत्किंचिदभिषेकार्थमद्य मे। सर्वं विसर्जय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरत्ययम् ॥ ४॥
सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम संभारसंभ्रमः। अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु संभारसंभ्रमः ॥ ५॥
यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते। माता सा मे यथा न स्यात्सविशङ्का तथा कुरु ॥ ६॥
तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे। मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम् ॥ ७॥
न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन। मातॄणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम् ॥ ८॥
सत्यः सत्याभिसंधश्च नित्यं सत्यपराक्रमः। परलोकभयाद्भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम ॥ ९॥

बाईसवाँ सर्ग

दैव की प्रबलता

[राम के अभिषेक में विघ्न पड़ने के] दुःख से दुःखी, अतिप्रेम के कारण [राम के वियोग को] न सह सकने वाले, क्रोधित हाथी के समान श्वास लेते हुए, रोष से चढ़ी हुई आँखों वाले प्रिय भाई लक्ष्मण को पास बुलाकर आत्मवान् राम धैर्य से चित्त को धारण करते हुए उनसे बोले:—॥ १,२॥ [हे भाई लक्ष्मण !] रोष और शोक को छोड़कर, धैय का आश्रयण करके, इस [मेरे वनगमन रूपी] अपमान को भूलकर, उत्तम हर्ष को धारण करके ॥ ३ ॥ मेरे अभिषेक के लिये जो कुछ [सामग्री] तैयार की गई है, उसको हटादो और [पिता के सत्यपालन के लिये] विघ्नरहित कार्य करो ॥ ४॥ सौमित्रे ! (=सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मण !) मेरे अभिषेक के लिये सामग्रियाँ एकत्र करने में जो तुम्हारा उत्साह था, वह अब अभिषेक से निवृत्ति के लिये [वनवास की] सामग्री एकत्र करने में हो ॥ ५॥ मेरे अभिषेक के लिये जिस [कैकेयी] का मन सन्तप्त हो रहा है, हम लोगों की वह माता जिस प्रकार शङ्कित न हो, वैसा करो ॥ ६ ॥ सौमित्रे ! उसके मन में [किसी प्रकार की] शङ्का से उत्पन्न हुए दुःख की मैं क्षण भर के लिये भी उपेक्षा नहीं कर सकता ॥ ७ ॥ [सौमित्रे !] माताओं या पिता का जाने या अनजाने मैंने थोड़ा भी कभी विरोधाचरण किया है, ऐसा मुझे स्मरण नहीं ॥ ८ ॥ सत्यवादी, सत्यप्रतिज्ञ, सदा सत्य पराक्रम वाले एवं [सत्यच्युत होने के भय से] परलोक से डरे हुए मेरे पिता [मेरे द्वारा उनकी आज्ञा का पालन होने के कारण] निर्भय हो जाँय ॥ ९ ॥ इस [मेरे अभिषेकरूपी] कर्म के न

तस्यापि हि भवेदस्मिन् कर्मण्यप्रतिसंहृते । सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम् ॥१०॥
अभिषेकविधानं तु तस्मात्संहृत्य लक्ष्मण । अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुनः ॥११॥
मम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मज । सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयतां ततः ॥१२॥
मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि । गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम् ॥१३॥
बुद्धिः प्रणीता येनेयं मनश्च सुसमाहितम् । तं तु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि मा चिरम् १४॥
कृतान्तस्त्वेव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने । राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने ॥१५॥
कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम पीडने । यदि भावो न दैवोऽयं कृतान्तविहितो भवेत् ॥१६॥
जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम् । भूतपूर्वो विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा ॥१७॥
सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः । उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद्दैवात्समर्थये ॥१८॥
कथं प्रकृतिसंपन्ना राजपुत्री तथागुणा । ब्रूयात्सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीडां भर्तृसंनिधौ ॥१९॥
यदचिन्त्यं तु तद्दैवं भूतेष्वपि न हन्यते । व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः ॥२०॥

रुकने पर पिता जी को भी "मेरा वचन सत्य नहीं हुआ" [इस कारण] बहुत मानसिक संताप होगा। उनका संताप मुझे संतप्त करेगा ॥ १० ॥ इसलिये लक्ष्मण ! अभिषेक की तैयारी को छोड़कर यहाँ से शीघ्र ही वन को चला जाना चाहता हूँ। ॥ ११ ॥ हे नृपात्मज ! मुझे वन भेज देने के कारण [माता कैकेयी] कृतकृत्य होवे और निश्चिन्त होकर अपने पुत्र भरत का अभिषेक करे ॥ १२ ॥ मेरे वल्कल वस्त्र, मृगचर्म तथा जटा धारण करके अरण्य चले जाने पर कैकेयी के मन को सुख होगा ॥ १३ ॥ [वस्तुतः मेरे वन जाने में कैकेयी का कोई दोष नहीं, मेरे भाग्य के कारण ही ऐसा हो रहा है] इसलिये जिस [दैव] के कारण [कैकेयी की वन भेजने की] मति हुई और उसका निश्चय दृढ़ हो गया, [वन न जाकर] मैं उस [दैव] को क्लेश नहीं पहुँचाना चाहता। अतः मैं शीघ्र ही वन को जाऊँगा ॥ ॥ १४ ॥ सौमित्रे ! मेरे वनवास और [पिता द्वारा] प्रदत्त राज्य के छिन जाने में कृतान्त (=काल) को इी कारण समझो ॥१५॥ देवी कैकेयी का [मेरे वनप्रेषण] का भाव यदि भाग्य से प्रेरित न होता, तो मुझे इस प्रकार [वन भेजकर] पीड़ा देने में उसकी बुद्धि क्यों होती ? ॥ १६ ॥ हे सौम्य स्वभाव वाले लक्ष्मण ! तुम जानते ही हो कि आज तक कौसल्या, कैकेयी आदि माताओं के प्रति मेरे मन में परस्पर कोई भेद नहीं रहा, और कैकेयी का भी अपने पुत्र भरत तथा मेरे प्रति कोई बिषम व्यवहार नहीं रहा ॥ १७ ॥ मेरे अभिषेक की निवृत्ति के लिये और वन भेजने के लिये कैकेयी ने जो उग्र, कठोर, दुर्वचन कहे, उनका कारण मैं दैव के अतिरिक्त दूसरा नहीं समझता ॥ १८ ॥ [यदि भाग्य कारण न होता तो] उत्तम गुण और उत्तम स्वभाव रखने वाली राजपुत्री कैकेयी पति के सामने एक साधारण स्त्री के समान मुझे पीड़ा देने वाली बात कैसे कहती ? ॥ १९ ॥ जिसके [स्वरूप और प्रभाव के] विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता, उस दैव का प्राणियों पर प्रभाव रोका नहीं जा सकता [उसके कारण ही] मुझ एवं कैकेयी पर यह विपरीत व्यवहार आ पड़ा है ॥ २० ॥ सौमित्रे ! कौन पुरुष दैव से युद्ध कर सकता है ? क्योंकि कर्मों के फलभोग के रूप

कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान् । यस्य न ग्रहणं किंचित्कर्मणोऽन्यत्र दृश्यते ॥२१॥
सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ । यच्च किंचित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥२२॥
ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रपीडिताः । उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः॥२३॥
असंकल्पितमेवेह यदकस्मात्प्रवर्तते । निवर्त्यारम्भमारब्धं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥२४॥
एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना । व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते ॥२५॥
तस्मादपरितापः संस्त्वमप्यनुविधाय माम् । प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकीं क्रियाम् ॥२६॥
एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसंभृतैः । मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति ॥२७॥
अथवा किं ममैतेन राज्यद्रव्यमयेन तु । उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति ॥२८॥
मा च लक्ष्मण संतापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये । राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः ॥२९॥

न लक्ष्मणास्मिन् खलु कर्मविघ्ने माता यवीयस्यतिशङ्कनीया ।
दैवाभिपन्ना हि वदत्यनिष्टं जानासि दैवं च तथाप्रभावम् ॥३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे दैवप्राबल्यं नाम द्वाविंशः सर्गः ॥२२॥

में ही उसका प्रत्यक्ष होता है, किसी अन्य रूप में नहीं ॥ २१ ॥ सुख-दुःख, भय-क्रोध, लाभ-अलाभ, उत्पत्ति-विनाश तथा और भी जो कुछ इस प्रकार के [अज्ञातहेतुक] कार्य हैं, वे सब दैव के ही कार्य हैं ॥२२॥ कठोर तपस्या करने वाले ऋषि भी दैव के द्वारा प्रेरित होकर कठोर तपस्या से अर्जित नियमों को त्यागकर काम-क्रोध आदि के कारण [ऋषिपद से] भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ २३ ॥ प्रयत्न द्वारा आरम्भ किये गये कार्य को रोककर बिना संकल्प के अनायास ही जो कार्य हो जाता है, निश्चय ही वह दैव का कार्य है [जैसे कि हमारा अभिषेक रुककर वन को जाना]॥ २४ ॥ इसी यथार्थ ज्ञान वाली बुद्धि से मैंने स्वयं अपने अन्तःकरण को [दुःख आदि के विचार से] रोक लिया है, अतएव अभिषेक के रुक जाने पर भी मुझे दुःख नहीं ॥ २५ ॥ इसलिये मेरा अनुसरण करके तुम भी दुःखहीन हो जाओ और शीघ्र अभिषेक सम्बन्धी सब तैयारी हटा दो ॥ २६ ॥ हे लक्ष्मण ! अभिषेक के लिये तैयार किये गये इन्हीं सब घड़ों से तपस्या के व्रत के लिये स्नान होगा ॥ २७ ॥ अथवा राज्याभिषेक के द्रव्य से तैयार किये गये इन घड़ों से मुझे क्या ? मुझे तो स्वयं अपने हाथ से निकाला हुआ जल ही [तपस्या के] व्रत का अधिकार देगा ॥ २८ ॥ लक्ष्मण ! राज्यलक्ष्मी के विपर्यय होने से (=मुझे छोड़ भरत के पास चले जाने से) संताप मत करो। [क्योंकि संसार में] राज्य हो या वनवास, दो हि वस्तु हैं, [मेरे लिये तो] वनवास ही महान् कल्याणकारी है ॥२९॥ हे लक्ष्मण ! इस राज्यप्राप्ति रूपी कर्म के विघ्न में माता कैकेयी पर जरा भी शङ्का मत करो। दैव के वशीभूत होकर ही वह यह अनिष्ट आदेश दे रही है, दैव की बलवत्ता को तुम जानते ही हो ॥ ३० ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'दैव का प्राबल्य' विषयक बाईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २२ ॥

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १२] [अङ्क ९

इस अङ्क के लेख

१—परमैश्वर्य दो	आर्याभिविनय से	पृ० १
२—अपने को अकेला न देखो	श्री स्वा० गंगागिरि जी	३
३—वेद तीन या चार	श्री पं० शान्ति प्रकाश जी	४
४—उलझन अभी बनी है	श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय	६
५—असुर सम्बन्धी एक विचार	श्री पं० रामशङ्कर जी भट्टाचार्य	८
६—वेद में राधा कृष्ण-लीला	श्री पं जे. पी. चौधरी जी	१०
७—वेद और गोवध	श्री पं० अवधविहारीलाल जी	१२
८—वेदों में ज्ञान विज्ञान की बातें	श्री पं० राजेन्द्र प्रसाद सिंह जी	१३
९—सम्पादकीय	सम्पादक	१५
१०—विविध समाचार	"	१६
११—'वाल्मीकिरामायण' का आलोचनात्मक भाषानुवाद (गताङ्क से आगे)	अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी	१६ (पृ० २७३–२८८)
१२—यजुर्वेद-भाष्य-सम्बन्धी विज्ञप्ति		(टा० पृ० ४)

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

आषाढ २०१७ वि०, जुलाई १९६० ई०
दयानन्दाब्द १३६
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६१

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य—भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
" " विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ।||) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशेषाङ्क विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। **विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है।** विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—**वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६**

— पृ० १५ का शेष —

श्री० शङ्कर बाबु लगभग १४ वर्ष रोगशय्या पर रहे। उन को अस्थि का टी० बी० था। हड्डी बराबर रिसती रही। उत्तम से उत्तम चिकित्सा उनके सुपुत्रों तथा घरवालों ने की। सन् ४७ से मैं जब २ झरिया गया मैं उनसे अवश्य मिला। मुझे उन्हें देखकर अनेक अनुभव प्राप्त होता रहा। उनकी विचारधारा पहिले कुछ नास्तिकता की ओर थी. पीछे उनके ईश्वर विश्वास और गहरी धारणा को देखकर आश्चर्य ही नहीं होता था अपितु ऐसा प्रत्यक्ष सामने आता था कि प्रभु में आस्था मनुष्य को कितनी सहनशीलता और धैर्य्य का संचार करती है। वह धार्मिक विषयों में आर्य समाज के सुयोग्य विद्वान् श्री० पं. आखिलानन्द जी से सदा शंका समाधान करते थे और वहाँ पहुँचने पर इन पङ्क्तियों के लेखक से भी आप गहरी चर्चा करते थे। मेरी दृष्टि में उनकी विचारधारा बहुत सुन्दर बन चुकी थी। १४ वर्ष में इनका मस्तिष्क बराबर काम करता रहा। जहां इन्होंने १४ वर्ष घोर कर्मों का भोग भोगा, वहां आध्यात्मिक विचार धारा में भी यह बहुत आगे बढ़े थे। अन्त में श्री० अरविन्द जी के साहित्य की ओर विशेष रुचि वा आस्था रखने लगे। ऐसा प्रतीत होता था कि जैसे जीवनमुक्त के मार्ग की सीढ़ियों पर वह चढ़ते जा रहे हों। मैं तो जब भी इनके पास पहुँचता मेरे मनमें यही विचार आने लगता था॥

जीव की क्या गति होती है शङ्कर बाबु के जीवन से अनेक विध शिक्षा मिलती प्रतीत होती थी। जीवन की कमियों के साथ २ मानव की मनोगति कहां तक—कैसे और किधर जाती है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव इनसे मिलने पर होता था। न जाने कितने जन्मों का भोग इनका शेष था जो १४ वर्ष तक शय्या पर एक नरश्रेष्ठ के समान इन्होंने सब यातनायें सहीं, जिसका पारावार नहीं रहा॥ परिवार के सभी सज्जनों, विशेषकर इनके सब सुपुत्रों तथा धर्मपत्नी जी आदि ने निरन्तर इतने लम्बे काल तक अपूर्व सेवा का दृष्टान्त रखा कि सबके लिये अनुकरणीय है।

वह निःसन्देह एक विशिष्ट जीव रहे, जो बहुत ही कम दिखाई देते हैं, प्रभु कृपा करें कि उनके परिवार और सुपुत्रों को सुमति प्रदान करें जिसमें इस उच्च परिवार में धर्म की भावना सदा बनी रहे और समुन्नत हो।

हम परिवार की शान्ति और विगत आत्मा की सुगति के लिये परम देव परमात्मा से कामना करते हैं!!!

ओ३म्

ऋग्वेद — यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद — अथर्ववेद

सं श्रुतेन॑ गमेमहि॒ मा श्रुतेन॒ वि रा॑धिषि ।

अथर्व० १, १, ४॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष १२ } काशी, आषाढ़, सं० २०१७ वि०, जुलाई १९६० ई० { अङ्क ९

आर्याभिविनय से— टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

परमैश्वर्य दो

भग॒ प्रणे॑त॒र्भग॒ सत्य॑राधो॒ भग॒ेमां धिय॒मुद॑वा॒ दद॑न्नः ।
भग॒ प्र णो॑ जनय॒ गोभि॒रश्वै॒र्भग॒ प्र नृभि॑र्नृ॒वन्तः॑ स्याम ॥ यजु० ३४।३६ ॥

आर्याभिविनय-व्याख्या

हे भगवन् ! परमैश्वर्यवन् ! संसार वा परमार्थ में भग अर्थात् ऐश्वर्य के दाता आप ही हो । 'हे भग प्रणेतः [असि]' तथा आपके ही स्वाधीन सकल ऐश्वर्य है, अन्य किसी के आधीन नहीं । क्योंकि ऐश्वर्य के प्रेरक आप ही हो, आप जिसको चाहो उसको ऐश्वर्य देओ । सो आप अपनी कृपा से हम लोगों का दारिद्र्य छेदन करके हमको परमैश्वर्य वाले करें ।

'हे भग सत्यराधः [असि]', हे भगवन् ! सत्यैश्वर्य की सिद्धि करनेवाले आप ही हो । तथा जो मोक्ष कहाता है, उस सत्यैश्वर्य का दाता आप से भिन्न कोई नहीं है, सो आप नित्य ऐश्वर्य हमको दीजिये ।

'हे भग इमाम् धियम् ददत् नः उदव (=उद्गमय)' हे सत्यभग ! पूर्ण ऐश्वर्य तथा सर्वोत्तम बुद्धि आप हमको दीजिये, जिससे हम लोग, आपके गुण, और आपकी आज्ञा के अनुष्ठान के ज्ञान को यथावत् प्राप्त हों। सो सत्यबुद्धि, सत्य कर्म और सत्य गुणों को हमको प्राप्त करा, जिससे हम लोग सूक्ष्म से भी सूक्ष्म पदार्थों को यथावत् जानें।

'हे भग गोभिः अश्वैः नः प्रजनय' हे सर्वैश्वर्योत्पादक ! हमारे लिये ऐश्वर्य को अच्छी प्रकार से उत्पन्न कर। सर्वोत्तम गाय, घोड़े और मनुष्य, इनसे सहित अनुत्तम (=अत्युत्तम) ऐश्वर्य हमको सदा के लिये दीजिये।

'हे भग नृभिः नृवन्तः प्रस्याम' हे सर्वशक्तिमन् ! आपकी कृपाकटाक्ष से हम लोग सब दिन उत्तम-उत्तम पुरुष, स्त्री, सन्तान और भृत्य वाले हों। हमारी आपसे यही अधिक प्रार्थना है कि कोई मनुष्य हममें दुष्ट और मूर्ख न रहे, तथा पैदा भी न हो, जिससे हम लोगों की सत्कीर्त्ति सर्वत्र हो और निन्दा कभी न हो।

दण्डान्वय-टीका

हे भग[1]	= हे ऐश्वर्यस्वरूप ! आप
प्रणेतः[2] [असि]	= ऐश्वर्य के उत्पादक हैं, और उसकी प्राप्ति के लिये जीवों को उपदेश देने वाले हैं।
हे भग	= हे ऐश्वर्यस्वरूप ! आप
सत्यराधः[3][4] [असि]	= हमारे व्रत को पूर्ण करने वाले हैं।
हे भग	= हे ऐश्वर्यस्वरूप ! आप
इमाम्	= इस
धियम्	= ऐश्वर्य[5] प्राप्ति की बुद्धि तथा सङ्कल्प को
ददत्	= देते हुए
नः	= हमारी
उदव	= उन्नति कीजिये (तथा)
गोभिः अश्वैः नः प्रजनय[6]	= गाय (और) घोड़ों की उत्पत्ति हमारे यहाँ अधिक से अधिक हो।
हे भग	= हे ऐश्वर्यस्वरूप !
(वयम्)	= हम लोग
नृभिः[7] नृवन्तः प्रस्याम	= नेतृत्वगुणोपेत मनुष्यों से अच्छी तरह युक्त हों।

अर्थबोधक टिप्पणी

१. धननामसु पठितम्। निघ० १।१॥ व्यु० भज् = सेवायाम्। भ्वा०॥ भज् = विश्राणने चुरा०, Sun: moon: good fortune: happiness: affluence: dignity: fame: loveliness: excellence: Virtue: effort: absence of desire: strength: omnipotence: Superhuman powers.

२. Leader: maker: creator: teacher.

३. एतद् वै खलु व्रतस्य रूपं यत् सत्यम्। श० १२।८।२।४॥

४. व्यु० राधोऽकर्मकाद् वृद्धावेव। दिवा०। to accomplish: to perform: to achieve: to favour—आप्टे.

५. ईश्वरस्य भाव ऐश्वर्यम्। Supermacy: might: dominion: wealth: greatness: Superhuman powers: the divine faculties of omnipotence, omnipresence etc.

६. व्यु० प्रजन् = to cause: to bring forth.

७. व्यु० नृ = नये। भ्वा० तथा क्रया०.

अपने को अकेला न देखो

[ले०—श्री स्वा० गंगागिरि जी, आचार्य गुरुकुल महाविद्यालय, रायकोट—लुध्याना]

अपने को अकेला देखना ही परमात्मा को भूलना है, भगवान् सर्व—अन्तर्यामी है। व्यापक है, सर्वज्ञाता है। इस विषय में वेद का (अथर्व० ४।१६।२) उपदेश कितना सुन्दर है,—

यस्तिष्ठति चरति यश्च वञ्चति
यो निलायं चरति यः प्रतङ्कम् ।
द्वौ संनिषद्य यन्मन्त्रयेते
राजा तद्वेद वरुणस्तृतीयः ॥

इसका भाव यह है कि जो खड़ा है (यस्तिष्ठति) जो ठहरता है, (यः चरति) जो चलता है, जो संशय करता है, (च यः वञ्चति) जो कुटिल चाल चलता है, और ठगता है, (यः निलायं चरति) जो छिप कर चलता है, षड्यन्त्रादि करता है, (यः प्रतङ्कं चरति) जो भय का संचार करता है, (यत् द्वौ) और जो दो मनुष्य (संनिषद्य) एक जगह गुप्त स्थान में बैठ कर मन्त्रणा करते हैं, (राजा) सर्व-व्यापक सर्वप्रकाशक (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ अन्तर्यामी प्रभु (तृतीयः) उनमें तीसरा होकर (तत् वेद) उसको जानता है।

इस मन्त्र का उद्देश्य भगवान् की सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता को बता कर मनुष्य को पाप कर्मों से दूर करने का भाव प्रदर्शित करना है। मनुष्य किसी निर्जन वन में खड़ा अपने आप को समझता है कि यहाँ मुझे कोई नहीं देखता। यह उसकी भूल है, क्योंकि (राजा तद्वेद वरुणः) सर्वान्तर्यामी सर्वप्रकाशक वरुण उसे जानता है। सर्वप्रकाशक वही हो सकता है, जो सर्वव्यापक भी हो, स्वयं प्रकाशक भी हो। हे भोले मनुष्य! तुम अकेले नहीं हो, भगवान् भी तुम्हारे साथ है, तुम को दिखाई नहीं देता है। वह तेरे अन्दर है, तेरी आत्मा में विराजमान है। जो कुछ तू सोचता है, उसे भी वह जानता है, तू उससे छिप नहीं सकता है। किसी को जो संशय होता है, प्रभु उसको भी जानते हैं। कोई धूर्त किसी सरलचित्त को एकान्त में ले जाकर उसे ठगने की चेष्टा करता है और समझता है कि मेरी इस ठगी को कोई नहीं जानता। वेद कहता है कि (राजा तद्वेद वरुणः) अन्तर्यामी भगवान् इस बात को जानते हैं, कोई छिप कर टेढ़ी चाल चलता है और समझता है कि मैं यह कार्य्य छिप कर कर रहा हूँ। वेद उसे चेतावनी देता है, (राजा तद्वेद वरुणः) हे कुटिल! अन्तर्यामी प्रभु इस बात को जानता है। कई लोग दूसरों पर अपना रौब गाँठते हैं, दूसरों को आतङ्क दिखाते हैं। वेद कहता है कि ओ! डराने वाले! तू स्वयं डर, भय कर, क्योंकि तेरी इस लीला को अन्तर्यामी भगवान् जानता है। दो मनुष्य एकान्त में जाकर मन्त्रणा करते हैं, सब बात को गुप्त रखते हैं कि कोई न देख पावे। वे भोले या चालाक लोग इस बात को नहीं जानते हैं कि (राजा तद्वेद वरुणः तृतीयः) सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी भगवान् उनमें तीसरा होकर सब कुछ जान रहा है। वेद यह कहता है कि परमात्मा सब के अन्दर बाहर विराजमान है। अतः वह सब का भेद जानता है। यजुर्वेद के अ० ४० मन्त्र ४ में कहा है कि (तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः) वह भगवान् इस सारे जगत् के अन्दर है, और वही इस सारे के बाहर है। कोई स्थान ऐसा नहीं जहाँ पर भगवान् की सत्ता कार्य न करती हो।

भगवान् को यहाँ राजा कहा गया है, राजा का एक अर्थ राज करने वाला भी होता है, मनुष्य पाप करके सांसारिक राजा के दण्ड से भले ही बच जाये, किन्तु वरुण राजा के दण्ड से नहीं बच सकता क्योंकि वह सर्वज्ञ है। कोई कहीं भाग जाये उस से नहीं बच पाता है। वेद में कहा है कि—

'उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः'। अथर्व० ४।१६।४॥

चाहे पाप कर्त्ता द्यौ से भी परे चला जाये किन्तु राजा वरुण के दण्ड से नहीं बच सकता है, क्योंकि—

सर्वं तद्राजा वरुणो विचष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्। संख्याता अस्य निमिषो जनानाम्.........॥
अथर्व० ४।१६।५॥

जो दोनों लोको में है। उस सब को राजा वरुण जानता है। उस भगवान् ने तो लोगों की आँखों के निमेष तक भी गिने हुए हैं। अर्थात् अत्यन्त दूर और अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ भी उसके ज्ञान के अन्दर हैं। इस वास्ते हे मानव! तू संभल कर चल। उसको न भूल जो हर समय तेरे संग में है। पाप करना छोड़ दे, नहीं तो पाप का फल भोगने में रोना पड़ेगा। पाप का दण्ड अवश्य मिलेगा। उससे बच न सकेगा। तू अज्ञानी मनुष्य को भले ही ठग ले, किन्तु सर्वज्ञ भगवान् को नहीं ठग सकता। कोई भूल से यह न मान बैठे कि भले ही भगवान् सर्वत्र व्यापक है, सर्वद्रष्टा है, उसके देखते रहने पर भी हम अपने अभिलषित कार्य को नहीं छोड़ सकते, हमें लज्जा, शंका कुछ नहीं है। ऐसे आदमियों को सावधान करने के लिये व्याख्येय मन्त्र से पूर्ववाले मन्त्र में कहा है कि—

'बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति"

हम सब का महान् अधिष्ठाता हमारे सर्व कार्यों को दूर तथा समीप से देखता है। अर्थात् भगवान् सर्वज्ञ–सर्वसाक्षी ही नहीं है, वरन् वह अधिष्ठाता भी है। पाप, पुण्य, भले, बुरे कार्यों के फलों की व्यवस्था भी करता है। बुरा कर्म करके कोई उसकी दण्डव्यवस्था से बच नहीं सकता। भगवान् की सर्वज्ञता तथा अन्तर्यामिता को बतलाने के लिये वेद में वरुण शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे संध्यागत मनसा परिक्रमा मन्त्रों में "प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः" में कहा गया है कि प्रतीची–उलटी अर्थात् पीठ पीछे की दिशा का स्वामी वरुण है। अर्थात् मानव इन्द्रियों और बुद्धियों से अगम्य पदार्थों का भी ज्ञाता तथा नियन्ता भगवान् है। प्रभु की सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता का विश्वास ही पापों से बचाता है। विश्वास उसी मनुष्य में आ सकता है, जिसपर प्रभु की कृपा हो ॥

वेद तीन या चार

[ले०—श्री पं० शान्ति प्रकाश जी शास्त्रार्थमहारथी, गुरुदत्तभवन, जालंधर]

वेद तीन हैं या चार? यह प्रश्न बहुधा शास्त्रार्थों में आया करता है। आर्यसमाज के सैकड़ों शास्त्रार्थों में इसका यथार्थ उत्तर दिया जा चुका है। पुनरपि विरोधी अकारण इस प्रश्न से चिमटे हुए प्रतीत होते हैं। अतः इसका पौनःपुन्येन समाधान आवश्यक है।

वेद तीन भी हैं और चार भी। विषय की अपेक्षा से चार और छन्दोदृष्टि से तीन हैं। ज्ञानकर्मोपासनासाक्षात्कार यह चार विषय एक २ वेद अर्थात् ऋग्यजुःसामाथर्व का क्रमशः प्रधान विषय होने से वेद चार हैं। ऋग्वेद का प्रधान विषय ज्ञान काण्ड, यजुः का कर्म काण्ड, साम का उपासना काण्ड और अथर्ववेद का साक्षात्कार अथवा विज्ञान विषय है। ऋग्वेद में प्रधानतः ब्रह्म से स्तंभ पर्यन्त ज्ञान अथवा स्तुति विषयक वर्णन है। यजुः कर्मसंबद्ध, साम उपासनायुक्त और अथर्व विज्ञानभूयिष्ठ है। शेष विषय गौणतः सभी में वर्णित हैं।

हमें आम्रफल खाना है तो हमें चार बातें करनी आवश्यक हैं। एक तो यह कि जब तक आम के गुणों का ज्ञान न हो, आम खाने की इच्छा उत्पन्न नहीं हो सकती। किसी वस्तु का स्तुति पूर्वक गुण वर्णन करना यह ज्ञान काण्ड है। ऋग्वेद का मुख्य विषय ज्ञान काण्ड और गौण विषय कर्मोपासनासाक्षात्कार हैं।

आम्रफल के गुणों का श्रवण करने के अनन्तर जब आम खाने की इच्छा हृदय में पैदा हो गई तो आम की ढूँढ में हम उद्यान में पहुँचने का प्रयत्न करने लगे। किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के लिये यत्न करना यह कर्म

काण्ड है, जो कि यजुर्वेद का मुख्य विषय है। शेष ज्ञानोपासनासाक्षात्कार उसमें गौण हैं।

उद्यान में पहुँचकर आम्रफल को हस्तगत कर लेना अर्थात् आम की दूरी समाप्त होकर वह और हम परस्पर अत्यन्त सामीप्य को प्राप्त हो गये। यह सामीप्य ही उपासना है। उप = समीप, आसन = होना, उपासना = समीप होना यह सामवेद का मुख्य विषय है। ज्ञानकर्मसाक्षात्कार सामवेद में गौण हैं।

जब आम्रफल को हमने खाकर उसका स्वाद चख लिया और अनुभूति प्राप्त कर ली कि आम सचमुच मीठा है। जैसा सुना था एवं पढ़ा था वैसा ही है। इस अनुभव को साक्षात्कार कहते हैं, जो कि अथर्ववेद का मुख्य विषय है। और ज्ञानकर्मोपासना अथर्व में गौण हैं।

वेदत्रयी अथवा तीन वेद कहने का अभिप्राय छन्द-दृष्टि से है। पूर्वमीमांसा में स्पष्ट लिखा है कि—

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था।
गीतिषु सामाख्या।
शेषे यजुःशब्दः। मीमां० २। १। ३५-३७॥

चारों वेदों के जिन मन्त्रों में अर्थवश पादव्यवस्था है, वे ऋचा हैं। गान में उन्हीं मन्त्रों की गीत्यात्मक होने से साम संज्ञा होती है और गद्यात्मक मन्त्रों का नाम यजुः है।

यह तीनों प्रकार के मन्त्र चारों वेदों में हैं। सर्वानुक्रमणिका की वृत्ति की भूमिका में षड्गुरुशिष्य ने कहा है कि:—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः संप्रदर्श्यते।
ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये॥

यज्ञों में मंत्रों का तीन प्रकार का विनियोग है, जो कि चारों वेदों में ऋग् यजु साम रूप से है।

चारों वेदों में एक मन्त्र एक शब्द के परिवर्तन के साथ आया है। जिसमें चारों वेदों का वर्णन होने से चार वेदों की सिद्धि असंदिग्ध है। यथाः—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

इस मन्त्र में अथर्ववेद के लिये छन्दः शब्द का प्रयोग हुआ है। क्योंकि वेद मन्त्रों में अथर्ववेद का नाम छन्दोवेद भी है। समस्त शास्त्रों में चारों वेदों का वर्णन है। जहाँ २ तीन वेद लिखे हैं। वहाँ २ छान्दसादि दृष्टि से चारों वेदों को तीन वेद कहा है।

महाभाष्य के चार भिन्न २ प्रकरणों में चारों वेदों का वर्णन है। वैदिक शब्दों के वर्णन में चारों वेदों के मन्त्रों की चार प्रतीकें महाभाष्य के पस्पशाह्निक में उद्धृत की गई हैं।

चत्वारि शृंगेति वेदा वा एत उक्ताः॥
(निरुक्त परिशिष्ट अ० १)

यजुर्वेद के प्रसिद्ध मन्त्र "चत्वारि शृंगाः" का अभिप्रायः चार वेदों से है।

ऋग्यजुःसामाथर्वण्येषा व्याहृतिश्चतुर्णां वेदानामानुपूर्व्येणों भूर्भुवः स्वरिति व्याहृतयः। गोपथ १।२७॥

ऋग्यजुःसामाथर्व वेदचतुष्टय में यह व्याहृति है। वेदों की क्रमशः ओम् भूर्भुवः स्वः यह व्याहृतियाँ हैं।

४८ वर्ष के ब्रह्मचर्य में प्रतिवेद १२ वर्ष के योग से ४८ वर्ष में चारों वेद पूर्ण होते हैं। गोपथादि में इसका विशद वर्णन है।

वेदारम्भ संस्कार में १२ वर्ष प्रतिवेद के हिसाब से ४८ वर्ष के आदित्यब्रह्मचर्य का वर्णन है।

उपनिषदों में भी चारों वेदों का वर्णन है। यथाः—

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः॥
मुण्ड० १। ५॥

चारों वेद अपरा विद्या है।

अरे वा अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥
बृहदारण्यकोप० ३। ४। ५। ११॥

उस महतो महान् से श्वासवत् सहज स्वभावतः चारों वेद प्रादुर्भूत हुए। इसी प्रकार शतपथ ११।५।३ में उल्लेख है कि:—

ऋचायें देवों की दुग्धाहुतियाँ हैं। यजुः देवों की घृताहुतियाँ, साम देवों की सोमाहुतियाँ और अथर्व देवों की मेद आहुतियाँ हैं।

चरणव्यूह परिशिष्ट में भी चार वेदों को स्वीकार किया गया है:—

तत्र यदुक्तं चातुर्वेद्यं चत्वारो वेदा विज्ञाता भवन्ति ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदश्चेति॥ १। २॥

वहाँ चातुर्वेद्य का अभिप्राय चार वेद ही है।

संहिता भाग चार वेद तथा सब धर्मशास्त्र शास्त्र शब्द से महाभारत में विदित है जैसा कि:—

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव हि ॥

सभापर्व ११ । ३२ ॥

इस सारे लेख का संक्षेप महाभारत के एक श्लोक में कह दिया गया है कि:—

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥ शान्तिपर्व

सूक्त और अंग के अनुसार चारों वेदों में त्रयी विद्या का अनुशीलन करे ।

ब्रह्मा से महर्षि दयानन्द पर्यन्त सभी ऋषियों ने अपने ग्रन्थों में चारों वेदों का वर्णन किया है । अतः तीन और चार का भेद केवल तीन छन्दों और चार विषयों की दृष्टि से है । वेदत्रयी का अभिप्राय भी स्पष्ट चार वेदों से है ।

विद्वानों के विचारार्थ—

उलझन अभी बनी है

[ले०—श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय, एम० ए०,—इलाहाबाद]

मेरे ७ फर्वरी ६० के आर्यमित्र द्वारा प्रकाशित लेख की समीक्षा में अब तक दो लेख निकले हैं। एक तो 'आर्य्य संसार' कलकत्ते में विद्वद्वर पं० अमर सिंह जी शास्त्रार्थ-महारथी का, दूसरा मई ६० की वेदवाणी में श्री पं० रामावतार जी शर्मा पंचतीर्थ का। दोनों लेख पाण्डित्यपूर्ण, शिष्टतासम्पन्न तथा जोरदार हैं। परन्तु मुझे ऐसा लगा कि तोपें दनदनाती रहीं । बारूदखाना भी खाली हो गया, शोर तो बहुत हुआ, परन्तु जिस मच्छर के मारने के लिये यह सब कुछ किया गया वह अब भी जीवित है और कान पर भिनभिना रहा है । उलझन अभी वैसी ही बनी है ।

यदि यह सिद्ध हो जाय कि वर्तमान संस्कारविधि में समिधाधान की जो विधि दी है, वह महर्षि दयानन्द को इष्ट थी तो हम आर्यसमाजियों के लिये स्वाभाविक यह है कि जिस किसी आचार्य या सम्प्रदाय का मत उससे समानता रखता है, उसे प्रस्तुत करें और जो आक्षेप उसके विरुद्ध किये जावें उनकी निर्बलता तथा असारता को सिद्ध करने का यत्न करें । प्रशंसित विद्वानों ने ऐसा ही किया है । परन्तु यदि यह सिद्ध हो कि यह विधि ऋषि दयानन्द को इष्ट न थी । तो यह सब प्रमाण तथा युक्तियाँ निरर्थक हो जाती हैं । मेरी धारणा है कि ऋषि दयानन्द को यह अभीष्ट न था कि चार मन्त्रों से तीन समिधायें दी जायें और "अयन्त" से पहली । इस धारणा के हेतु ये हैं—

(१) असली कापी में ऐसा नहीं लिखा । अपितु इस के विरुद्ध तीन मन्त्रों से तीन समिधा ही लिखी हैं, उसमें यजुर्वेद अध्याय ३ के पहले १–३ मन्त्र ही हैं, 'अयन्त०' नहीं है ।

(२) उस कापी में पीछे से जो संशोधन हुआ है, उस संशोधन में भी ऐसा नहीं किया गया ।

(३) प्रेसकापी में अचानक, बिना कारण के हाशिये पर मन्त्र का आ जाना जो यजुर्वेद के उन तीन मन्त्रों से सर्वथा भिन्न है, संदेह को पक्का करने के लिये पर्याप्त है, विशेष कर उस समय जब प्रेसकापी का अधिकतर भाग ऋषिवर की मृत्यु के पीछे लिखा गया हो और अति साधारण लेखक ने लिखा हो जिसको पूर्वापर अंशों के समन्वय का भी ज्ञान न हो ।

(४) वर्तमान पद्धति के तीन अंश इतने एक दूसरे के विरुद्ध हैं कि साधारण पढ़ने वाले को भी उनके प्रामाण्य में सन्देह हो जाता है—जैसे (अ) तीन लकड़ी आठ २ अंगुल की घृत में डुबा उनमें से एक २ नीचे लिखे **एक २ मन्त्र से एक २ समिधा को अग्नि में चढ़ावे ।**

(आ) ओं समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहोतन स्वाहा ॥ **इदमग्नये-इदन्न मम ।**

यहाँ 'स्वाहा' भी दिया है और "इदमग्नये-इदन्न मम" भी । इससे स्पष्ट है कि इस मन्त्र से भी अलग समिधा देनी अभीष्ट थी, केवल मन्त्र का जाप इष्ट न था । जो

लोग इस भाग को छोड़ देते हैं, वे ऋषि के मन्तव्य के विरुद्ध करते हैं। उनकी समझ में नहीं आता कि क्या करें और क्या न करें—यदि चार मन्त्रों से तीन समिधायें देते हैं तो इस मन्त्र का 'स्वाहा' तथा त्याग-भाग छोड़ना पड़ता है, यदि नहीं छोड़ते तो 'अयन्त०' मन्त्र से समिधा देने के लिये अवकाश नहीं रहता। उलझन वास्तविक है। विधि का पूरा पालन हो ही नहीं सकता। एक अंश अवश्य छोड़ना पड़ेगा। आज कल लोग भाग 'अ' और भाग 'आ' की सर्वथा उपेक्षा करते हैं। यदि चार मन्त्रों से तीन समिधाओं का सिद्धान्त छोड़ दें तो विधि असली कापी और मौलिक दृष्टता के अनुकूल हो जाय और उलझन दूर हो जाय।

(इ) 'सुसमिद्धाय०' मन्त्र के अन्त में पहले केवल इतना था 'इस मन्त्र से'। असली कापी में इतना ही है। वह ठीक है, समुचित है। "अर्थात् दोनों मन्त्रों से दूसरी" यह पीछे से बढ़ाया है। और भौंडेपन से बढ़ाया है। यह भौंडापन मौलिक लेख की शैली के कारण नहीं है। अपि तु 'थेगरी' है जो किसी ने बाहर से दी है। वह इस प्रकार का भौंडापन नहीं है जैसा कि विद्वान समीक्षकों ने दूसरे स्थानों से उद्धृत किया है।

ये मुख्य कारण हैं संदेह के। दोनों महानुभावों ने इन पर विचार ही नहीं किया। वर्तमान संस्कारविधि में दिये हुये "परस्पर विरोध" को मिटाने के लिये आप को दोनों में से एक काम करना है—या तो भाग 'अ' और 'आ' को काट दीजिये अर्थात् 'एक-एक मन्त्र से एक एक समिधा' को काट दीजिये और उसके स्थान पर "चार मन्त्रों से तीन समिधायें" ऐसा लिख दीजिये। और 'समिधाग्नि०' के अन्तिम भाग "स्वाहा। इदमग्नये-इदन्न मम' को भी काटिये और इसके अन्त में 'इससे' काटिये तथा 'सुसमिद्धाय' के अन्त से 'इस मन्त्रसे' इतना काटिये। यदि इन चार स्थानों को काटना नहीं चाहते तो 'अयंत०' को भूल मानकर असली कापी के अनुकूल कर दीजिये। मुझे पिछली बात अधिक सुसंगत प्रतीत होती है। स्वा० दयानन्द जी महाराज को यही इष्ट था। आरम्भ में भी और अन्त में भी।

संस्कारविधि के पहले दो तीन संस्करणों को मिला जाइये। आपको स्पष्ट हो जायगा कि बेचारा प्रेसकापी का लेखक स्वयं सन्दिग्ध था। मुझे इतनी बात में कोई आपत्ति नहीं कि "अभ्यास भी ग्रन्थ के तात्पर्य का निर्णायक होता है"। परन्तु आप जो "सात बार" 'अयन्त०' मन्त्र को दुहराया हुआ देखते हैं, ये प्रतीकें तो पीछे से जोड़ी गई हैं। यदि 'अयं०' मन्त्र का प्रक्षेप न हुआ होता तो प्रतीकों में 'समिधा०' आदि ऐसा लिखा होता। एक भूल कई भूलों का कारण हो जाती है। यहाँ यह 'अभ्यास' निर्णायक नहीं है। कुछ महानुभाव समझते हैं कि ऋषि के ग्रन्थों में आई हुई भूलों का सुधार करने में ऋषि के 'ऋषित्व', 'निर्भ्रान्तत्व', "साक्षात्कृतधर्माणः" आदि-आदि गुणों की अवहेलना होती है। परन्तु यह थोथी कल्पना है। ऋषिवर न केवल स्वयं अपने लेखों में संशोधन करते हुये पाये जाते हैं, अपितु दूसरों को भी संशोधन का अधिकार देते हैं। जो लोग ऐसा पक्ष रखते हैं कि 'अयंत०' मन्त्र स्वामी जी ने स्वयं 'संशोधन' के रूप में बढ़ा दिया, वे भी तो कम से कम यह बात स्वीकार कर लेते हैं कि उनका पूर्व कथन अयुक्त था और पीछे से उसको संशोधन करके युक्त किया गया। क्या असली कापी लिखवाते समय ऋषि ऋषि या निर्भ्रान्त या 'साक्षात्-कृतधर्मा' न थे और ये गुण उनमें प्रेसकापी बनाते समय ही आगये। आप एक ही समय दो परस्पर विरोधी बातों को नहीं मान सकते। न्याय तो यही है कि किसी 'वचन' की परीक्षा करते समय उसके वक्ता के 'व्यक्तित्व' को बीच में न घसीटा जाय। यदि भूल है तो उसे बिना संकोच के सुधार दिया जाय। क्योंकि 'भूलों' को सुरक्षित रखना मूल सिद्धान्तों को आपत्ति में डालना है—जैसे चिड़ियों के घोंसले में आये हुये साँप को मारने में संकोच करना या विषाक्त अन्न खाना। प्राचीन वैदिक ग्रन्थ इसी प्रकार विकृत हुये हैं और ऋषि दयानन्द के ग्रन्थ भी उसी आपत्ति में हैं। उनके अनुयायी भूल-संशोधन को उनकी मानहानि समझते हैं। यदि सन् १८८४ में यह सुधार हो सकता तो सुगम था। परन्तु तब समाज के पास साधन न थे। आरम्भकाल था। यदि १८९४ में किया जाता तो केवल १० वर्ष पुरानी भूल सुधर जाती। अब यह भूलें ७६ वर्ष पुरानी हो चुकीं। २०० वर्ष पश्चात् और अधिक पक्की हो जायेंगी। ऋषि के भक्तों को इस समस्या पर विचार करना है। ऋषि को अपने नाम और यश की अपेक्षा सिद्धान्त अधिक प्यारे थे। हमारी धारणा इससे विपरीत है। जब कभी कोई भूल सामने आती है तो कहने लगते हैं कि ऋषि ऋषि थे। साक्षात्कृतधर्मा थे, निर्भ्रान्त थे। अतः यह भूल भूल नहीं है। यही

मनोवृत्ति मुसलमान मुल्लाओं, ईसाई पादरियों और अन्य गुरुओं के चेलों की रही, यही हमारी है। हमारे गुरु की यह मनोवृत्ति नहीं थी।

मुख्य विषय तो इतना ही है, परन्तु आनुषङ्गिक रूप से कई अन्य बातें भी आ गई हैं। इनमें से हर एक का निराकरण मुख्य विषय से दूर भटकना होगा। मुझे यह आपत्ति नहीं कि 'अयंत०' मन्त्र वेद मन्त्र न होते हुये भी विनियोग में क्यों आ गया। मेरी आपत्ति यह है कि यजुर्वेद अध्याय ३ के पहले तीन मन्त्र पर्याप्त थे। ऋषि दयानन्द ने या किसी पहले आचार्य ने इनको उसी स्थान से लिया होगा। फिर दूरस्थ देश से 'अयं०' के लाने की क्या आवश्यकता थी?

इसी प्रकार समिद्वती ऋचा कौन है और कौन नहीं। यह भी पारिभाषिक प्रश्न है। दोनों लेखों में इसकी विवेचना की गई है। परन्तु धृष्टता के लिये क्षमा किया जाऊँ। यदि गम्भीरता से विद्वान् महानुभाव कर्मकाण्ड की पुस्तकों का अध्ययन करेंगे तो उनको मेरे पक्ष में अपनी सम्मति बदलनी पड़ेगी। इस समय मैं अपने कथन को मुख्य प्रश्न तक ही सीमित रखता हूँ॥

विचारार्थ—

असुर संबन्धी एक विचार

[*ले०—श्री पं० रामशंकर जी भट्टाचार्य, काशिराज पुराण-प्रकाशन—शिवाला, वाराणसी*]

पं० भगवद्दत्त जी ने अपने 'भारतवर्ष का इतिहास' ग्रन्थ में लिखा है—"दिति से दो पुत्र हुए...इसी प्रकार दनु से दानव हुए...वैदिक घटनाओं को आख्यानों के साथ समझाने के लिये उन्हें (=दैत्य-दानव) असुर कहा गया है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है—"असुराणां वा इयं पृथिवी अग्र आसीत्" (३।२।९।६) [पृ० ४१ द्वितीय संस्करण]।

यहां असुर और दैत्य-दानव का सम्बन्ध स्पष्ट नहीं हो पाया है। 'वैदिक घटनाओं को आख्यानों के साथ समझाने के लिये' यह कोई स्पष्टार्थक हेतु नहीं है। शास्त्रों में इस प्रकार समझाना भी शायद ही मिलता हो।

हमें चिरकाल से इस पर संशय था। दैत्य-दानव के साथ असुरों का क्या सम्बन्ध है, यह प्रश्न दुःसमाधेय प्रतीत होता था। कुछ दिन हुए कि इस प्रश्न का समाधान मिल गया है, अतः पाठकों को इससे परिचित कराना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि इस पर विचार-विमर्श चलता रहे, जिससे प्रकृत तथ्य ज्ञात हो जाय।

वायु पुराण में दिति-दनु-सन्तति को कहने के बाद कहा गया है—'इत्येते त्वसुराः प्रोक्ताः दैतेया दानवाः च ये' (६८।१४)[1]

इससे स्पष्ट होता है कि दैत्य और दानवों का सम्मिलित नाम 'असुर' है, अथवा असुर शब्द दैत्य के लिये तथा दानव के लिये प्रयुक्त होता है। असुर का अर्थ दैत्य भी हो सकता है, दानव भी और दैत्य-दानव का समूह भी। यह वाक्य काश्यपीय प्रजासर्ग में आया है, अतः अर्वाचीन काल में प्रक्षिप्त वाक्य नहीं है।

पुराणों को ध्यान से पढ़ने पर यह पता चलता है कि जहां भी दैत्य, दानव, गन्धर्व, राक्षस आदि विभिन्न प्राणियों की उत्पत्ति के विषय में प्रश्न किया गया है, वहां कहीं भी 'असुर' की उत्पत्ति के लिये प्रश्न नहीं किया गया है[2]

---

(१) ब्रह्माण्डपु० का पाठ है—'इत्येत असुराः क्रान्ता दैतेया दानवास्तथा। सुत्वानस्तु स्मृता दैत्या असुत्वानो दनोः सुताः'॥ (२।६।१४)

(२) वायु पु०—'दैत्यानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम्। सर्पभूतपिशाचानां पशूनां पक्षिवीरुधाम्॥ उत्पत्तिं निधनं चैव विस्तरात् कथयस्व नः'। (६७।४८)। विष्णु पु० में कहा गया है—'देवानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम्। उत्पत्तिं विस्तरेणेह मम ब्रह्मन् प्रकीर्तय' (१।१५।८५)। लिङ्ग पु०—'देवानां दानवानां च गन्धर्वोरगरक्षसाम्। उत्पत्तिं ब्रूहि सूताद्य यथाक्रममनुत्तमाम्' (१।६३।१)। मत्स्य ५।१ में यही बात है। ब्रह्म पु० ३।१ में भी ऐसा ही है। ब्रह्म पु० २।५।१ = वायु ६७।४८ है। इस प्रकार कहीं भी असुर का नाम न लेना सहेतुक ही होता है।

जिससे जान पड़ता है कि असुर प्रकृत जाति नाम नहीं है। जाति की दृष्टि से दैत्य और दानव (दिति-दनु-जात) जातियां हैं, और 'असु-रमण' के कारण इन दो जातियों को असुर भी कहा जाता है। असुरोत्पत्ति सम्बन्धी प्रश्न न होना इसमें एक प्रबल प्रमाण है।

पुराणों के अध्ययन से यह भी पता चलता है कि जो व्यक्ति जातितः दैत्य या दानव हैं, उनको पुराणों में असुर भी कहा गया है। दैत्य हिरण्यकशिपु को बार-बार असुर भी कहा गया है।

पर बाद में 'असुर' संज्ञा की उभयनिष्ठता के कारण भ्रान्तियां भी हुई हैं। चूँकि किसी को 'असुर' कहने पर यह स्पष्टतः विज्ञात नहीं हो पाता था कि वह जातितः दानव है या दैत्य है, अतः परवर्ती काल में दानवों के लिये भी दैत्य शब्द का प्रयोग किया जाने लगा; उसी प्रकार दैत्यों के लिये भी दानव का प्रयोग होने लगा। चूँकि उपलब्ध पुराणों का अधिकांश भाग अर्वाचीन है, अतः सर्वत्र पुराणों में यह दोष दीख पड़ता है। पर इस दोष का कारण असुर संज्ञा की उभयनिष्ठता ही है। यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है।

दानव-दैत्य के लिये असुर संज्ञा के प्रवर्तन का कारण भी है। ये दोनों दायहेतुक[३] अदितिजात देवों के विरोधी थे। (अरिष्टा खसा सुरसा आदि के गर्भज देवों के ऐसे विरोधी नहीं थे, यह भी पुराणों से जाना जाता है) अतः दोनों के लिये एक संज्ञा की आवश्यकता पड़ी थी। विभिन्न पदार्थों की समलक्ष्यता होने पर व्यवहारार्थ ऐसी एक संज्ञा की आवश्यकता होती है। सुबन्त और तिङन्त के असदृश होने पर भी अर्थोपलब्धि के क्षेत्र में समता के कारण दोनों को 'पद' कहा जाता है, यह इसका शास्त्रीय दृष्टान्त है।

अदिति की अपेक्षा दनु और दिति में भी कुछ साम्य अधिक था, यह भी पुराण में कथित है। वायु में कहा गया है कि अदिति धर्मतत्परा है, दनु मायाशीला है, दिति गन्धशीला है (६९ । ९२-९३)। [गन्ध = गर्व या अहंकार]। पुनः ६९ । ३४४-३४५ में कहा गया है कि दिति बलशीला है। धर्म के विरोध में माया और 'बल-अहंकार-दम्भ' की एकता संसार में चिर-प्रसिद्ध है।

असुरादि के विषय में अनेक रहस्यगर्भ बातें ज्ञातव्य हैं। असुरादि जैसे लौकिक ऐतिहासिक प्राणी हैं, वैसे अनेक आध्यात्मिक पदार्थ भी देवासुरादि पदवाच्य हैं। पुराणों में असुर देवादि के कई प्रकार के स्वरूप और विभिन्न क्रम में उनकी सृष्टि की बातें आई हैं। मानस सृष्टि में भी असुर हैं और स्थूल सृष्टि में भी असुर हैं। ये दो एक नहीं हो सकते। देव नामक एक ऐतिहासिक जाति अवश्य थी। जिसका स्थान 'स्वर्ग' (स्वर्ग इस पृथिवी में ही एक स्थान विशेष है) था और इस ऐतिहासिक देव जाति से पृथक् अनेक सूक्ष्म पदार्थ भी 'देव' शब्द से अभिहित होते हैं।[४]

आध्यात्मिक और आधिदैविक पदार्थ भी देवासुरादि पदवाच्य हैं।[५] इसका संकेत पुराणों में भी मिलता है। इन्द्रादि नाम आध्यात्मिक और आधिदैविक जगत् के पदार्थों के लिये उसी रूप से प्रयुक्त हुए हैं, जैसा कि ऐतिहासिक देवादि जाति के व्यक्तियों के लिये। ऋषि-नामों में भी यही बात है, कश्यप-वसिष्ठादि से आध्यात्मिकादि पदार्थ भी अभिहित होते हैं, इसके अनेक प्रमाण मिल चुके हैं।

[शेष पृ० १४ पर]

(३) 'तेषां दायनिमित्तं ते संग्रामास्तु सुदारुणाः। वराहाद्याः दश द्वौ च' (मत्स्य ४७ । ४१)। ऐसा वाक्य अन्य पुराण में भी है।

(४) ब्रह्मपु० के नवसर्गान्तर्गत वैकृतसर्ग में देवोत्पत्ति कथित हुई है। यह स्पष्टतः देवयोनि प्रतीत होती है। ब्रह्मा की शारीर सृष्टि में 'देव-असुर, पितृ-असुर' का प्रसंग है। वेद में भी 'चत्वारि अम्भांसि' शब्द से इनका उल्लेख है। यहाँ असुर के बाद देव = सुर की सृष्टि कही गई है। इसके पहले मानस सृष्टि में ४ मानस प्रजा की सृष्टि कही गई है—सुर-नर-तिर्यक्-स्थावर। अदितिगर्भज देव तो ब्रह्मा के द्वारा सृष्टि प्रकरण से पृथक् ही कथित हैं। इस प्रकार देव नाना विजातीय तत्त्वों के वाचक हैं। (द्र. विष्णुपु० का सृष्टिप्रकरण)

(५) 'प्राणो दक्षस्तु विज्ञेयः संकल्पो मनुरुच्यते' (वायु पु० १० । १८); ब्रह्मा = अहंकार (शान्तिपर्व अ० १८०); महिषासुर = अज्ञानमूर्ति और देवी = ज्ञानशक्ति (वराह पु० ९९ । ६-७) इत्यादि। प्रसंगतः एक पुराणसूक्ति का उद्धरण देना चाहता हूँ—'ब्रह्माण्डे ये गुणाः सन्ति शरीरे ते व्यवस्थिताः' (गरुडपुराण २।२२।५२)।

वेद में राधाकृष्ण-लीला

[ले०—श्री पं० जे० पी० चौधरी जी, वाराणसी]

श्री गौरी शंकर श्रीवास्तव ने अपने एक लेख में, कृष्ण और राधिका के सम्बन्ध में वेद मंत्रों का उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि आर्यों के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ वेद से ही श्रीकृष्णलीला का गान प्रारम्भ होता है। वैदिक साहित्य में हमें श्रीकृष्ण की व्रजलीला की प्रथम झांकी मिलती है। पाश्चात्य वैदिक विद्वान् मैक्स मूलर, जिन्हों ने वेद-मंत्रों का संकलन करके उसे छपवाया, उसका अनुवाद अपनी भाषा में किया, वेद पर अनेक पुस्तकें लिखीं, उन्हें ऋग्वेद में राधा-कृष्ण की लीला तथा राधा के पिता वृषभानु का पता न चला। ग्रिफिथ साहब ने वेदों का अनुवाद अंग्रेजी में किया, उन्हें उक्त पात्रों का नामोनिशान वेद में न मिला, और न किसी भारतीय विद्वान् को भाष्य में अथवा बँगला, हिन्दी के अनुवाद में राधा-कृष्ण का पता चला। परन्तु आपको इसका पता लग गया, यह तो भक्तों के सौभाग्य की बात है। आजकल की ९९ प्रतिशत जनता ने वेद को जानना समझना तो दूर रहा, देखा भी नहीं होगा। श्रद्धा से ओतप्रोत एवं वेदवाक्य के प्रति विश्वास रखने वाली भारतीय जनता को इस प्रकार अन्धकार में ले जाना लेखक के लिये शोभा की बात नहीं है।

हमें लाचार होकर, आपके इस अनर्गल प्रलाप की समालोचना करने के लिये लेखनी उठानी पड़ी है। इसके लिये आप तथ्य बात को जान कर हमें क्षमा करेंगे।

आपने जितने वेदमन्त्र दिये हैं उनकी समालोचना हम आगे करेंगे। भारतीय हिन्दू समाज में ऐसा कौन होगा जो श्रीकृष्ण जी की महत्ता को किसी न किसी रूप में स्वीकार करके उनके प्रति आदर का भाव न रखता हो। किन्तु पौराणिकों ने अनेक अनर्गल कथाएँ गढ़कर तथा उनकी अश्लील श्रृंगार लीला का अनुचित मार्ग से वर्णन करके उनके असली स्वरूप को छिपा दिया है। श्री कृष्ण जैसा ब्रह्मज्ञानी, कूट राजनीतिज्ञ, धर्माधर्म-सत्यासत्य-विशेषज्ञ उसकाल में कोई भी न था। परन्तु पुराणोंने श्रीकृष्ण के चरित को इतना दूषित कर दिया है कि पाश्चात्य लोगों को छोड़िये, पौरस्त्य लोगों को उन्हें पढ़ कर लज्जा से सिर झुकाना पड़ता है। पहले हम यह दिखाना चाहते हैं कि जिस राधा का नाम श्रीकृष्ण के साथ चिपका हुआ है, वह ब्रह्म वैवर्तपुराण के अनुसार कौन है।

राधा रायाण गोप की स्त्री थी। रायाण यशोदा का भाई था। वृषभानु ने उसका विवाह रायाण गोप के साथ कर दिया था। इस तरह रायाण कृष्ण का मामा हुआ।

ब्रह्मवैवर्तपुराण ने एक गोलोक की कल्पना की है। गोलोक में सुदामा के शाप से राधा ने भारत में जन्म लिया था।

राधा जगाम वाराहे गोकुलं भारतं सती।
वृषभानोश्च वैश्यस्य सा च कन्या बभूव ह॥
अतीते द्वादशाब्दे तु दृष्ट्वा तां नवयौवनाम्।
सार्धं रायाणवैश्येन तत्सम्बन्धं चकार सः॥

अर्थ—राधा गोलोक से गोकुल में आकर वृषभानु वैश्य की कन्या हुई। १२ वर्ष बीत जाने पर रायाण गोप के साथ उसका विवाह हो गया।

कृष्णमाता यशोदा या रायाणस्तत्सहोदरः।
गोलोके गोपकृष्णांशः सम्बन्धात् कृष्णमातुलः॥

रायाण यशोदा का सगा भाई था। कृष्ण का मामा था। यहाँ तो राधा रायाण गोप की पत्नी हुई। पर इसी पुराण में आगे कृष्णजन्म-खण्ड के १५ वें अध्याय में लिखा है कि एक बार नन्द कृष्ण को गोद में लेकर वन में गौ चराने गये। कृष्ण रो रहे थे। दैवात् वहाँ राधा पहुँच गई। नन्द ने उन्हें राधा की गोद में दे दिया। वह उन्हें लेकर आगे गई, तो कृष्ण जी युवा हो गये। दोनों में प्रेम सम्बन्ध हो गया। इसी बीच ब्रह्मा ने आकर दोनों का विवाह करा दिया। दोनों ने अपनी इच्छा पूर्ण की। फिर राधा ने कृष्ण को ले जाकर यशोदा को दे दिया।

कृष्ण के अलौकिक वर्णन से पुराण ने श्री कृष्ण को ईश्वर सिद्ध करने की धुन में अपनी राधा की मिट्टी ही पलीद कर डाली। ब्रह्मा भी बड़े मौजी! आव देखा न ताव, न मालूम उनके विवाह कराने के लिए उस जंगल में कहां से आ धमके। एक पति के जीते जी दूसरे से गुप्त रूप से विवाह करा दिया। यदि आज कल होते तो

उन्हें जेल की हवा खानी पड़ती। गौरी शंकर जी अब समझ लें कि उनकी उपास्या राधा की पोज़ीशन कितनी दूषित हो गई। इसका निराकरण करना टेढ़ी खीर है।

राधा का नाम भागवत में नहीं है, परन्तु सुखसागर में, जो भागवत का अनुयायी है, राधा को लेकर खूब मनमाना वर्णन किया है। इसी प्रकार आप हरिवंश के टीकाकार नीलकण्ठ सूरि के मिथ्या प्रलाप को मानकर वेद में राधा कृष्ण की कल्पना कर बैठे। यदि वेद का स्वयं स्वाध्याय किये होते, वेद के शब्दों का ज्ञान उन्हें अवश्य होता। पर स्वाध्याय के अभाव के कारण उन्हें भ्रम हो गया और भ्रम का आक्षेप आजकल के अन्वेषकों पर कर दिया। अब आपके दिए हुए वेद मन्त्रों का अर्थ सायणभाष्य के अनुसार सुनिये।

> पृथू रथो दक्षिणाया अयोज्यैनं
> देवासो अमृतासो अस्थुः।
> कृष्णादुदस्थादर्या विहायाः
> चिकित्सन्ती मानुषाय क्षयाय॥
> ऋ० १।१२३।१॥

इस मन्त्र का देवता उषा है, इस लिए इसमें उसका वर्णन है। जिस मन्त्र का जो देवता होता है उसमें उसी का वर्णन होता है, यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है।

अर्थ—दक्षिणायाः प्रवृद्धायाः स्वव्यापारकुशलायाः उषो देवतायाः रथः अयोजि अश्वैः युक्तः सन्नद्धोऽभूत्। एवं सन्नद्धं रथममृतासः अमरधर्माणः देवासः हविर्भाजो देवाः आ अस्थुः आस्थितवन्तः। देवयजनं गन्तुं आरूढाः इत्यर्थः। अनन्तरं सा उषा कृष्णात् निकृष्टवर्णात् नैशात् तमसः सकाशात् उदस्थात् उत्थिता अभूत्। कृष्णं कृष्यतेर्निकृष्टो वर्णः (नि० २।२०) इति यास्कः। कीदृशी सा। अर्या अरणीया पूजनीया विहायाः विविधगमनयुक्ता महती वा। विहाया इति महन्नाम (निरु० ३।३।१२)। मानुषाय क्षयाय मनुष्याणां निवासाय चिकित्सन्ती अन्धकारनिवारणरूपां चिकित्सां कुर्वन्ती तमो निवारयन्तीत्यर्थः॥

प्रवृद्ध उषा देवता का रथ अश्वों से युक्त होकर सन्नद्ध हो गया। इस सन्नद्ध रथ पर देवता बैठ गये अर्थात् देवयज्ञ में जाने के लिये चढ़ गये। इसके बाद वह उषा रात्रि के अन्धकार से निकल आई। वह उषा पूजनीय और विशाल है। मनुष्यों के निवास के लिये अन्धकार को दूर कर दिया।

अब पाठक लोग लेखक के लेख को पढ़ें—शकट उलट कर कृष्ण के ऊपर गिर गया था वे क्यों नहीं मरे—इसी की पुष्टि में आपने नीलकण्ठ सूरि की हरिवंश पुराण की टीका का यह अर्थ लिखा है—शत्रुओं ने उस भयंकर और बृहत् शकट को आयोजित किया था। अमर देवगण उस शकट को घेरे हुये थे। इसी बीच में श्रीकृष्ण के द्वारा प्रेरित शकट आकाश में यंत्र से फेंके हुये गोलक की भाँति उत्क्षिप्त होकर गिरा और नष्ट हो गया। तदनन्तर माता या वहाँ के लोग, जिससे मनुष्य मर सकते हैं इस प्रकार शकट के गिरने से बालक क्यों नहीं मरा, इसको न समझ कर सन्देह ही में रह गये।

मंत्र में इस अर्थ की गन्ध भी नहीं। इस मिथ्या प्रलाप को कौन वेदज्ञ मान सकता है। इस तरह लेख लिखकर जनता को गुमराह करना शोभा नहीं देता। इससे तो पता चलता है कि नीलकण्ठ सूरि कृष्ण का भक्त था। इसी से इस तरह जनता को धोखा देने के लिये मनमाना अर्थ कर दिया। अब गोवर्धन-धारण का मंत्र देखिये—

> तमस्य राजा वरुणस्तमश्विना
> क्रतुं सचन्त मारुतस्य वेधसः।
> दाधार दक्षमुत्तममहर्विदं
> व्रजं च विष्णुः सखिवाँ अपोर्णुते॥
> ऋ० १।१५६।४॥

इस मंत्र का देवता विष्णु है। (मारुतस्य वेधसः अस्य) मरुद्देवताओं से सम्बन्ध रखने वाले मेधावी इस यजमान के (तं क्रतुं) उस प्रसिद्ध याग को (राजा वरुणः सचन्त) राजमान वरुणदेव सेवते हैं। (तम् एव क्रतुं) उसी याग को (अश्विनौ सचेते) दोनों अश्वी ग्रहण करते हैं। (सखिवान् विष्णुः) यजमानादि मित्रों से युक्त विष्णु (उत्तमं अहर्विदं) उत्कृष्टतम स्वर्गोत्पादक (दक्षं) फलदान-सामर्थ्य रूप बल को (दाधार) पोषण करता है (किंच व्रजं वृष्ट्युदकाय अपोर्णुते) मेघ को जल देने के लिये आवरणहीन कर देता है।

व्रज इति मेघनाम। नि० १। १०॥

अब पाठक भली भाँति समझ गये होंगे कि राधा-कृष्ण-लीला को वेदानुमोदित सिद्ध करना कुछ पौराणिकों का दुस्साहस एवं कल्पना मात्र है। वेदमन्त्रों में इसकी गन्ध भी कही नहीं है॥

वेद और गोवध

[ले०—श्री पं० अवधविहारी लाल जी, कलकत्ता]

वैदिक संस्कृति का समर्थक यह स्वीकार करता है कि 'बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे' (वैशेषिक) वैदिक वाक्यरचना बुद्धिपूर्वक है। ऐसी अवस्था में आज के कुछ बुद्धिवादी लोग और माध्यमिक कवि, वेदभाष्यकार लोग गोवध और गोमेध को वेदों से सिद्ध करने का प्रयास करने लगे। हम इस लघु निबन्ध में इसी गोवध से उत्पन्न परिस्थिति एवं आधुनिक बुद्धिवादी गोवध-समर्थकों के संबन्ध में अपने विचार रखते हुये यह प्रस्तुत करना चाहते हैं कि वेदों में गोवध या गौ की हिंसा किसी प्रकार विदित नहीं है।

यह एक आश्चर्य की बात है और विशेष प्रसन्नता की बात है कि **चारों वेदों में 'गोमेध' शब्द कहीं नहीं है।** अतएव आधुनिक युग के महान् वैदिक विद्वान् महर्षि दयानन्द के संस्कारविधि नाकक ग्रन्थ में 'वेदारम्भ प्रकरण में' पृ० ११३ में एक सूचना लिखी मिलती है कि 'जो ब्राह्मण वा सूत्र वेदविरुद्ध हिंसापरक हो, उसका प्रमाण न करना'। इसीलिये निरुक्तकार ने भी हिंसा-अहिंसा के विवाद में एक स्थल पर कहा है **'आम्नाय वचनादहिंसा प्रतीयेत'** अर्थात् वेदमन्त्र से तो अहिंसा ही सिद्ध है। विनियोगकारों ने यदि उसे हिंसा में विनियुक्त किया है, तो यह दोष उनका है। यही बात आज के बुद्धिवादी हिंसकों पर भी लागू होती है। निरुक्तकार के शब्दों में 'नैष स्थाणोरपराधः यदेनमन्धो न पश्यति', 'पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।' यह खूंटे का अपराध नहीं कि अन्धा उसे नहीं देखता है।

इस सम्बन्ध में एक और शब्द विचारणीय है। वह है 'गोघ्न'। लोग आजकल इसका अर्थ करते हैं जिसके लिये गाय मारी जाती है। इसके लिये पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्र 'दाशगोघ्नौ संप्रदाने' (३।४।२३) का प्रमाण दिया जाता है। इस संबन्ध में हमारा कहना यह है कि पाणिनि के काल में संप्रदान में गोघ्न शब्द का प्रयोग किया जाता था, पश्चात् उसका प्रयोग अतिथि अर्थ में काशिकाकार के समय में हुआ। काशिकाकार का यह वाक्य **'असत्यपि च गोहनने तस्य योग्यतया गोघ्न इत्यभिधीयते'** विचारणीय है। परन्तु वेद में गोघ्न शब्द गोहत्यारे अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इस संबन्ध में ऋग्वेद मंडल १ सूक्त ११४ मन्त्र १० देखिये जो निम्न प्रकार है—

'आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम्'।

इस पद का अर्थ सायण और दयानन्द दोनों आचार्यों ने क्रम से **'यद् गोहननं यद्वा गोहननसाधनमायुधम्'** और **'गवां हन्तारम्'** किया है। यहाँ दयानन्द जी के भाष्य से यह अर्थ निकलता है कि सभापति समाज से गोहत्यारों को दूर रखे, गोहत्या और नरहत्या दोनों एक ही समान पातक हैं। आचार्य सायण ने भी ऋग्वेद के ६ ठे मंडल के २८ वें सूक्त के भाष्य में गोसेवा और गोभक्ति का भव्य वर्णन किया है। परन्तु मध्यकालीन पतन के युग में आर्ष प्रज्ञा और स्वाधीन चिन्तन के अभाव में दारुण पशुमारण रूप कर्म भी श्रेष्ठतम कर्म समझा जाने लगा।

इस संबन्ध में कुछ उदाहरण निम्न प्रकार हैं:—मेघदूत के ४५ वें श्लोक में 'रन्तिदेवस्य कीर्तिम्' की टीका करके हुए मल्लिनाथ लिखते हैं—

"पुरा किल राज्ञो रन्तिदेवस्य गवालम्भेष्वेकत्र संभृताद्रक्तनिष्यन्दाच्चर्मराशेः काचिन्नदी सस्यन्दे, सा चर्मण्वती इत्याख्यायते।"

भाव यह है कि रन्तिदेव ने गोमेध किया और उनके (गौवों के) रक्त से चर्मण्वती नदी बह निकली। इसी प्रकार शाकुन्तल में **'पशुमारणकर्मदारुणेऽनुकम्पामृदुरेव श्रोत्रियः'** कहा गया है। इसी प्रकार श्री हर्ष नैषध में **'हिंसागर्वी मखे वीक्ष्य'** इत्यादि से यज्ञ में गोवध का समर्थन करते हैं। भवभूति तो वसिष्ठ के लिये आतिथ्य में भी **'सा वराकी कपिला कल्याणी मडमडायिता'** के शब्दों में गोवध का समर्थन करते हैं।

परंतु वेद में यज्ञ को अध्वर कहा गया है। यास्क कहते हैं—

अध्वरः कस्माद् ध्वरतीति हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः।

अर्थात् अध्वर वह है जिसमें हिंसा न हो। यजुर्वेद

का प्रथम मन्त्र ही **'आप्यायध्वमघ्न्या इन्द्राय'** अर्थात् 'न मारने योग्य गौ की वृद्धि करो' कहकर गोवध का निषेध करता है। **'पशून् पाहि' 'गां मा हिंसी:' 'अविं मा हिंसी:'** इत्यादि वैदिक शब्द हिंसा का स्पष्ट निषेध करते हैं। प्राचीन वैदिक कोष निघण्टु में गौ शब्द का सबसे प्रसिद्ध और प्रथम अर्थ 'पृथ्वी' ही किया गया है। 'मेधृ' 'मेधा' इन दोनों धातुओं के अर्थ 'आशुग्रहणे संगमे च' किये हैं। भाव यह है कि भूमि, पशु, वाणी, सूर्य, किरण, चन्द्र, जल आदि सभी वस्तुओं का परिष्कार, लाभदायक उपयोग ही सच्चा गोमेध है।

अतः महर्षि दयानन्द ने यह लिखा—**'अन्नं हि गौः' 'आज्यं मेधः'** (शत०) अन्न, इन्द्रियों, किरण, पृथ्वी, आदि को पवित्र रखना गोमेध है। वेद और गोवध की मीमांसा के अन्त में श्री उपाध्याय जी के शब्दों में मैं कहूँगा—स्वामी दयानन्द को ही यह श्रेय है कि वैदिक संस्कृति का मुख उज्ज्वल कर दिया। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि मानव जाति का कल्याण वेदों को त्यागने में नहीं अपितु वेदों का सत्य अर्थ करने में है। जल के बिना प्यास तो बुझती नहीं। हाँ, यदि जल गंदा हो गया है तो उसको पवित्र करना आवश्यक है। ईशकृपा से गोवध बन्द हो। गोमेध के सच्चे अर्थ का प्रसार और व्यवहार हो॥

वेदों में ज्ञान विज्ञान की बातें

[ले०—*श्री पं० राजेन्द्र प्रसाद सिंह जी, एडवोकेट, आरा*]

वेद ज्ञान विज्ञान के भण्डार हैं। तभी तो ज्ञान के पिपासु व्यक्ति दूर देशों से चलकर आर्यावर्त में अपनी पिपासा को शान्त करने के लिये अतीत काल में आते थे। वेदों में मानवोपयोगी कुल विद्यायें बीज रूप से मौजूद हैं जिनका वेदों की शाखाओं में विशद वर्णन पाया जाता है, किन्तु अधिकतर शाखायें लुप्त हो गई हैं। वेदों में रूपप्रसारण-यन्त्र, (Television) शब्दप्रसारण-यन्त्र (Radio) तथा जेट विमानों का वर्णन आता है।

जेट विमान

समानयोजनो हि वां रथो दस्रावमर्त्यः।
समुद्रे अश्विनेयते॥ ऋ० १।३०।१८॥

(समानयोजनः) एक समान बना हुआ (वां) तुम दोनों का (रथः) रथ (अमर्त्यः) जो विना चालक के (समुद्रे) आकाश रूपी समुद्र में (अश्विनेयते) हे अश्वियों ! गति करता है।

आज भी वैज्ञानिकों ने ऐसे वायुयानों का आविष्कार किया है जो विना चालक के तीव्र गति से आकाश मार्ग से गति करते हुए शत्रु देशों में बम बरसाने के काम में आते हैं।

न्यघ्न्यस्य मूर्धनि चक्रं रथस्य येमथुः।
परिद्यामन्यदीयते॥ ऋ० १।३०।१९॥

(अघ्न्यस्य) विनाश न होने वाला (मूर्धनि) सरके ऊपर (चक्रं) एक चक्र को (रथस्य) रथ के (येमथुः) लगाओ जो रथ (परिद्यामन्यदीयते) आकाश में चला जावे। आप देखेंगे कि आज भी विमानों के अग्र भाग में एक चक्र लगा रहता है जो वायु को काट कर विमान को गति देने में सहायक होता है।

शब्दप्रसारण-यन्त्र (Radio)

एतं मे स्तोममूर्म्ये दार्भ्याय परा वह।
गिरो देवि रथीरिव॥ ऋ० ५।६१।१७॥

(एतं) इस (मे) मेरे (स्तोमं) स्तुतिवचन को (ऊर्म्ये) हे ऊर्मियों अथवा विद्युत् की तरंगों (परावह) दूर देशों में ले जाओ (गिरः) उत्तम वाणियों को (देवि) हे देवि ! (रथीरिव) रथी के समान ले जा।

विद्युत् की तरंगों के द्वारा ही शब्दप्रसारण का कार्य होता है। जो शब्द स्टूडियो में बोले जाते हैं, उन्हें विद्युत् की तरंगों में परिणत करके ही दूर देशों में प्रसारित किया जाता है। यही शब्दप्रसारण का मूलभूत सिद्धान्त है।

रेडियो के द्वारा केवल अच्छे गान गाने का आदेश हमें वेद देते हैं—

उत मे वोचतादिति सुतसोमे रथवीतौ।
न कामो अप वेति मे॥ ऋ० ५।६१।१८॥

अर्थात् शब्दप्रसारण-यन्त्र से ऐसी उत्तम वाणियों का प्रसारण करो कि जिनको सुनकर श्रवण करने की मेरी अभिलाषा तृप्त न हो।

रूपप्रसारण-यन्त्र

वेदों में रूपप्रसारण-यन्त्र अथवा दूरदर्शन-प्रक्रिया (Television) का भी वर्णन आता है।

ससृवांसमिव त्मनाऽग्निमित्था तिरोहितम्।
एतं नयन्मातरिश्वा परावतो देवेभ्यो मथितं परि॥

ऋ० ३।९।४॥

(ससृवांसमिव) व्यक्त अथवा (तिरोहितम्) अव्यक्त (अग्निम्) अग्नि को (देवेभ्यो मथितं परि) देवों द्वारा मथे जाने पर (मातरिश्वा) विद्युत् तरंगें (परावतः) दूर देशों तक (नयन्) ले जावें।

थोड़ा सा विस्तार से हम इस यन्त्र पर विचार करना चाहते हैं। इस मन्त्र का देवता अग्नि है। रूप का सिरजन अग्नि से होता है। अग्नि के दो रूप होते हैं—एक व्यक्त और दूसरा अव्यक्त। यदि हम रूपप्रसारण-यन्त्र की प्रक्रिया पर विचार करें तो हम देखते हैं कि वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि संसार के समस्त पदार्थ, यहाँ तक कि मनुष्य का रूप भी, कणमय है। प्रकाश के माध्यम से जो प्रतिबिम्ब हमारे नेत्रों पर अथवा कैमरे के प्लेट पर पड़ता है, वह भी अरबों खरबों कणों का समूह है। यदि इन कणों को अलग २ कर दिया जाय, तो वह उक्त पदार्थ की असंवेत अवस्था होगी। यदि किसी प्रकार समस्त कणों को पुनः मूल प्रतिबिम्ब में परिणत किया जा सके तो वह मूल पदार्थ के प्रतिबिम्ब की संवेत अवस्था होगी। रूपप्रसारण-यन्त्र का कैमरा इसी सिद्धान्त पर बना है। प्रथम सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब को अखण्डमय अवस्था में एक प्लेट पर अंकित किया जाता है। पुनः विद्युत् तरंगों की सहायता से, जिन्हें वेद मातरिश्वा कहते हैं, उन्हें खण्डरूप में करके आकाश में प्रसारण किया जाता है, फिर संग्रहयन्त्र (Receiver) उन खण्डों को एकत्रित करके असंवेत अवस्था में आकाश मण्डल से ग्रहण करके पुनः संवेत रूप में कर देता है। परिणाम होता है मूल रूप का संग्रहयन्त्र (Receiver) पर दर्शन। यही सिद्धान्त टेलिविज़न का है। इस मन्त्र में बतलाया गया है कि विद्वानों के द्वारा मथे जाने पर अग्नि का जो व्यक्त रूप है वह अव्यक्त रूप अर्थात् विद्युत् की तरंगों के रूप में परिणत होकर दूर देशों में प्रसारित किया जाता है।

वेदों में समस्त ज्ञान-विज्ञान की बातें भरी पड़ी हैं। मैं तो वेदों को समुद्र के रूप में ही मानता हूं। जितना चतुर गोताखोर होगा, वह वेद रूपी उदधि से उतना ही अमूल्य रत्न निकाल सकेगा। इसी दृष्टि से हमें वेदों का स्वाध्याय करना चाहिये। ऋषि दयानन्द की महती कृपा है जिन्हों ने वेदों को कर्मकाण्ड के शुष्क गर्त से निकाल कर मनुष्य-जीवन के समस्त उपयोगी पदार्थों के भण्डार के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है॥

[पृष्ठ ९ का शेष]

इस स्थिति में असुरादि से संबन्धित कौन विवरण ऐतिहासिक है और कौन ऐतिहासिक नहीं है (जहाँ अध्यात्मिक और आधिदैविक तत्त्व लक्षित है)—इसका विवेक करना बहुत ही कठिन है। शिवकर्तृक त्रिपुरदाहन ऐतिहासिक घटना प्रतीत नहीं होता। स्वायंभुव दक्ष भी ऐतिहासिक नहीं हो सकते। मत्स्य, कूर्म, वराह तो स्पष्टतः ही ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं। क्या इसी प्रकार राम-बलराम-बुद्ध भी अनैतिहासिक हैं? क्या 'वामन' एक ऐतिहासिक घटना है। नीलकण्ठादि ने इन अवतार-कथाओं के अध्यात्मिक अर्थ दिखाए हैं। इन सब व्यक्तियों में एक भी ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है, ऐसा कहने पर पुराणादि में इतिहास तो अत्यल्पमात्रा में हो जायगा। कश्यप वंश के अन्त में कहा गया है कि इनके वंश से यह जगत् पूर्ण हो गया है (प्रायः सभी पुराणों में)। क्या इस स्वीकारोक्ति से यह विवरण (तत्रत्य व्यक्ति नाम भी) ऐतिहासिक सिद्ध होता है? इस विषय की कुछ सामग्री का संकलन हमने किया है। इसका प्रकाशन यथावसर किया जायेगा॥

सम्पादकीय

श्री अजीतसिंह जी सत्यार्थी !!

हमें यह जानकर बड़ा दुःख हो रहा है कि आर्य समाज के एक बहुत उत्साही कार्यकर्त्ता श्री अजीत सिंह जी सत्यार्थी इस संसार में नहीं रहे। आप एक सच्चे आर्य-उत्साही-सहृदय-धर्म, जाति और देश के लिये सर्वस्व लगा देने वाले व्यक्ति थे। वैदिक धर्म में पूर्ण निष्ठावान, देश के स्वातन्त्र्य युद्ध के सच्चे सिपाही, आर्य समाज के प्रत्येक आन्दोलन में सबसे आगे होकर जुट जाने वाले, हंसमुख—विनोदप्रिय कार्यकर्त्ता आप थे। जब तक स्वराज्य नहीं होगा तब तक गृहस्थाश्रम में प्रवेश न करने इत्यादि अनेक प्रतिज्ञायें कर अनेक विध कष्ट उठाते रहते थे। आर्य स्वराज्यसभा लाहौर के संस्थापक तथा तदर्थ सदा यत्नशील रहे। पञ्जाबकेसरी लाला लाजपत राय की प्रस्तर मूर्ति को घोर विकट समय में भी लाहौर में स्थापित कराना और पाकिस्तान बन जाने पर भी उसे वहाँ से उठवाकर भारत में लगवाना आदि कार्य मुख्यतया इनके परिश्रम से हुये॥

मेरा इनसे सन् २० से परिचय था, जब परम देशभक्त भाई परमानन्द जी के अण्डेमान जेल से छूटकर लाहौर आने पर एक नवयुवक मण्डल को लेकर हिसार (पंजाब) में एक आश्रम की योजना बनी थी, और अष्टाध्यायी पढ़ाने के लिये इस मण्डल के लिये हम लोगों को हरदुआगंज (अलीगढ़) से बुलाया गया था। इस मण्डल के सभी सदस्य इस समय देश की पवित्र सेवा में एक से एक बढ़कर भाग ले रहे हैं सत्यार्थी जी भी इस मण्डल में थे।

सन् १९२३ के मई जून की बात होगी। त्रिलौठी से केरारी (जि० मथुरा) की शुद्धि में हम सब साथी जा रहे थे कि मार्ग में सत्यार्थी जी ने एक पंजाबी कविता सुनाई—"सनतां दी विच खिचड़ी, गड्डा गड्डा रोटियाँ ते छप्पड़ छप्पड़ दाल दा। सनतां दो विच खिचड़ी॥" यह सिख परिवार के थे, तो कविता में भी सिक्खी झलक रही थी।

उसी दिन की बात है स्व० श्री० स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज ने, जब कि आस पास में पानी नहीं था, एक साथी को शौच की इच्छा हुई, तो एक श्लोक कह डाला (जो मुझे अब तक याद है)—जो इस प्रकार है—

"इट्टश्च दशगडवश्च, बट्टश्च दशगागरम्।
घासफूसनी ससं गङ्गा, सर्वतीर्थं घसीटितम्॥

पंजाबी टट्टी का यह नुस्खा मुझे अब तक याद है। ये दोनों कवितायें सुनकर हमारे साथी प्रसन्नता में कूदने लगे। विनोद का अद्‌भुत दृश्य था॥

परखम (जि० मथुरा) की शुद्धि थी। कादियानी आन्यौर (मार्च १९२३) की शुद्धि में यज्ञ पर बैठे १८०० मलकानों को बहका चुके थे कि ये सब (हम सब) राधा स्वामी हैं, सब का झूठा खा लेते हैं, तुम्हारा धर्म बिगाड़ने आये हैं।

इनकी पहिचान यह है कि इन का पहिला मन्त्र "विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव' है" इत्यादि कह कर हमारे पूज्य नेता स्वर्गीय स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज को व्याख्यान देते २ बीच में मलकानो द्वारा रुकवा कर बिठा दिया था। अगले ही दिन परखम की शुद्धि थी, प्रश्न यह था कि "विश्वानि देव" मन्त्र का क्या किया जावे, आरम्भ किया जावे या नहीं? क्योंकि इस मन्त्र से तो पहले दिन सब मलकाने भड़क कर यज्ञ पर से उठ गये थे। तो उस समय व्यवस्था देने वाले इन पङ्क्तियों का लेखक तथा श्री अजीतसिंह सत्यार्थी थे। हम दोनों ने यह व्यवस्था दी कि "अग्ने नय सुपथा०" से आरम्भ कर "विश्वानि देव०" में समाप्त कर दो, हवन पद्धति में यह तात्कालिक परिवर्तन कर दिया, ऐसा २ भी हमें करना पड़ता था, सत्यार्थी जी बड़ी चुटकी लिया करते थे॥ ओह! वह सत्यार्थी साथ छोड़ गये, ऐसा प्रतीत होता है। यह संसार एक विचित्र लीलागृह है। मानव क्या है और इसका अन्त क्या है। समवेदना किससे प्रकट करें, पण्डित श्री राम गोपाल शास्त्री जी से तथा उनके परिवार से!! प्रभु सबको शक्ति दें! विगत आत्मा तो प्रभु समर्पित!!!

श्री शङ्कर बाबु (झरिया) का निधन!!

श्री० शङ्कर बाबु झरिया के कोयले के प्रमुख व्यापारी थे, प्रसिद्ध कोयले के विशेषज्ञ—गम्भीर विचारक श्री० अर्जुन बाबु (बा. अर्जुन देव अग्रवाल) के भाई, ऋषि दयानन्द, आर्य समाज और वैदिक धर्म में निष्ठावान् सच्चे आर्य बा. हरदेव जी अग्रवाल के पुत्र थे। इन सब का परिवार धार्मिक है। उदार है।

(शेष टाटिल पृ० २ पर)

विविध समाचार

पंजाबी-सूबा-आन्दोलन

पंजाब में अकाली दल की ओर से पंजाबी-सूबा-आन्दोलन चल रहा है। इस सिलसिले में २४ मई को मास्टर तारासिंह को अमृतसर में गिरफ्तार करके योल कैम्प में नजरबन्द कर दिया गया है। लगभग सभी बड़े २ अकाली नेता तथा गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी के अधिकारी गिरफ्तार कर लिये गये हैं। इस सम्बन्ध में हजारों गिरफ्तारियाँ हुई हैं। पञ्जाब सरकार का यह काम उचित और समय पर हुआ है।।

देश का जनमत एवं नेतृवर्ग आन्दोलन के विरुद्ध है। यह भी ज्ञातव्य है कि आन्दोलनकारी हिंसा पर उतर आये हैं। अमृतसर में एक इंस्पैक्टर को गोली से उड़ा देना ओर १२ जून को देहली में पुलिस पर ईंट-पत्थर तथा अन्य हथियारों से आक्रमण करना—आन्दोलन के हिंसात्मक हो जाने में प्रबल प्रमाण हैं।

सब से आश्चर्य और क्षोभ की बात यह है कि देहली में प्रदर्शनकारियों ने आँसू गैस के ऐसे गोलों का प्रयोग किया, जिन्हें सेना युद्ध में प्रयोग करती है। एक व्यक्ति कुछ गोलों के साथ गिरफ्तार किया गया है। ये गोले अमेरिका के बने हुए हैं। इससे इस शंका को बल मिलता है कि यह साम्प्रदायिक आन्दोलन कुछ विदेशी तत्त्वों से संकेत एवं सहायता प्राप्त कर रहा है।

भारतीय दल का एवरेस्ट अभियान विफल

भारतीय पर्वतारोहियों का प्रथम एवरेस्ट अभियान सफल न हो सका। पर्वतारोही २८ हजार ३०० फुट की ऊँचाई तक चढ़ चुके थे। मौसम इतना विपरीत हो गया था कि चढ़ना तो दूर रहा उतरना भी कठिन था। बरफ-कोहरे के तूफान के कारण आगे बढ़ना सम्भव न था और पीछे लौटने के लिये जो चिह्न लगाये गये वे भी सब नष्ट हो गये थे। प्रथम अभियान में स्वदेश-निर्मित सामग्री के बल पर इतनी ऊँचाई तक पहुँचना भी पर्वतारोहियों के अदम्य उत्साह का द्योतक है।

सत्तारूढ़ कांग्रेसियों पर लगे आरोपों की जाँच के लिये समिति

कांग्रेस-अध्यक्ष श्री रेड्डी ने घोषित किया है कि एक समिति का गठन किया जायेगा, जो उत्तरदायी कांग्रेस सदस्यों पर अपने अधिकार के दुरुपयोग के आरोपों की जाँच करेगी। श्री रेड्डी ने यह भी घोषणा की है कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के मन्त्रियों, उपमन्त्रियों तथा विधायकों को अपनी सम्पत्ति, आय तथा व्यय का विवरण कांग्रेस-अध्यक्ष को देना होगा।

भारत-चीन सीमा विवाद के सम्बन्ध में पीकिंग में वार्त्ता

भारत-चीन सीमा विवाद के विषय में भारतीय तथा चीनी अधिकारियों की वार्त्ता १५ जून को आरम्भ हुई। वार्त्ता में भारत के पाँच अधिकारियों ने भाग लिया। इस वार्त्ता का निर्णय देहली में हुई प्रधानमन्त्रियों की वार्त्ता में हुआ था। अधिकारी अपना प्रतिवेदन सितम्बर में प्रस्तुत करेंगे।

राष्ट्रपति आइसनहोवर की जापानयात्रा स्थगित

अमेरिकी राष्ट्रपति श्री आइसनहावर ने अपने जापान यात्रा के कार्यक्रम को स्थगित करने की घोषणा करदी। प्रस्तावित यात्रा के विरुद्ध जापानी जनता में अत्यन्त विक्षोभ था। इसके विरोध में उग्र प्रदर्शन किये गये, जिनके फल-स्वरूप सैकड़ों व्यक्ति हताहत हुए। अन्ततः जापान के प्रधानमन्त्री की प्रार्थना पर यात्रा स्थगित करनी पड़ी।

वर्त्तमान शिक्षा एवं परीक्षा प्रणाली अनुपयुक्त

पूना में उपकुलपति सम्मेलन में विश्वविद्यालय आयोग के अध्यक्ष श्री सी. डी. देशमुख ने कहा कि हमारे देश में उच्चतम शिक्षा की वर्तमान प्रणाली अपर्याप्त तथा विदेशों की अपेक्षा नीचे स्तर की है। वर्त्तमान शिक्षा से राष्ट्र की आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं होती। आधुनिक शिक्षा प्रणाली दूषित है। इसमें अविलम्ब सुधार की आवश्यकता है।

वाल्मीकिरामायण का भाषानुवाद

[अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक तथा परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी, झरिया]

(गत अङ्क से आगे)

त्रयोविंशः सर्गः

लक्ष्मणक्रोधः

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽधःशिरा मुहुः [illegible]ा मध्यं जगामेव मनसा दुःखहर्षयोः ॥ १ ॥
तदा तु बद्ध्वा भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः [illegible]श्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः ॥ २ ॥
तस्य दुष्प्रतिवीक्ष्यं तद्भ्रुकुटीसहितं तदा । बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥
अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्तिहस्तमिवात्मनः । तिर्यगूर्ध्वं शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥ ४ ॥
अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत् । अस्थाने संभ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥ ५ ॥
धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया । कथं ह्येतदसंभ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥
यथा दैवमशौण्डीरं शौण्डीर क्षत्रियर्षभ । किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि ॥ ७ ॥
पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते । सन्ति धर्मोपधाः श्लक्ष्णा धर्मात्मन् किं न बुध्यसे॥८॥
तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात्परिजिहीर्षतोः । यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राघव ॥ ९ ॥
तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद्वरः प्रकृतश्च सः । लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम् ॥१०॥

तेईसवां सर्ग

लक्ष्मण का क्रोध

[उनकी बातों को] सुनकर राम के ऐसा कहते समय लक्ष्मण नीचे सिर किये हुए शीघ्र ही मन से दुःख और हर्ष के बीच में हो गये [अर्थात् राम के धर्मपालन की दृढ़ता से वे प्रसन्न थे और वनवास के कारण दुःखी]॥ १ ॥ तब नरश्रेष्ठ लक्ष्मण भौंहें चढ़ाकर बिल में स्थित क्रोधित महासर्प के समान सांस लेने लगे ॥ २ ॥ उस समय उस [लक्ष्मण] का चढ़ी हुई भौंहों वाला एवं [अत्यन्त क्रोध को प्रकट करने के कारण] सामने से देखने के अयोग्य मुख क्रोधित सिंह के मुख के समान हो गया ॥ ३ ॥ [लक्ष्मण क्रोध के अतिशय के कारण] हाथी की सूँड के समान अपने दाहिने हाथ को चलाते हुए, शिरोधरा (=ग्रीवा) को तिरछे, ऊपर, नीचे करते हुए ॥ ४ ॥ और तिर्यग्दृष्टि से भाई [राम] को देखते हुए बोले—[पितृवचनपालन रूप] धर्म की हानि के भय से एवं प्रजा के [मन में उत्पन्न होने वाली] शङ्का के परिहार के लिये ही आप के मन में यह एक महान् भ्रम उत्पन्न हो गया है। अन्यथा [यदि आप को भ्रम न हुआ होता तो] आप के समान निर्भ्रान्त मनुष्य कैसे यह [वनगमन की] बात कह सकता ? ॥ ५,६ ॥ हे शौण्डीर (=दैव की प्रतिकूलता को दूर करने में समर्थ) क्षत्रियश्रेष्ठ ! [राम] आप क्यों सामर्थ्यहीन, तुच्छ एवं अशक्त दैव की प्रशंसा कर रहे हैं ? ॥ ७ ॥ उन दोनों [दशरथ-कैकेयी] पापियों के विषय में आप को शङ्का क्यों नहीं होती ? [संसार में ऐसे भी मनुष्य हैं जो ऊपर से बड़े धर्मात्मा एवं मृदु बनते हैं, वे वस्तुतः धर्म के व्याज से अधर्म का कार्य करते हैं। हे धर्मात्मन् ! [अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिये] चरित्र वाले आप का छल से परित्याग करने वाले उन [कैकेयी-दशरथ] के स्वार्थपूर्ण कार्य को आप क्यों नहीं समझ रहे ? यदि उनका ऐसा पहले से ही निश्चय न होता तो हे राघव ! ॥ ८,९ ॥ उन्होंने वर पहले ही दे दिया होता और भरत का अभिषेक भी पहले ही हो चुका होता। [धर्म और लोक व्यवहार के अनुसार आप का ही अभिषेक होना उचित है, अतः] लोकनिन्दित आप से अन्य [भरत] के अभिषेक को ॥ १० ॥ हे वीर ! मैं सहन

नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि । येनेयमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते ॥११॥
स हि धर्मो मम द्वेष्यः प्रसङ्गाद्यस्य मुह्यसि । कथं त्वं कर्मणा शक्त कैकेयीवशवर्तिनः ॥१२॥
करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् । यद्ययं किल्बिषाद्भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते ॥१३॥
जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्गश्च गर्हितः । [illegible]धर्मसंयोगो लोकस्यास्य विगर्हितः ॥१४॥
मनसापि कथं कामं कुर्यात्त्वं कामवृत्तयोः । [illegible]हितयोर्नित्यं शत्र्वोः पित्रभिधानयोः ॥१५॥
यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम् । तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ॥१६॥
विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते । वीराः संभावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥१७॥
दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम् । न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥१८॥
द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च । दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति ॥१९॥
अद्य मत्पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः । यद्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम् ॥२०॥
अत्यङ्कुशमिवोद्दामं गजं मदबलोद्धतम् । प्रधावितमहं दैवं पौरुषेण निवर्तये ॥२१॥
लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम् । न च कृत्स्नास्त्रयो लोका विहन्युः किं पुनः पिता ॥२२॥
यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन् समर्थितः । अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ॥२३॥

नहीं कर सकता, अतः इस विषय में आप मुझे क्षमा कर दें। हे महामते ! जिस [धर्म] के कारण आप की यह द्वैध (= पहले राज्य का ग्रहण करना, अब उसका परित्याग रूप) बुद्धि उत्पन्न हुई ॥ ११ ॥ और जिस के कारण आप विमोहित हो गये, ऐसा धर्म मेरे लिये द्वेष करने योग्य है, [क्योंकि वह वास्तविक धर्म नहीं, धर्माभास है। हे भ्रातः ! पौरुष एवं धर्मयुक्त] कर्म करने में समर्थ आप कैकेयी के वशवर्त्ती ॥ १२ ॥ पिता के अधर्मयुक्त एवं निन्दित वचन का कैसे पालन करेंगे ? क्योंकि आप इस [अपनी] अभिषेक परिच्युति को [असत्य वर के कल्पना रूपी] पाप के कारण किया गया नहीं समझते ॥ १३ ॥ इसलिये मुझे बहुत दुःख हो रहा है और [ऐसी] धर्मासक्ति भी निन्दित है। आप का जो धर्म-संयोग (= धर्मसमझ कर वनवास का स्वीकार करना) है, वह सब प्रजाजनों को अप्रिय है ॥ १४ ॥ [ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जो] माता-पिता नाम के उन अहित करने वाले, स्वेच्छाचारी [कैकेयी-दशरथ] शत्रुओं की आज्ञा का पालन मन से भी करना चाहेगा ! ॥ १५ ॥ यद्यपि आप का यह मत है कि उन [दशरथ-कैकेयी] का [आप के अभिषेक की निर्वृत्ति और वनगमन का] निश्चय दैव के कारण हुआ है, परन्तु आप को इसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये, आप का यह निश्चय मुझे ठीक नहीं लगता ॥ १६ ॥ जो पौरुषहीन और कायर है, वही भाग्य का अनुवर्त्तन करता है। जो पराक्रमी वीर पुरुष हैं, वे दैव का अनुसरण नहीं करते ॥ १७ ॥ जो पुरुषार्थ से दैव को दबा सकता है, उसको दैव के कारण असफल होकर पश्चात्ताप करने का अवसर नहीं मिलता ॥ १८ ॥ आज भाग्य और पुरुषार्थ के पराक्रम को लोग देखेंगे। दैव और मानुष (= पुरुषार्थ) में कौन बलवान् है, आज इसका निर्णय हो जायगा ॥ १९ ॥ जिन लोगों ने दैव के कारण आप के राज्याभिषेक को नष्ट होते देखा है, वे आज मेरे पुरुषार्थ द्वारा भाग्य को भी नष्ट होते हुए देखेंगे ॥ २० ॥ अङ्कुश से भी वश में न होने वाले, शृंखला आदि के बन्धन से रहित, मदमस्त दौड़ते हुए हाथी के समान दुर्निवार, स्वच्छन्द दैव को मैं पौरुष से हटा दूंगा ॥ २१ ॥ आज होने वाले राम के राज्याभिषेक को समस्त राजा तथा तीनों लोक भी मिलकर नहीं हटा सकते, फिर पिता [दशरथ] कैसे हटा सकते हैं ॥ २२ ॥ हे राजन् ! जिन लोगों ने परस्पर मिलकर आप के वनवास का समर्थन किया था, अब उनको ही चौदह वर्ष तक अरण्य में रहना पड़ेगा ॥ २३ ॥ मैं पिता दशरथ एवं माता कैकेयी

अहं तदाशां छेत्स्यामि पितुस्तस्याश्च या तव । अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ॥२४॥
मद्बलेन विरुद्धाय न स्याद्दैवबलं तथा । प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ॥२५॥
ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम् । आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ॥२६॥
पूर्वं राजर्षिवृत्त्या हि वनवासो विधीयते । [illegible] निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत्परिपालने ॥२७॥
स चेद्राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया । [illegible]मिच्छसि धर्मात्मन् राज्यं राम त्वमात्मनि ॥२८॥
प्रतिजाने च ते वीर मा भूवं वीरलोकभाक् । राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ॥२९॥
मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो भव । अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ॥३०॥
न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे । नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः ॥३१॥
अमित्रदमनार्थं मे सर्वमेतच्चतुष्टयम् । न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्मतो मम ॥३२॥
असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा । प्रगृहीतेन वै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये ॥३३॥
खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा च मे । हस्त्यश्वरथिहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही ॥३४॥
खड्गधाराहता मेऽद्य दीप्यमाना इवाग्नयः । पतिष्यन्ति द्विषो भूमौ मेघा इव सविद्युतः ॥३५॥
बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने । कथं पुरुषमानी स्यात्पुरुषाणां मयि स्थिते ॥३६॥

की उस आशालता को काट डालूँगा, जो आप के अभिषेक को हटाकर अपने पुत्र [भरत] के राज्याभिषेक के लिये प्रवृत्त हो रही है ॥ २४ ॥ मेरे बल से विरोध करने की शक्ति भाग्य में नहीं है। यदि किसी तरह हो भी तो मेरा प्रचण्ड पौरुष उसको नष्ट करने के लिये समर्थ होगा ॥ २५ ॥ सहस्र वर्ष पर्यन्त प्रजा पालन करने के अनन्तर जब आप वन को चले जायेंगे तब आप के पुत्र राज्य करेंगे ॥ २६ ॥ पहले [राजा लोग] राजर्षि वृत्ति से [अर्थात् वृद्धावस्था में] पुत्रवत् पालन करने के लिये प्रजा को पुत्रों के हाथ सौंप कर वनवास करते थे, [इसलिये आप को इस समय वनवास करना उचित नहीं] ॥ २७ ॥ हे धर्मात्मन् राम ! यदि आप राजा [दशरथ] के चंचलचित्त होने के कारण प्रतिकूल होने पर राज्य के [हाथ से] निकल जाने की शंका से स्वयं राज्य को ग्रहण नहीं करना चाहते, तो ॥ २८ ॥ हे वीर ! मैं आप से प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, कि मैं वीर कहलाने का अधिकारी न रहूँ [यदि आप के राज्य की रक्षा न करूँ]। मैं आप के राज्य की भली प्रकार रक्षा करूँगा, जिस प्रकार तीर समुद्र की करता है ॥ २९ ॥ आप अपना मंगलाभिषेक करावें, अभिषेक की तैयारी में लग जाइये। मैं अकेला बलपूर्वक सब राजाओं को हटाने के लिये पर्याप्त हूँ ॥ ३० ॥ मेरी ये दोनों भुजायें शोभा के लिये नहीं हैं और न यह धनुष ही मेरा आभूषण है। मेरी तलवार [कमर पर] केवल बन्धी रहने के लिये नहीं है और न मेरे बाण खम्बे बनने के लिये हैं ॥ ३१ ॥ ये मेरी चारों चीजें शत्रुओं के दमन के लिये हैं। [संसार में] जो कोई भी [छोटा या] बड़ा शत्रु है, मैं उसको रहने नहीं देना चाहता ॥ ३२ ॥ बिजली के समान चमकने वाली, तेज धार वाली तलवार से मैं शत्रु को चाहे वह इन्द्र ही क्यों न हो, [टुकड़े-टुकड़े] कर डालूँगा ॥ ३३ ॥ [मेरी] तलवार के आघात से कट-कट कर गिरे हुए हाथी, घोड़े और रथ-सवारों के हाथ, उरु और सिरों से यह पृथिवी भर जायगी और अतएव वह चलने के अयोग्य हो जायगी ॥ ३४ ॥ [मेरी] तलवार से कटे हुए, [रक्तधार बहने के कारण] प्रज्वलित अग्नि के समान प्रतीत होने वाले [मेरे] शत्रु बिजली-युक्त मेघों के समान पृथिवी पर गिरेंगे ॥ ३५ ॥ ज्या (= धनुष की डोरी) के आघात से बचने के लिये [हाथों में] अङ्गुलित्राण (= दस्ताना) बाँधकर और धनुष ग्रहण करके जब मैं सामने खड़ा हूँगा, तब कौन मेरे सामने अपने पुरुष होने का अभिमान कर सकेगा ॥ ३६ ॥ [एक प्रधान योद्धा] को अनेक

बहुभिश्चैकमत्यस्यन्नेकेन च बहूञ्जनान् । विनियोक्ष्याम्यहं बाणान् नृवाजिगजमर्मसु ॥३७॥
अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य प्रभावः प्रभविष्यति । राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ॥३८॥
अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च । [illegible]नां च विमोक्षस्य सुहृदां पालनस्य च ॥३९॥
अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः । [illegible]नविघ्नस्य कर्तॄणां ते निवारणे ॥४०॥

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्य[illegible] तवासुहृत्प्राणयशःसुहृज्जनैः ।
यथा तवेयं वसुधा वशे भवेत्तथैव मां शाधि तवास्मि किंकरः ॥ ४१ ॥
विमृज्य बाष्पं परिसान्त्व्य चासकृत्स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः ।
उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथः ॥ ४२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे लक्ष्मणक्रोधो नाम त्रयोविंशः सर्गः ॥२३॥

चतुर्विंशः सर्गः

कौसल्यार्तिसमाश्वासनम्

तं समीक्ष्य त्ववहितं पितुर्निर्देशपालने । कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत् ॥ १ ॥
अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः । मयि जातो दशरथात्कथमुञ्छेन वर्तयेत् ॥ २ ॥

बाणों से एवं [साधारण] अनेक सैनिकों को एक ही बाण से मैं दूर फेंक दूँगा और मनुष्य, घोड़े और हाथियों के मर्मस्थान पर बाण चलाऊँगा ॥ ३७ ॥ राजा [दशरथ] का प्रभुत्व नष्ट करने के लिये तथा आपका प्रभुत्व स्थापित करने के लिये मेरे अस्त्र सम्बन्धी पराक्रम आज अपना प्रभुत्व फैलायेंगे ॥ ३८ ॥ हे राम ! आपके अभिषेक में विघ्न उत्पन्न करने वालों के निवारण करने में आज ये मेरी भुजायें, चन्दन लगाने, कुण्डल धारण करने, धन के दान देने और सुहृदों के पालन करने के अनुरूप कर्म करेंगी। [अर्थात्—मेरा भुजाओं में चन्दन लगाना, कुण्डल धारण करना इत्यादि आज सार्थक हो जायगा] ॥ ३९, ४० ॥ बताइये ! कौन आपका शत्रु आज [मेरे द्वारा मारा जाकर] अपने प्राण, यश और मित्रों से रहित हो जावे । जिस प्रकार यह पृथिवी आपके वश में हो जाय, वैसी ही आज्ञा मुझे दीजिये, मैं आपका सेवक हूँ ॥ ४१ ॥ राघव वंश के बढ़ाने वाले श्रीराम [लक्ष्मण के] आँसू पोंछकर, एवं बार २ [उन्हें] सान्त्वना देकर बोले—"हे सौम्य [लक्ष्मण] ! मैं माता-पिता की आज्ञा के आधीन हूँ, ऐसा समझो, यही सन्मार्ग है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का लक्ष्मण-क्रोध विषयक तेईसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २३ ॥

चौबीसवाँ सर्ग

कौसल्या का दुःख एवं समाश्वासन

राम को पिता की आज्ञा-पालन में दृढ़ निश्चय वाला समझकर माता कौसल्या रुंधे हुए कण्ठ से धर्मिष्ठ राम से बोलीं—॥ १ ॥ जिसने कभी दुःख नहीं देखा ऐसा धर्मात्मा, सब प्राणियों से प्रिय बोलने वाला, दशरथ द्वारा मुझ में उत्पन्न पुत्र राम [वन में] उञ्छ (=खेतों में गिरे हुए अन्न को बटोर कर जीवन निर्वाह करना) से जीवन निर्वाह करेगा ! ॥ २ ॥ जिसके भृत्य और दास स्वच्छ उत्तम अन्न खाते

यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते । कथं स भोक्ष्यते नाथो वने मूलफलान्ययम् ॥ ३ ॥
क एतच्छ्रद्दधेच्छ्रुत्वा कस्य वा न भवेद्भयम् । गुणवान् दयितो राज्ञो राघवो यद्विवास्यते ॥ ४ ॥
नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशेत् । लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि ॥ ५ ॥
अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः । [illegible]दुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः ॥ ६ ॥
चिन्तावाष्पमहाधूमस्तवागमनचिन्तजः । [illegible]यित्वा भृशं पुत्र निःश्वासायाससंभवः ॥ ७ ॥
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान् । प्रधक्ष्यति यथा कक्षं चित्रभानुर्हिमात्यये ॥ ८ ॥
कथं धेनुः स्वकं वत्सं गच्छन्तं नानुगच्छति । अहं त्वानुगमिष्यामि पुत्र यत्र गमिष्यसि ॥ ९ ॥
तथा निगदितं मात्रा तद्वाक्यं पुरुषर्षभः । श्रुत्वा रामोऽब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥१०॥
कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते । भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति ॥११॥
भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः । स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः ॥१२॥
यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः । शुश्रूषा क्रियतां तावत्स हि धर्मः सनातनः ॥१३॥
एवमुक्ता तु कौसल्या रामेण शुभदर्शना । तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम् ॥१४॥
एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतां वरः । भूयस्तामब्रवीद्वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम् ॥१५॥
मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः । राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः ॥१६॥
इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च । वर्षाणि परमप्रीतः स्थास्यामि वचने तव ॥१७॥

हैं, वह राम वन में मूल-फल कैसे खायेगा ? ॥ ३ ॥ इस बात को कौन सत्य मानेगा, और किसको यह बात सुनकर भय न लगेगा कि गुणवान् एवं राजा का प्यारा राम निर्वासित किया जा रहा है ॥ ४ ॥ निश्चय ही [प्राणियों को सुख-दुःख देने वाला] भाग्य ही लोक में बलवान् है, जिसके कारण ही राम ! लोक में सबको प्रिय लगने वाला तू वन को जा रहा है ॥ ५ ॥ स्वयं मेरे अन्दर से उत्पन्न होने वाली, तेरे दर्शन न मिलने रूपी वायु से बढ़ने वाली, विलाप-दुःख जिसकी समिधायें हैं, रोने के आँसू ही जिसकी आहुतियाँ हैं, तेरे आगमन की चिन्ता से उत्पन्न होने वाले आँसू जिसका धुआँ हैं, मेरी गरम २ आहों रूपी फूँक से जो जलायी जायेगी, ऐसी यह महान् अनुपम शोकाग्नि, हे पुत्र ! तुझसे विहीन मुझको कृश करके जला डालेगी, जैसे कि सर्दी बीतने पर गर्मी में [प्रचण्ड किरण वाला] सूर्य घास को जला देता है ॥६-८॥ वत्स ! क्या गाय अपने बच्चे के पीछे नहीं जाती ? [जहाँ वह जाता है, वहीं वह जाती है], उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ, जहाँ तुम चलोगे, वहाँ जाऊँगी ॥ ९ ॥ माता द्वारा कहे गये इन वचनों को सुनकर पुरुषश्रेष्ठ राम अत्यन्त दुःखित माता से बोलेः—॥ १० ॥ कैकेयी के द्वारा ठगे गये राजा मेरे अरण्य को चले जाने पर और आपके द्वारा परित्यक्त होकर निश्चय ही जीवित न रह सकेंगे ॥ ११ ॥ भर्त्ता का परित्याग करना स्त्री के लिये सबसे बड़ी क्रूरता है; जो आपको नहीं करनी चाहिये, मन से भी ऐसा सोचना निन्दनीय है ॥ १२ ॥ जब तक मेरे पिता ककुत्स्थवंशी राजा दशरथ जीवित हैं, तब तक आप उनकी सेवा करें, यही सनातन धर्म है ॥ १३ ॥ राम के ऐसा कहने पर शुभदर्शना कौसल्या ने प्रसन्न होकर अक्लिष्ट (= उत्तम) कर्म करने वाले राम से 'ऐसा हो' इस प्रकार कहा ॥ १४ ॥ [माता के] इस प्रकार कहने पर धर्माचरण करने वालों में श्रेष्ठ राम अत्यन्त दुःखिता माता से पुनः बोले—॥ १५ ॥ मुझे और आपको पिताजी की आज्ञा का पालन करना चाहिये । [क्योंकि वे आपके] पति हैं, वे गुरु हैं, श्रेष्ठ हैं, सबके स्वामी एवं पूज्य हैं ॥ १६ ॥ ये चौदह वर्ष वन में बिताकर [पुनः लौटकर] मैं प्रसन्नता पूर्वक आपकी आज्ञा का पालन

एवमुक्त्वा प्रियं पुत्रं बाष्पपूर्णानना तदा । उवाच परमार्ता तु कौसल्या पुत्रवत्सला ॥१८॥
आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम् । नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीं यथा ॥१९॥
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया । तां तथा रुदतीं रामो रुदन् वचनमब्रवीत् ॥२०॥
जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च । [illegible] मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः ॥२१॥
न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता । [illegible]श्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः ॥२२॥
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा । यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः ॥२३॥
श्रमं नावाप्नुयात्किंचिदप्रमत्ता तथा कुरु । दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत् ॥२४॥
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता । व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥२५॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा तु पापगतिर्भवेत् । भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥२६॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् । शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥२७॥
एष धर्मः पुरा दृष्टो लोके वेदे श्रुतः स्मृतः । अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥२८॥
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सुव्रताः । एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी ॥२९॥
नियता नियताहारा भर्तृशुश्रूषणे रता । प्राप्स्यसे परमं कामं मयि प्रत्यागते सति ॥३०॥
यदि धर्मभृतां श्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम् । एवमुक्ता तु रामेण बाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥३१॥

करूंगा ॥ १७ ॥ तब [राम के] ऐसा कहने पर अश्रुपूर्ण नयनों वाली, अत्यन्त दुःखी, पुत्रवत्सला कौसल्या प्रिय पुत्र राम से बोली—॥ १८ ॥ इन सपत्नियों के साथ मेरा रहना उचित नहीं [इसलिये] हे काकुत्स्थ यदि तुमने पिता की आज्ञा से वन को जाना निश्चित कर लिया है, तो वन की मृगी के समान मुझे भी अपने साथ ले चलो । [तदनन्तर] उस रोती हुई [माता] से राम रोते हुए बोले ॥ १९, २० ॥ जीवित स्त्री के लिये उसका पति ही देव एवं स्वामी है । इस समय आपके और मेरे राजा ही स्वामी हैं ॥ २१॥ लोकस्वामी, बुद्धिमान् राजा [दशरथ] के रहते हम लोग अनाथ नहीं । भरत भी धर्मात्मा और सबसे प्रिय बोलने वाला है ॥ २२ ॥ धर्मानुसार कार्य करनेवाला वह सदा आपके अनुकूल कार्य करेगा । मेरे चले जाने पर पुत्रशोक के कारण राजा ॥ २३ ॥ जिस प्रकार दुःखी न हों, वैसा प्रयत्न सावधान रहकर आप करें, जिससे कि यह दारुण शोक उनका नाश न करे ॥ २४ ॥ आप सावधान होकर सदा वृद्ध राजा के हित का आचरण करें । व्रत-उपवास आदि का सेवन करने वाली जो उत्तम नारी ॥ २५ ॥ पति के अनुकूल आचरण नहीं करती, वह पाप की भागिनी होती है । पति की सेवा से नारी उत्तम स्वर्ग को प्राप्त करती है ॥ २६ ॥ [वह स्त्री] भी [स्वर्ग को प्राप्त करती है], जो [गुरुजनों को] नमस्कार आदि न करके तथा यज्ञ को छोड़कर पति के प्रिय और हितयुक्त आचरण में लगी हुई सदा उसकी सेवा करती रहे ॥२७॥ पहले [ऋषियों द्वारा] देखा गया [स्त्रियों का पतिसेवा रूप] यह धर्म ही लोक और वेद में सुना व स्मरण किया गया है । देवि ! मेरे कल्याण के लिये सदा उत्तम पुष्प आदि सामग्रियों से यज्ञ आदि शुभ कार्यों को करते हुए विद्वानों और शुभ आचरण वाले ब्राह्मणों की पूजा, आदर-सत्कार आदि करती रहना । [देवि !] इस प्रकार मेरे आगमन की आकांक्षा करती हुई आप समय की प्रतीक्षा करें ॥ २८, २९ ॥ यदि धार्मिकों में श्रेष्ठ [राजा दशरथ] जीवित रहे तो इस प्रकार नियतचित्त और नियत आहार युक्त होकर पति की सेवा में लगी हुई आप मेरे [वन से] लौट आने पर अपनी कामना को पूर्ण पायेंगी । राम के इस प्रकार कहने पर अश्रुपूर्ण नयनों वाली, ॥ ३०, ३१ ॥ पुत्र-शोक से दुःखित कौसल्या राम से

कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत् । गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक ॥३२॥
विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः । गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥३३॥
पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा । प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते ॥३४॥
पितुरानृण्यतां प्राप्ते त्वयि लप्स्ये परं सुखम् । [illegible]स्य गतिः पुत्र दुर्विभाव्या सदा भुवि ॥३५॥
यस्त्वां संचोदयति मे वच आच्छिद्य राघव । [illegible]ानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः ॥३६॥
नन्दयिष्यसि मां पुत्र साम्ना वाक्येन चारुणा । अ[illegible]दानीं स कालः स्याद्वनात्प्रत्यागतं पुनः ॥३७॥
यत्त्वां पुत्रक पश्येयं जटावल्कलधारिणम् ।

तथा हि रामं वनवासनिश्चितं समीक्ष्य देवी परमेण चेतसा ।
उवाच रामं शुभलक्षणं वचो बभूव च स्वस्त्ययनाभिकाङ्क्षिणी ॥३८॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे कौसल्यार्तिसमश्वासनं नाम चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

मातृस्वस्त्ययनम्

सापनीय तमायासमुपस्पृश्य जलं शुचि । चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी ॥ १ ॥
न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम । शीघ्रमेव निवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे ॥ २ ॥

बोलीः—हे प्रिय पुत्र राम ! गमन के प्रति दृढ़ निश्चय वाली तेरी बुद्धि को मैं रोक नहीं सकती, ॥ ३२ ॥ [क्योंकि] हे वीर ! काल बहुत बलवान् है । पुत्र ! तुम निश्चिन्त होकर जाओ । तेजस्वी ! तेरा सदा कल्याण हो ॥ ३३ ॥ तेरे पुनः लौट आने पर मैं दुःखरहित हो जाऊँगी । [हे पुत्र !] सत्यव्रत को पूर्ण करके, कृतार्थ होकर, पिता के ऋण से उर्ऋण होकर तुझ महाभाग्यशाली के लौट आने पर मैं परम सुख को प्राप्त करूँगी । पुत्र ! संसार में भाग्य की गति सदा दुर्विज्ञेय है ॥ ३४, ३५ ॥ राघव ! [वही भाग्य] तुझे मेरी बात को काटकर [वनगमन के लिये] प्रेरित कर रहा है । हे महाबाहो ! अब जाओ । कुशलपूर्वक फिर लौटकर ॥ ३६ ॥ पुत्र ! मुझे सुन्दर शान्तियुक्त वचनों से आनन्दित करना । अभी शीघ्र ही वह समय आ जाय, जब वन से लौटे हुए जटा-वल्कलधारी तुझको मैं देख सकूँ ॥ ३७ ॥ इस प्रकार देवी कौसल्या अपने उत्तम मन से राम को वनवास के निश्चय में दृढ़ समझकर उसके मङ्गल की कामना करनेवाली हो गईं और शुभ लक्षण वाले [अपने पुत्र] राम से बोलीः—॥ ३८ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का "कौसल्या का दुःख एवं समाश्वासन" विषयक चौबीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २४ ॥

पचीसवाँ सर्ग

माता की मङ्गल कामना

मनस्विनी माता कौसल्या उस [शोक जन्य] थकावट को दूर करके, पवित्र जल से आचमन कर राम के लिये मङ्गल कामना करती हुई कहने लगीः—॥ १ ॥ हे रघुकुलश्रेष्ठ राम ! तुम रोके नहीं जा सकते इसलिये अब जाओ, और जल्दी ही लौटकर आओ, [इस प्रकार] सज्जनों के मार्ग का अनुसरण करो ।

यं पालयसि धर्मं त्वं धृत्या च नियमेन च । स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु ॥ ३ ॥
येभ्यः प्रणमसे पुत्र देवेष्वायतनेषु च । ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः ॥ ४ ॥
यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता । तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं सदा ॥ ५ ॥
पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा । [illegible] च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः ॥ ६ ॥
समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च । [illegible]ण्डलानि च विप्राणां शैला वृक्षाः क्षुपा ह्रदाः ॥७॥
पतङ्गाः पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम । स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षयः ॥ ८ ॥
स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा । लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा ॥ ९ ॥
ऋतवश्चैव पक्षाश्च मासाः संवत्सराः क्षपाः । दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा ॥१०॥
स्मृतिर्धृतिश्च धर्मश्च पातु त्वां पुत्र सर्वतः । स्कन्दश्च भगवान् देवः सोमश्च सबृहस्पतिः ॥११॥
सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः । ते चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः ॥१२॥
स्तुता मया वने तस्मिन् पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः। शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च ॥१३॥
द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी नद्यः सर्वास्तथैव च । नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सहदेवताः ॥१४॥
अहोरात्रे तथा संध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम् । ऋतवश्चैव षट् पुण्या मासाः संवत्सरास्तथा ॥१५॥
कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म दिशन्तु ते । महावने विचरतो मुनिवेषस्य धीमतः ॥१६॥
तवादित्याश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा । राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ॥१७॥
क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत्पुत्रक ते भयम् । प्लवगा वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने ॥१८॥

॥ २ ॥ जिस धर्म का तुम धैर्य तथा नियम से पालन करते हो, वह धर्म हे राघवशार्दूल ! तुम्हारी सब ओर से रक्षा करे ॥ ३ ॥ हे पुत्र ! देवालयों (= विद्वद्गृहों) व पूजा गृहों में जिनको तुम नमस्कार आदि करते हो, वे देव (= विद्वान् लोग) तथा महर्षि वन में तुम्हारी रक्षा करें ॥ ४ ॥ बुद्धिमान् विश्वामित्र ने जो अस्त्र तुम्हें दिये थे, वे अस्त्र गुणयुक्त तुम्हारी सदा रक्षा करें ॥ ५ ॥ हे पुत्र ! महाबाहो ! पितृसेवा, मातृसेवा तथा सत्य के द्वारा रक्षित हुए तुम चिरकाल तक जीओ ॥ ६ ॥ पवित्र समिधायें व कुशा, वेदियाँ देवस्थान, ब्राह्मणों के चबूतरे, पर्वत, वृक्ष, पौधे, तालाब, ॥ ७ ॥ पक्षी, सर्प, सिंह आदि सब, हे नरश्रेष्ठ! तुम्हारी रक्षा करें । साध्य (= सिद्धियों में लगे हुए विद्वान्), विश्वेदेव, मरुत और महर्षि [तुम्हारा] कल्याण करें ॥ ८ ॥ ब्रह्मा, विराट्, पूषा, ऐश्वर्यशाली तथा न्यायकारी आपकी रक्षा करें । इन्द्र आदि प्रमुख लोकपाल ॥ ९ ॥ छः ऋतुएँ, पक्ष, मास, संवत्सर, रात्रि, दिन तथा मुहूर्त्त ये सब सदा तुम्हारा कल्याण करें ॥ १० ॥ हे पुत्र ! स्मृतियाँ, धैर्य तथा धर्म तुम्हारी सब ओर से रक्षा करें । विद्वानों के नेता, सोम, बृहस्पति, ॥ ११ ॥ सप्तर्षि तथा नारद आपकी सब तरह से रक्षा करें । सारी दिशायें, सिद्ध तथा दिशाओं के पति, ॥ १२ ॥ जिनकी मैंने स्तुति की है, ये वन में सर्वदा सर्वतः तुम्हारी रक्षा करें । सारे पर्वत, समुद्र, राजा वरुण (= वनस्थ राज्यों के अधिपति) ॥ १३ ॥ द्युलोक, अन्तरिक्ष लोक, पृथिवी, समस्त नदियाँ, सब नक्षत्र, देवताओं (= पंचमहाभूतों) सहित ग्रह (= लोक-लोकान्तर) ॥ १४ ॥ अहोरात्र, तथा दोनों काल की सन्ध्यायें वन को गये हुए तुम्हारी रक्षा करें । छः ऋतुएँ, पुण्य (= कल्याण करने वाले) मास तथा संवत्सर, ॥ १५ ॥ कला और काष्ठा (= काल परिमाण विशेष) मुनिवेष धारण करके महावन में विचरण करते हुए तुझ बुद्धिमान् का कल्याण करें ॥ १६ ॥ आदित्य (= व्रती) तथा दैत्य (= व्रतहीन) भी तुम्हारे लिये सदा सुख देने वाले हों । कुटिल कर्म करने वाले भयंकर राक्षसों, पिशाचों ॥ १७ ॥ मांसाहारियों से हे पुत्र! तुमको भय न हो । वन में वानर आदि, विच्छु, दंश (= पिस्सु) तथा मच्छर, ॥१८॥

सरीसृपाश्च कीटाश्च मा भूवन् गहने तव । महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा ऋक्षाश्च दंष्ट्रिणः ॥१९॥
महिषाः शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुह्यन्तु पुत्रक । नृमांसभोजिनो रौद्रा ये चान्ये सत्त्वजातयः ॥२०॥
मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र मया संपूजितास्त्विह । अ[illegible]मास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः ॥
सर्वसंपत्तये राम स्वस्तिमान् गच्छ पुत्रक [illegible]त तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः ॥
सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः । [illegible]ः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा ॥२३॥
पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् । अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखाच्च्युताः ॥२४॥
उपस्पर्शनकाले तु पान्तु त्वां रघुनन्दन । सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतभर्ता तथर्षयः ॥२५॥
ये च शेषाः सुराः सर्वे रक्षन्तु वनवासिनम् । इति माल्यैः सुरगणान् गन्धैश्चापि यशस्विनी ॥२६॥
स्तुतिभिश्चानुरूपाभिरानर्चायतलोचना । ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना ॥२७॥
हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् । घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधः श्वेतसर्षपान् ॥२८॥
उपसंपादयामास कौसल्या परमाङ्गना । उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम् ॥
हुतहव्यावशेषेण बाह्यं बलिमकल्पयत् । मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्ति वाच्य द्विजांस्ततः ॥३०॥
वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाः । ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी ॥३१॥
दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् । यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ॥३२॥

सरकने वाले विषखपरा, गुहेरा आदि और कीड़े उस गहन वन में तुम्हारे लिये [दुःखदायी] न हों। मतवाले हाथी, सिंह, व्याघ्र, भालु तथा भयंकर दाँत वाले जानवर, ॥ १९ ॥ और भयंकर सींग वाले जंगली भैंसे, हे पुत्र ! तुम्हें कष्ट देने वाले न हों। नरमांसभोजी तथा भयंकर कर्म करने वाले जितने प्राणधारी हैं, वे सबके सब—॥ २० ॥ मेरे द्वारा पूजित हुए २, हे पुत्र ! तुम्हारी किसी प्रकार की हिंसा न करें। सम्पूर्ण आगम (= मार्ग) तुम्हारा कल्याण करने वाले हों, तुम्हारे सम्पूर्ण पराक्रम सिद्ध हों ॥ २१ ॥ हे कल्याण करने वाले पुत्र राम ! सब लोगों के कल्याण के लिये तुम [वन को] जाओ। अन्तरिक्ष तथा पृथिवी के प्राणियों से ॥ २२ ॥ सम्पूर्ण देवताओं से और जो तुम्हारे विरोधी हैं, उनसे तुम्हारी बार-बार रक्षा हो। शुक्र, सूर्य, धन देने वाला कुबेर (= उत्तर दिशा के राज्य का राजा) तथा यम [ये सब] ॥२३॥ मेरे द्वारा पूजित होकर दण्डकारण्य वासी तुम्हारी रक्षा करें। अग्नि, वायु, धूम तथा ऋषियों के मुख से निकले मन्त्र, ॥ २४ ॥ ध्यान आदि के समय, हे रघुनन्दन ! तुम्हारी रक्षा करें। सब प्राणियों का पालन करने वाले तथा सब लोकों के अधिपति ब्रह्मा, ऋषि लोग ॥ २५ ॥ तथा अवशिष्ट देव लोग तुझ वनवासी की रक्षा करें। इस प्रकार विशाल नेत्रों वाली, यशस्विनी कौसल्या ने मालाओं, विविध सुगन्धों तथा यथायोग्य स्तुतियों द्वारा देवताओं की पूजा की और अग्नि को प्रज्वलित करके महात्मा ब्राह्मणों द्वारा ॥ २६,२७ ॥ राम के मङ्गल के लिये विधिपूर्वक हवन कराया। घृत, श्वेत मालाओं, समिधाओं और उत्तम सरसों को ॥ २८ ॥ श्रेष्ठ कौसल्या ने ब्राह्मणों के समीप रक्खा। उस उपाध्याय ने विधिपूर्वक निरुपद्रव, शान्तियुक्त हवन करके ॥ २९ ॥ हवन से अवशिष्ट हवि का प्रसाद रूप में वितरण किया। मधु, दधि, अक्षत (= छिलकारहित चावल) और घृत आदि के द्वारा द्विजों का आदर-सत्कार करके तत्पश्चात् ॥ ३० ॥ [माता कौसल्या ने] द्विजों के द्वारा राम के लिये स्वस्तिवाचन कराया। तत्पश्चात् यशस्विनी राममाता कौसल्या ने उस द्विजश्रेष्ठ के लिये ॥ ३१ ॥ प्रभूत दक्षिणा दी और राघव से बोलीः—[हे राम !] "जो मङ्गल सकल देवों के नमस्करणीय इन्द्र के लिये ॥ ३२ ॥ वृत्रासुर के नाश के समय हुआ,

वृत्रनाशे समभवत्तत्ते भवतु मङ्गलम् । यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत्पुरा ॥३३॥
अमृतं प्रार्थयानस्य तत्ते भवतु मङ्गलम् । अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ॥३४॥
अदितिर्मङ्गलं प्रादात्तत्ते भवतु मङ्गलम् । त्रीन् विक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरमिततेजसः ॥३५॥
यदासीन्मङ्गलं राम तत्ते भवतु मङ्गलम् । [illegible]सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ॥३६॥
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमङ्गलाः । [illegible]पुत्रस्य शेषांश्च कृत्वा शिरसि भामिनी ॥३७॥
गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना । औषधीं चापि सिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम् ॥३८॥
चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च । उवाचातिप्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी ॥३९॥
वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया । आनम्य मूर्ध्नि चाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनी ॥४०॥
अवदत्पुत्र सिद्धार्थो गच्छ राम यथासुखम् । अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ॥४१॥
पश्यामि त्वां सुखं वत्स सुस्थितं राजवर्त्मनि । प्रनष्टदुःखसंकल्पा हर्षविद्योतितानना ॥४२॥
द्रक्ष्यामि त्वां वनात्प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवोदितम् । भद्रासनगतं राम वनवासादिहागतम् ॥४३॥
द्रक्ष्यामि च पुनस्त्वां तु तीर्णवन्तं पितुर्वचः । मङ्गलैरुपसंपन्नो वनवासादिहागतः ॥४४॥
वध्वा मम च नित्यं त्वं कामान् संवर्धय प्रभो ॥

मयार्चिता देवगणाः शिवादयो महर्षयो भूतमहासुरोरगाः ।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥४५॥
इतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि ।
प्रदक्षिणं चैव चकार राघवं पुनः पुनश्चापि निपीड्य सस्वजे ॥४६॥

वह मङ्गल तुम्हारे लिये हो। अमृत प्राप्त करने के लिये जो मङ्गल विनता ने गरुड़ का किया था, वह मङ्गल तुम्हारा हो। अमृत उत्पन्न करने के समय दैत्यों को मारते हुए इन्द्र का ॥ ३३,३४ ॥ अदिति ने जो मङ्गल किया था, वही मङ्गल तुम्हारा हो। अमित तेजवाले विष्णु का तीन पग परिक्रमा करते समय ॥ ३५ ॥ जो मङ्गल हुआ था, वह मङ्गल तुम्हारा हो। ऋतुएँ, समुद्र, द्वीप, वेद, लोक ॥ ३६ ॥ तथा शुभ मङ्गलवाली दिशायें, हे महाबाहो! तुम्हारा मङ्गल करें। इस प्रकार विशाल नेत्रों वाली कौसल्या ने पुत्र राम के सिर पर अक्षत तथा चन्दन आदि का लेप करके प्रयोजनों को सिद्ध करने वाली, दुःखों का नाश करने वाली शुभ ओषधियों का ॥ ३७,३८ ॥ प्रयोग किया और मन्त्रों का जप किया। दुःख के वशीभूत हुई कौसल्या प्रसन्न हुई के समान बोली—॥३९॥ हृदय से दुःखी होती हुई तथा वाणीमात्र से प्रसन्नता प्रकट करती हुई यशस्विनी कौसल्या राम के सिर को झुकाकर सूँघकर तथा गोद में लेकर ॥४०॥ बोली—"हे पुत्र राम! प्रयोजन सिद्धि के लिये तुम सुखपूर्वक [वन को] जाओ। हे वत्स! सब मनोरथों को पूर्ण करके, अयोध्या को वापिस लौटे हुए रोग-रहित तुझको ॥ ४१ ॥ सुखपूर्वक राजमार्ग में देखूं। सब दुःखजनित संकल्पों से रहित, प्रसन्नता से प्रफुल्लित मुखवाली मैं ॥४२॥ पूर्ण चन्द्रमा के समान उदित वन से लौटे हुए तुझको देखूँगी। हे राम! पिता के वचन में उत्तीर्ण वनवास से यहाँ लौटकर राजसिंहासन पर बैठे हुए तुझको देखूँगी। हे राम! वन से लौटे हुए माङ्गलिक क्रियाओं से युक्त तुम वधू (=सीता) और मेरी कामनाओं को नित्य बढ़ाओ ॥४३,४४॥ हे राघव! मेरे द्वारा पूजित शिव आदि देवगण, महर्षि, भूत, महासुर, उरग आदि तथा दिशायें चिरकाल के लिये वन को जाते हुए तुम्हारे हितों की रक्षा करें ॥ ४५ ॥ इस प्रकार आँखों में आँसू भरे हुए कौसल्या ने यथाविधि स्वस्तिवाचन को समाप्त कर राम की बार २ प्रदक्षिणा की तथा उनको पकड़कर हृदय से लगाया ॥ ४६ ॥

तथा तु देव्या स कृतप्रदक्षिणो निपीड्य मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
जगाम सीतानिलयं महायशाः स राघवः प्रज्वलितः स्वया श्रिया ॥४७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे मातृस्वस्त्ययनं नाम पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

षड्विंशः सर्गः

सीताप्रत्यवस्थापनम्

अभिवाद्य च कौसल्यां रामः संप्रस्थितो वनम् । कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे वर्त्मनि स्थितः ॥१॥
विराजयन् राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम् । हृदयानि ममन्थेव जनस्य गुणवत्तया ॥ २ ॥
वैदेही चापि तत्सर्वं न शुश्राव तपस्विनी । तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥
देवकार्यं स्वयं कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना । अभिज्ञा राजधर्माणां राजपुत्री प्रतीक्षते ॥ ४ ॥
प्रविवेशाथ रामस्तु स्वं वेश्म सुविभूषितम् । प्रहृष्टजनसंपूर्णं ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥
अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम् । अपश्यच्छोकसंतप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥
तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम् । तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ॥ ७ ॥
विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम् । आह दुःखाभिसंतप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥ ८ ॥

इस प्रकार देवी कौसल्या के द्वारा प्रदक्षिणा किये गये अपनी कान्ति से प्रकाशित महायशस्वी राम माता के चरणों में बार-बार नमस्कार करके सीता के भवन को गये ॥ ४७ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का "माता की मङ्गल-कामना"
विषयक पच्चीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ २५ ॥

छब्बीसवाँ सर्ग

राम का सीता को समझाना

माता के स्वस्ति-कामना किये जाने पर धर्मात्माओं के मार्ग पर अवस्थित राम ने कौसल्या माता को अभिवादन करके वन को प्रस्थान किया ॥ १ ॥ मनुष्यों से घिरे हुए राजमार्ग को सुशोभित करते हुए राम ने अपनी गुणवत्ता से लोगों के हृदयों को व्यथित कर दिया ॥ २ ॥ तपस्विनी सीता ने यह सब [वनगमन आदि का समाचार] नहीं सुना था। उसके हृदय में वही [राम का] राज्याभिषेक विद्यमान था ॥ ३ ॥ स्वयं देवकार्यों को करके सब कर्त्तव्यों को जानने वाली, प्रसन्न चित्तवाली एवं राजधर्मों को जानने वाली राजपुत्री सीता राम की प्रतीक्षा कर रही थी ॥ ४ ॥ इसके अनन्तर लज्जा से नतानन राम ने प्रसन्न जनों से परिपूर्ण तथा सुभूषित (=सजाये हुए) अपने भवन में प्रवेश किया ॥ ५ ॥ राम के प्रवेश करते ही काँपती हुई सीता ने आगे बढ़कर शोक से सन्तप्त तथा चिन्ता से व्याकुल इन्द्रियों वाले अपने पति राम को देखा ॥ ६ ॥ धर्मात्मा राम सीता को देखकर अपने मनोगत शोक को छिपा न सके और वह प्रकट हो गया ॥ ७ ॥ राम के स्वेदयुक्त, दुःखों को न सह सकने वाले, कान्तिरहित मुख को देखकर दुःख से सन्तप्त सीता ने कहा--प्रभो ! इस समय यह क्या ? हे राघव ! आज पुष्य नक्षत्र युक्त बृहस्पति

अद्य बार्हस्पतः श्रीमानुक्तः पुष्यो नु राघव । प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥९॥
न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च । आवृतं वदनं वल्गु छत्रेणापि विराजते ॥१०॥
व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम् । चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥११॥
वाग्मिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ । [illegible] नात्र दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः ॥१२॥
न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः । [illegible] मूर्धाभिषिक्तस्य दधति स्म विधानतः ॥१३॥
न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः । अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा ॥१४॥
चतुर्भिर्वेगसंपन्नैर्हयैः काञ्चनभूषणैः । मुख्यः पुष्यरथो युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः ॥१५॥
न हस्ती चाग्रतः श्रीमांस्तव लक्षणपूजितः । प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः ॥१६॥
न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन । भद्रासनं पुरस्कृत्य यान्तं वीरपुरस्कृतम् ॥१७॥
अभिषेको यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव । अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते ॥१८॥
इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः । सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम् ॥१९॥
कुले महति संभूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि । शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाभ्यागतं मम ॥२०॥
राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन च । कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तौ महावरौ ॥२१॥
तयाद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते । प्रचोदितः स समयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः ॥२२॥
चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया । पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः ॥२३॥

का दिन है, ऐसा विद्वान् ब्राह्मणों ने कहा है, फिर आप क्यों दुःखी हो रहे हैं ? ॥ ९ ॥ सौ कमानी वाले तथा जलफेन के समान श्वेत सुन्दर छत्र से ढका हुआ आपका सुन्दर मुख विराजमान नहीं हो रहा है ? ॥ १० ॥ चन्द्र-हंस के समान श्वेत मुख्य पंखों से कमल के समान नेत्रों से युक्त आपके मुखमण्डल पर हवा नहीं की जा रही हैं ॥११॥ हे नरश्रेष्ठ ! वाक्चतुर, सूत, मागध तथा वन्दी लोग प्रसन्न होकर मङ्गलगानों से स्तुति करते हुए यहाँ नहीं दिखाई दे रहे हैं ॥ १२ ॥ राज्याभिषेक किये गये आपके सिर पर वेदपारंगत ब्राह्मण लोग विधिपूर्वक दही और मधु नहीं छिड़क रहे हैं ॥ १३ ॥ राजसभा के प्रमुख सुभूषित लोग, नगर और जनपदवासी सम्पूर्ण प्रजाजन तुम्हारा अनुगमन करना नहीं चाहते ॥ १४ ॥ सुवर्ण के आभूषण से शोभित वेगवाले चारों घोड़ों से युक्त मुख्य पुष्य रथ (= उत्सव रथ) तुम्हारे आगे २ क्यों नहीं जा रहा है ? ॥१५॥ हे वीर ! तुम्हारे चलने के समय काले मेघ तथा पर्वत के समान, सम्पूर्ण लक्षणों से पूजित, सुन्दर हाथी तुम्हारे आगे २ जाता हुआ नहीं दिखाई दे रहा है ॥१६॥ हे प्रियदर्शन राम ! सुवर्णमय चित्रों से युक्त वीरों के द्वारा उठाया गया राजसिंहासन आप के आगे २ जाता हुआ नहीं दिखाई दे रहा है ॥१७॥ जब अभिषेक की तैयारी पूर्ण है, ऐसी अवस्था में आप के अभूतपूर्व मुख का वर्ण हर्षयुक्त नहीं दिखाई दे रहा है, इसमें क्या कारण है ? ॥ १८ ॥ इस प्रकार विलाप करती सीता से राम बोले—सीते ! पूज्य पिता जी मुझे वन को भेज रहे हैं ॥ १९ ॥ हे महान् कुल में उत्पन्न होनेवाली धर्म के जानने वाली धर्माचरण करने वाली जानकि ! सुनो, जिस क्रम से यह सब घटित हुआ ॥ २० ॥ सत्यप्रतिज्ञ पूज्य पिता राजा दशरथ ने पहले माता कैकेयी को दो महान् वर प्रदान किये थे ॥२१॥ राजा के द्वारा प्रस्तुत मेरे इस राज्याभिषेक की तैयारी पर उस [माता कैकेयी] के द्वारा वरदान के स्मरण कराने पर धर्म से राजा दशरथ उसके वशीभूत हो गये ॥ २२ ॥ चौदह वर्ष तक मुझे दण्डक वन में रहना पड़ेगा। और पिता जी ने भरत को युवराज पद पर अभिषिक्त करने का निश्चय किया है ॥ २३ ॥ इसलिये विजन वन

सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम् । भरतस्य समीपे तु नाहं कथ्यः कदाचन ॥२४॥
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम् । तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम ॥२५॥
अहं ते नानुवक्तव्यो विशेषेण कदाचन । अ[illegible]लतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम् ॥२६॥
तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम् । [illegible]द्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः ॥२७॥
अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन् । [illegible]द्यैव यास्यामि स्थिरा भव मनस्विनी ॥२८॥
याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम् । व्रत[illegible]ासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥२९॥
कल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि । वन्दितव्यो दशरथः पिता मम नरेश्वरः ॥३०॥
माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्शिता । धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः संमानमर्हति ॥३१॥
वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः । स्नेहप्रणयसंभोगैः समा हि मम मातरः ॥३२॥
भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः । त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥३३॥
विप्रियं न च कर्तव्यं भरतस्य कदाचन । स हि राजा प्रभुश्चैव देशस्य च कुलस्य च ॥३४॥
आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः । राजानः संप्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥३५॥
औरसानपि पुत्रान् हि त्यजन्त्यहितकारिणः । समर्थान् संप्रगृह्णन्ति परानपि नराधिपाः ॥३६॥
सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी । भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रतपरायणा ॥३७॥

को प्रस्थान करता हुआ मैं तुमको देखने के लिये आया हूँ । तुम भरत के सामने कभी भी मेरी प्रशंसा मत करना ॥ २४ ॥ क्योंकि ऐश्वर्यसम्पन्न पुरुष दूसरे की स्तुति को सहन नहीं करते । इसलिये भरत के सामने मेरे उन गुणों की प्रशंसा मत करना ॥ २५ ॥ कभी भी उनके सामने मेरी विशेष रूप से चर्चा मत करना तुम्हें सदा उनके अनुकूल रहकर व्यवहार करना चाहिये ॥ २६ ॥ क्योंकि राजा ने सनातन युवराज पद उनको दिया है । हे सीते ! तुम विशेषरूप से उस राजा भरत को प्रसन्न रखना ॥२७॥ मैं भी पूज्य पिता जी की प्रतिज्ञा का पालन करते हुए आज ही वन में जाऊँगा, इसलिये हे मनस्विनी ! तुम धैर्य धारण करो ॥ २८ ॥ हे पापरहित कल्याणि ! मेरे मुनियों द्वारा सेवित वन को चले जाने पर व्रत उपवास आदि का सेवन करते हुए तुम्हें रहना चाहिये ॥ २९ ॥ प्रातः काल उठकर यथाविधि सन्ध्या आदि करके मेरे पिता राजा दशरथ को नमस्कार करना ॥ ३० ॥ वृद्धा तथा संताप से पीड़ित मेरी माता कौसल्या का तुम धर्मपूर्वक सम्मान करना ॥ ३१ ॥ शेष जो मेरी मातायें हैं, उनको भी तुम नमस्कार करना । मेरी वे मातायें भी स्नेह-प्रणय आदि में [माता कौसल्या के] समान ही हैं ॥ ३२ ॥ भरत और शत्रुघ्न को तुम विशेषरूप से भ्राता और पुत्र के समान देखना, क्योंकि वे मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं ॥ ३३ ॥ भरत के विरुद्ध कभी आचरण मत करना । क्योंकि वे ही देश तथा कुल के राजा एवं स्वामी हैं ॥ ३४ ॥ क्योंकि चरित्र के द्वारा आराधना तथा प्रयत्नपूर्वक सेवा किये जाने पर राजा लोग प्रसन्न होते हैं, और इसके विपरीत [आचरण करने पर] कुपित हो जाते हैं । ॥ ३५ ॥ अहित करने वाले अपने औरस पुत्रों का भी राजा लोग परित्याग कर देते हैं, और समर्थ पराये पुत्रों को भी आदर पूर्वक ग्रहण कर लेते हैं ॥ ३६ ॥ हे कल्याणि ! तुम यहीं रहो, और सत्यव्रत में लगी हुई, राजा भरत के अनुकूल आचरण में लगी रहो ॥३७॥

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि।
यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचित्तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे सीताप्रत्यवस्थापनं नाम षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

सप्तवि[illegible] सर्गः

पति[illegible]ध्यवसायः

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी। प्रणयादेव संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥
किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम्। त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरात्मज ॥ २ ॥
आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा। स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते ॥३॥
भर्तुर्भाग्यं तु भार्यैका प्राप्नोति पुरुषर्षभ। अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥ ४ ॥
न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजनः। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥ ५ ॥
यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव। अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नती कुशकण्टकान् ॥ ६ ॥
ईर्ष्यारोषौ बहिष्कृत्य पीतशेषमिवोदकम्। नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते ॥ ७ ॥
प्रासादाग्रैर्विमानैर्वा वैहायसगतेन वा। सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते ॥ ८ ॥

हे प्राणप्रिये ! मैं महावन को जाऊँगा। हे भामिनी ! तुमको यहीं अयोध्या में ही रहना होगा। जैसे अब तक तुमने किसी का विप्रिय आचरण नहीं किया, उसी प्रकार मेरे इन वचनों का पालन करना ॥ ३८ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का 'राम का सीता को समझाना' विषयक छब्बीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥२६॥

सत्ताईसवां सर्ग

पतिव्रता सीता का संकल्प

[राम के] इस प्रकार कहने पर प्राणप्रिया, प्रियवादिनी वैदेही प्रेम के कारण क्रोध में आकर पति से यह बोली:—॥ १ ॥ हे श्रेष्ठ राजकुमार राम ! यह क्या छोटी बात बोल रहे हैं, जिसको सुनकर मुझे हंसी आ रही है ॥ २ ॥ हे आर्यपुत्र ! पिता, माता, भ्राता, पुत्र तथा पुत्रवधू ये सब अपने २ पुण्यों का भोग करते हुए अपने २ कृतकर्मानुकूल सुख-दुःख प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥ परन्तु, हे नरकेसरी। पति के भाग्य को एक स्त्री ही प्राप्त करती है। इसलिये [आपके आदेश के साथ ही] मुझे आदेश मिल गया है, कि मुझे भी वन में रहना चाहिये ॥ ४ ॥ स्त्रियों के लिये लोक-परलोक में न पिता, न पुत्र, न स्वमाता, न सखीजन ही साथी होते हैं, बल्कि केवल एक पति ही सदा उनका सर्वस्व होता है ॥ ५ ॥ हे राघव ! यदि आप आज ही दुर्गम वन को प्रस्थान करेंगे, तो मैं कुश-कण्टकों को रौंदती हुई तुम्हारे आगे २ चलूँगी ॥ ६ ॥ पिये हुए उच्छिष्ट शेष जलकी तरह ईर्ष्या और द्वेष को दूर करके, हे वीर ! विश्वासपूर्वक मुझे अपने साथ ले चलो, क्योंकि मुझ में पाप नहीं है ॥ ७ ॥ अनेक मंजिल वाले महलों में रहने, तथा विमानों के द्वारा विचरण करने की अपेक्षा सभी अवस्थाओं में [स्त्रियों के लिये] पति की चरणछाया विशिष्ट होती है ॥ ८ ॥ माता-पिता के द्वारा मुझे अनेक प्रकार का उपदेश मिल चुका है, इसलिये इसके

अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम् । नास्मि संप्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥ ९ ॥
अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम् । नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलवृकसेवितम् ॥१०॥
सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः । अ...तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥११॥
शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी ...रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥१२॥
त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम संपरिपालनम् । ...स्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद ॥१३॥
सह त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः । न... शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यमात् ॥१४॥
फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः । न ... दुःखं करिष्यामि निवसन्ती सह त्वया ॥१५॥
अग्रतस्ते गमिष्यामि भोक्ष्ये भुक्तवति त्वयि । इच्छामि सरितः शैलान् पल्वलानि वनानि च ॥
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता । हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधु पुष्पिताः ॥
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण संगता । अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यं यतव्रता ॥१८॥
सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी । एवं वर्षसहस्राणि शतं वाहं त्वया सह ॥१९॥
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि न हि मे मतः । स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ॥
त्वया मम नरव्याघ्र नाहं तमपि रोचये ॥

अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं मृगायुतं वानरवारणैर्युतम् ।
वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे तवैव पादावुपगृह्य संयता ॥२१॥

विषय में आपको कहने की आवश्यकता नहीं, मैं जैसा चाहूँगी, वैसा करूँगी ॥ ९ ॥ सिंह, भेड़ियों तथा नाना प्रकार के वन्य पशुओं से भरे हुए और पुरुषों से रहित दुर्गम वन को मैं जाऊँगी ॥ १० ॥ त्रिलोकी के सुख की परवाह न करती हुई केवल पति व्रत के सुख की ही कामना करती हुई मैं सुखपूर्वक वन में उसी प्रकार रहूँगी, जिस प्रकार अपने पिता के घर में रहती थी ॥ ११ ॥ नित्य आपकी सेवा करती हुई तथा नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती हुई, मैं मधु तथा सौरभ युक्त वनों में आपके साथ विहार करूँगी ॥ १२ ॥ हे मान के देने वाले राम ! आप वन में औरों का भी पालन करने में समर्थ हैं, तो मेरा क्यों नहीं ॥ १३ ॥ हे महाभाग ! मैं आपके साथ आज वन को जाऊँगी, इसमें कोई संशय नहीं। इस वनगमनरूपी उद्यम से आप मुझे रोक नहीं सकते ॥ १४ ॥ नित्य फल-मूल खाती हुई मैं [आपके साथ] रहूँगी, इसमें जरा भी संशय नहीं । आपके साथ वन में रहती हुई मैं आपको किसी प्रकार भी दुःख न दूँगी ॥ १५ ॥ आपके आगे २ चलूँगी, आपके भोजन कर लेने के पश्चात् भोजन करूँगी। आप जैसे बुद्धिमान् पति के साथ निर्भय होकर नदियों, पर्वतों, सरोवरों को सर्वत्र देखना चाहती हूँ । हंस और सारस पक्षियों से व्याप्त तथा उत्तम खिले हुए कमलों से युक्त सरोवरों को ॥ १६, १७ ॥ तुम्हारे ऐसे वीर पति के साथ सुखपूर्वक देखना चाहती हूँ तथा यम-नियम आदि व्रतों का पालन करती हुई उनमें नित्य स्नान किया करूँगी ॥ १८ ॥ हे विशालाक्ष ! परमानन्द पूर्वक आपके साथ विहार करूँगी। इस प्रकार आपके साथ मैं सैकड़ों हजारों वर्षों तक विहार करना चाहती हूँ ॥ १९ ॥ [इसके सामने] मैं स्वर्ग का भी आदर नहीं करती, इसमें किसी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं। हे नरकेसरी रामचन्द्र ! आपके विना स्वर्ग में भी यदि मुझे वास करना पड़े, तो मैं उसको पसन्द नहीं करती ॥ २० ॥ वानर, हाथी तथा अन्य वन्य पशुओं से भरे हुए, दुर्गम वन को मैं जाऊँगी। संयमपूर्वक आपके चरणों का आश्रय लेकर मैं वन में उसी प्रकार निवास करूँगी, जिस प्रकार पिता के घर में ॥ २१ ॥ आपसे अतिरिक्त किसी अन्य से प्रीति

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम् ।
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां न ते मयातो गुरुता भविष्यति ॥२२॥
तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलो न च [illegible] सीतां नृवरो निनीषति ।
उवाच सीतां बहु संनिवर्तने वने [illegible] च दुःखितां प्रति ॥२३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयो[illegible] पतिव्रताध्यवसायो नाम सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

अष्टाविं[illegible] सर्गः

वनदुःखप्रतिबोधनम्

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञो धर्मवत्सलः । न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन् ॥ १ ॥
सान्त्वयित्वा पुनस्तां तु बाष्पपर्याकुलेक्षणाम् । निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥
सीते महाकुलीनासि धर्मे च निरता सदा । इहाचरस्व धर्मं त्वं यथा मे मनसः सुखम् ॥ ३ ॥
सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाबले। वने दोषा हि बहवो वदतस्तान्निबोध मे ॥ ४ ॥
सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः । बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥ ५ ॥
हितबुद्धया खलु वचो मयैतदभिधीयते । सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥ ६ ॥

न करने वाली, आपके अनुकूल चित्त वाली; तथा आपके वियोग में मरण जिसका निश्चित है, ऐसी मुझ को अपने साथ ले चलो, मेरी याचना को अच्छी प्रकार से स्वीकार करलो । इससे आपके ऊपर कोई भार नहीं होगा ॥ २२ ॥ धर्मप्रेमी, नरों में श्रेष्ठ राम ने इस प्रकार कहती हुई सीता को ले जाने की इच्छा नहीं की और दुःखित सीता से वनगमन से निवृत्ति के लिये [वनवास के] अनेक प्रकार के [दुःखों को] कहा ॥ २३ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का "पतिव्रता सीता का संकल्प" विषयक सत्ताईसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ २७ ॥

अट्ठाईसवां सर्ग

वन के दुःखों का वर्णन

धर्म के जानने वाले धर्मात्मा राम ने इस प्रकार कहती हुई सीता को वन के दुःखों का विचार करते हुए [अपने साथ] ले जाने का निश्चय नहीं किया ॥ १ ॥ आंखों में आँसू भरी हुई सीता को सान्त्वना देकर धर्मात्मा राम ने उसको लौटाने के लिये यह वचन कहाः—॥२॥ हे सीते ! तुम उच्च कुल में उत्पन्न होने वाली तथा सदा धर्म में लगी रहने वाली हो । इसलिये तुम यहीं पर धर्म का आचरण करो जिससे मेरे मन को सुख शान्ति प्राप्त हो ॥ ३ ॥ हे अबले सीते ! जैसा मैं कहूँगा, वैसा ही तुम करना। क्योंकि वन में बहुत दोष हैं, उनको मैं कहता हूँ, ध्यान से सुनो ॥ ४ ॥ हे सीते ! अपने वनगमन के निश्चय को तुम छोड़ दो । क्योंकि अरण्य बहुत दोषयुक्त है, इसीलिये उसको वन (=दुःखदायी) कहा जाता है ॥५॥ मैं यह वचन हितबुद्धि से ही कह रहा हूँ। वन में कभी सुख नहीं होगा, किन्तु सदा दुःख ही होगा ॥६॥

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित॥

वेदवाणी

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट (अमृतसर) की मासिक पत्रिका

वर्ष १२] [अङ्क ११

इस अङ्क के लेख

१—प्यारा प्रभु	आर्याभिविनय	पृ० १
२—बुरे भावों को मन में लाना ही पाप है	श्री स्वा० गङ्गागिरि जी	२
३—श्वेतकेतु का उपनिषदों और प्राचीन शास्त्रों में उच्चस्थान	श्री पं० गंगा प्रसाद जी	४
४—संस्कारविधि में एक नई मिलावट का चिन्त्य प्रयास	श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय	६
५—ऋषि दयानन्द के चरित की एक भूल का सुधार	श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक	९
६—ईसामसीह की मृत्यु काश्मीर में हुई	श्री पं० ग० वि० केतकर	११
७—ऋषि दयानन्द का एक विज्ञापन	श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक	१४
८—लाला बलीराम जी तनेजा का निधन	सम्पादक	१५
९—विविध समाचार	”	१६
१०—'वाल्मीकिरामायण' का आलोचनात्मक भाषानुवाद (गताङ्क से आगे)	अनुवादक—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक परिशोधक—श्री पं० अखिलानन्द जी	१६ (पृ० २०५–२२०)
११—यजुर्वेद-भाष्य-सम्बन्धी विज्ञप्ति		(टा० पृ० ४)

सम्पादक—ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

व्यवस्थापक—युधिष्ठिर मीमांसक

भाद्रपद २०१७ वि०, सितम्बर १९६० ई०
दयानन्दाब्द १३६
वेद तथा सृष्टि संवत् १९७२९४९०६१

वेदवाणी कार्यालय,
पो० अज़मतगढ़ पैलेस,
(मोतीझील) वाराणसी नं० ६

वार्षिक मूल्य–भारत में ५)
वी० पी० से ५।।=)
” ” विदेश में ६)
इस अङ्क का ।।)

वेदवाणी के नियम

१—यह पत्रिका प्रतिमास की प्रथम तिथि को प्रकाशित हुआ करती है। यदि पत्रिका १० तारीख तक न पहुँचे तो तत्काल सूचना मिलने पर पुनः भेजी जा सकेगी।

२—वार्षिक मूल्य ५) रु० है, जो धनादेश (मनिआर्डर) द्वारा अग्रिम भेजना चाहिये। वी० पी० मँगवाने में ग्राहक के ।||) आने अधिक लगते हैं और समय भी अधिक लगता है। पोस्टल आर्डर तथा चेक से रुपया स्वीकार नहीं किया जायेगा। इसमें हमारा कभी कभी २) रु० व्यय हो जाता है और समय बहुत नष्ट होता है॥

३—वेदवाणी के नये वर्ष का प्रारम्भ कार्तिक (नवम्बर) मास से होता है। और वर्ष का प्रथम अङ्क विशाल विशेषाङ्क के रूप में प्रति वर्ष प्रकाशित होता है।

४—वेदवाणी के ग्राहक किसी मास से भी बन सकते हैं, परन्तु मध्य में ग्राहक बनने वालों के वर्ष का आरम्भ अङ्क १ या ७ से ही माना जाता है। अर्थात् अङ्क १-६ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को पिछले अङ्क देकर अङ्क १, तथा अङ्क ७ से १२ के मध्य में ग्राहक बनने वालों को ७ से आगे पूर्व प्रकाशित अङ्क देकर अङ्क ७ से ग्राहक बनाया जाता है।

५—लेख 'सम्पादक वेदवाणी' के नाम से आने चाहियें। लेख छोटे, सरल, संक्षिप्त, सारगर्भित तथा मौलिक होने चाहियें। लेख स्पष्ट और शुद्ध लिखे होने चाहियें। उनका प्रकाशित करना, न करना तथा संशोधन करना सम्पादक के अधीन होगा। अस्वीकृत लेख पोस्टेज प्राप्त होने पर ही लौटाये जायेंगे।

६—विज्ञापन के रेट के लिये विज्ञापन का नमूना भेजकर पूछें। इसमें केवल उत्तम ग्रन्थों तथा उचित वस्तुओं के ही विज्ञापन छपते हैं। विज्ञापन का धन अग्रिम आना आवश्यक है। विज्ञापन की सत्यता के लिये हम उत्तरदायी नहीं हैं।

७—वार्षिक मूल्य, विज्ञापन सं० धन और व्यवस्था सम्बन्धी समस्त पत्र 'व्यवस्थापक वेदवाणी' के पते से भेजें, नाम से नहीं।

८—ग्राहक महानुभाव पत्र या मनिआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखा करें, अन्यथा भूल हो सकती है।

व्यवस्थापक—वेदवाणी कार्यालय, पो० अज़मतगढ़ पैलेस, (मोतीझील) वाराणसी (बनारस) नं० ६

[पृ० १५ का शेषः]

धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमवती जी भी वैदिक धर्म और आर्य समाज में निष्ठावाली-धर्मशीला-प्रभुभक्ति में संलग्न हैं। इनका भी अधिक समय ईश्वरभक्ति-यज्ञ-उपासनादि में लगता है। यह भी बहुत उदार-वैराग्यवती दयाशीला हैं। लाला जी के सभी धार्मिक कार्यों में इनका सहयोग रहा॥

लाला जी ने लाखों रुपये भिन्न २ संस्थाओं को दान दिये। रामलाल कपूर ट्रष्ट को भी ३६००) रुपया वैदिक ईश्वरोपासना आदि के सुन्दर संस्करण निकालने के लिये दान दिया, यह भी उनका गुप्त दान था। न जाने इनके द्वारा गुप्त दान कहाँ तक दिया जाता रहा, इसको सिवाय प्रभु के कौन जाने॥

लालाजी के परिवार में दो पुत्र हैं, प्रिय विजय कुमार और नन्द कुमार, दोनों ही बड़े समझदार धार्मिक प्रवृत्ति वाले हैं। दोनों से विशेष कर विजयकुमार से लाला जी के सब कार्यों को सम्भालने, उनकी पूर्ती तथा लाला जी की धार्मिक प्रवृत्तियों को जारी रखने और प्रवृद्ध करने की आशा की जाती है। प्रभु उसे बल दें॥ प्रिय नन्दकुमार भी बहुत तीव्र बुद्धि-होनहार युवक है। यह भी सब कार्यों में पूरा सहायक होगा, ऐसी पूर्ण आशा है॥

लाला जी की छः पुत्रियां दयावती-लक्ष्मी-विद्या-शन्नो सुदर्शना और कृष्णा सभी धार्मिक-ऋषिदयानन्द और वैदिक धर्म में आस्था रखती हैं। इन पुत्रियों के पतिदेव सर्वश्री ला० हुकुमचन्द-श्रीचन्द-महेन्द्र भीमसेन कपूर-तथा अन्य भी बड़े सम्पन्न-धर्म प्रेमी-और सज्जन हैं। विदित रहे कि लाला जी ने अपनी पुत्रियों को प्रायः भारी सम्पत्ति (कुलि- यारी दान के रूप में) दीं थीं। प्रायः ये सभी बड़े उदार कर्म शील-और व्यवसायी हैं।

हम आशा करते हैं कि भविष्य में लाला जी की धर्मपत्नी श्रीमती प्रेमवती जी की दूरदर्शिता-साहस-सात्त्विक भावना द्वारा, तथा प्रिय विजय कुमार नन्दकुमार के सतत प्रयत्न, और पुत्रियों तथा उनके पतियों के हार्दिक सहयोग, श्री सेवासिंह जी आदि सम्बन्धियों के सतत हार्दिक प्रेम और सहयोग से लाला जी की जगाई ज्योतिः बुझने नहीं पायेगी। इतना ही नहीं अपितु सदा बढ़ती रहेगी, और सब में ऋषि दयानन्द और वैदिक धर्म में निष्ठा, प्रभुभक्ति की भावना सदा बनी रहेगी। लाला जी की स्मृति वा उनके जीवनवृत्त विस्तार से लिखने के लिये श्री० सेवासिंह जी यत्न करें तो अच्छा हो, ऐसा हमारा विचार है। मानव में कुछ कमियाँ भी रहती ही हैं, उनका भी कुछ निर्देश रहे तो हानि नहीं। लाला जी का अन्त समय बहुत ही प्रशान्त वातावरण में हुआ। मृत्यु के पश्चात् भी उनके मुख पर हलकी हँसी वा प्रसन्नता के ही चिह्न दिखाई दिये।

लाला जी अपने पीछे एक अच्छी स्मृति छोड़ गये हैं। मानव का अन्त तो निश्चय ही है, उसकी सुकृति ही शेष रह जाती है। [हमने यह पंक्तियाँ चलती गाड़ी में जब कि डिब्बा बहुत हिल रहा था, जैसे-तैसे लिखीं। नहीं तो अगले मास में लिख पाते—सं० ॥]

ओ३म्

ऋग्वेद यजुर्वेद

वेदवाणी

सामवेद अथर्ववेद

सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि ।

अथर्व० १, १, ४ ॥

हम सदा वेदवाणी से संयुक्त रहें, उससे कभी विमुख न हों !

वर्ष १२ } काशी, भाद्रपद, सं० २०१७ वि०, सितम्बर १९६० ई० { अङ्क ११

आर्याभिविनय से— टिप्पणीकर्त्ता—विन्ध्यवासिनीप्रसाद अनुगामी

प्रार्थना विषय

प्यारा प्रभु

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तये ॥ यजु० ३ । २४ ॥

आर्याभिविनय-व्याख्या

हे अग्ने, पिता सूनवे इव, स नः सूपायनः भव (=भवतु)=हे विज्ञानस्वरूपेश्वराग्ने[1] ! जैसे करुणामय[2] पिता स्वपुत्र को सुखी ही रखता है, वैसे आप हमको सदा सुखी रखो। क्योंकि जो हम लोग बुरे होंगे, तो उसकी शोभा आप को नहीं होगी, किञ्च[3] सन्तानों को सुधारने से ही पिता की बड़ाई होती

अर्थबोधक-टिप्पणी

१. विज्ञानस्वरूपेश्वराग्ने = सम्पूर्ण ज्ञान से पूर्ण तथा ज्ञानवान् करने वाले ईश्वर
२. करुणामय = दयामय
३. किञ्च = Moreover : further—आप्टे०

है। अन्यथा नहीं। आप [स्वाभाविक] कृपा से, हमारे लिये सुख से[४] प्राप्त, श्रेष्ठोपाय के प्रापक[५], अनुत्तम[६] स्थान[७] के दाता सदा हो, तथा हमारे रक्षक भी आप ही हो।

स्वस्तये नः सचस्व = हे स्वस्तिद[८] परमात्मन्! सब दुःखों का नाश करके हमारे लिये सुखरूप[९] वर्त्तमान (=जीवन) सदैव करो, जिससे हमारा वर्त्तमान (=जीवन) श्रेष्ठ ही होवे।

दण्डान्वय-टीका

हे अग्ने[१०]	= हे ब्रह्म, हे ईश्वर
पिता इव	= जैसे पिता
सूनवे[११]	= (अपने) सन्तान के लिये
[सूपायनः भवति]	= (सुखप्रदानार्थ) श्रेष्ठज्ञान का देने वाला होता है
[तथैव]	= उसी तरह
सः	= वह परमात्मा, आप
नः (=अस्मभ्यं)	= हमारे लिये
सूपायनः[१२]	= (सुखप्रदानार्थ) श्रेष्ठज्ञान के देनेवाले
भव (=भवतु)	= हों
	(तथा)
स्वस्तये[१३]	= सुखी होने के लिये, पूर्णोन्नत होने के लिये
नः (=अस्मान्)	= हम लोगों को
सचस्व[१४] (=सचताम्)	= प्रेम पूर्वक नियुक्त करें।

४. सुख से = आसानी से, बिना कष्ट के

५. प्रापक = प्राप्त कराने वाले

६. अनुत्तम = अति उत्तम

७. स्थान = Condition : dignity: abode : position—आप्टे०

८. स्वस्तिद = सुख के दाता

९. सुख रूप = सुख से पूर्ण

१०. ब्रह्म ह्यग्निः। श० १।५।१।११॥ शतपथादिप्रामाण्यात् ब्रह्मैवात्राग्निर्ग्राह्यः।

११. सूनुरिति अपत्यनामसु पठितम्। निघ० २।२

१२. सुष्ठूपगतमयनं ज्ञानं प्रापणं यस्मात् सः (दया० स्वभाष्ये)।

१३. प्राप्तव्यम् सुखम्। स्वस्तीति पदनामसु पठितम्। निघ० ५।५॥ means of securing prosperity.

१४. व्यु० सच् = सेचने सेवने च। भ्वा०॥ षच् = समवाये—भ्वा०। to love : to serve : to assist-आप्टे०

बुरे भावों को मन में लाना ही पाप है

[ले०—श्री स्वामी गङ्गागिरि जी महाराज, आचार्य गुरुकुल रायकोट, लुधियाना]

जो मनुष्य दूसरों की बुराई का मन में चिन्तन करता है वह अपना ही बुरा करता है। जो दूसरों की भलाई का मन में चिन्तन करता है, वह अपना भला करता है। यह सीधा असूल है, जैसे चना बोकर कोई गेहूँ नहीं काटता है और गेहूँ बोकर चना नहीं काटता है। अर्थात्—बुरे कर्म का फल मनुष्य को दुःख भोगना पड़ता है। भले कर्म का फल ही मनुष्य को सुख की ओर ले जाता है। यह उत्तम शिक्षा मनुष्य के कल्याण के लिये वेद दे रहा है :—

यश्चकार न शशाक कर्त्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः॥

अ० ४। १८। ६॥

(यः) जो (चकार) बुराई करता है (न कर्तुं शशाक) वह न कर सका, (पादम् अङ्गुरिम्) अपने पाँव की अङ्गुली का (शश्रे) नाश करता है। (अस्मभ्यम्) उसने हमारे लिये (भद्रम् चकार) भला किया, (तु आत्मने) किन्तु अपने लिये (सः) उसने (तपनम्) संताप दुःख खरीद लिया।

संसार में कुछ ऐसे मनुष्य भी हैं जो दूसरों को दुःखी देखकर खुश होते हैं। उनको दूसरों को दुःख देने का व्यसन-सा हो जाता है। उनका प्रयोजन सिद्ध हो या न हो, वे दूसरों को दुःख देंगे ही। उनको इसमें आनन्द आता है। वेद कहता है, जरा सावधान होकर देखो तो आपको अनुभव होगा कि—बुराई करने वाला बेचारा बुराई कर नहीं सका। दूसरे की बुराई करने से पूर्व वह अपना अनिष्ट कर बैठा है। बुरा कर्म करने से पूर्व मनुष्य के मन में बुराई का भाव पैदा होता है। अर्थात् बुरा करने वाला करने से पूर्व अपने मन में बुराई का बीज बो बैठा। अपने मन को बुरा बना बैठा। दूसरे का अनिष्ट तो जब होगा तब होगा। अपना अनिष्ट तो कर बैठा। मानो अपने हाथों से अपने पैरों पर कुलहाड़ी मार बैठा।

तभी तो वेद ने कहा है **"शश्रे पादमङ्गुरिम्"** अपने पैर और अङ्गुली का नाश करता है।

अथर्व० ४-१८-३ में इस भाव को अधिक स्पष्ट रूप में कहा है।

अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति॥

कच्ची बुद्धि से पाप करके जो मनुष्य उसके द्वारा दूसरों की हिंसा करना चाहता है, उसकी बुद्धि जलने लग जाती है और उसमें अनेक पत्थर पड़कर फट् फट करने लगते हैं। जब कोई मनुष्य किसी दूसरे को दुःख देना चाहता है तो जब तक उसे दुःख दे नहीं लेता तब तक उसके मन में दुःख-दायिनी बेचैनी रहती है। जब दुःख देने में सफल हो जाता है तब उसे भय सताने लगता है। राज-दण्ड का भय और सताए के बदले का भय उसे आ घेरते हैं। वेद इन ही मानस भावों को बड़े बड़े पत्थर का नाम देता है। वेद कहता है—जैसे अग्नि में पड़ कर पत्थर चट चट करने लगते हैं। चटक चटक कर पास ठहरे हुए मनुष्य को हानि पहुँचाते हैं। इसी भाँति कच्ची बुद्धि से पाप होता है। उस पाप के कारण मनुष्य में जलन पैदा होती है। पाप की पूर्वावस्था, पाप करने के बाद की अवस्था मानो पत्थर बनकर उस जलती हुई बुद्धि में पड़ते हैं, और पापी के आत्मा में क्लेश का कारण बनते हैं।

संभव है इसी भाव को लेकर कविजनों ने कहा है:—"पापी मारने को पाप महाबली है"। इसी कारण वेद ने कहा है—**"चकार भद्रमस्मभ्यम्"** उसने हमारे लिये तो भला ही किया है। मनुष्य को दुःख मिलता है। अपने किसी पाप कर्म के कारण जब मुझे दुःख मिले मैं प्रसन्न मन से उसे सहन कर लूँ और मन में यह भाव धरूँ कि—अच्छा हुआ, कर्म की बही से एक कर्म रेखा तो कटी।

उसे मैं भगवान् की कृपा समझूँ। क्योंकि भगवान् हमारे पिता हैं। वह ही मेरी माता है। माता-पिता संतान का असंगल नहीं चाहते हैं। उस स्नेहमयी जगदम्बा की यह ताड़ना भी मेरे लिये हितकारी है। इस प्रकार विचारने से प्रतीत होता है कि—मुझे दुःख देने वाले ने दुःख देकर मेरा भला ही किया है।

युधिष्ठिर वन में थे, वहाँ भी दुर्योधन उन्हें दुःख देने का उपाय करता ही रहता था। किन्तु युधिष्ठिर उन्हें धैर्य से सहन कर लेते थे। वह व्याकुल न होते थे। इससे संसार को युधिष्ठिर की धृति का ज्ञान हुआ। उसके गुणों का प्रकाश हुआ। इस बात को लेकर मुनि व्यास देव ने युधिष्ठिर से कहा है:—

प्रकाशितत्वन्मतिशीलसाराः,
कृतोपकारा इव विद्विषस्ते।

व्यास जी कहते हैं कि हे युधिष्ठिर! तेरे शत्रु बड़े उपकारी हैं क्योंकि—उन्होंने संसार में तेरे गुणों का प्रकाश किया है। बुद्धि के चरित्र बल को प्रकाशित किया है। इस प्रकार विरोधी के विरोध को धैर्य-पूर्वक सहन करने से मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध होता है। उससे हमारा भला ही होता है। अतः वेद ठीक कहता है:—"चकार भद्रमस्मभ्यम्", किन्तु "आत्मने तपनम्" अपने लिये तो संताप ही किया। यह दो प्रकार से होता है:—

१. जब दुष्ट देखता है मेरे दुष्ट व्यवहार के कारण वह विचलित नहीं हुआ है। तब वह और जलता है। इस तरह दूसरों के अनिष्ट करने से अपने लिये जलन ही पैदा होती है।

२. उस दुष्ट कर्म का फल भोगना पड़ता है। "अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्" भला बुरा कर्म अवश्य भोगना पड़ता है, अपने लिये बुरे कर्म के बीज बोकर पापी अपना भविष्य बिगाड़ता है। इस वास्ते बुरा कर्म पापी के तपाने वाला हो जाता है॥

श्वेतकेतु का उपनिषदों और प्राचीन शास्त्रों में उच्चस्थान

[ले० श्री पं० गंगा प्रसाद जी भू० पू० चीफ जज—जयपुर]

श्वेतकेतु का छान्दोग्य उपनिषद् में बहुत वर्णन आया है। उसके पिता अरुणि के पुत्र उद्दालक ऋषि थे। उनका गोत्र गौतम था और पूरा नाम आरुणेय उद्दालक था। यह तै० सं० प्रपाठक ६ के ८ वें खण्ड में लिखा है। प्रपाठक ५ के खण्ड ३ से खण्ड १० तक उसका विस्तृत वर्णन है। अपने पिता की आज्ञा से श्वेतकेतु (जैसा खण्ड ३ में लिखा है) पांचाल समिति में गया जिसके नेता प्रवाहण जैबलि थे जो बड़े विद्वान् थे। उन्होंने श्वेतकेतु से पंचाग्नि के विषय पर पाँच प्रश्न किये। श्वेतकेतु किसी एक का भी उत्तर न दे सका। उसने लौटकर अपने पिता से सब हाल कहा। पिता ने कहा कि इन प्रश्नों के उत्तर मैं भी नहीं जानता। अगर वे मेरे जाने हुए होते तो तुमको पहले ही बतला दिया होता। उद्दालक जी स्वयं पांचाल समिति में गये। प्रवाहण जैबलि ने पहले उन को टालना चाहा और कहा—

"मानुषस्य भगवन् गौतम वरं वृणीथाः"।

अर्थात् भगवन्! मानव संबन्धी धन का वर मांगिये। उद्दालक ने उत्तर में कहा—

"तवैव राजन् मानुषं वृतम्"।

हे राजन्! धन आपका ही रहे। तब राजा ने कहा कि इससे पहले किसी ब्राह्मण को यह विद्या नहीं बतलाई गई। इस पर क्षत्रियों का अधिकार रहा है। परन्तु फिर कहा—"निवास कीजिये"। खण्ड ४ से ८ तक पंचाग्नि के पांच प्रश्न बतलाये गये हैं। नवें खण्ड में पञ्चमी आहुति का विशेष वर्णन है जिसमें गर्भ धारण होकर नव मास तक रहता है। फिर बालक का जन्म होता है। १० वें खण्ड में पितृलोक का विशेष वर्णन है। गर्भ और जन्म के पीछे चन्द्रलोक में जो कार्य होते हैं उनकी व्याख्या है। तब यह विषय समाप्त होता है।

प्रपाठक ६ में श्वेतकेतु का ही वर्णन है। खण्ड ८ से अन्तिम खण्ड १६ तक उद्दालक मुनि ने अद्वैत विषयक उन विशेष वाक्यों का वर्णन किया है जिनमें प्रत्येक के अन्त में ये शब्द आते हैं—

तत्त्वमसि श्वेतकेतो !

अर्थात् तू ब्रह्म है। श्री पं० गंगा प्रसाद उपाध्यायजी ने अपने सुप्रसिद्ध "अद्वैतवाद" ग्रन्थ में इनका बड़ी योग्यता से विवेचन करके यह सिद्ध कर दिया कि इन वाक्यों में एक भी ऐसा नहीं है जिसका केवल ब्रह्म से संबन्ध हो, किन्तु भिन्न पदार्थों का वा आत्मा का विषय है, इसलिये उद्दालक के "तत्त्वमसि" वचन का ठीक अर्थ यह होता है—"हे श्वेतकेतु ! तू आत्मा है"। इसलिये इन वाक्यों से वास्तव में अद्वैतवादियों की "अहं ब्रह्म" "तत्त्वमसि" मान्यताओं की सिद्धि नहीं होती।

क्या कठ उपनिषद् के नचिकेता का पिता श्वेतकेतु का भ्राता था ? कठ उपनिषद् की कथा का आरम्भ इस प्रकार होता है कि वाजश्रवस ने सर्वमेध यज्ञ किया। उस का पुत्र नचिकेता था। परन्तु उपनिषद् के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाजश्रवस यज्ञकर्ता का केवल उपनाम था, अर्थात् 'बहुत अन्न वा धन का स्वामी'। नचिकेता ने जो यम से तीन वर मांगे उन में पहला यह था कि मेरे लौटने पर मेरे पिता "शान्तसंकल्प" और "वीतमन्यु" (क्रोध रहित) होकर मुझ से बोलें (मन्त्र ९)। इसके उत्तर में यम ने कहा—

यथा पुरस्ताद् भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखं रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥

अर्थात्–तुझको मेरे द्वारा भेजने पर तेरा पिता औद्दालकि आरुणि जैसा पहले था वैसा प्रसन्न होगा। सुख से रात को सोवेगा। तुझ को मृत्यु के मुख से मुक्त हुआ देखकर क्रोध रहित हो जायगा।

यहां विशेष महत्त्व "औद्दालकि आरुणि" शब्दों का है। केवल "औद्दालकि" शब्द होता तो कुछ भ्रम हो सकता था। पर उसके साथ आरुणि शब्द होने से स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ अभिप्राय उसी मुनि के पुत्र या शिष्य से है जिनका नाम "छान्दोग्य उपनिषद्" के प्रपाठक ६ के खण्ड ८ में "उद्दालक आरुणि" लिखा है। दो पितृसूचक शब्दों के प्रयोग से कोई भ्रान्ति नहीं रहती। परिणाम यह निकला कि नचिकेता के पिता "उद्दालक आरुणि" के पुत्र या शिष्य थे। श्री उद्दालक अरुण के पुत्र थे। इसलिये उनके नाम के साथ आरुणि शब्द का प्रयोग होता है। [देखो प्रपाठक ६, खण्ड ८]।

प्रपाठक ५ खण्ड ३ में ये शब्द हैं—

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पंचालानां समितिमेयाय" ।

यहां श्वेतकेतु के साथ भी आरुणेय शब्द का प्रयोग है। इससे यह परिणाम निकलता है कि श्वेतकेतु और नचिकेता एक पिता के पुत्र थे। नचिकेता का कठ उपनिषद् में प्रमुख स्थान है, श्वेतकेतु का छान्दोग्य उपनिषद् में विस्तृत वर्णन है और जैसा मैं आगे दिखलाऊँगा वात्स्यायनकृत कामसूत्र की रचना में भी उसका विशेष हाथ होने का उल्लेख है।

कामसूत्र की रचना

मैंने सन् १९५१ ई० में वात्स्यायन के कामसूत्र को पढ़कर उसके कुछ नोट लिये थे। पुस्तक जयपुर की महाराजा-पब्लिक लाइब्रेरी से ली थी। वह निर्णयसागर प्रेस में सन् १८९१ की छपी हुई थी। मुख पृष्ठ पर 'नितान्त गोपनीय' छपा था, और अंगरेजी में For private circulation only छपा हुआ था।

पुस्तक के आरम्भ में लिखा है कि प्रजापति ने प्रजा की सृष्टि के बाद "त्रिवर्ग" (अर्थात् धर्म, अर्थ, काम) के लिये १ शत सहस्र अध्यायों के ग्रन्थ की रचना की। उस में से धर्म विषय का भाग वैवस्वत मनु ने और अर्थ विषय का बृहस्पति ने ले लिया। "काम" पर महादेव के अनुचर नन्दी ने सहस्र अध्याय का कामसूत्र बनाया। उसका ५०० अध्यायों में "औद्दालकि श्वेतकेतु" ने संक्षेप किया। "औद्दालकि श्वेतकेतु" नाम उक्त ग्रन्थ में स्पष्ट है। आगे लिखा है कि उस ५०० अध्याय का बाभ्रव्य पांचाल ने ५० अध्याय (७ अधिकरणों) में संक्षेप किया। अन्त में इस सब सामग्री से वात्स्यायन जी ने अपना कामसूत्र बनाया।

छान्दोग्य उपनिषद् बहुत प्राचीन ग्रन्थ है। "कामसूत्र" बहुत पीछे का है। उसमें जो श्वेतकेतु का उल्लेख है उस का केवल यह उद्देश्य है कि उसकी रचना में एक बड़े विद्वान् का हाथ था, यह ग्रन्थ के लिये गौरव की बात है, और कुछ नहीं।

संस्कारविधि में एक नई मिलावट का चिन्त्य प्रयास

[ले०—श्री पं० गंगा प्रसाद जी उपाध्याय, एम-ए०—इलाहाबाद]

कुछ दिन हुये मैंने 'आर्यमित्र' में एक मित्र की शंका पर यह लिखा था कि संस्कारविधि की 'प्रेस कापी' बनाने वाले ने 'असली कापी' के विरुद्ध तीन समिधाओं की आहुतियों के विधान में 'अयन्त इध्म आत्मा' इति मन्त्र का अपनी ओर से प्रक्षेप कर दिया। वस्तुतः जैसा कि वर्तमान संस्कारविधि की हिन्दी भाषा में दी हुई विधि से प्रकट होता है, 'समिधाग्निं' आदि तीन मन्त्रों से ही तीन आहुतियां देनी चाहियें। स्वामीजी महाराज को ऐसा ही इष्ट था और यही उन्होंने 'असली कापी' में दिया था। यों तो इस विषय पर पहले भी कई लेख पक्ष और विपक्ष में लिखे जा चुके हैं। परन्तु इधर मेरे पक्ष के उत्तर में दो विद्वानों ने विशेष ध्यान दिया है। एक श्री पं० अमरसिंहजी ने और दूसरे श्री पं० रामावतार शर्माजी ने, दोनों उच्च श्रेणी के पण्डित हैं, उनके पाण्डित्य तथा विस्तृत अध्ययन की आलोचना करना सूर्य्य को दीपक दिखाना है, उनके लेख शिष्टतायुक्त और पाण्डित्य-प्रदर्शक हैं, परन्तु दुर्भाग्य से मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि उनके पाण्डित्य-सरोज की पंखड़ियों में हेत्वाभासरूपी भ्रमर ने अनायास ही आश्रय ले लिया और वे उस गरीब को जनता के न्याय पर छोड़ना नहीं चाहते। अब तक मुझे केवल एक ही प्रक्षेप की शिकायत थी कि जहां 'अयन्त इध्म' नहीं होना चाहिये था वहां लेखक की भूल से ऐसा हो गया। परन्तु अब मुझे दूसरी शिकायत यह हो गई है कि एक अशुद्धि की पुष्टि करने के हेतु 'जप-प्रक्षेप' की नई बात प्रस्तुत कर दी गई है। दोनों विद्वानों का कहना यह है कि 'सुसमिद्धाय' यह यजुर्वेद ३।८ मन्त्र समिधा की आहुति का नहीं अपि तु 'जप' मन्त्र है। कौन, कहां और कब इस मन्त्र को जपता था या किसी अन्य मन्त्र को, यह प्रसंग ही नहीं है। प्रसङ्ग तो केवल इतना है कि स्वामीजी महाराज को संस्कारविधि में यह मन्त्र 'जप-मन्त्र' मानना इष्ट था या नहीं। यह बात बहुत सीधी है, द्रावड़ी प्राणायाम की आवश्यकता नहीं, निम्न बातें बता देंगी।

(१) संस्कारविधि में इस स्थल पर 'जप' का नाम तक नहीं। संकेत भी नहीं।

(२) 'सुसमिद्धाय' मन्त्र के आगे 'स्वाहा' शब्द है। यह मन्त्र का भाग नहीं है अपि तु आहुति-मन्त्र होने के कारण ही दिया हुआ है। इसी प्रकार "इदमग्नये जातवेदसे—इदन्न मम" से भी इस मन्त्र का जप-मन्त्र न होकर आहुति-मन्त्र होना ही ऋषिवर को इष्ट था ऐसा स्पष्ट है।

(३) 'समिधाग्निं०' के आगे 'इससे' यह शब्द है। 'सुसमिद्धाय' ० के आगे भी 'इस मन्त्र से' यह शब्द है। और "तन्त्वा०" के आगे 'इस मन्त्र से तीसरी समिधा की आहुति देवे' ऐसा लिखा है। इस लिये ऊपर के दो मन्त्रों में 'आहुति देवे' ऐसा विधान समझना चाहिये। 'जप' शब्द अपनी ओर से मिलाकर 'जपवाद' की नई थियोरी को संस्कारविधि पर नहीं थोपना चाहिये।

(४) मेरे पक्ष की पुष्टि में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि जैसे तीन मन्त्रों के आगे 'इससे' 'इस मन्त्र से' 'इस मन्त्र से तीसरी' ऐसा निर्देश है, उस प्रकार का कोई निर्देश 'अयन्त०' के पश्चात् नहीं है। होता भी क्यों? "असली कापी" में था ही नहीं, प्रेस कापी वाले को प्रेस-कापी बनाते समय भी यह बात नहीं सूझी। मिलावट तो पीछे से हुई और 'अर्थात् दो मन्त्रों से दूसरी' ये शब्द पीछे से जोड़े गये, 'जप' यहाँ भी नहीं लिखा। यह कोरा १९६० ई० का प्रक्षेप है।

मेरे पक्ष का मुख्य आधार तो 'असली कापी' और 'प्रेस कापी' ही है। ये दोनों हमारे प्रशंसित दोनों विद्वानों ने नहीं देखीं। अपने पक्ष में मैंने जो अन्य हेतु दिये वे तो गौण हैं और केवल इस लिये दिये गये थे कि वे समानान्तर होने से मेरे पक्ष को सिद्ध करते हैं। यही कारण था कि दोनों विद्वानों के लेखों में जो अन्यान्य हेत्वाभास मिले उनकी मैंने उपेक्षा की जिससे पाठकों का ध्यान मुख्य आधारभूत आक्षेप से हटकर अन्यत्र न चला जाय। यदि मेरे विद्वान् मित्र अन्य विस्तृत साहित्य के सघन वन की छान बीन करने के स्थान में केवल दोनों कापियों का मिलान ही कर लेते तो उलझन दूर हो जाती। परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि हमारी विद्वन्मण्डली पाण्डित्य-प्रदर्शन करके मुख्य प्रश्न को खटाई में डालना चाहती है।

'वेदवाणी' के अगस्त १९६० के अंक में ७ वें पृष्ठ पर "चार मन्त्र और तीन समिधायें' शीर्षक एक लेख छपा है। उसमें मेरे दिये हुये ७ हेतुओं में से 'केवल चौथे हेतु' पर ही विचार किया गया है। मैंने अबतक जो प्रत्युत्तर दिये हैं और जो वेदवाणी तथा 'आर्य्य संसार' में छप चुके हैं उन में मैंने इसकी उपेक्षा की थी, क्योंकि यह हेतु मुख्य न था अपि तु गौण था और मैं नहीं चाहता था कि पाठकों का ध्यान गौण बातों में उलझ कर मुख्य प्रश्न आंख से ओझिल हो जाय। मेरे प्रतिपक्षी अप्रासंगिक बड़े बड़े प्रमाण देकर यही करना चाहते थे। परन्तु 'गौण' होते हुये भी यह 'हेतु' न निर्बल था न अप्रासंगिक। फिर भी श्री शर्मांजी ने मुझे बाधित करदिया कि मैं इसकी उपेक्षा न करूँ अन्यथा भ्रम उत्पन्न होगा।

वह गौण हेतु जिस पर श्री शर्मांजी ने इस अङ्क में (वेदवाणी अगस्त १९६०) विचार किया है शतपथ ब्राह्मण का एक वाक्य है।

"**आश्वत्थीस्तिस्रः समिधो घृताक्ता आदधाति समिधाग्निमिति प्रत्यृचम्**"। इस का सीधा अर्थ यह है—'समिधाग्नि०' आदि तीन मन्त्रों से एक एक ऋचा से एक एक समिधा चढ़ावे। '**समिधाग्निमिति प्रत्यृचम्**' में 'प्रत्यृचम्' शब्द ही बताता है कि यहाँ यजुर्वेद के तीसरे अध्याय की पहली तीन ऋचायें ही अभीष्ट हैं। 'अयन्त०' नहीं। परन्तु 'जप-प्रक्षेप' करने के लिये हमारे विद्वान् प्रतिपक्षियों ने कात्यायन सूत्रों का आश्रय लिया और ऐसा लिखा कि "कात्यायन श्रौतसूत्र के विनियोगानुसार संस्कारविधि की अनेक क्रियायें दीखती हैं"।

पहली बात तो यह है कि अनेक क्रियाओं का अर्थ सभी क्रियायें लेना भूल है। ऋषि दयानन्द सभी सूत्रों का आदर करते हुये भी आखें मीचकर किसी एक के अनुयायी नहीं हैं और विशेषकर 'कात्यायनसूत्र' के। सत्यार्थप्रकाश के सातवें समुल्लास में उन्होंने '**मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**' के प्रसंग में स्पष्ट लिख दिया कि "अनेकशः प्रमाणों से विरुद्ध होने से यह कात्यायन का वचन नहीं हो सकता'। अर्थात् कात्यायन का आदर करते हुए भी वह कात्यायन सूत्रों को सर्वतन्त्र और संदेह-रहित नहीं मानते। दूसरी बात यह है कि शतपथ का वाक्य इतना स्पष्ट है और उसमें 'जप' का लवलेश भी नहीं। इसलिये 'शतपथ' का मत समझने के लिये कात्यायनसूत्र का आश्रय लेना भ्रान्तिपूर्ण और अनुचित है। कात्यायन पाणिनिसूत्रों के वार्तिककार हैं। पाणिनि से पीछे हुये हैं। और शतपथ के समय और कात्यायन-सूत्रों के समय में युगों का अन्तर है, कात्यायनसूत्र की ऐनक लगाकर 'शतपथ' को देखना सर्वथा अनुचित है। शर्मांजी के लेख से विदित होता है कि शतपथ और कात्यायनसूत्र समकालीन तथा एक दूसरे के पूरक हैं। शर्मांजी ने मेरे लेख में कई 'आश्चर्य' गिना डाले। मुझे तो शर्मांजी का लेख 'महत् आश्चर्य' प्रतीत होता है।

शर्मांजी ने कात्यायन के तीन सूत्र दिये हैं एक त शतपथ का अक्षरशः उद्धरण है जो मेरे पक्ष को पुष्ट करता है, उनके पक्ष को नहीं। दो और सूत्र हैं।

नं० २–उपत्वेति जपति। नं०३–द्वितीयां वाऽध्वर्युः।

यह दोनों सूत्र भी शर्मांजी का पक्ष पुष्ट नहीं करते। पहली बात तो यह है कि 'उपत्वाग्ने' का जप इस स्थल पर स्वामीजी को इष्ट था ही नहीं। न उन्होंने इसका संकेत ही किया। इनसे केवल इतना ही प्रकट होता है कि जब कात्यायनसूत्रों का प्रचार था तब कुछ लोग तीन ऋचाओं से तीन आहुतियां देने के पश्चात् एक और कृत्य भी करते थे अर्थात् जप। आहुतियां तो उन्हीं तीन मंत्रों से 'प्रत्यृचम्' दी जाती थीं जिनका शतपथ में उल्लेख है। "जप" एक अतिरिक्त कृत्य था। उसके दो विकल्प थे, एक तो 'उपत्वाग्ने' मन्त्र से और दूसरा अध्वर्यु द्वारा 'द्वितीया' अर्थात् 'सुसमिद्धाय०' से। श्री पं० जी ने न जाने 'अध्वर्युः' शब्द पर क्यों अधिक ध्यान नहीं दिया। आहुतियां 'होता' द्वारा दी जाती हैं, जप का निर्देश अध्वर्यु के लिये है। जप 'उपत्वाग्ने०' से किया जाय या 'सुसमिद्धाय०' से, इसमें विकल्प है। आहुतियां देने में नहीं। वहां तो 'प्रत्यृचम्' तीन आहुतियां ही अभिप्रेत हैं अर्थात् 'समिधाग्नि' 'सुसमिद्धाय' और तं त्वा०"। प्रश्न उठा था "अयंत०" मंत्र से। आकूदे जप के मन्त्र। "कहीं की ईंट, कहीं का रोड़ा"। श्री शर्मांजी ने यह भी नहीं सोचा कि तीसरा सूत्र "द्वितीया वा ऽध्वर्युः' यह दूसरे सूत्र का ही अपवाद हो सकता है अर्थात् 'उपत्वेति जपति' का, पहले सूत्र का नहीं। जप का सूत्र जप के सूत्र का अपवाद या विकल्प होगा, न कि आहुति सम्बन्धी सूत्र का। यह तो ऐसी सीधी बात है कि सभी सूत्र पढ़ने वालों को सूझ जानी चाहिये थी।

अब रही एक और बात! क्या 'सुसमिद्धाय" यह ऋचा समिद्वती है या नहीं। यह भी प्रश्न गौण था अतः मैंने इसकी उपेक्षा की थी। यद्यपि मुझे बहुत बड़ा आश्चर्य

हुआ कि ऐसे दो विद्वानों की लेखनी से ऐसा अयथार्थ वाक्य निकल कैसे गया। परन्तु शर्माजी ने इस पर बड़ा बल दिया है। अतः मुझे लिखना पड़ा।

श्री शर्माजी ने एक अपना बनाया हुआ संस्कृत का वाक्य इस प्रकार जोड़ दिया कि शायद साधारण पाठक यह समझ लें कि यह वाक्य कात्यायनसूत्र का ही है। "द्वितीया च न समिच्छब्दवती अतो द्वितीयामेव जपति"। अर्थात् 'सुसमिद्धाय०' ऋचा में समित् शब्द नहीं। इसलिये वह 'शतपथ' की शर्त को पूरा नहीं करती और इसलिये वह 'जप' के लिये विनियुक्त होनी चाहिये। विद्वान् संस्कृतज्ञों को अपने वाक्य इस प्रकार मिला देना कि लोगों को सूत्रों का भ्रम हो प्रशंसनीय प्रवृत्ति नहीं है। 'न समिच्छब्दवती' ऐसा आपने कैसे लिख दिया। कात्यायन को भी ऐसा साहस न होता कि वह 'सुसमिद्धाय' को "समिद्वती" स्वीकार न करे। मुझे आश्चर्य ही नहीं अपि तु घोर दुःख हुआ जब मैंने श्री पं० अमरसिंह जी के लेख में पढ़ा कि 'समिद्वती' का अर्थ 'समिच्छब्दवती' नहीं अपि तु 'समित्-पर्य्याय' वाली भी है। श्री शर्मा जी ने कम से कम ऐसी गलती नहीं की। कात्यायन के समय में तो ऐसे स्थलों पर शब्द ही लिये जाते थे उनके समानार्थक नहीं। 'कवती' ऋचायें वे हैं जिन में 'क' शब्द आया है। 'घृतवती' वे हैं जिनमें 'घृत' शब्द आया है। 'समिद्वती' वे हैं जिनमें 'समित्' शब्द आया हो, इसलिये 'अयन्त०' न तो घृतवती ऋचा है न समिद्वती। 'सुसमिद्धाय०' को शर्मा जी घृतवती तो बताते हैं 'समिद्वती' नहीं, क्यों? उनको इतना तो स्वीकार है कि 'समिधाग्निं' समिद्वती है। क्योंकि 'समिधा' तृतीयान्त है। 'तन्त्वा०' भी समिद्वती है। क्योंकि 'समिद्भिः' तृतीयान्त है। 'सुसमिद्धाय' क्यों नहीं, क्योंकि यह चतुर्थ्यन्त है। क्या किसी पुराने कर्मकाण्ड के ग्रन्थ में उन्होंने देखा कि 'सुसमिद्धाय' समिद्वती ऋचा नहीं अथवा यह आधुनिक आर्य्यविद्वन्मण्डल को कल्पनातीत कल्पनाशक्ति का सामूहिक निचोड़ है। जिस धातु से 'समिध्' कृदन्त बनाया जिसके तृतीयान्त 'समिधा' और "समिद्भिः" हैं, उसी धातु से क्त प्रत्यय लगाकर 'समिद्धाय' कृदन्त बना। 'समित्' शब्द तो विद्यमान ही रहा। इस का प्रतिवाद कैसे हो सकेगा? विचार कीजिये। समिद्वती ऋचा कौन सी है, इसके लिये कर्मकाण्ड के ग्रन्थ खोजिये। शाबर भाष्य देखिये, निराधार कल्पनायें तो न कीजिये।

मेरा न तो यह पक्ष है कि वेद मन्त्र न होने के कारण "अयन्त०" मन्त्र से क्यों काम लिया गया। न यह पक्ष है कि दो या अधिक मन्त्रों को एक साथ पढ़ कर क्यों आहुति दी गई। न मेरा यह पक्ष है कि ऋषि दयानन्द ने स्वतन्त्र कोई विनियोग क्यों निर्धारित किया। इस लिये सांप न मारकर झाड़ी की पत्तियों को पीटना तो समस्या का समाधान नहीं, अपितु वास्तविक उलझन को सुलझाने के स्थान में अधिक उलझाना है। मेरा कहना तो यह है कि ऋषि दयानन्द ने जो विधि विधान बनाया उसमें ऐसा न था। कर्मकाण्ड में भिन्न-भिन्न सूत्रों में भिन्न-भिन्न प्रथायें मिलती हैं। उन सबको आप आर्ष कह सकते हैं, चाहे कोई गृह्य सूत्र क्यों न हो। यदि आप हर एक को आर्ष मानकर उनको संस्कारविधि के ऊपर थोपेंगे तो याद रखिये कि आप अपने और आर्य्य समाज के लिये ऐसे कांटे बो लेंगे जिनका दूर करना कठिन होगा।

श्री शर्मा जी ने मेरे ऊपर एक गहरी चोट की है जिसकी उपेक्षा करना अनुचित होगा। लेख के अन्त में शर्मा जी ने लिखा है कि स्वामी जी ने हम को दो शस्त्र दिये थे एक 'प्रक्षेप' दूसरा 'भूल' और हम इन दोनों शस्त्रों का उन्हीं के ग्रन्थों पर प्रयोग करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हम को यह मान लेना चाहिये कि उनके ग्रन्थों में न प्रक्षेप है न भूल! और हमारी इन शस्त्रों के प्रयोग में आदत पड़ गई है। मैं नम्र निवेदन करूँगा कि आर्य्य विद्वानों का एक विशेष मण्डल सनातनी संस्कारों के आधीन यह मान बैठा है कि ऋषि दयानन्द ऋषि थे, निर्भ्रान्त थे, अतः जहाँ स्पष्ट प्रक्षेप या भूल दीख पड़े वहाँ भी आखें बन्द करलो और जो कोई भूल-सुधार करना चाहे, उसे काफिर और दयानन्द-विरोधी कहो। कहाँ तक यह ऋषिभक्ति है? यह आप स्वयं सोचिये। श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने अपने यजुर्वेद के भाष्य में अनेक स्थल उद्धृत किये हैं जहाँ लेखकों की भूलें पाई गई हैं। और एक दल है जो खुल्लमखुल्ला उनको काफिर कहता है और स्वामी दयानन्द के नाम को जोर-जोर से लेकर जनता में भ्रम फैलाना चाहता है। गत २६ दिसम्बर ५९ को मथुरा में जो वेद सम्मेलन हुआ था। उसमें यही हुआ। यद्यपि पीछे से नियंत्रण के साथ। एक बार मेरठ में तो क्या कुछ नहीं हो गया। क्या ऐसी चोटें किये विना हम हर समस्या पर शान्त रीति से विचार नहीं कर सकते। यदि समस्त आर्य्य विद्वान् मिलकर यह निश्चित करलें कि कोई दूध में मक्खी डाल दे हम उसको कदापि न निकालेंगे तो दूध में मक्खी सड़ती रहेगी। उलझनें बढ़ती रहेंगी, जैसी सनातनियों में बढ़ती रही हैं। अभी तो आपने जप-प्रक्षेप करके एक भूल पर हिरण्यमयपात्र डाल दिया, परन्तु आगे आगे देखिये होता है क्या?

[विद्वानों के विचारार्थ—सं०]

ऋषि दयानन्द के चरित की एक भूल का सुधार

[ले०—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, म०द० स्मा० ट्रस्ट टंकारा]

कुछ दिन हुए ग्राम–मिर्जाबाद जिला गाजीपुर के श्रीनरोत्तमदासजी शर्मा सहायक कृषि निरीक्षक का एक पत्र प्राप्त हुआ। उसमें उन्होंने श्री देवेन्द्र बाबू द्वारा संकलित ऋषिचरित में तिथि संबन्धी एक अशुद्धि के विषय में मुझ से पूछा। उनके पत्र का लेख इस प्रकार है–

"श्री बाबू देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा लिखित महर्षि के जीवनचरित नामी पुस्तक में पृ० ३०३ पर लिखा है—'स्वामी जी १ दिसम्बर सन् १८७४ को सूरत के लिए प्रस्थित हो गए' जब कि पृ० ३०० पर लिखा है—'५ दिसम्बर १८७४ को इधर तो लाल बाग में पं० गट्टू लाल जी की सभा हुई और उधर फ्रामजी काऊसन जी हाल में स्वामीजी का व्याख्यान हुआ।' इसी के प्रमाण हेतु पृष्ठ २९९ पर लिखा है—'स्वामीजी को यह विज्ञापन तीन दिसम्बर को ही मिल गया था'। इसके नीचे लिखा है—'वह मथुरादास लौजी और पन्नाचन्द आनन्दजी ४ दिसम्बर को प्रातः दस बजे पण्डित गट्टूलालजी के पास गए'। इससे भी पूर्व पृष्ठ २८९ पर अङ्कित है—'कार्तिक कृष्णा ५ को किशन बाबाजी के नाम से एक विज्ञापन दिया गया।"

इस लेखमें जो विरोध दर्शाया गया है वह सर्वथा स्पष्ट है।

मैंने 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' के परिशिष्ट संख्या ६ "ऋषि दयानन्द के स्थानान्तर में आगमन प्रतिगमन की तिथि और तारीख" में पृष्ठ ४३ पर बम्बई से सूरत के लिए प्रस्थान की तारीख १ दिसम्बर १८७४ ही लिखी है।

श्री शर्माजी का पत्र आने पर मैंने इस प्रकरण को भले प्रकार जांचा तो प्रतीत हुआ कि ऋषि के जीवन-चरित में जो उक्त भूल है वही मुझ से भी हो गई। वस्तुतः ऋषि दयानन्द ५ दिसम्बर १८७४ तक बम्बई में ही थे। अतः उनका सूरत-गमन या तो ५ दिसम्बर की रात में हो सकता है अथवा ६ की प्रातः।

श्री देवेन्द्र बाबू द्वारा संकलित ऋषि-चरित में एक प्रकार की भूल कई स्थानों पर हुई है, वह है—उत्तरभारतीय पञ्चाङ्ग और दक्षिणभारतीय पञ्चाङ्ग के सम्मिश्रण की। इसी प्रकार की भूल प्रकृत में भी है—

पृष्ठ २९८ पर लिखा है—'कार्तिक कृष्णा ५ को किशन बाबा के नाम से एक विज्ञापन दिया गया।'

इसी प्रकार इसी पृष्ठ पर आगे लिखा है–'इस विज्ञापन के उत्तर में ३ दिसम्बर कार्तिक कृष्णा ७ को गोविन्द बालकृष्ण'' के नाम से एक विज्ञापन निकाला गया।'

इन दोनों स्थानों में जिस तिथि को कार्तिक मास की कृष्णपक्ष की लिखा है, वह उत्तरभारतीय पञ्चांग के अनुसार मार्गशीर्ष मास की कृष्णपक्ष की होती है। क्योंकि उत्तर भारत में महीना पूर्णिमा को समाप्त होता है और दक्षिण भारत में महीना अमावस्या को समाप्त होता है, इसलिए उत्तर भारत में जो कृष्ण पक्ष जिस मास का माना जाता है दक्षिण भारत में वह कृष्ण पक्ष पूर्व मास का होता है। यथा—

चैत्र की पूर्णिमा के बाद जो कृष्ण पक्ष आता है उत्तर भारत में वैशाख मास का माना जाता है और दक्षिण भारत में वह चैत्र का कहाता है। दक्षिण भारत में चैत्र का आरम्भ चैत्र शु. १ से होता है और पूर्णिमा के बाद आने वाले कृष्ण पक्ष की अमावस्या को चैत्र मास समाप्त होता है।

श्री देवेन्द्रबाबू द्वारा संकलित जीवन-चरित में अधिकतर उत्तरभारतीय पञ्चाङ्ग के अनुसार तिथियों का निर्देश हैं, परन्तु बम्बई-गुजरात आदि के वर्णन में दाक्षिणात्य पञ्चाङ्ग के अनुसार भी तिथि-निर्देश हो गया है। अतः यहाँ समझने में भूल हो जाती है। ऐसे स्थानों पर फुटनोट में स्पष्टीकरण होना चाहिए।

दाक्षिणात्य पञ्चाङ्ग के तिथि-क्रम का ज्ञान न होने से संस्कारविधि के आरम्भ के १० वें श्लोक में द्वितीय सं० में पं० भीमसेन आदि ने प्रूफ संशोधन के समय एक संशोधन कर दिया +। संस्कारविधि का मूल पाठ था—

चक्षूरामाङ्कचन्द्रेऽब्दे कार्तिकस्यान्तिमे दले।
अमायां शनिवारेऽयं ग्रन्थारम्भः कृतो मया॥१०॥

+ द्वितीय संस्करण की रफ कापी तथा संशोधित कापी (हस्तलेख में) अन्तिमे ही पाठ है।

भीमसेन आदि ने इस पाठ में **कार्तिकस्यान्तिमे दले** के स्थान में **कार्तिकस्यासिते दले** परिवर्तन कर दिया। उन्होंने सोचा कि अमावस्या कार्तिक के अन्तिम पक्ष में कहां आती है ? अन्तिम पक्ष तो शुक्लपक्ष होता है। अतः उन्होंने **अन्तिमे** हटाकर **असिते** कर दिया। परन्तु इस से एक भारी भूल उत्पन्न हो गई। उत्तर भारत के पञ्चाङ्ग के अनुसार सं. १९३२ के कार्तिक की अमावस्या को शनिवार ही नहीं पड़ता। उस दिन होता है शुक्रवार। दक्षिणी पञ्चाङ्ग के अनुसार कार्तिकी अमावस्या (उत्तर भारत में मार्गशीर्ष की अमावस्या) को शनिवार ही पड़ता है। यह भूल २२ वें संस्करण तक चलती रही। २३ वें संस्करण में श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी ने इसे पुनः शुद्ध करके **अन्तिमे** बनाया।

जीवन-चरित का जो द्वितीय उद्धरण हमने दिया है उसमें ३ दिसम्बर को कार्तिककृष्णा ७ लिखा है, यह भी भूल है। ३ दिसम्बर को कार्तिककृष्णा १० थी। कार्तिक कृष्णा ७ तो ३० नवम्बर को थी।

कार्तिक कृष्णा ७ मी वाला विज्ञापन कार्तिक कृष्णा ५ के विज्ञापन के उत्तर में था। अतः यहां ३ दिसम्बर के स्थान में ३० नवम्बर चाहिये। संभव है ३० नवम्बर के विन्दु के किसी प्रकार नष्ट हो जाने पर ३ नवम्बर को उक्त घटना की संभाव्यता न मानकर ३ दिसम्बर बना दिया हो।

ऋषि दयानन्द के जीवन-चरित के तिथिक्रम के संशोधन में रुचि रखने वाले सज्जन जीवन-चरित में तथा मेरे द्वारा लिखित 'ऋ० द० के स्थानान्तर में गमनागमन-तिथि' में भी संशोधन कर लें।

वास्तविक कार्य की उपेक्षा

ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों में (जो श्रीमती परोपकारिणी सभा द्वारा ही प्रकाशित हुए हैं) अनेक परिवर्तन हो गए। ऋषि का कोई भी जीवन-चरित अभी तक पूर्ण ऐतिहासिक दृष्टिकोण से नहीं लिखा गया। ऋषि दयानन्द को अन्य व्यक्तियों द्वारा भेजे गए शतशः पत्रों को तिथिक्रम से छापना आवश्यक है परन्तु इन सब महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर आर्य समाज की सभाओं का ध्यान ही नहीं जाता। हम ७०-८० वर्ष में ऋषि का एक सर्वाङ्ग-सुन्दर जीवन-चरित भी नहीं प्रकाशित कर सके। किसी ग्रन्थ का शुद्ध प्रामाणिक संस्करण भी प्रकाशित नहीं कर सके। उनकी अनेक अप्रकाशित सामग्री को भी प्रकाश में नहीं ला सके। ऐसी अवस्था में आर्यसमाज का भविष्य में क्या परिणाम होगा, विचारणीय है।

इस के विपरीत हम जो कार्य करते हैं, प्रकाशन करते हैं, चाहे वह किसी सभा द्वारा हो अथवा निजी रूप में। पाश्चात्य मतों को आँखें मूँद कर प्रामाणिक मानकर लिखते चले जाते हैं। दूर जाने की क्या आवश्यकता है। श्रीमती सार्वदेशिक सभा ने आर्यसमाज का जो इतिहास छापा है, उसके प्रथमभाग के आरम्भिक पृष्ठों में कई ऐसी ही बातें लिख दी हैं। यथा—

१—आर्यों का मध्य एशिया से आना। पृ० १४।

२—रामायण-महाभारत का ईसा की २-४ शती तक बनना। पृ० ३७।

३—८०० ईसवी में आचार्य शंकर का होना।

आदि आदि।

मैंने इस भाग के ३८ पृष्ठ तक की भयानक अशुद्धियों का ८ पृष्ठ फुल्सकेप आकार में लिखकर सभा को दो बार प्रेषित किया, परन्तु सब रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया।

यह है हम लोगों की गुणग्राहिता, सत्य को स्वीकार करने की निष्ठा का उदाहरण।

अकर्मण्यों के सहायक

हमारी प्रतिष्ठित सभाएँ तो वैसे ही अकर्मण्य हो चुकी हैं। वे कुछ करना चाहती ही नहीं। यदि आर्य जनता के विशेष आग्रह से अथवा दबाव से उनके कान पर कुछ जूँ रेंगती है तो हमारे बहुत से ऋषि दयानन्द का नाम लेकर अपनी प्रतिष्ठा अथवा जीवन वृत्ति को स्थिर रखने वाले लोग हमारी अकर्मण्य हुई सभाओं को सहायता देने के लिए झट मैदान में उतर आते हैं और वास्तविक कार्य का विरोध करते हैं। हमारी अकर्मण्य सभाओं को कुछ न करने के लिए एक सहारा मिल जाता है। अन्धे को क्या चाहिये, दो आँखें।

वस्तुतः आर्यसमाज की तथा ऋषि के ग्रन्थों की, इस प्रकार से रक्षा नहीं हो सकती। वास्तविक ढंग से कार्य करने से ही दोनों की रक्षा सम्भव है॥

ईसा मसीह की मृत्यु काश्मीर में हुई ?

[ले०—श्री ग० वि० केतकर]

काश्मीर जाने वाले यात्रिओं को श्रीनगर की बीच बस्ती में, 'संत ईसा' की कब्र दिखलाई जाती है। करीब सात फुट लम्बे, ढाई फुट चौड़े तथा एक फुट ऊँचे एक चबूतरे पर एक कोने में पैरों की आकृतियाँ खुदी हुई हैं। यहाँ की जनता परम्परा से इस कब्र को 'ईसा की कब्र' मानती आ रही है।

बाइबिल के अनुसार ईसा का जन्म फिलस्तीन (पैलेस्टाइन) में हुआ, वहीं उसने अपने धर्म का प्रचार किया तथा वहीं उसे क्रूस पर लटकाया गया। बाइबिल में उनके विदेश जाने का कहीं भी उल्लेख नहीं। फिर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भारत में या काश्मीर में उनका आगमन हुआ था या नहीं ? नये करार [New Testament] में ईसा के चार शिष्यों ने ईसा के चरित्र का थोड़ा बहुत उल्लेख किया है, किंतु १२ से ३० वर्ष की आयु तक ईसा कहां थे इसका उनमें उल्लेख नहीं है। भावुक लोगों के अनुसार ईसा ने यह काल अध्यात्मचिंतन में व्यतीत किया। किंतु सन् १८९४ में एक रूसी यात्री निकोलस नोटोविश ने इस बात का पता लगाया कि इस काल में ईसा भारत में थे।

गीतारहस्य व बाइबिल

स्व० तिलक के 'गीतारहस्य' में इस बात का उल्लेख है। ईसा ने अपनी आयु के १२ से ३० वर्ष तक का जीवन कहां व्यतीत किया यह अज्ञात है। संभवतः इस काल में उन्होंने ज्ञानार्जन, धर्मचिंतन या देश-पर्यटन किया होगा। इसलिए इस काल में संभवतः उनके तथा बौद्ध भिक्षुओं के बीच संपर्क स्थापित हुआ होगा। क्योंकि उस काल तक बौद्धधर्म यूनान तक फैल चुका था। नेपाल में स्थित एक बौद्ध मठ में एक ग्रंथ में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि ईसा उस काल में भारत आये थे। रूसी यात्री निकोलस नोटोविश को यह ग्रंथ प्राप्त हुआ। १८९४ में उसने इस ग्रंथ का अनुवाद फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित किया। कुछ ईसाई विद्वानों का मत है कि जिस ग्रंथ का अनुवाद किया गया वह नकली भी हो सकता है।

श्री नोटोविश को जो पता लगा था, उसका सारांश निम्नानुसार है:—

"ईसा का जन्म इजराइल में एक गरीब किंतु धर्मनिष्ठ कुटुम्ब में हुआ। बचपन से ही उनकी वृत्ति धार्मिक थी। १३ वर्ष की आयु में व्यापारियों के दल के साथ वे सिंध आये। उसके पश्चात् उन्होंने जगन्नाथ, राजगृह तथा बनारस जाकर धर्म-चिन्तन किया। बाद में बौद्ध भिक्षुओं से पाली भाषा का अभ्यास कर उन्होंने बौद्ध धर्म का अध्ययन भी किया। इसके बाद ईरान तथा वहां से जुड़िया जाकर उन्होंने प्रवचन देना प्रारम्भ किया। वहां के गवर्नर पायलेटने उन्हें गिरफ्तार कर क्रूस पर मारने की आज्ञा दी। क्रूस पर उनकी मृत्यु हुई, किंतु तीन दिन पश्चात् उनकी कब्र खुली मिली तथा ईसा का वहां नाम निशान तक नहीं मिला।

श्री नोटोविश के उपर्युक्त फ्रांसीसी अनुवाद का अंग्रेजी में भी अनुवाद हुआ तथा उसकी कई प्रतियां बिकीं। किंतु ईसाई विद्वानों ने इन सारी बातों को झूठ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया। ('मराठा' के दि० ८-४-१८९५ के अंक में ये सारी बातें प्रकाशित हो चुकी है।)

निकोलस रोरिश की खोज

यदि हम यह मान भी लें कि नोटोविश को जो हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त हुआ था, वह बनावटी था। फिर भी ईसा के तिब्बत तथा काश्मीर में आने की कई दंतकथाओं का वर्णन यात्रिओं को सुनने को मिला है। प्रसिद्ध रूसी चित्रकार निकोलस रोरिश ने १९२९ में 'हार्ट ऑफ एशिया' नामक पुस्तक प्रकाशित की है जिसमें इन दंत कथाओं का तीन बार उल्लेख किया गया है। आपने लिखा है—"श्रीनगर में यह सुनकर हमें अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि ईसा यहाँ आए थे किंतु बाद में भारत, लद्दाख तथा मध्य एशिया में यही दंतकथा हमें सुनने को मिली। नए करार (New Testament) में ईसा के अज्ञात वास का काल है। उसी समय उनके यहाँ आगमन की लोककथाएँ प्रचलित हैं। श्रीनगर के मुसलमानों ने जो कुछ बताया वह भी सुन लीजिए।

ईसा की मृत्यु क्रूस पर नहीं हुई

श्रीनगर के मुसलमानों ने बताया कि ईसा की मृत्यु क्रूस पर नहीं हुई। उनके शिष्य उनका शरीर वहाँ से दूसरे स्थान पर ले गये जहाँ उपचार कर उन्होंने उन्हें ठीक किया। उसके बाद वे पुनः श्रीनगर आये जहाँ स्वाभाविक अवस्था में उनकी मृत्यु हुई। 'जोसेफ के पुत्र को यहाँ दफनाया गया' इस प्रकार एक लेख भी वहां खुदा हुआ है।

लेह नामक स्थान में भी हमें इसी प्रकार की दंत कथा बताई गई। यहां के हिन्दू पोस्ट-मास्टर तथा लद्दाखी बौद्धों ने बाजार के निकट स्थित एक तालाब दिखाया। उन्होंने बताया कि फिलस्तीन जाने के पूर्व ईसा ने यहां प्रवचन किया था। लद्दाख, सिंकियांग, मंगोलिया सभी स्थानों पर मिलती जुलती दंतकथाएँ सुनाई दीं जिनकी समानाता यही थी कि फिलस्तीन से अज्ञातवास के लिये निकल कर ईसा एशिया तथा भारत में आए थे।

'ईसा की माता की कब्र'

काशगर से ६ मील दूरी पर मरियम मजार नामक ईसा की माँ मेरी की कब्र है। दंतकथा में कहा गया है कि ईसा को जब कष्ट दिये जाने लगे तो मेरी भाग कर काशगर चली आई, जहां मृत्यु के उपरांत उसे दफना दिया गया।"

ईसा मसीह के भारत में दो बार आने का दूसरा प्रमाण 'अहमदिया' पंथ का है। सन् १९०८ में सर फ्रांसिस यंग हजबेंड ने अपनी काश्मीर-यात्रा पर एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक के आठवें परिच्छेद में आपने कहा है— १९०८ के सितम्बर माह में अहमदिया जाति के एक विलक्षण संस्थापक की मृत्यु हुई। वह अपने आप को यहूदियों (ज्यू) का 'मेसाया' तथा इस्लाम का 'महदी' कहता था। उसके मतानुसार ईसा मसीह की मृत्यु क्रूस पर नहीं हुई। वे जीवित रहे तथा श्रीनगर में उनकी कब्र विद्यमान है।

कुरान के प्रमाण

अहमदिया पन्थ के कुरान का अनुवाद मौलाना मुहम्मद अली ने लंदन में प्रकाशित किया है। उसकी विस्तृत प्रस्तावना के छठे भाग में कुरान में आये ईसा के उल्लेख का विवेचन किया गया है। मुहम्मद अली लिखते हैं—

"ईसा मसीह को क्रूस पर नहीं चढ़ाया गया किंतु वह क्रूस पर चढ़ाया गया था ऐसा दिखाई दे, इस प्रकार की व्यवस्था की गई थी। कुरान में कहा गया है कि ईसा मसीह तथा उनकी माँ को हरियाली तथा झरनों से युक्त स्थान पर आश्रय दिया गया।" यह वर्णन काश्मीर के लिये लागू होता है।

कुछ प्रमाण

इस संबंध में श्री मुहम्मद अली ने बाइबिल (गास्पल्स) की निम्न बातों का विशेष उल्लेख किया; (१) ईसा क्रूस पर कुछ घण्टे तक ही थे, जब कि क्रूस पर मृत्यु के लिए बहुत अधिक काल लगता है। (२) ईसा के साथ जिन दो सामान्य चोरों को क्रूस पर लटकाया गया था, वे भी नीचे उतारने पर जीवित थे (३) जिस प्रकार उनके हाथ-पैर तोड़े गये, ईसा के नहीं तोड़े गये (४) क्रूस से उतारने के पूर्व सिपाहियों ने एक अंग पर पैना हथियार चुभोया जिससे रक्त बहने लगा, इसका अर्थ उनमें जीवितावस्था के चिह्न थे। (५) पायलेट को भी विश्वास नहीं था कि इतनी थोड़ी सी अवधि में ईसा की मृत्यु हुई होगी। (६) दोनों चोरों को गाड़ दिया गया जब कि ईसा मसीह को उनके एक धनवान् शिष्य को सौंपा गया, जिसने उनकी शुश्रूषा कर उन्हें पहाड़ियों की एक गुफा में रक्खा। (७) तीसरे दिन गुफा पर रखा पत्थर हिला। केवल आत्मिक बल से यदि ईसा बाहर जाते तो पत्थर हिलने की आवश्यकता नहीं थी। (८) मेरी को वह माली के समान प्रतीत हुआ। इसी का अर्थ उन्होंने माली का वेश परिधान किया था। यदि मृत अवस्था में वे उत्थित हुए होते तो वेश बदलने का कोई कारण नहीं था। (९) उनके शिष्यों ने उन्हें क्रूस पर चढ़ा हुआ ही देखा। उनके शरीर पर गहरे घाव थे। (१०) उन्हें भूख लगी तथा शिष्यों के समान उन्होंने अन्न ग्रहण किया। (११) इसके बाद वे दो शिष्यों के साथ गॅलिली की ओर गये। इसका अर्थ यही है कि उन्हें सुरक्षित स्थान पर जाना था। यदि स्वर्ग में जाना था तो गॅलिली की ओर जाने का कोई कारण ही नहीं था। (१२) क्रूस पर चढ़ने के पश्चात् जहाँ-जहाँ ईसा दिखाई दिये वहाँ-वहाँ वे छिप-छिप कर कार्य करते दिखाई दिये।

डॉ. स्पेन्सर लुईस

डा. स्पेन्सर लुईस ने सन् १९२९ में 'ईसा का अज्ञातकाल' (मिस्टिकल लाइफ ऑफ जीसस) नामक पुस्तक

प्रकाशित की। इस पुस्तक में भी कहा गया है कि ईसा की मृत्यु क्रूस पर नहीं हुई। उसके बाद करीब ६०–७० वर्ष पश्चात् उनकी मृत्यु हुई। इसी पुस्तक में बताया गया है कि ईसा ने अपनी आयु की १३ से ३० वर्ष तक की जीवनी कहाँ बिताई तथा बनारस व जगन्नाथपुरी में उन्होंने धार्मिक विषयों का अध्ययन किया। वे व्यापारियों के जत्थे के साथ भारत आये थे। उन्होंने भारत में बौद्ध तथा वैदिक धर्म का ज्ञान तथा योगाभ्यास किया।

कहा जाता है कि ईसा के जन्म के पूर्व, पूर्व की ओर रहनेवाले तीन ज्ञाता उनके जन्मस्थान पर पहुँचे थे। ईसा के अवतार ग्रहण का ज्ञान उन्हें पहले ही हो गया था। संभवतः इन्हीं व्यक्तियों ने ईसा की धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था की होगी। किंतु इसका उल्लेख नये करार (New Testament) में कहीं नहीं है।

ईसा के शिष्यों ने उनके पंथ को संगठित तथा प्रसार योग्य स्वरूप दिया। उसके बाद चर्च के नियामक मंडल ने इस धर्म के स्वरूप में अनेक परिवर्तन किये। इसमें कई बातों को असुविधाजनक कहकर छिपाकर रखा गया। रोम के पीठाधीश्वरों के पास इस सम्बन्ध में जो कागजात हैं वे कुछ उच्च धर्माधिकारियों के सिवाय किसी को प्राप्त नहीं हो सकते। इस कारण ईसा का जो चरित अज्ञात है उसमें उनके भारत आने का उल्लेख असम्भाव्य नहीं। ईसा के समय तथा उसके बाद में भी कई धर्म पंथ यूरोप में प्रचलित थे जिनके साहित्यों से इस बात के अनेक प्रमाण प्राप्त होते हैं। इनका उपयोग डा. स्पेन्सर लुईस आदि लेखकों ने किया है। इसी कारण इस कल्पना को ऐतिहासिक सत्य का स्वरूप प्राप्त हुआ है।

काश्मीर में यहूदी

ईसा स्वयं यहूदी थे। उनके शिष्य भी ज्यू थे। जब क्रूस पर लटकाये जाने के कारण हुए घाव ठीक होने पर ईसा भारत आए होंगे तो उनके साथ उनके अनेक सहायक भी होंगे। इस सम्बन्ध में कुछ यात्रियों ने जो पुस्तकें लिखी हैं उनसे इस बात की पुष्टि ही होती है।

सत्रहवीं शताब्दी के मध्यकाल में फ्रौंसिस बर्नियर ने 'मुगलसाम्राज्य में यात्रा' पर एक वर्णनात्मक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में कहा गया है कि काश्मीर में यहूदियों के धर्म-चिन्ह दिखलाई दिये। पीरे-पिंजाल (Pire Pengale) पर्वत पर इस प्रकार के कई चिह्न मिले। वहाँ के लोगों के चेहरे व व्यवहार यहूदियों के समान हैं। काश्मीर में सालोमन के आगमन पर भी दंतकथाएँ प्रचलित हैं तथा एक स्थान को 'सालोमन का तख्त' भी बताया जाता है। काश्मीर नगर में मोजेज की कब्र भी बतलाई जाती है। स्वयं बर्नियर व अन्य यूरोपीय यात्रियों को ईसा की काश्मीर-यात्रा की दंतकथाएँ सुनने को मिली होंगी, किंतु रोमन कैथालिक धर्मगुरु तथा धर्मनिष्ठ ईसाई जनता के कोप के डर से उन्होंने उनका उल्लेख नहीं किया होगा।

भारत स्थित इस्राइल के प्रतिनिधि श्री एफ. डब्ल्यू. पोलाक बंबई से 'इंडिया एण्ड इस्राइल' नामक एक अंग्रेजी मासिक पत्रिका बंबई से प्रकाशित करते थे। इस पत्रिका के दिसंबर १९५१ के अंक में काश्मीर में २० वर्ष रहीं अलिस ई. विशार्ट नामक यूरोपियन महिला का एक पत्र छपा है। इस पत्र में कहा गया है कि 'काश्मीर' में भेड़-बकरियाँ पालनेवाली जाति का नाम 'गुजेर' (Gujare) है। वे अपने आप को 'बानी' 'इस्राइल' कहते हैं। वे संभवतः रूबेन या गँड नामक यहूदी जातियों के वंशज होंगे या 'मानाश' नामक यहूदी उपजाति के वंशज होंगे। मुसलमान बनाये गये कुछ लोग हैं जो अपने नाम के आगे 'जू' उपपद अभी भी लगाते हैं। उनका चेहरा व व्यवहार भी 'ज्यू' लोगों के समान है।

हिब्रू पुराने करार (Old Testament) के कई स्थलनाम काश्मीर में है। काश्मीर की सिंध घाटी में अरावा या हेब्रान यह पुराने करार का स्थलनाम प्रचलित है। उक्त महिला का कहना है कि काश्मीरी ब्राह्मणों के चेहरे भी यहूदियों से मिलते जुलते हैं। 'हांशिया' व 'कौल' नाम भी 'हैसिया' व 'कौलिया' इन ज्यू नामों का अपभ्रंश होगा।

इससे प्रतीत होता है कि काश्मीर व यहूदियों का संबंध ईसा के पूर्वकाल से था। इसी कारण क्रूस से बचने के उपरांत ईसा का अपने शिष्यों समेत काश्मीर में आना असंभव नहीं।

क्या इस लेख से यह प्रमाणित नहीं होता कि ईसा भारत आये थे तथा उन्होंने बौद्ध धर्म से शिक्षा ली?

(दिनांक २९-११-५३ के 'केसरी' से साभार)

अनु.—स. कृ. प.

ऋषि दयानन्द का एक विज्ञापन

[सं०—श्री पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक, अध्यक्ष अनुसंधान विभाग म० द० स्मारक टंकारा]

ऋषि दयानन्द ने सं० १९३१ आश्विन शुक्ला १ को सभाष्य सन्ध्यादिपञ्चमहायज्ञविधि लिखी थी। वह बम्बई से उसी वर्ष प्रकाशित हुई थी।[1] उसके अन्त में मराठी भाषा में एक विज्ञापन आवरण पृष्ठ ४ पर छपा था। उसे हम भाषान्तर सहित प्रकाशित करते हैं।

मराठी

सूचना

सदहूं स्वामीनीं केलेलें सौंस्कृतप्राकृतभाष्यासहित ग्रंथ छापावयांचें आहेत, परंतु या कामास द्रव्यानुकूलतेची विशेष न्यूनता असल्यामुळें ती दूर करण्याच्या उद्योगान्त आहोत. आणि हे ग्रंथ छापण्यास सुरवात केल्याची किंमतीसहवर्तमान खबर सर्वांस कळविण्यांत येईल.

या विषयीं मागाहून जाहीरात दिलीं जाईल. या शिवाय सर्व आर्यलोकांकरितां सद्धर्मविचार नांवाचें भाषान्तरासहित विषय घेतले जातील. या कामास सर्व आर्यलोक आपला उदार आश्रय देतील अशी आशा आहे।

हिन्दी अनुवाद

सूचना

स्वामी जी द्वारा रचित संस्कृत-हिन्दी भाष्यसहित ग्रन्थ छपवाने हैं। परन्तु इस काम में द्रव्यानुकूलता की विशेष कमी होने के कारण उसे दूर करने के प्रयत्न में हैं और इन ग्रन्थों के छापने के आरम्भ करने की मूल्य सहित सूचना सबको कर दी जायेगी।

इस विषय में पश्चात् सूचना दी जायेगी। इसके अतिरिक्त सब आर्य लोगों के लिये सद्धर्मविचार नामक अनुवाद सहित विषय लिये जायेंगे। इस काम के लिये सब आर्य लोग अपनी उदार सहायता देंगे, ऐसी आशा है।

---

१. पञ्चमहायज्ञविधि के इस संस्करण के विषय में पूरा वर्णन हमारे 'ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास' नामक ग्रन्थ में देखें।

इस संस्करण में कई विशेषताएँ हैं। इसमें लक्ष्मीसूक्त नामक ऋक् परिशिष्ट का संस्कृतभाष्य भी छपा है। उस भाष्य में कहीं भी पौराणिक गन्ध नहीं पाई जाती। ऋक्परिशिष्टों में कुछ परिशिष्ट अर्वाचीन हैं। परन्तु अनेक परिशिष्ट प्राचीन हैं। ऋषि दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य विषय में ऋक्परिशिष्ट के सितासिते सरिते यत्र संगथे मन्त्र का शुद्ध वास्तविक अर्थ करके बताया है कि यहाँ सित शब्द से इडा नाडी का ग्रहण है, गङ्गा का नहीं। इसी प्रकार असित से पिङ्गला का ग्रहण है, यमुना का नहीं। उनके संगम में स्नान का अभिप्राय प्रयागस्थ संगम से नहीं है। अपितु जहाँ दोनों नाडियों का संगम है वहाँ योगी लोग ध्यान लगाकर द्युलोकमोक्ष को प्राप्त होते हैं। इस व्याख्या से भी स्पष्ट है कि ऋक्परिशिष्ट के सभी सूक्त हेय नहीं हैं। उनकी उचित व्याख्या होनी चाहिए। ऐसी ही व्याख्या लक्ष्मीसूक्त की इस संस्करण के अन्त में दी है॥

युधिष्ठिर मीमांसक।

लाला वलीराम जी तनेजा का निधन

धनवाद जाने पर हमें यह जानकर हार्दिक दुःख हुआ कि आर्य समाज के सच्चे सेवक ला० वलीराम जी तनेजा इस संसार में नहीं रहे। इनका निधन २२ जुलाई १९६० को देहली में रात्रि के ८ बजे हुआ। आप कई वर्ष से रुग्ण थे। बीच में एक बार आर्य समाज धनवाद के उत्सव पर आप ने आर्य समाज के सभी मुख्य विद्वानों को निमन्त्रित कर एक भारी समारोह केवल अपने बल पर किया था। कई वर्ष पहिले से रुग्ण चले आ रहे थे। उक्त महोत्सव में शक्ति से बहुत अधिक परिश्रम किया। परिणाम यह हुआ कि आप ऐसे रुग्ण पड़े कि फिर दुबारा न उठ सके। रोग शय्या पर ही पड़े रहे। अन्त में पहिचानते तो थे पर बोल नहीं सकते थे। अन्त समय प्रसन्न मुद्रा में इनका निधन हुआ।

ला० वलीराम तनेजा सिन्ध पार (पंजाब) जि० डेरागाजीखाँ के रहनेवाले थे। इनका बालपन का इतिहास (यद्यपि जाना जा सकता है पर) इस समय हमें विदित नहीं, इतना तो पता है कि आप डी० ए० बी० कालेज लाहौर में पढ़े थे। श्री सेवासिंह जी धनवाद (लाला जी की धर्मपत्नी के भाई) से हमने इनका कुछ वृत्त जानने का यत्न तो किया, पर वह हमें मिल न पाये। अस्तु॥

सन् १९२२ ई० में लाला जी झरिया पहुँचे थे। उनसे हमें विदित हुआ था कि जब वह झरिया स्टेशन पर उतरे तो उनकी जेब में ||=) दस आने के पैसे बचे थे !!! लाला जी पहिले झरिया में कच्छी पाड़ा में एक किराये के मकान में रहते थे। कर्मचन्द थापर या अन्य किसी फ़र्म में क्लर्क थे। उनकी धर्मपरायणा धर्मपत्नी प्रेमवती जी स्वयं भोजन बनाती थीं और वर्तनादि मांजना तथा अन्य सब काम अपने हाथ से करती थीं। झरिया के प्रसिद्ध दानी आर्य बा० हरदेव दास जी तथा लाला जी की प्रेरणा से आर्य समाज के प्रसिद्ध सुयोग्य विद्वान् श्री पं० अखिलानन्द जी तथा अन्य आर्य विद्वान् लालाजी के घर पर सप्ताहों ठहरा करते थे। उक्त फ़र्म की क्लर्की छोड़ लाला जी कोलमरचैण्ट का काम करने लगे। कच्छीपारा में आग लग गई तो सबके साथ लाला जी को भी वह मुहल्ला छोड़ देना पड़ा। इन्होंने लोधना (मधुवन) में अंगरेजी कोल कम्पनी लोधना में ठेकेदारी करनी आरम्भ की और वहीं रहने लगे। कुलियारी से मट्टी उठवाने आदि का ठेका इन्हें मिला। इनकी सम्पत्ति की वृद्धि लोधना ठेकेदारी के काम से होने लगी। बड़ा परिश्रम करते थे। भाग्य ने साथ दिया। तब इन्होंने कुलियारी (कोयले की खानें) मोल लेना आरम्भ किया। इसमें यह यहां तक बढ़े कि अनेक कुलियारियों के मालिक बन गये और इनकी गिनती अच्छे कोल प्रोप्राइटरों (कोयला मालिकों) में होने लगी। यहां तक हुआ कि क्रोड़पतियों में गिने जाने लगे, खान पर खान लेते चले गये॥

झरिया आते ही आर्य समाज के कामों में भाग लेने लग गये थे। हरदेव बाबु तथा ला० वलीराम जी दोनों ने मिलकर झरिया में आर्यसमाज मन्दिर तथा डी० ए० बी० हाईस्कूल के विशाल भवन अपने तथा जनता के धन से बनाये। धनवाद आर्यसमाज मन्दिर तथा डी० ए० बी० हाईस्कूल भी लाला जी के द्वारा ही बने॥ झरिया कोलफील्ड तथा इसके बाहिर भी प्रायः सभी संस्थायें लाला जी के दान से लाभान्वित होती रहीं।

तत् पश्चात् लाला जी स्थिर रूप से धनवाद में विशाल भूमि लेकर बड़े २ बीसों कमरे बना कर रहने लगे। अन्त में ये सब विशाल भवन और भूमि भी कन्याओं की शिक्षा के लिये लक्ष्मीनारामण ट्रस्ट को लाखों की सम्पती दान में दे दी और स्वयं अपनी पुरानी कोठी मणिटांड आगये।

झरिया में हरदेव बाबु के साथ मिल कर गोशाला का कार्य आरम्भ किया। जो इस समय बिहार में सबसे बड़ी गोशाला मानी जाती है। लाला जी इस गोशाला के अन्त तक प्रधान रहे, यह अद्वितीय गोभक्त थे। अपने घर पर भी ३०-३५ उत्कृष्ट गौएँ रखकर स्वयं अपने हाथों से सेवा करते थे। दूध न बेचकर जनता में वितरण कर देते थे। यह काम वह अपने हाथ से करते थे। झरिया तथा धनबाद की प्रायः सभी संस्थाओं में लाला जी तथा अर्जुन बाबु अग्रवाल का गहरा सहयोग रहता था। आर्य समाज के लिये हृदय से गहरी श्रद्धा और भावना रखते हुये भी लाला जी का अन्य संस्थाओं में भी भारी सहयोग रहता था। बाहिर से भी आर्य समाज की सभी संस्थाओं को, जो इन के पास पहुँच जाता था, निराश नहीं लौटता था। अन्त के ४-५ वर्षों में तथा पहिले भी हजारों रुपये की आर्य समाज तथा धार्मिक साहित्य की पुस्तकें जनता में बांटते रहते थे। लाला जी का वैभव इतना बढ़ा कि यह झरिया धनवाद में मुख्य सम्पत्तिशालियों में गिने जाने लगे॥

लाला जी ऋषिदयानन्द और वैदिक धर्म में पूर्ण निष्ठावान् थे। इनका पठन पाठन भी आर्य संस्था (डी० ए० वी० कालेज लाहौर) में हुआ था। लाला जी बड़े उदार—परिश्रमी ईश्वरभक्त—और व्यवसायी थे। सौभाग्य से इन की

[शेष टा० पृ० २ में]

विविध समाचार

भारत का सोलहवां प्रदेश—'नागा-राज्य'

भारत सरकार तथा नागा प्रतिनिधि मण्डल के मध्य हुई वार्ता के फलस्वरूप पृथक् 'नागा-राज्य' के निर्माण के विषय में समझौता हुआ है। समझौते को कार्यान्वित करने के लिये संविधान में आवश्यक संशोधन किया जायेगा। नये राज्य में वर्तमान नागा पहाड़ी और तुएन सांग का क्षेत्र रहेगा। आसाम का राज्यपाल ही नये राज्य का राज्यपाल रहेगा और नया राज्य आसाम उच्चन्यायालय के क्षेत्र में रहेगा। २-३ वर्ष के संक्रमणकाल के पश्चात् नये राज्य की अपनी विधान सभा तथा उत्तरदायी मन्त्रिपरिषद् होगी। संक्रमणकाल में शासनकार्य में सहायतार्थ एक अन्तरिम परिषद् संघटित की जायेगी, जिसमें नागाजन-जाति के प्रतिनिधि सम्मिलित किये जायेंगे।

भारत में इस समय कल्याणकारी राज्य नहीं, विपत्ति-राज्य—आचार्य भावे

सर्वोदय-नेता आचार्य विनोबा भावे ने पत्रकारों के प्रश्नों के उत्तर में कहा—भारत में इस समय कल्याणकारी राज्य नहीं, विपत्ति-राज्य चल रहा है। सरकार आयोजनों द्वारा उत्पादन बढ़ाना चाहती है। परन्तु असमानता और गरीबी बनी ही हुई है। उत्पादनवृद्धि का लाभ गरीब जनता तक पहुँच नहीं पाया है। आवश्यकता इस समय इस बात की है कि सम्पन्न लोग विपन्नों पर दया करें।

इण्डिया आफिस लाइब्रेरी भारत की

वैज्ञानिक अनुसन्धान एवं सांस्कृतिक समस्या मन्त्री ने लोक सभा में घोषित किया कि लन्दन की इण्डिया आफिस लाइब्रेरी के हस्तान्तरण की मांग वर्षों से ब्रिटिश सरकार से की जाती रही है, किन्तु कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला है। यही इस बात को प्रमाणित करने के लिये पर्य्याप्त है कि लाइब्रेरी पर भारत का स्वामित्व है। लाइब्रेरी का भवन भारत के धन से बना और सन् १९३७ तक भारत ही उस लाइब्रेरी का सारा खर्च देता रहा।

लद्दाख के १०७६२ वर्ग मील क्षेत्र पर पाकिस्तान का अधिकार

लद्दाख जिले के डिप्टी कमिश्नर ने रेडियो पर प्रसारित अपने भाषण में बताया—पाकिस्तान ने लद्दाख की १०७६२ वर्गमील भूमि पर अधिकार कर लिया है। चीन ने भी लद्दाख में भारतीय क्षेत्र पर अधिकार किया है। इस समय यारकन्द और तिबत से परम्परागत व्यापार के मार्ग बन्द हैं जिससे सीमाएं अवरुद्ध हो गई हैं।

देश भर में स्वतन्त्रता दिवस की धूम

१५ अगस्त को देश की जनता ने उल्लासपूर्वक स्वतन्त्रता दिवस मनाया। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने मद्रास में स्वतन्त्रता समारोह में भाग लिया। देश भर में राष्ट्रिय ध्वज फहराये गये एवं सभाएं आयोजित की गई। पवित्र राष्ट्रिय पर्व का विरोध करके कुछ संकुचित मनोवृत्ति एवं साम्प्रदायिक दृष्टिकोण वाली संस्थाओं ने कलकत्ता तथा देहली की जनता को क्षुब्ध कर दिया। कलकत्ता में हड़ताल कराने का विफल प्रयास किया गया। देहली में अकालियों के राष्ट्रविरोधी कार्य से भीड़ क्षुब्ध हो उठी। पुलिस के हस्तक्षेप से स्थिति सम्भल गई। कुछ अकालियों को गिरफ्तार भी कर लिया गया।

आयुर्वेदिक निघण्टु एक वर्ष में तैयार होगा

केन्द्रीय स्वास्थ्य-मन्त्री ने बताया है कि स्वास्थ्य मन्त्रालय ने आयुर्वेदिक औषधियों का निघण्टु बनाने के लिये एक समिति नियुक्त की है। यह निघण्टु एक वर्ष में बनकर तैयार हो जायेगा।

अमेरिकी यू० २ विमान-चालक को १० वर्ष की सजा

अमेरिकी जासूसी विमान यू-२ के चालक फ्रांसिस गैरी पावर्स को १० वर्ष की कैद की सजा दी गई है। चालक ने अपराध स्वीकार कर लिया था। रूसी नियम के अनुसार पावर्स को पहले तीन वर्ष जेल में बिताने होंगे और शेष सात वर्ष किसी मजदूर क्षेत्र में नजरबन्द के रूप में। रूस में राजनीति बन्दियों के साथ भी सामान्य बन्दियों जैसा ही व्यवहार किया जाता है॥

प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सह बान्धवैः। राघवेण वने सर्वे सह वत्स्याम निर्वृताः ॥२५॥
इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः। शुश्राव राघवः श्रुत्वा न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥२६॥
स तु वेश्म पितुर्दूरात्कैलासशिखरप्रभम्। अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः ॥२७॥
विनीतवीरपुरुषं स प्रविश्य नृपालयम्। ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः ॥२८॥

प्रतीक्षमाणोऽभिजनं तदार्तमनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ।
जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः ॥ २९ ॥

तत्पूर्वमैक्ष्वाकसुतो महात्मा रामो गमिष्यन् नृपमार्तरूपम्।
व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम् ॥ ३० ॥

पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः।
स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवीन्निवेदयस्वागमनं नृपाय मे ॥ ३१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये अयोध्याकाण्डे पौरवाक्यं नाम त्रयस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३३ ॥

अब अपने पुत्रों तथा भाई-बन्धुओं सहित कैकेयी ही रहे। हमलोग प्रसन्नता पूर्वक रामचन्द्र के साथ वनमें रहेंगे ॥ २५ ॥ इस प्रकार अनेक मनुष्यों के द्वारा कही गई अनेक प्रकार की बातों को रामचन्द्र ने सुना, परन्तु [इन बातों को] सुनकर उनके मनमें कुछ भी विकार नहीं हुआ ॥ २६ ॥ मतवाले हाथी के समान पराक्रमी धर्मात्मा रामचन्द्र पिता के दूर से कैलास-शिखर की कान्ति के समान दिखाई देनेवाले घर की ओर गये ॥ २७ ॥ विनीत वीर पुरुषों से युक्त राजभवन में प्रवेश करके रामचन्द्र ने थोड़ी दूर पर बैठे हुए दुःखी सुमन्त्र को देखा ॥ २८ ॥ अपने भाई-बन्धुओं को [भावी वियोग की चिन्ता से] दुःखी देखते हुए तथा स्वयं प्रसन्न पिता की आज्ञा का विधिवत् पालन करने की इच्छावाले रामचन्द्र पिता के दर्शन करने की इच्छा से हंसते हुए उनके पास गये ॥ २९ ॥ [पुत्रवियोगजनित दुःख से] अत्यन्त दुःखी राजा के पास जाते हुए इक्ष्वाकुपुत्र महात्मा रामचन्द्र [पिता से] पहले सुमन्त्र को देखकर [पिता को] अपने आगमन का समाचार देने के लिये वहीं ठहर गये ॥ ३० ॥ पिता की आज्ञा से वन जाने के लिये दृढ़ निश्चय वाले धर्मप्रेमी रामचन्द्र ने सुमन्त्र को देखकर कहा—कि पिता को मेरे आगमन की खबर दीजिये ॥ ३१ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का "पुरवासियों का कथन" विषयक
तेतीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३३ ॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

दशरथसमाश्वासनम्

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो महान्। उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति ॥ १ ॥
स रामप्रेषितः क्षिप्रं संतापकलुषेन्द्रियः। प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह ॥ २ ॥
उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम्। तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम् ॥ ३ ॥
आलोक्य तं महाप्राज्ञः परमाकुलचेतसम्। राममेवानुशोचन्तं सूतः प्राञ्जलिरासदत् ॥ ४ ॥
तं वर्धयित्वा राजानं सूतः पूर्वं जयाशिषा। भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णमब्रवीत् ॥ ५ ॥
अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः। ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्वं चैवोपजीविनाम् ॥ ६ ॥
स त्वां पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः। सर्वान् सुहृद आपृच्छ्य त्वामिदानीं दिदृक्षते ॥ ७ ॥
गमिष्यन्तं महारण्यं तं पश्य जगतीपते। वृतं राजगुणैः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः ॥ ८ ॥
स सत्यवादी धर्मात्मा गाम्भीर्यात्सागरोपमः। आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम् ॥ ९ ॥
सुमन्त्रानय मे दारान् ये केचिदिह मामकाः। दारैः परिवृतः सर्वैर्द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥ १० ॥
सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत्। आर्यो ह्वयति वो राजा गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ ११ ॥
एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया। प्रचक्रमुस्तद्भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥ १२ ॥

चौंतीसवां सर्ग

दशरथ-समाश्वासन

तत्पश्चात् श्यामवर्ण वाले कमलनयन, अनुपम महान् रामचन्द्र ने सूत से कहा कि पिता से मेरे आने का समाचार कहो ॥ १ ॥ राम के भेजने पर सूत ने जाकर देखा कि राजा लम्बी-लम्बी सांस ले रहे हैं तथा संताप के कारण उनकी इन्द्रियां व्याकुल हो गयी हैं ॥ २ ॥ ग्रहण लगे सूर्य के समान, राख से ढकी अग्नि के समान तथा [काई आदि के कारण] जल रहित प्रतीत होनेवाले तालाब के समान राजा को [सुमन्त्र ने] देखा ॥ ३ ॥ अत्यन्त व्याकुल चित्तवाले तथा [हर समय] राम के विषय में ही चिन्ता करते हुए राजा को देखकर बुद्धिमान् सूत सुमन्त्र हाथ जोड़कर उनके पास बैठ गये ॥ ४ ॥ सूत ने पहले आशीर्युक्त वचनों से राजा की जय-जयकार की, फिर भय से कातर, मन्द तथा कोमल स्वर से बोले—॥५॥ [हे राजन्!] पुरुषसिंह, तुम्हारे पुत्र रामचन्द्र ब्राह्मणों तथा भृत्यों को सब धन देकर यहां द्वार पर खड़े हैं ॥ ६ ॥ क्या वे सत्यपराक्रमी रामचन्द्र कल्याण करनेवाले आपका दर्शन करें? [क्योंकि] उन्होंने अन्य सब सुहृज्जनों से [वनगमन की] सम्मति लेली है और अब आपके दर्शन करना चाहते हैं ॥ ७ ॥ हे जगतीपते! महावन को जानेवाले रामचन्द्र को देखलें, वे किरणों से युक्त सूर्य के समान सब राजगुणों से युक्त हैं ॥ ८ ॥ सागर के समान गम्भीर तथा आकाश के समान पवित्र वे सत्यवादी धर्मात्मा राजा दशरथ सुमन्त्र से बोले ॥ ९ ॥ हे सुमन्त्र! मेरी जो स्त्रियां यहाँ अन्तःपुर में हों, उन सबको ले आओ, [क्योंकि] सब स्त्रियों सहित मैं धर्मात्मा रामचन्द्र को देखना चाहता हूँ ॥ १० ॥ [सुमन्त्र] अन्तःपुर में जाकर स्त्रियों से बोले—हे श्रेष्ठ स्त्रियो! आप लोगों को महाराज बुला रहे हैं, [आप लोग] वहां चलें, इसमें देर न करें ॥ ११ ॥ राजा की आज्ञा से सुमन्त्र के ऐसा कहने पर, [सुमन्त्र के कथन को] पति की आज्ञा समझकर सब स्त्रियां राजभवन की ओर चलीं ॥ १२ ॥ पातिव्रत्य को धारण करनेवाली वे साढ़े तीन सौ स्त्रियां जिनकी

अर्धसप्तशतास्तास्तु प्रमदास्ताम्रलोचनाः । कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः ॥१३॥
आगतेषु च दारेषु समवेक्ष्य महीपतिः । उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम् ॥१४॥
स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तदा । जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥१५॥
स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा दूरात्कृताञ्जलिम् । उत्पपातासनात्तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः ॥१६॥
सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्ट्वा विशां पतिः । तमसंप्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्छितः ॥१७॥
तं रामोऽभ्यपतत्क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः । विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तदा ॥१८॥
स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि । हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमूर्छितः ॥१९॥
तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ । पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन् ॥२०॥
अथ रामो मुहूर्तेन लब्धसंज्ञं महीपतिम् । उवाच प्राञ्जलिर्भूत्वा शोकार्णवपरिप्लुतम् ॥२१॥
आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः । प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन माम् ॥२२॥
लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेति मां वनम् । कारणैर्बहुभिस्तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः ॥२३॥
अनुजानीहि सर्वान्नः शोकमुत्सृज्य मानद । लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिवात्मजान् ॥२४॥
प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतिः । उवाच राजा संप्रेक्ष्य वनवासाय राघवम् ॥२५॥
अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः । अयोध्यायास्त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम् ॥२६॥

आंखें [रामविवासन के दुःख के कारण रोने से] लाल हो गयी थीं, कौसल्या को बीच में करके [राजा के पास] धीरे धीरे गयीं ॥ १३ ॥ स्त्रियों के आ जाने पर राजा दशरथ सारथि सुमन्त्र से बोले—"सुमन्त्र ! अब तुम मेरे पुत्र को ले आओ" ॥ १४ ॥ तब राम, लक्ष्मण और सीता को लेकर सूत सुमन्त्र शीघ्र ही राजा के समीप गये ॥ १५ ॥ हाथ जोड़े आते हुए पुत्र को दूर से ही देखकर दुःखी तथा स्त्रियों से घिरे हुए राजा शीघ्र ही अपने आसन से उठ खड़े हुए ॥ १६ ॥ राम को देखकर प्रजा पालक राजा बड़े वेग से उनकी ओर दौड़े, परन्तु दुःखी राजा उन तक न पहुँचकर [बीच में ही] जमीन पर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये ॥ १७ ॥ तब शीघ्र ही राम तथा महारथ लक्ष्मण दुःख के कारण मूर्च्छित तथा शोकयुक्त राजा के पास गये ॥ १८ ॥ [उस समय] हजारों स्त्रियों का आभूषणों की ध्वनियों से मिश्रित 'हा राम' यह शब्द राजभवन में सहसा गूंज उठा ॥ १९ ॥ सीता सहित रोते हुए राम और लक्ष्मण ने राजा को अपनी भुजाओं से पकड़ कर पलंग पर रख दिया ॥ २० ॥ तत्पश्चात् शोक-समुद्र में डूबे हुए राजा को थोड़ी देर बाद होश आया, तब रामचन्द्र हाथ जोड़कर उनसे बोले—॥ २१ ॥ महाराज ! मैं आपसे [वनगमन की] आज्ञा चाहता हूँ [क्योंकि] आप हम सब लोगों के स्वामी हैं । मैं दण्डकारण्य जा रहा हूँ, आप प्रसन्न होकर मुझे देखिये ॥ २२ ॥ लक्ष्मण को भी [मेरे साथ जाने की] आज्ञा दीजिये । सीता भी मेरे साथ वन को जाना चाहती है । [मेरे द्वारा] अनेक उचित हेतुओं से रोके जाने पर भी ये [नहीं रुकते और] जाना चाहते हैं ॥ २३ ॥ हे सबको मान के देनेवाले ! आप शोक को दूर कीजिये और हम सबको [जाने की] आज्ञा प्रदान कीजिये । जिस प्रकार प्रजापति अपने पुत्रों को आज्ञा देते हैं, उसी प्रकार आप मुझे, लक्ष्मण तथा सीता को [आज्ञा दीजिये] ॥ २४ ॥ वनवास के लिये [पिता की] आज्ञा की प्रतीक्षा करते हुए रामचन्द्र को व्याकुलता रहित देखकर राजा दशरथ उनसे बोले—॥ २५ ॥ रामचन्द्र ! कैकेयी ने वरदान के द्वारा मुझे मोहित कर लिया है । [इस कारण] मुझे कैद करके तुम्हीं आज अयोध्या के राजा बनो ॥ २६ ॥

एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतां वरः । प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः ॥२७॥
भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः । अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे कार्यं त्वयानृतम् ॥२८॥
नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते । पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप ॥२९॥
रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयतः । कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो राजा तमब्रवीत् ॥३०॥
श्रेयसे वृद्धये तात पुनरागमनाय च । गच्छस्वारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम् ॥३१॥
न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव । विनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन ॥३२॥
अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा । एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम् ॥३३॥
मातरं मां च संपश्यन् वसेमामद्य शर्वरीम् । तर्पितः सर्वकामैस्त्वं श्वः कल्ये साधयिष्यसि ॥३४॥
दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव त्वया । मत्प्रियार्थं प्रियांस्त्यक्त्वा यद्यासि विजनं वनम् ॥३५॥
न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव । छन्नया चलितस्त्वस्मि स्त्रिया छन्नाग्निकल्पया ॥३६॥
वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि । अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः ॥३७॥
न चैतदाश्चर्यतमं यत्त्वं ज्येष्ठः सुतो मम । अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि ॥३८॥
अथ रामस्तथा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम् । लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत् ॥३९॥

राजा के ऐसा कहने पर धर्मात्माओं में श्रेष्ठ और बोलने में निपुण रामचन्द्र हाथ जोड़कर पिता से बोले—॥ २७ ॥ राजन्! आप अनेक वर्षों तक पृथ्वी के पालक [होकर रहें।] मैं तो अरण्य में वास करूँगा, क्योंकि आपके [वरदान को] मैं अनृत नहीं करना चाहता ॥ २८ ॥ हे नराधिप! चौदह वर्षों तक वन में निवास करके, प्रतिज्ञा पूरी होने पर पुनः आपकी चरण सेवा में आ जाऊँगा ॥ २९ ॥ [वनवास के लिये शीघ्र आज्ञा देने के लिये] कैकेयी द्वारा प्रेरित किये जाने पर सत्यपाश से बन्धे हुए, दुःखी तथा रोते हुए राजा दशरथ प्रिय पुत्र राम से बोले ॥ ३० ॥ पुत्र! कल्याण के लिये, वृद्धि के लिये तथा पुनः लौट आने के लिये सब प्रकार के भयों से रहित तथा शत्रुशून्य मार्ग से निश्चिन्त होकर तुम जाओ ॥ ३१ ॥ हे रघुनन्दन पुत्र! स्वभाव से सत्यप्रेमी तथा धर्म में मन लगाने वाले तुम्हारे [वनगमन के] निश्चय को बदला नहीं जा सकता ॥ ३२ ॥ पर पुत्र! आज इस समय रात को तुम मत जाओ, जिससे एक दिन और तुमको देखकर मैं सुख से समय बिता सकूँ ॥ ३३ ॥ मेरी और [अपनी] माता [की अवस्था] को देखते हुए तुम आज एक रात यहीं रह जाओ और मेरे सब मनोरथों को पूर्ण करके कल प्रातः काल चले जाना ॥ ३४ ॥ पुत्र राम! तुम बड़ा ही दुष्कर काम कर रहे हो, जो तुम मेरी इच्छापूर्ति के लिये अपने सब प्रिय लोगों को छोड़कर निर्जन वन में जा रहे हो ॥ ३५ ॥ हे पुत्र राघव! मैं सत्य की शपथ करके कहता हूँ कि तुम्हारा यह [वन जाना] मुझे प्रिय नहीं है, पर राख से ढकी अग्नि के समान कुटिल अभिप्राय वाली स्त्री के कारण मैं विचलित हो गया हूँ ॥ ३६ ॥ [कैकेयी के कहने में पड़कर वरदान की प्रतिज्ञा रूपी] जो धोखा मुझे हुआ है, उसी धोखे (=प्रतिज्ञा) को इस कुलोचित आचार को नष्ट करने वाली कैकेयी के द्वारा प्रेरित होकर तुम पूर्ण करना चाहते हो ॥ ३७ ॥ पुत्र! इसमें कुछ आश्चर्य नहीं है, क्योंकि तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो। इस कारण तुम अपने पिता को सत्यवादी बनाना चाहते हो ॥ ३८ ॥ तत्पश्चात् रामचन्द्र दुःखी पिता के ऐसे वचनों को सुनकर भाई लक्ष्मण के साथ दीनतापूर्वक [पिता से] बोले ॥ ३९ ॥ आज [इस समय वन को जाने से] जिन

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्वस्तान् प्रदास्यति। अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥४०॥
इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला। मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥४१॥
वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति। यस्तुष्टेन वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥४२॥
दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव। अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥४३॥
चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह। मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥४४॥
न हि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि वा प्रियम्। यथा निदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥४५॥
अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्बाष्पपरिप्लुतः। न हि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितां पतिः ॥४६॥
नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मैथिलीम्। नैव सर्वानिमान् कामान्न स्वर्गं नैव जीवितम् ॥४७॥
त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ। प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥४८॥
न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो। न शोकं धारयस्वैनं न हि मेऽस्ति विपर्ययः ॥४९॥
अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव। मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥५०॥
मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम्। प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुननादिते ॥५१॥
पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम्। तस्माद्दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥५२॥
चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नरसत्तम। पुनर्द्रक्ष्यसि मां प्राप्तं संतापोऽयं विमुच्यताम् ॥५३॥

[सत्यप्रतिज्ञत्व आदि] गुणों को मैं प्राप्त करूँगा, कल [जाने पर] वे मुझे कौन देगा। इसलिये यहाँ से [शीघ्र] चले जाना ही मैं अपनी अन्य सब कामनाओं की अपेक्षा उत्तम समझता हूँ ॥ ४० ॥ राष्ट्र, मनुष्य तथा धनधान्य से युक्त इस पृथिवी का मैंने परित्याग कर दिया है, [आप] इसको भरत को प्रदान कीजिये ॥ ४१ ॥ वनवास के सम्बन्ध में जो मेरा निश्चय है, वह अब बदला नहीं जा सकता। हे वरद ! [युद्ध में] प्रसन्न हुए २ आपने कैकेयी को जो वर दिया है ॥ ४२ ॥ उसको आप पूरी तरह से [कैकेयी को] दीजिये। हे राजन् ! आप सत्यप्रतिज्ञ हों। मैं, जिस प्रकार आपने कहा है उसी प्रकार, आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ ॥४३॥ चौदह वर्षों तक वन में वनचरों के साथ निवास करूँगा। आप कुछ विचार न करें और यह राज्य भरत को दे दें ॥ ४४ ॥ मैं राज्य की कामना नहीं करता, नहीं मैं अपना सुख तथा प्रिय चाहता हूँ। हे रघुनन्दन ! मुझे तो केवल आपकी आज्ञा का पालन करना ही अभीष्ट है ॥ ४५ ॥ आप अपना दुःख दूर कीजिये, आंखों में आँसू मत लाइये। नदियों का स्वामी दुर्धर्ष समुद्र भी क्या कभी क्षुभित होता है ॥ ४६ ॥ मैं राज्य नहीं चाहता, सुख नहीं चाहता, नहीं मुझे सीता की कामना है, नहीं मेरी इन सब [सांसारिक] भोगों की इच्छा है, मैं स्वर्ग भी नहीं चाहता और अपने जीने की भी मेरी इच्छा नहीं ॥ ४७ ॥ मैं आपको सत्यवादी देखना चाहता हूँ, अनृतवादी नहीं। हे पुरुषश्रेष्ठ ! मैं यह बात सत्य और धर्म की शपथ करके कहता हूँ ॥ ४८ ॥ हे तात ! एक क्षण भी मेरा यहां रहना उचित नहीं। प्रभो ! आप अपने शोक को रोकिये। मेरे निश्चय में अब परिवर्त्तन नहीं हो सकता ॥ ४९ ॥ कैकेयी ने मुझे आदेश दिया कि "राघव ! वन जाओ" और मैंने "जाता हूँ" कहकर स्वीकार किया है। [इस समय] मैं उसी प्रतिज्ञा का पालन कर रहा हूँ ॥ ५० ॥ देव ! आप किसी बात की चिन्ता न करें। प्रशान्त हरिणों वाले तथा नाना प्रकार के पक्षियों के शब्दों से गुञ्जित वन में हम आनन्द पूर्वक रहेंगे ॥ ५१ ॥ हे तात ! पिता को देवों का भी देव कहा गया है, इसलिये पिता के वचन को मैं देव का वचन समझकर पालन करूँगा ॥ ५२ ॥ हे नरश्रेष्ठ ! चौदह वर्ष बीतने पर पुनः मैं यहां लौट कर आऊँगा, उस समय आप मुझे देखेंगे। यह सन्ताप आप छोड़ दीजिये ॥ ५३ ॥ हे पुरुषश्रेष्ठ ! जिन आपको [वियोग

येन संस्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाष्पगलो जनः । स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः ॥५४॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला मया निसृष्टा भरताय दीयताम् ।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालयन् वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥५५॥

मया निसृष्टां भरतो महीमिमां सशैलखण्डां सपुरां सकाननाम् ।
शिवां सुसीमामनुशास्तु केवलं त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत् ॥५६॥

न मे तथा पार्थिव धीयते मनो महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये ।
यथा निदेशे तव शिष्टसंमते व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥५७॥

तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं न सर्वकामान्न सुखं न मैथिलीम् ।
न जीवितं त्वामनृतेन योजयन् वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥५८॥

फलानि मूलानि च भक्षयन् वने गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि च ।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः ॥५९॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्नः शोकेन दुःखेन च ताम्यमानः ।
आलिङ्गय पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो भूमिं गतो नैव चिचेष्ट किंचित् ॥६०॥

देव्यस्ततः संरुरुदुः समेतास्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्नीम् ।
रुदन् सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्च्छां हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम् ॥६१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे दशरथसमाश्वासनं नाम चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

के कारण] रोते हुए इन सब जनों को सान्त्वना देनी चाहिये थी, वे आप स्वयं इस प्रकार क्यों अधीर हो रहे हैं ॥ ५४ ॥ मेरे द्वारा परित्याग किये गये नगर, राष्ट्र और पृथिवी को आप भरत को दे दीजिये। मैं आपकी आज्ञा का पालन करता हुआ चिर काल तक [वन में] रहने के लिये वन को जाऊँगा ॥ ५५ ॥ मेरे द्वारा छोड़ी गई, पर्वत, नगर तथा वन आदि से युक्त, कल्याण करने वाली तथा निर्विवाद सीमाओं वाली इस पृथिवी पर भरत शासन करे। हे नृपते ! आपने जो प्रतिज्ञा की है, वह इस प्रकार पूर्ण हो ॥ ५६ ॥ हे राजन् ! अपनी बड़ी २ कामनाओं की पूर्त्ति में तथा अपने सुख की कामना में मेरा वैसा मन नहीं लगता, जैसा कि शिष्टों के द्वारा अनुमोदित आपकी आज्ञा के पालन करने में। इसलिये हे निष्पाप! मेरे लिये आप कुछ भी दुःख न करें ॥ ५७ ॥ हे निष्पाप ! आपको असत्य से युक्त करके तो मैं अक्षय राज्य, सब [सांसारिक] भोगों, सुख, जानकी तथा अपने जीवन की भी कामना नहीं करता। मैं तो [केवल यही चाहता हूँ कि] आपका व्रत सत्य हो ॥ ५८ ॥ नाना प्रकार के विचित्र वृक्षों से सुशोभित वन में प्रवेश करके वहां फल-मूल खाता हुआ तथा पर्वतों, नदियों एवं तालाबों को देखता हुआ मैं सुख पूर्वक रहूँगा। आप प्रसन्न एवं सुखी होवें ॥ ५९ ॥ इस प्रकार विपत्ति में पड़े हुए, शोक एवं दुःख से पीड़ित राजा ने पुत्र का आलिङ्गन किया और वे बेहोश होकर पृथिवी पर गिर पड़े तथा बिलकुल चेष्टाहीन हो गये ॥ ६० ॥ [उस समय] उस राजपत्नी [कैकेयी] को छोड़कर और सब स्त्रियां [कौसल्या के पास] इकट्ठी होकर रोने लगीं। रोते-रोते सुमन्त्र भी मूर्च्छित हो गये। वहां सर्वत्र हाहाकार मच गया ॥ ६१ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का "दशरथ–समाश्वासन" विषयक चौंतीसवां सर्ग समाप्त हुआ ॥३४॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

सुमन्त्रगर्हणम्

ततो निर्धूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत् । पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान् कटकटाय्य च॥ १ ॥
लोचने कोपसंरक्ते वर्णं पूर्वोचितं जहत् । कोपाभिभूतः सहसा संतापमशुभं गतः ॥ २ ॥
मनः समीक्षमाणस्य सूतो दशरथस्य सः । कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्छरैः शितैः ॥ ३ ॥
वाक्यवज्रैरनुपमैर्निर्भिन्दन्निव चाशुगैः । कैकेय्याः सर्वमर्माणि सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥
यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम् । भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ ५ ॥
न ह्यकार्यतमं किंचित्तव देवीह विद्यते । पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः ॥ ६ ॥
यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम् । महोदधिमिवाक्षोभ्यं संतापयसि कर्मभिः ॥ ७ ॥
मावमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम् । भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते ॥ ८ ॥
यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये । इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तल्लोपयितुमिच्छसि ॥ ९ ॥
राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम् । वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥१०॥
न हि ते विषये कश्चिद्ब्राह्मणो वस्तुमर्हति । तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म चिकीर्षसि ॥११॥
आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् । आचरन्त्या न विदृता सद्यो भवति मेदिनी ॥१२॥

पैंतीसवाँ सर्ग

सुमन्त्र द्वारा कैकेयी की निन्दा

तदनन्तर सहसा सिर को [हाथ से] धुन कर बार २ सांस लेकर, हाथ से हाथ मलकर, दांत कटकटा कर, ॥ १ ॥ क्रोध से आँखें लाल करके, [शरीर के स्वाभाविक] वर्ण को छोड़ कर [क्रोध से लाल हुए २], एवं क्रोध के कारण भयानक दुःख को प्राप्त हुए ॥ २ ॥ दशरथ के मन के अभिप्राय को समझते हुए, अपने वचनरूपी तीक्ष्ण बाणों से कैकेयी के हृदय को कंपाते हुए, ॥ ३ ॥ और शीघ्रगामी बाणों के समान अपने अनुपम वाक्य-वज्रों से कैकेयी के मर्मस्थानों को छेदते हुए सुमन्त्रा [कैकेयी से] बोले:—॥ ४ ॥ जिस तुमने अपने पति राजा दशरथ का, जो कि स्थावर-जंगम समस्त जगत् के स्वामी हैं, परित्याग किया है ॥ ५ ॥ देवि ! [इससे मालूम होता है कि] इस संसार में तुम्हारे लिये कुछ भी अकार्य नहीं। मैं तुमको पतिघातिनी एवं कुलघातिनी समझता हूँ ॥ ६ ॥ जो कि तुम इन्द्र के समान अजेय, पर्वत के समान अचल तथा समुद्र के समान अक्षोभ्य [राजा दशरथ] को अपने कर्मों से संताप दे रही हो ॥ ७ ॥ राजा दशरथ का तिरस्कार मत करो। वे तुम्हारे पति हैं, रक्षक हैं और वर के देने वाले हैं। क्योंकि स्त्रियों के लिये पति की इच्छा के अनुसार चलना करोड़ पुत्रों की प्राप्ति से भी बढ़कर है ॥ ८ ॥ राजा के न रहने पर [उत्तराधिकारी] अवस्था-क्रम से राज्यों को प्राप्त करते हैं। क्या तुम इक्ष्वाकुकुल के राजा दशरथ के जीवित रहते ही इस व्यवस्था का लोप करना चाहती हो ॥ ९ ॥ तेरा पुत्र भरत ही राजा हो और वही पृथिवी का शासन करे। हम लोग तो वहीं जायेंगे, जहाँ राम जा रहे हैं ॥१०॥ जैसा अमर्यादित निन्दित कर्म तू आज करना चाह रही है, इससे कोई भी ब्राह्मण तेरे देश [राज्य] में नहीं रहेगा ॥११॥ तुम जैसी स्त्री के ऐसा निन्दित आचरण करने पर भी यह पृथिवी फट नहीं जाती, यह देख कर मुझे आश्चर्य हो रहा है ॥ १२ ॥ [हे कैकेयी !] धिक्कार है जो कि राम को वन भेजने के लिये दृढ़ निश्चय वाली तुझको

महाब्रह्मर्षिसृष्टा हि ज्वलन्तो भीमदर्शनाः । धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम् ॥१३॥
आम्रं छित्त्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत्तु यः । यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत् ॥१४॥
अभिजातं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च । न हि निम्बात्स्रवेत्क्षौद्रं लोके निगदितं वचः ॥१५॥
तव मातुरसद्ग्राहं विद्मः पूर्वं यथाश्रुतम् । पितुस्ते वरदः कश्चिद्ददौ वरमनुत्तमम् ॥१६॥
सर्वभूतरुतं तस्मात्संजज्ञे वसुधाधिपः । तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः ॥१७॥
ततो जृम्भस्य शयने विरुताद्भूरिवर्चसः । पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत् ॥१८॥
तत्र ते जननी क्रुद्धा मृत्युपाशमभीप्सती । हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत् ॥१९॥
नृपश्चोवाच तां देवीं देवि शंसामि ते यदि । ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संशयः ॥२०॥
माता ते पितरं देवी ततः केकयमब्रवीत् । शंस मे जीव वा मा वा न मामपहसिष्यसि ॥२१॥
प्रियया च तथोक्तः सन् केकयः पृथिवीपतिः । तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्त्वतः ॥२२॥
ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत । यदि त्वं शंससे राजन् मरणं ते भवेद्ध्रुवम् ॥२३॥
म्रियतां ध्वंसतां वेयं मा कृथास्त्वं महीपते । स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः ॥२४॥
मातरं ते निरस्याशु विजहार कुबेरवत् । तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि ॥२५॥
असद्ग्राहमिमं मोहात्कुरुषे पापदर्शिनी । सत्यश्चाद्य प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मा ॥२६॥

वसिष्ठ आदि महा ब्रह्मर्षियों के तीव्र तथा भयानक वाग्रूपी दण्ड नष्ट नहीं करते ॥ १३ ॥ आम को कुठार से काटकर, जो नीम का सेवन करे तथा जो नीम को दूध से सींचे तो भी क्या उसके लिये नीम मीठा हो सकता है ॥ १४ ॥ तेरी कुलीनता (= श्रेष्ठ कुल में उत्पत्ति सूचक व्यवहार) भी वैसी ही है, जैसी तेरी माता की है । नीम से [कभी] मधु नहीं चूता, यह लौकिक कहावत बिलकुल ठीक है ॥ १५ ॥ तेरी माता की असद्व्यवहार की ओर प्रवृत्ति को तो हम पहले से ही जानते हैं । तेरे पिता को भी किसी वर देने वाले ने बड़ा ही उत्तम वर दिया था ॥ १६ ॥ उस [वर] के कारण राजा सब प्राणियों की बोली को समझने लगे । इसीसे वे टेढ़ी चाल वाले पशु-पक्षियों की बोली को भी समझ लेते थे ॥ १७ ॥ तब एक बार अत्यन्त तेजस्वी तुम्हारे पिता ने अपने पलंग के पास स्थित जृम्भ (= भूरे रंग वाला एक प्रकार का प्राणी) की बात समझ ली, और इससे वे कई बार हंसे ॥ १८ ॥ इससे तुम्हारी माता को बहुत क्रोध आया और [क्रोध के कारण] मृत्युपाश (= मृत्यु के लिये गले में बान्धने के लिये रस्सी) की इच्छा करती हुई राजा से बोली—"राजन् ! आपके हंसने का कारण मैं जानना चाहती हूँ" ॥ १९ ॥ राजा ने कहा कि देवि ! यदि मैं [अपने हंसने का कारण] तुझे बता दूँगा, तो इससे शीघ्र मेरी मृत्यु हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं ॥ २० ॥ तत्पश्चात् तेरी माता ने तेरे पिता केकय से कहा—"राजन् तुम चाहे मरो या जीओ, [परन्तु मुझे इसका कारण अवश्य] बताओ । [क्योंकि राजन् !] तुम मेरा उपहास नहीं कर सकते ॥ २१ ॥ अपनी प्रिया के द्वारा ऐसा कहे जाने पर राजा केकय ने सब बातें यथार्थ रूप से उस वर देने वाले से कहीं ॥ २२ ॥ तब उस वर दाता साधु ने राजा से कहा—"राजन् ! यदि तू इस बात को [रानी से] कहेगा, तो तेरा मरण निश्चित हो जायगा ॥ २३ ॥ हे महीपते ! रानी चाहे मरे या तुमको छोड़कर अपने घर] चली जाय, तुम उससे [अपने हंसने का कारण] मत कहना" । उस प्रसन्न मन वाले वर दाता के वचन को सुनकर राजा [बहुत प्रसन्न हुए] ॥ २४ ॥ और तेरी माता की उपेक्षा करके वे स्वयं कुबेर के समान यत्र-तत्र विहार करने लगे । उसी प्रकार पापाचरण वाली तू भी दुर्जनों के मार्ग में स्थित होकर अज्ञानवश राजा के प्रति यह निन्दनीय कार्य कर रही है । यह लौकिक प्रवाद मुझे बिलकुल ठीक मालूम पड़ता है ॥ २५, २६ ॥ कि पुत्र पिता के समान होते हैं और लड़कियाँ माता के समान । तुम

पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः । नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः ॥२७॥
भर्तुरिच्छामुपास्स्वेह जनस्यास्य गतिर्भव । मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम् ॥२८॥
भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादधाः । न हि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः ॥२९॥
श्रीमान् दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः । ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्याभिरक्षिता ॥३०॥
रक्षिता जीवलोकस्य ब्रूहि रामोऽभिषिच्यताम् । परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति ॥३१॥
यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् । स्वराज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा ॥३२॥
न हि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसेत् । रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम् ॥३३॥
प्रवेक्ष्यति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् । इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि ॥३४॥
सुमन्त्रः क्षोभयामास भूय एव कृताञ्जलिः । नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते ॥३५॥
न चास्या मुखवर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे सुमन्त्रगर्हणं नाम पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

ऐसी मत होवो । राजा जो कहते हैं, उसको मान लो ॥ २७ ॥ अपने पति की इच्छानुसार आचरण करके उनकी रक्षा करो । पापों से प्रोत्साहित होकर इन्द्र के समान तेजस्वी, ॥ २८ ॥ प्रजापालक अपने पति को निन्दित धर्म पर मत ले चलो । निष्पाप श्रीमान् राजा दशरथ तुम्हारे सामने की हुई प्रतिज्ञा को कभी मिथ्या नहीं करेंगे ॥ २९ ॥ देवि ! तुम राजा से कहो कि कमल के समान नेत्रों वाले, उदार, कर्म करने में निपुण, अपने धर्म का पालन करने वाले तथा सब प्राणियों के रक्षक श्री रामचन्द्र का अभिषेक करें । यदि रामचन्द्र पिता को छोड़कर वन चले जायेंगे, तो देवि ! लोक में तुम्हारी बहुत निन्दा होगी । [तुम ऐसा कार्य करो जिससे] रामचन्द्र राज्य को प्राप्त करें और तुम भी निन्दा रहित हो जाओ ॥ ३०–३२ ॥ राम के अतिरिक्त, दूसरा कोई इस नगर (अयोध्या) में राजा होने के योग्य नहीं । रामचन्द्र के युवराज हो जाने पर महाधनुर्धारी महाराज दशरथ अपने कुल की पूर्व परम्परा का स्मरण करते हुए वन को चले जायेंगे । इस प्रकार हाथ जोड़ कर सुमन्त्र ने राज सभा में कोमल तथा तीक्ष्ण वचनों से कैकेयी को बार-बार क्षुब्ध (=दुःखित) किया । परन्तु देवी कैकेयी जरा भी विचलित नहीं हुई और न ही दुःखित हुई । उस समय उसके मुखवर्ण में भी कोई परिवर्त्तन नहीं दिखाई पड़ा ॥ ३३–३५ ॥

इस प्रकार वाल्मीकिरामायण के अयोध्याकाण्ड का "सुमन्त्र द्वारा कैकेयी की निन्दा" विषयक
पैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३५ ॥

षट्त्रिंशः सर्गः

सिद्धार्थप्रतिबोधनम्

ततः सुमन्त्रमैक्ष्वाकः पीडितोऽत्र प्रतिज्ञया। सबाष्पमतिनिःश्वस्य जगादेदं पुनः पुनः ॥ १॥
सूत रत्नसुसंपूर्णा चतुर्विधबला चमूः। राघवस्यानुयात्रार्थं क्षिप्रं प्रतिविधीयताम् ॥ २॥
रूपाजीवाश्च वादिन्यो वणिजश्च महाधनाः। शोभयन्तु कुमारस्य वाहिनीः सुप्रसारिताः ॥ ३॥
ये चैनमुपजीवन्ति रमते यैश्च वीर्यतः। तेषां बहुविधं दत्त्वा तानप्यत्र नियोजय ॥ ४॥
आयुधानि च मुख्यानि नागराः शकटानि च। अनुगच्छन्तु काकुत्स्थं व्याधाश्चारण्यगोचराः ॥ ५॥
निघ्नन् मृगान् कुञ्जरांश्च पिबंश्चारण्यकं मधु। नदीश्च विविधाः पश्यन्न राज्यस्य स्मरिष्यति ॥ ६॥
धान्यकोशश्च यः कश्चिद्धनकोशश्च मामकः। तौ राममनुगच्छेतां वसन्तं निर्जने वने ॥ ७॥
यजन् पुण्येषु देशेषु विसृजंश्चाप्तदक्षिणाः। ऋषिभिश्च समागम्य प्रवत्स्यति सुखं वने ॥ ८॥
भरतश्च महाबाहुरयोध्यां पालयिष्यति। सर्वकामैः सह श्रीमान् रामः संसाध्यतामिति ॥ ९॥
एवं ब्रुवति काकुत्स्थे कैकेय्या भयमागतम्। मुखं चाप्यगमच्छोषं स्वरश्चापि न्यरुध्यत ॥१०॥
सा विषण्णा च संत्रस्ता मुखेन परिशुष्यता। राजानमेवाभिमुखी कैकेयी वाक्यमब्रवीत् ॥११॥
राज्यं गतधनं साधो पीतमण्डां सुरामिव। निरास्वाद्यतमं शून्यं भरतो नाभिपत्स्यते ॥१२॥

छत्तीसवाँ सर्ग

सिद्धार्थ का कैकेयी को समझाना

[सुमन्त्र के ऐसा कहने पर भी जब कैकेयी के मन में कुछ भी परिवर्त्तन नहीं हुआ] तब अपनी प्रतिज्ञा से दुःखी इक्ष्वाकुवंशी राजा दशरथ गरम आहें भरकर सुमन्त्र से इस प्रकार बोले–॥ १ ॥ हे सूत! विविध प्रकार के रत्नों से युक्त चतुरंगिणी सेना रामचन्द्र के साथ जाने के लिये शीघ्र ही तैयार करो। ॥ २ ॥ मधुर बोलने वाली नर्त्तकियाँ तथा धनवान् वैश्य बहुत दूर तक फैली हुई राजकुमार [रामचन्द्र की] सेना को सुशोभित करें ॥ ३ ॥ जो रामचन्द्र के अनुजीवी हैं तथा जिनके साथ पराक्रम [युक्त कार्यों को करते हुए] रामचन्द्र आनन्द मनाते हैं, उन सबको बहुत सा धन देकर रामचन्द्र के साथ जाने के लिये नियुक्त करो ॥ ४ ॥ उत्तम अस्त्र-शस्त्र, नगरवासी, शकट (= सामान ढोने के लिये गाड़ियां) तथा वन के विशेषज्ञ व्याध (= शिकारी) रामचन्द्र के साथ जायँ ॥ ५ ॥ [रामचन्द्र] जंगली जानवरों तथा हाथियों को मारते हुए, जंगली मधु पीते हुए तथा अनेक प्रकार की नदियों को देखते हुए [वन को जायेंगे, इससे उनको] राज्य का स्मरण नहीं होगा। ॥ ६ ॥ अन्न तथा धन के जो मेरे भण्डार हैं, वे सब निर्जन वन में रहने वाले रामचन्द्र के साथ जायें ॥ ७ ॥ इस प्रकार [रामचन्द्र] पवित्र स्थानों पर यज्ञ करते हुए, [ब्राह्मण आदि को] उचित दक्षिणा देते हुए तथा ऋषियों के साथ संगति करते हुए सुखपूर्वक वन में निवास करेंगे ॥ ८ ॥ महाबाहु भरत अयोध्या का पालन करेंगे। [तुम लोग] सब आवश्यक सामग्रियों के साथ रामचन्द्र को विदा करो ॥ ९ ॥ दशरथ के ऐसा कहने पर कैकेयी को डर लगने लगा, उसका मुख सूख गया और वाणी भी रुकने लगी ॥ १० ॥ वह दुःखी तथा भयभीत कैकेयी सूखे मुँह राजा के सामने होकर उनसे बोलीः—॥ ११ ॥ "हे राजन्! जिस प्रकार सारहीन सुरा को कोई भी व्यक्ति ग्रहण नहीं करता, उसी प्रकार धनधान्य से रहित, शून्य, [अतएव] उपभोग करने के अयोग्य राज्य को भरत नहीं स्वीकार करेगा ॥ १२ ॥ लज्जा छोड़कर कैकेयी जब इस प्रकार अति कठोर वचन कह रही थी, तब राजा दशरथ

कैकेय्यां मुक्तलज्जायां वदन्त्यामतिदारुणम् । राजा दशरथो वाक्यमुवाचायतलोचनाम् ॥१३॥
वहन्तं किं तुदसि मां नियुज्य धुरि माहिते । अनार्ये कृत्यमारब्धं किं न पूर्वमुपारुधः ॥१४॥
तस्यैतत्क्रोधसंयुक्तमुक्तं श्रुत्वा वराङ्गना । कैकेयी द्विगुणं क्रुद्धा राजानमिदमब्रवीत् ॥१५॥
तवैव वंशे सगरो ज्येष्ठपुत्रमुपारुधत् । असमञ्ज इति ख्यातं तथायं गन्तुमर्हति ॥१६॥
एवमुक्तो धिगित्येव राजा दशरथोऽब्रवीत् । व्रीडितश्च जनः सर्वः सा च तन्नावबुध्यत ॥१७॥
तत्र वृद्धो महामात्रः सिद्धार्थो नाम नामतः । शुचिर्बहुमतो राज्ञः कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥१८॥
असमञ्जो गृहीत्वा तु क्रीडतः पथि दारकान् । सरय्वाः प्रक्षिपन्नप्सु रमते तेन दुर्मतिः ॥१९॥
तं दृष्ट्वा नागराः सर्वे क्रुद्धा राजनमब्रवन् । असमञ्जं वृणीष्वैकमस्मान् वा राष्ट्रवर्धन ॥२०॥
तानुवाच ततो राजा किंनिमित्तमिदं भयम् । ताश्चापि राज्ञा संपृष्टा वाक्यं प्रकृतयोऽब्रुवन् ॥२१॥
क्रीडतस्त्वेव नः पुत्रान् बालानुद्भ्रान्तचेतनः । सरय्वां प्रक्षिपन् मौर्ख्यादतुलां प्रीतिमश्नुते ॥२२॥
स तासां वचनं श्रुत्वा प्रकृतीनां नराधिपः । तं तत्याजाहितं पुत्रं तासां प्रियचिकीर्षया ॥२३॥
तं यानं शीघ्रमारोप्य सभार्यं सपरिच्छदम् । यावज्जीवं विवस्योऽयमिति स्वानन्वशात्पिता ॥२४॥
स फालपिटकं गृह्य गिरिदुर्गाण्यलोकयत् । दिशः सर्वास्त्वनुचरन् स यथा पापकर्मकृत् ॥२५॥
इत्येवमत्यजद्राजा सगरो वै सुधार्मिकः । रामः किमकरोत्पापं येनैवमुपरुध्यते ॥२६॥

उस विशालाक्षी से इस प्रकार बोले:—॥ १३ ॥ ऐ अहितकारिणी ! [तूने] मुझे [अपनी इच्छानुसार वर के द्वारा राम-विवासन रूपी] अनिष्ट कार्य रूपी धुरी (=भार ढोने) में नियुक्त किया। मेरे द्वारा उसको किये जाने पर भी तू मुझे और क्यों पीड़ित कर रही है? हे अनार्ये ! अब तूने यह क्या कार्य (=धन सेना आदि को राम के साथ जाने से रोकना) आरम्भ किया है। पहले [वरदान के समय] तूने [इसके बारे में] क्यों नहीं कहा था ॥ १४ ॥ राजा के इस क्रोधयुक्त वचन को सुनकर सुन्दर कैकेयी दुगुनी क्रोधित होकर राजा से इस प्रकार बोली:—॥ १५ ॥ तुम्हारे ही वंश में राजा सगर ने "असमञ्ज" नाम से विख्यात अपने ज्येष्ठ पुत्र को [राज्य-भोग आदि] रोक दिया था। उसी प्रकार रामचन्द्र को [राज्य-भोग से रहित होकर वन को] जाना उचित है ॥ १६ ॥ [कैकेयी के] ऐसा कहने पर राजा दशरथ ने उसे धिक्कार दिया, वहाँ के सब लोग लज्जित हुए। कैकेयी ने इस सब बात को बिल्कुल नहीं जाना ॥ १७ ॥ वहाँ पर एक वृद्ध, पवित्र आचरण वाले तथा राजा के प्रिय सिद्धार्थ नामक प्रधान सचिव थे, वे कैकेयी से बोले:—॥ १८ ॥ "असमञ्ज तो मार्ग में खेलते हुए लड़कों को पकड़-पकड़ कर सरयू में फेंक दिया करता था और इससे वह दुर्बुद्धि प्रसन्न होता था ॥ १९ ॥ उसके इस कार्य को देखकर सब नगरवासी बहुत क्रुद्ध हुए और राजा से जाकर बोले:—"हे राष्ट्र को बढ़ाने वाले राजन् ! या तो आप एक असमञ्ज को चुन लें या हम सबको।" ॥ २० ॥ उन लोगों से राजा ने पूछा—"किस कारण तुम लोगों को ऐसा भय हुआ है ?" राजा के पूछने पर प्रजा के सब लोग इस प्रकार बोले:—॥ २१ ॥ "राजन् ! यह भ्रान्तबुद्धि असमञ्ज हमारे छोटे २ बालकों को पकड़ २ कर सरयू नदी में फेंकता है और मूर्खतावश इसी से अत्यन्त प्रसन्न होता है।" ॥ २२ ॥ प्रजा की यह बात सुनकर उस राजा ने प्रजा का प्रिय करने की इच्छा से उस अहितकारी पुत्र का त्याग कर दिया ॥ २३ ॥ भार्या तथा वनवास के लिये आवश्यक सामग्री के साथ असमञ्ज को रथ पर चढ़ाकर जीवन भर के लिये पिता ने निर्वासन करने का आदेश दिया ॥ २४ ॥ पापकर्म करने वाला असमञ्ज कुदाली और पिटक (=खाँची) लेकर सब दिशाओं में इधर-उधर विचरण करता रहा और पर्वतों आदि को देखता रहा ॥ २५ ॥ इस [पाप के कारण] से ही सुधार्मिक राजा सगर ने असमञ्ज का त्याग किया था। राम ने कौन सा पाप किया है जो इनको वनबास दिया जा रहा है ॥ २६ ॥ हम लोग रामचन्द्र में

न हि कंचन पश्यामो राघवस्यागुणं वयम् । दुर्लभो ह्यस्य निरयः शशाङ्कस्येव कल्मषम् ॥२७॥
अथवा देवि दोषं त्वं कंचित्पश्यसि राघवे । तमद्य ब्रूहि तत्त्वेन ततो रामो विवास्यते ॥२८॥
अदुष्टस्य हि संत्यागः सत्पथे निरतस्य च । निर्दहेदपि शक्रस्य द्युतिं धर्मनिरोधनात् ॥२९॥
तदलं देवि रामस्य श्रिया विहतया त्वया । लोकतोऽपि हि ते रक्ष्यः परिवादः शुभानने ॥३०॥
श्रुत्वा तु सिद्धार्थवचो राजा श्रान्ततरस्वनः । शोकोपहतया वाचा कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥३१॥

एतद्वचो नेच्छसि पापवृत्ते हितं न जानासि ममात्मनो वा ।
आस्थाय मार्गं कृपणं कुचेष्टा चेष्टा हि ते साधुपथादपेता ॥३२॥
अनुव्रजिष्याम्यहमद्य रामं राज्यं परित्यज्य धनं सुखं च ।
सहैव राज्ञा भरतेन च त्वं यथासुखं भुङ्क्ष्व चिराय राज्यम् ॥३३॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे सिद्धार्थप्रतिबोधनं नाम षट्त्रिंशः सर्गः ॥३६॥

सप्तत्रिंशः सर्गः

चीरपरिग्रहः

महामात्रवचः श्रुत्वा रामो दशरथं तदा । अभ्यभाषत वाक्यं तु विनयज्ञो विनीतवत् ॥ १ ॥
त्यक्तभोगस्य मे राजन् वने वन्येन जीवतः । किं कार्यमनुयात्रेण त्यक्तसङ्गस्य सर्वतः ॥ २ ॥

किसी दुर्गुण को नहीं देखते । वे कलङ्करहित चन्द्रमा के समान निष्कलङ्क हैं ॥ २७ ॥ देवि ! यदि तुम्हारी दृष्टि में रामचन्द्र में कोई दोष है, तो यथार्थ रूप से उसे कहो । फिर उसके पश्चात् राम को निर्वासित किया जाय ॥ २८ ॥ दोषरहित तथा सत्पथ में वर्त्तमान पुरुष का परित्याग करने से तो इन्द्र का तेज भी नष्ट हो जाता है, क्योंकि यह धर्मविरोधी कार्य है ॥ २९ ॥ तो देवि ! रामचन्द्र की राज्याभिषेक की शोभा नष्ट करने से तुम्हें क्या लाभ ? इसलिये इस कार्य से विरत हो जाओ । हे सुन्दर मुख वाली ! लोक की निन्दा से भी तुम्हें बचना चाहिये ॥ ३० ॥ सिद्धार्थ के वचन को सुनकर क्षीण स्वर वाले राजा दशरथ शोकयुक्त वाणी से कैकेयी से बोले:—॥ ३१ ॥ हे पापाचरण करने वाली ! कुत्सित मार्ग पर चलकर मेरे तथा अपने लिये हितकारक सिद्धार्थ के वचन को जो तू आज स्वीकार नहीं कर रही, यह तेरा व्यवहार निन्दनीय है । यह तेरी चेष्टा सज्जनोचित मार्ग के विपरीत है ॥ ३२ ॥ राज्य, सुख और धन छोड़कर मैं राम के साथ ही वन को जाऊँगा । तू राजा भरत के साथ सुखपूर्वक बहुत दिनों तक राज्य का भोग कर ॥३३॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का "सिद्धार्थ का कैकेयी को समझाना" विषयक छत्तीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३६ ॥

सैंतीसवां सर्ग

वल्कल वस्त्रों का धारण करना

उस समय महामात्र [सिद्धार्थ] के वचन को सुनकर विनीत रामचन्द्र विनयपूर्वक राजा दशरथ से बोले—॥ १ ॥ "राजन् ! मैंने [राज्य], सब प्रकार के भोगों एवं अभिलाषाओं का परित्याग कर दिया है और वन में वन की वस्तुओं से ही मैं जीवन निर्वाह करूँगा । इसलिये मेरे साथ सेना आदि भेजने की क्या आवश्यकता है ? ॥ २ ॥ जो श्रेष्ठ हाथी का दान करके कक्ष्या (=हाथी बाँधने की रस्सी) की इच्छा

यो हि दत्त्वा गजश्रेष्ठं कक्ष्यायां कुरुते मनः । रज्जुस्नेहेन किं तस्य त्यजतः कुञ्जरोत्तमम् ॥ ३ ॥
तथा मम सतां श्रेष्ठ किं ध्वजिन्या जगत्पते । सर्वाण्येवानुजानामि चीराण्येवानयन्तु मे ॥ ४ ॥
खनित्रपिटके चोभे समानयत गच्छत । चतुर्दश वने वासं वर्षाणि वसतो मम ॥ ५ ॥
अथ चीराणि कैकेयी स्वयमाहृत्य राघवम् । उवाच परिधत्स्वेति जनौघे निरपत्रपा ॥ ६ ॥
स चीरे पुरुषव्याघ्रः कैकेय्याः प्रतिगृह्य ते । सूक्ष्मवस्त्रमवक्षिप्य मुनिवस्त्राण्यवस्त ह ॥ ७ ॥
लक्ष्मणश्चापि तत्रैव विहाय वसने शुभे । तापसाच्छादने चैव जग्राह पितुरग्रतः ॥ ८ ॥
अथात्मपरिधानार्थं सीता कौशेयवासिनी । संप्रेक्ष्य चीरं संत्रस्ता पृषती वागुरामिव ॥ ९ ॥
सा व्यपत्रपमाणेव प्रगृह्य च सुदुर्मनाः । कैकेय्याः कुशचीरे ते जानकी शुभलक्षणा ॥१०॥
अश्रुसंपूर्णनेत्रा च धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी । गन्धर्वराजप्रतिमं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥११॥
कथं नु चीरं बध्नन्ति मुनयो वनवासिनः । इति ह्यकुशला सीता सा मुमोह मुहुर्मुहुः ॥१२॥
कृत्वा कण्ठे च सा चीरमेकमादाय पाणिना । तस्थौ ह्यकुशला तत्र व्रीडिता जनकात्मजा ॥१३॥
तस्यास्तत्क्षिप्रमागम्य रामो धर्मभृतां वरः । चीरं बबन्ध सीतायाः कौशेयस्योपरि स्वयम् ॥१४॥
रामं प्रेक्ष्य तु सीताया बध्नन्तं चीरमुत्तमम् । अन्तःपुरगता नार्यो मुमुचुर्वारि नेत्रजम् ॥१५॥
ऊचुश्च परमायस्ता रामं ज्वलिततेजसम् । वत्स नैवं नियुक्तेयं वनवासे मनस्विनी ॥१६॥
पितुर्वाक्यानुरोधेन गतस्य विजनं वनम् । तावद्दर्शनमस्या नः सफलं भवतु प्रभो ॥१७॥

करता है, ऐसे मनुष्य को भला रस्सी के साथ प्रेम करने से क्या लाभ? ॥ ३ ॥ उसी प्रकार, हे सत्पुरुषों में श्रेष्ठ जगत्पते! मुझे सेना से क्या प्रयोजन ? यह सब [सेना आदि] मैं [भरत को देने के लिये] अनुमति देता हूँ। मेरे लिये [केवल] वल्कल वस्त्र ही लाये जावें ॥४॥ जाओ, चौदह वर्षों तक वन में वास करने वाले मेरे लिये एक कुदाल और एक पिटक (=टोकरी) ले आओ ॥ ५ ॥ उतने जन-समुदाय के बीच में निर्लज्ज कैकेयी स्वयं वल्कल वस्त्र ले आयी, और रामचन्द्र से बोली—"[इन्हें] पहनो" ॥ ६ ॥ पुरुषसिंह रामचन्द्र ने कैकेयी से उन वस्त्रों को ले लिया और अपने पतले वस्त्र उतारकर मुनि-वस्त्रों को धारण किया ॥ ७ ॥ लक्ष्मण ने भी वहीं पिता के सामने ही अपने सुन्दर वस्त्र उतार दिये और तापस-वस्त्र धारण कर लिये ॥ ८ ॥ रेशमी वस्त्र धारण करने वाली सीता अपने पहनने के वल्कल-वस्त्र को देखकर डर गयी, जिस प्रकार हरिणी जाल को देखकर डर जाती है ॥ ९ ॥ शुभ लक्षणों वाली जनकपुत्री सीता कैकेयी से उन वल्कल-वस्त्रों को लेकर बहुत लज्जित एवं दुःखित हुई ॥ १० ॥ धर्म को जानने तथा उसका अनुष्ठान करने वाली सीता आंखों में आँसू भरकर गन्धर्वराज के समान तेजस्वी अपने पति [रामचन्द्र] से बोली—॥११॥ "वनवासी मुनि किस प्रकार चीर पहनते हैं ?" इस प्रकार [कहकर वल्कल-वस्त्रों को पहनने का] ज्ञान न रखने वाली सीता बहुत घबरा गईं ॥ १२ ॥ जनकात्मजा सीता ने एक चीर को कन्धे पर रखलिया और एक को हाथ में पकड़कर पहनने का ज्ञान न होने के कारण लज्जित होकर खड़ी रहीं ॥ १३ ॥ [सीता की ऐसी दशा देखकर] धर्मात्माओं में श्रेष्ठ रामचन्द्र जी जल्दी से उनके पास आगये और उन्होंने रेशमी वस्त्रों के ऊपर ही चीर बान्ध दिया ॥ १४ ॥ रामचन्द्र को सीता का चीर बान्धते हुए देखकर अन्तःपुर की स्त्रियाँ आँसू बहाने लगीं ॥ १५ ॥ और अत्यन्त दुःखी होकर अति तेजस्वी रामचन्द्र से बोलीं:—"वत्स ! मनस्विनी सीता के लिये [राजा दशरथ ने] वनवास की आज्ञा नहीं दी ॥ १६ ॥ हे प्रभो ! पिता की आज्ञा से तुम्हारे निर्जन वन को चले जाने के पश्चात् हम लोग तब तक [तुम्हारे स्थान पर] सीता के दर्शन करके ही प्रसन्न हुआ करेंगी ॥ १७ ॥ पुत्र ! लक्ष्मण को साथ लेकर तुम वन को जाओ । यह कल्याणी सीता

लक्ष्मणेन सहायेन वनं गच्छस्व पुत्रक । नेयमर्हति कल्याणी वस्तुं तापसवद्वने ॥१८॥
कुरु नो याचनां पुत्र सीता तिष्ठतु भामिनी । धर्मनित्यः स्वयं स्थातुं न हीदानीं त्वमिच्छसि ॥१९॥
तासामेवंविधा वाचः श्रृण्वन् दशरथात्मजः । बबन्धैव तदा चीरं सीतया तुल्यशीलया ॥२०॥
चीरे गृहीते तु तया समीक्ष्य नृपतेर्गुरुः । निवार्य सीतां कैकेयीं वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत् ॥२१॥
अतिप्रवृत्ते दुर्मेधे कैकेयि कुलपांसनि । वञ्चयित्वा च राजानं न प्रमाणेऽवतिष्ठसे ॥२२॥
न गन्तव्यं वनं देव्या सीतया शीलवर्जिते । अनुष्ठास्यति रामस्य सीता प्रकृतमासनम् ॥२३॥
आत्मा हि दाराः सर्वेषां दारसंग्रहवर्तिनाम् । आत्मेयमिति रामस्य पालयिष्यति मेदिनीम् ॥२४॥
अथ यास्यति वैदेही वनं रामेण संगता । वयमप्यनुयास्यामः पुरं चेदं गमिष्यति ॥२५॥
अन्तपालाश्च यास्यन्ति सदारो यत्र राघवः । सहोपजीव्यं राष्ट्रं च पुरं च सपरिच्छदम् ॥२६॥
भरतश्च सशत्रुघ्नश्चीरवासा वनेचरः । वने वसन्तं काकुत्स्थमनुवत्स्यति पूर्वजम् ॥२७॥
ततः शून्यां गतजनां वसुधां पादपैः सह । त्वमेका शाधि दुर्वृत्ता प्रजानामहिते रता ॥२८॥
न हि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपतिः । तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति ॥२९॥
न ह्यदत्तां महीं पित्रा भरतः शास्तुमर्हति । त्वयि वा पुत्रवद्वस्तुं यदि जातो महीपतेः ॥३०॥
यद्यपि त्वं क्षितितलाद्गगनं चोत्पतिष्यसि । पितृवंशचरित्रज्ञः सोऽन्यथा न करिष्यति ॥३१॥

तपस्वियों के समान वन में नहीं रह सकती ॥ १८ ॥ सदा धर्माचरण में लगे रहने वाले आप स्वयं यदि यहाँ नहीं रुक सकते, तो भामिनी सीता यहाँ रुक जाय। पुत्र ! हमारी इस प्रार्थना को स्वीकार करो" ॥१९॥ दशरथपुत्र रामचन्द्र ने उन [अन्तःपुर की स्त्रियों] की इस प्रकार की बातें सुनकर भी अपने समान वन जाने के लिये उद्यत सीता को चीर पहना ही दिया ॥ २० ॥ सीता ने चीर धारण कर लिया है, ऐसा देखकर राजा के गुरु वसिष्ठजी सीता को रोककर कैकेयी से बोलेः—॥ २१ ॥ "अयि दुर्बुद्धे, कुलकलंकिनी, [मर्यादा का] अतिक्रमण करने वाली कैकेयि ! [असामयिक वर–याचना के द्वारा] राजा को धोखा देकर भी तू क्या अब उन्हें उचित मार्ग में नहीं रहने देगी ॥ २२ ॥ हे दुःशीले ! देवी सीता वन को नहीं जायेंगी और [राम के वापिस आने तक] यहीं उनके आसन (=राजगद्दी) पर स्थित होकर शासन करेंगी ॥ २३ ॥ गृहस्थ पुरुषों की स्त्रियाँ ही उनकी आत्मा होती हैं। सीता भी रामचन्द्र की आत्मा है, अतः ये राज्य का पालन करेंगी ॥ २४ ॥ यदि सीता रामचन्द्र के साथ वन को जायगी, तो हम लोग तथा यह सारा नगर उनके पीछे २ जायेंगे ॥ २५ ॥ सीता सहित राम जहाँ रहेंगे, वहीं अन्तःपाल (=अन्तःपुर के रक्षक-अध्यक्ष) आदि भी जायेंगे [तथा सारा नगर और राष्ट्र अपने धन-धान्य एवं भृत्यादिकों को साथ में लेकर वहीं जायगा ॥ २६ ॥ भरत और शत्रुघ्न भी चीर धारण करके वन में विचरण करने वाले हो जायेंगे और वन में वास करते हुए अपने बड़े भाई रामचन्द्र का अनुकरण करते हुए वन में ही रहने लगेंगे ॥ २७ ॥ तब कुटिल व्यवहार वाली, सदा प्रजा का अहित करने वाली तू अकेली ही सब मनुष्यों के चले जाने से सूनी, वृक्षों के साथ इस पृथिवी का शासन करना ॥ २८ ॥ जिस राष्ट्र के राजा रामचन्द्र नहीं, वह राष्ट्र राष्ट्र नहीं, किन्तु वह वन ही, जहाँ रामचन्द्र निवास करेंगे, राज्य हो जायेगा ॥ २९ ॥ भरत पिता के बिना दिये इस पृथिवी का शासन करना नहीं चाहता और नहीं वह तुम्हारे पास तुम्हारा पुत्र बनकर रहेगा, क्योंकि वह राजा दशरथ से उत्पन्न हुआ है ॥ ३० ॥ चाहे तुम पृथिवी से उड़कर आकाश में भी चली जाओ, तो भी भरत कुलाचार के विरुद्ध कार्य न करेगा, क्योंकि वह अपने कुलाचार को जानता है ॥ ३१ ॥

तत्त्वया पुत्रगर्धिन्या पुत्रस्य कृतमप्रियम् । लोके हि न स विद्येत यो न राममनुव्रतः ॥३२॥
द्रक्ष्यस्यद्यैव कैकेयि पशुव्यालमृगद्विजान् । गच्छतः सह रामेण पादपांश्च तदुन्मुखान् ॥३३॥

अथोत्तमान्याभरणानि देवि देहि स्नुषायै व्यपनीय चीरम् ।
न चीरमस्याः प्रविधीयतेति न्यवारयत्तद्वसनं वसिष्ठः ॥३४॥
एकस्य रामस्य वने निवासस्त्वया वृतः केकयराजपुत्रि ।
विभूषितेयं प्रतिकर्मनित्या वसत्वरण्ये सह राघवेण ॥३५॥
यानैश्च मुख्यैः परिचारकैश्च सुसंवृता गच्छतु राजपुत्री ।
वस्त्रैश्च सर्वैः सहिता विधानैर्नेयं वृता ते वरसंप्रदाने ॥३६॥
तस्मिंस्तथा जल्पति विप्रमुख्ये गुरौ नृपस्याप्रतिमप्रभावे ।
नैव स्म सीता विनिवृत्तभावा प्रियस्य भर्तुः प्रतिकारकामा ॥३७॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अयोध्याकाण्डे 'चीरपरिग्रह'निमित्तवसिष्ठक्रोधो नाम सप्तत्रिंशः सर्गः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार पुत्र [भरत] का कल्याण चाहने वाली तूने अपने पुत्र का अप्रिय ही किया है। लोक में ऐसा कोई नहीं जो राम का अनुगामी नहीं ॥ ३२ ॥ कैकेयि ! तुम आज ही देखोगी कि पशु, व्याल (=सर्प), मृग, पक्षी आदि सब रामचन्द्र के साथ जा रहे हैं और वृक्ष भी उनके साथ जाने को उत्सुक है ॥ ३३ ॥ हे देवि ! अपनी बहू सीता से चीर लेकर उसको उत्तम [वस्त्र तथा] आभूषण दो। चीर इसके पहनने योग्य नहीं है, ऐसा कहकर वसिष्ठ जी ने उसके वस्त्र (चीर) हटवा दिये। तुमने केवल एक रामचन्द्र का ही वनवास वर में माँगा है, ॥ ३४ ॥ इसलिये सीता रामचन्द्र जी की सेवा के लिये वस्त्र, आभूषणों से अलंकृत होकर जायें और रामचन्द्र के साथ वन में रहें ॥ ३५ ॥ राजपुत्री सीता सब प्रकार के वस्त्र तथा सामग्रियां लेकर उत्तम रथ तथा परिचारकों के साथ वन को जायें क्योंकि तूने वर माँगने के समय ["सीता चीर पहन कर जाय"] ऐसा वर नहीं माँगा है ॥ ३६ ॥ विप्रश्रेष्ठ तथा अप्रतिम प्रभाव वाले गुरु वसिष्ठ के वैसा कहते रहने पर भी सीता ने अपना विचार नहीं बदला, क्योंकि वह अपने प्रिय पति के समान ही [वल्कल वस्त्र धारण की] इच्छा रखती थी ॥ ३७ ॥

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड का 'वल्कलवस्त्र धारण करना' विषयक यह सैंतीसवाँ सर्ग समाप्त हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशः सर्गः

जनाक्रोशः

तस्यां चीरं वसानायां नाथवत्यामनाथवत् । प्रचुक्रोश जनः सर्वो धिक् त्वां दशरथं त्विति ॥ १ ॥
तेन तत्र प्रणादेन दुःखितः स महीपतिः । चिच्छेद जीविते श्रद्धां धर्मे यशसि चात्मनः॥ २ ॥
स निःश्वस्योष्णमैक्ष्वाकस्तां भार्यामिदमब्रवीत् । कैकेयि कुशचीरेण न सीता गन्तुमर्हति ॥ ३ ॥
सुकुमारा च बाला च सततं च सुखोचिता । नेयं वनस्य योग्येति सत्यमाह गुरुर्मम ॥ ४ ॥

इयं हि कस्यापकरोति किंचित्तपस्विनी राजवरस्य कन्या ।
या चीरमासाद्य जनस्य मध्ये स्थिता विसंज्ञा श्रमणीव काचित् ॥ ५ ॥
चीराण्यपास्याज्जनकस्य कन्या नेयं प्रतिज्ञा मम दत्तपूर्वा ।
यथासुखं गच्छतु राजपुत्री वनं समग्रा सह सर्वरत्नैः ॥ ६ ॥
अजीवनार्हेण मया नृशंसा कृता प्रतिज्ञा नियमेन तावत् ।
त्वया हि बाल्यात्प्रतिपन्नमेतत्तन्मां दहेद्वेणुमिवात्मपुष्पम् ॥ ७ ॥

रामेण यदि ते पापे किंचित्कृतमशोभनम् । अपकारः क इह ते वैदेह्या दर्शितोऽथ मे ॥ ८ ॥
मृगीवोत्फुल्लनयना मृदुशीला तपस्विनी । अपकारं कमिह ते करोति जनकात्मजा ॥ ९ ॥
ननु पर्याप्तमेतत्ते पापे रामविवासनम् । किमेभिः कृपणैर्भूयः पातकैरपि ते कृतैः ॥१०॥

अड़तीसवाँ सर्ग

जनता का कोसना

उस (=सीता) के सनाथ होने पर भी अनाथों के समान चीर को पहन लेने पर सारा जन-समूह दशरथ को कोसने लगा—तुझे धिक्कार है! ॥ १ ॥ वहाँ उस [आर्त] नाद से वे महाराज [दशरथ] दुःखी हुए और अपने जीवन, [राज्यपालनादि] धर्म तथा कीर्ति के प्रति तीव्र इच्छा को [उन्होंने] त्याग दिया ॥ २ ॥ उष्ण श्वास छोड़कर महाराज दशरथ [अपनी] पत्नी से यह बोले—कैकेयि! कुशचीर से युक्त सीता वन नहीं जा सकती ॥ ३ ॥ मेरे गुरु [वसिष्ठ] जी ने ठीक ही कहा है कि—[सीता] सुकुमारी और बालिका है तथा निरन्तर सुख में पली है, [अतः] यह वन [जाने] के योग्य नहीं है ॥ ४ ॥ राजवर [जनक] की इस तपस्विनी कन्या ने क्या किसी का कोई अपकार किया जो यह किसी परिव्राजिका[1] के समान चीर धारण करके जनता के मध्य में वेदना-रहित [हो कर] खड़ी हुई है? ॥ ५ ॥ जनक की कन्या चीरों को उतार दे [क्योंकि] मैं ने पहले (=वरदान के समय) यह प्रतिज्ञा [कि सीता भी चीर धारण करके वन जाय] नहीं की। सब रत्नों एवं वस्त्रादि सहित सीता सुखपूर्वक वन को जाये ॥ ६ ॥ जीने में अशक्त मैं ने [रण स्थल में] शपथपूर्वक क्रूर प्रतिज्ञा की थी। तुमने अपनी बालबुद्धि से (=अज्ञानवश) पहले ही यह (=रामादि का तपस्विवेश में वनगमन तथा भरत का अभिषेक) निश्चय कर रखा था। [अब मेरी] वह [अदूरदर्शिता पूर्ण प्रतिज्ञा] मुझे [उसी प्रकार] जला रही है जैसे अपना पुष्प ही बांस को जला डालता है ॥ ७ ॥ यदि राम ने तेरा कुछ अनिष्ट किया भी हो, [तो भी] सीता ने तुम्हारा या मेरा कौन सा अपकार किया है? ॥ ८ ॥ हरिणी के समान प्रफुल्लित नयनों वाली, कोमल स्वभाव वाली तथा तपस्विनी सीता [भला] तुम्हारा क्या अपकार कर सकती है? ॥ ९ ॥ हे पापिन! तुम्हारे लिये राम वनवास ही पर्याप्त है, फिर इन साधारण पापकर्मों से तुम्हें क्या? ॥ १० ॥ देवि! यहाँ अभिषेक के

१ देखें टिप्पणी बाल० सर्ग १४ श्लोक १२ पृ० ४१॥

संपादक पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के प्रबन्ध से चन्द्रशेखर मुद्रणालय, विश्वेश्वरगंज, वाराणसी (बनारस) से मुद्रित तथा वेदवाणी कार्यालय, पो० अजमतगढ़ पैलेस, वाराणसी नं० ६ (बनारस ६) से प्रकाशित ॥